जैन धर्म-दर्शन : एक अनुशीलन

डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी

जयपुर (राज.)

पुस्तक-परिचय

जैन धर्म–दर्शन के प्रमुख विषयों की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक में सरल भाषा में प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध है। पुस्तक में 28 आलेख हैं जो जैन तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा के मौलिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं।

तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत अस्तिकाय, द्रव्य, काल, आत्मा, पुद्गल, परमाणु, कारण–कार्य सिद्धान्त, पंच समवाय, अनेकान्तवाद, तीर्थङ्कर, नवतत्त्व आदि की गहन चर्चा की गई है। ज्ञानमीमांसा में श्रुतज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रमाण–विवेचन, अवग्रह की प्रमाणता, नय, निक्षेप आदि विषय विशदतया विवेचित हैं। आचारमीमांसा में अप्रमत्तता, अहिंसा, अपरिग्रह, भोगोपभोग–परिमाण व्रत, समाधिमरण, प्रतिक्रमण आदि विषयों पर विश्लेषणात्मक एवं जीवनोपयोगी प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक में वैदिक एवं बौद्ध परम्परा के साथ समानता एवं भेद प्रदर्शित करने वाले आलेख भी समाहित हैं। 'वीतराग और स्थितप्रज्ञ' तथा 'जैन आगम–परम्परा एवं निगम–परम्परा में अन्तःसम्बन्ध' आलेख वैदिक एवं जैन परम्परा में निकटता तथा भिन्नता का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। दो आलेख जैन एवं बौद्ध धर्म–दर्शन में विभिन्न मान्यताओं को लेकर परस्पर साम्य एवं भेद का बोध कराते हैं। वाचक उमास्वाति की दो कृतियों तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरतिप्रकरण में प्राप्त साम्य एवं भिन्नता को भी एक आलेख में प्रदर्शित किया गया है।

पुस्तक जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों दोनों के लिए उपादेय है।

प्राकृत भारती पुष्प 350

जैन धर्म-दर्शन : एक अनुशीलन

डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (राज.)

पुस्तक : **जैन धर्म-दर्शन : एक अनुशीलन**

प्रकाशक :
प्राकृत भारती अकादमी,
13, ए गुरुनानक पथ,
मेन मालवीय नगर, जयपुर - 302017
फोन : 0141-2524827, 2520230
E-mail : prabharati@gmail.com

पॉली मेडिक्योर लिमिटेड
के
सहयोग (सी.एस.आर.) से

लेखक :
डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रथम संस्करण 2015

ISBN : 978-93-81571-56-9

मूल्य : ₹ 440/-

© लेखकाधीन

लेजर टाइप सेटिंग एवं मुद्रण :
इण्डियन मैप सर्विस, जोधपुर
दूरभाष : 0291-2612874

Jaina Dharma Darśana : Eka Anuśilanã

Dr. Dharmchand Jain / 2015
Prakrit Bharati Academy, Jaipur

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती अकादमी अपनी स्थापना के चार दशक पूर्ण कर चुकी है तथा अकादमी को प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाओं में अब तक 450 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त है। राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्राकृत भारती के प्रकाशनों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई है। उसी श्रृंखला में जैन दर्शन एवं संस्कृत-प्राकृत भाषा के मनीषी विद्वान् डॉ. धर्मचन्द जैन की प्रस्तुत पुस्तक 'जैन धर्म-दर्शन : एक अनुशीलन' का प्रकाशन करते हुए हमें महती प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

व्यक्ति के आचार एवं विचार को परिनिष्ठित बनाने की दृष्टि से जैन धर्म-दर्शन का भारतीय दार्शनिक परम्परा में विशिष्ट महत्त्व है। यह मानव जाति के समग्र उत्थान के साथ समस्त प्राणिजगत् एवं पर्यावरण-संरक्षण को भी समान रूप से महत्त्व देता है। यह वस्तुवादी दर्शन है, जिसमें आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, मोक्ष, परलोक, कर्म-सिद्धान्त आदि सबका महत्त्व है। विश्व में अहिंसा, शान्ति, पारिस्थितिकी सन्तुलन, मूल्यपरक आर्थिक विकास आदि के सम्बन्ध में जैन साहित्य में अनेकविध सबल विचार सम्प्राप्त होते हैं। जैन दर्शन के अनेकान्तवाद एवं नयवाद से वस्तु को समझने एवं उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करने हेतु व्यापक दृष्टि प्राप्त होती है।

जैन धर्म आचार प्रधान है, जिसमें सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान पूर्वक आचरण पर बल प्रदान किया गया है। इसका दार्शनिक पक्ष भी अत्यन्त सबल है। जैन दर्शन में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं आचारमीमांसा पर गहन चिन्तन-मनन हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में डॉ. जैन के आलेख जैन दर्शन के विभिन्न आयामों पर विशद प्रकाश डालते हैं। इसमें अस्तिकाय, आत्मा, काल, अनेकान्तवाद, कर्मवाद, कारण-कार्य सिद्धान्त, पंचसमवाय आदि तत्त्वमीमांसीय विषयों की गहन चर्चा हुई है। सम्यग्दर्शन, श्रुतज्ञान, प्रमाण-स्वरूप, अवग्रहादि मतिज्ञान के भेदों, नयवाद, निक्षेप

आदि ज्ञानमीमांसीय एवं प्रमाणमीमांसीय विषयों का शोधात्मक आलेखन किया गया है। अहिंसा की स्थापना हेतु आगमिक युक्तियाँ, अहिंसा का समाजदर्शन, जीवन में अप्रमत्तता, अपरिग्रह की अवधारणा, परिग्रह परिमाणव्रत के औचित्य, पर्यावरण-संरक्षण, भोगोपभोग-परिमाणव्रत, समाधिमरण, प्रतिक्रमण आदि विषयक आलेख जैनदर्शन की आचारमीमांसा को स्पष्ट करते हैं।

कतिपय तुलनात्मक आलेख भी इस ग्रन्थ के गौरव का अभिवर्धन करते हैं। वाचक उमास्वाति के दोनों जैन-परम्पराओं को मान्य प्रमुख सूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र एवं उन्हीं के प्रशमरतिप्रकरण की तुलना से ज्ञात होता है कि इनकी विषय वस्तु एवं प्रतिपादन शैली में पर्याप्त साम्य है। दो आलेख वैदिक एवं जैन परम्परा की तुलना से सम्बद्ध हैं, जिनके अन्तर्गत एक में उत्तराध्ययन सूत्र में निरूपित वीतरागता एवं भगवद्गीता में प्रतिपादित स्थितप्रज्ञता की तुलना हुई है तो दूसरे आलेख में निगम (वेद) एवं जैन आगम-परम्परा में अन्तःसम्बन्ध दर्शाते हुए अनेक तथ्य उद्घाटित किए गए हैं। बौद्ध एवं जैन दर्शन की तुलना करते हुए उनमें साम्य एवं भेद का प्रतिपादन किया गया है, दोनों धर्म-दर्शनों की दृष्टि से वर्णाश्रम एवं संस्कारों की चर्चा की गई है।

आशा है यह पुस्तक जैन धर्म-दर्शन के मौलिक स्वरूप को समझने में रुचि रखने वाले जिज्ञासु पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक के लेखक डॉ. धर्मचन्द जैन तथा प्रूफ संशोधन आदि में सहयोगी डॉ. श्वेता जैन एवं श्री देवेन्द्रनाथ मोदी के भी हम आभारी हैं।

देवेन्द्रराज मेहता

संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (राज.)

अनुक्रमणिका

	प्रकाशकीय	iii
	प्राक्कथन	vii
(i)	**तत्त्वमीमांसा**	
1.	अर्द्धमागधी आगम-साहित्य में अस्तिकाय	01
2.	काल का स्वरूप	13
3.	सर्वार्थसिद्धि में आत्म-विमर्श	34
4.	सूत्रकृताङ्ग में परमतानुसारी आत्म-स्वरूप की मीमांसा	50
5.	आगम-साहित्य में पुद्गल एवं परमाणु	77
6.	कारण-कार्य सिद्धान्त एवं पंच कारण-समवाय	93
7.	अनेकान्तवाद का स्वरूप और उसके तार्किक आधार	125
8.	कर्मसाहित्य में तीर्थङ्कर प्रकृति	141
(ii)	**ज्ञानमीमांसा**	
1.	श्रुतज्ञान का स्वरूप	152
2.	सम्यग्दर्शन	164
3.	जैन न्याय में प्रमाण-विवेचन	184
4.	जैन प्रमाणशास्त्र में अवग्रह का स्थान	209
5.	नय एवं निक्षेप	229
6.	'इसिभासियाइं' का दार्शनिक विवेचन	256
(iii)	**आचारमीमांसा**	
1.	आचारांगसूत्र में अप्रमत्त जीवन की प्रेरणा	276
2.	अहिंसा का समाज दर्शन	284
3.	आचारांगसूत्र में अहिंसा	296

4. जैनागम साहित्य में अहिंसा हेतु उपस्थापित युक्तियाँ 310
5. अपरिग्रह की अवधारणा 323
6. परिग्रह-परिमाणव्रत की प्रासङ्गिकता 335
7. पर्यावरण- संरक्षण में भोगोपभोग-परिमाणव्रत की भूमिका 344
8. प्रकीर्णक साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा 353
9. प्रतिक्रमण 380

(iv) तुलनात्मक आलेख

1. उमास्वातिकृत प्रशमरतिप्रकरण एवं उसकी तत्त्वार्थसूत्र से तुलना 391
2. वीतराग और स्थितप्रज्ञ : एक विश्लेषण 419
3. जैन और बौद्ध धर्म-दर्शन : एक तुलनात्मक दृष्टि 432
4. जैन-बौद्ध वाङ्मय में वर्णाश्रम धर्म और संस्कार 451
5. जैन आगम-परम्परा एवं निगम-परम्परा में अन्तःसम्बन्ध 467

प्राक्कथन

'धर्म' और 'दर्शन' दो भिन्न शब्द हैं तथा इनके अर्थ में भी भिन्नता है। धर्म जहाँ आचरण प्रधान होता है वहाँ दर्शन में विचार की प्रधानता होती है। धर्म में श्रद्धा का पक्ष प्रबल होता है, तो दर्शन में तर्क का बल अधिक होता है। दर्शन के बिना धर्म में अन्धश्रद्धा अथवा अन्धमान्यताएँ स्थान ले लेती हैं। इसलिए धर्म में आने वाली विकृतियों का शोधन दर्शन से सम्भव है। मात्र दर्शन भी जीवन को तब तक सार्थक नहीं बनाता जब तक व्यक्ति आचरण को नहीं सुधारता है। इसलिए धर्म एवं दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं।

धर्म से व्यापक क्षेत्र है दर्शन का। धर्म का क्षेत्र आत्म-शुद्धि एवं उसके उपायों तक सीमित है, जबकि दर्शन के अन्तर्गत लोक, तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं आचारमीमांसा की भी चर्चा समाविष्ट हो जाती है। जैन परम्परा धर्म एवं दर्शन दोनों से समृद्ध है।

इसमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संयम, तप, स्वाध्याय, ध्यान, सामायिकादि षडावश्यक, समाधि-मरण आदि विषय आचार-प्रधान होने के कारण धर्म से सम्बद्ध हैं। किन्तु जब इनमें वैचारिकता एवं तर्कसंगतता का समावेश होता है तो ये विषय दर्शन के क्षेत्र में आचारमीमांसा से जुड़ जाते हैं। लोक में विद्यमान धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्य, बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रिया से सम्बन्धित जीवादि नवतत्त्व, कर्म-सिद्धान्त, अनेकान्तवाद आदि विषय विचारप्रधान होने के कारण दार्शनिक हैं तथा तत्त्वमीमांसा से सम्बद्ध हैं। मतिज्ञान आदि पंचविध ज्ञानों की चर्चा ज्ञानमीमांसा से तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणों की चर्चा प्रमाणमीमांसा से युक्त है।

अनेक लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि जैनदर्शन में कोई मौलिकता नहीं है, मात्र वैदिक दर्शनों के विचारों का ही इसमें समावेश कर लिया गया है। वस्तुतः यह आक्षेप उन लोगों का है जो जैनदर्शन की मौलिकता एवं व्यापक दृष्टि से अनभिज्ञ हैं। जैनदर्शन की मौलिकता तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा सभी स्तरों पर दृग्गोचर होती है। यदि जैनदर्शन के कतिपय पारिभाषिक शब्दों पर ही दृष्टिपात किया जाए तो भी इसकी मौलिकता का अनुमान सहज हो जाता है। उदाहरण के लिए लेश्या, गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, दण्डक, औदारिक

शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समुद्घात, पर्याप्ति, संज्ञी-असंज्ञी, सम्मूर्च्छिम-जन्म, उपपात-जन्म, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्यायज्ञान, दर्शनमोहनीय, चारित्र-मोहनीय, ज्ञानावरणादि अष्टविध-कर्म, अपवर्त्य आयु, अनपवर्त्य आयु, विस्रसा परिणमन, प्रयोग-परिणमन, पल्योपम, सागरोपम, पुद्गल-परावर्तन, अस्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पर्याय, नय, निक्षेप, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि ऐसे शताधिक शब्द हैं, जो मात्र जैन दर्शन में प्राप्त होते हैं, अन्य दर्शनों में नहीं। ये पारिभाषिक शब्द जैनदर्शन को मौलिक सिद्ध करने हेतु पर्याप्त हैं।

जैनागमों की वर्णनशैली भी विशिष्ट है। कई प्रश्नों के उत्तर भगवान महावीर के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर दिए गए हैं। कहीं द्रव्य एवं पर्याय के आधार पर प्रश्नों का समाधान किया गया है। उदाहरण के लिए नारक आदि जीव शाश्वत हैं या अशाश्वत, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने फरमाया कि जीव-द्रव्य की दृष्टि से नारकादि जीव शाश्वत हैं तथा मनुष्य, तिर्यंच एवं देव की विभिन्न पर्यायों को ग्रहण करने की अपेक्षा अशाश्वत हैं। जिस भ्रमर को हम काले रंग का जानते हैं, उसे व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में निश्चय नय से पाँच वर्णों का बताया गया है। यह कथन आज के विज्ञान से भी अविरुद्ध है।

जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसा न्याय-वैशेषिक आदि वस्तुवादी दर्शनों से कुछ विशिष्टता रखती है। वस्तुवादी जैनदर्शन में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय नामक दो द्रव्य ऐसे हैं, जो अन्य किसी भारतीय दर्शन में विवेचित नहीं हैं। धर्मास्तिकाय वह द्रव्य है जो सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है तथा जीव व पुद्गल की गति-क्रिया में सहायक है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है तथा जीव एवं पुद्गल की स्थिति में सहायक है। ये दोनों द्रव्य हमें दृग्गोचर नहीं होते, क्योंकि ये वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से रहित हैं। आकाश को न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन शब्द गुण वाला प्रतिपादित करते हैं, जबकि जैनदर्शन में इसे धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीव आदि द्रव्यों को स्थान देने वाला अर्थात् अवगाह लक्षण वाला निरूपित किया गया है। जैनदर्शन में पंचभूतों की मान्यता नहीं है। प्रायः भारतीय परम्परा में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश को पंचमहाभूत कहा गया है। जैनदर्शन में आकाश को अजीव द्रव्य के रूप में तथा शेष चार को सजीव होने पर एकेन्द्रिय जीवों के

अन्तर्गत तथा अजीव होने पर पुद्गल के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। पुद्गल वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से युक्त होता है। एक परमाणु में भी इन चारों की अवस्थिति होती है। वैशेषिक आदि दर्शन वायु में स्पर्श, अग्नि में स्पर्श एवं रूप, जल में स्पर्श-रूप-रस तथा पृथ्वी में इन तीनों के साथ गंध गुण स्वीकार करते हैं, जबकि जैन मत में ये चारों गुण एक साथ माने गए हैं। प्रत्येक पुद्गल में एवं उसके प्रत्येक खण्ड या अंश में ये सभी उपलब्ध रहते हैं। काल के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में जो स्वरूप प्राप्त होता है, उससे जैनदर्शन के स्वरूप में कंथचित् साम्य है, क्योंकि काल के आधार पर ज्येष्ठ-कनिष्ठ का भेद वे भी स्वीकार करते हैं और जैन दर्शन भी। किन्तु काल में वर्तना एवं परिणाम लक्षण का प्रतिपादन जैनदर्शन की मौलिकता है। इसके साथ ही समय, काल द्रव्य का सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश स्वीकार किया गया है, जो आज के विज्ञान में मान्य सैकेण्ड के लाखवें अंश से भी सूक्ष्म है। पलक झपकने जितने काल में असंख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं। काल की गणना करना अत्यन्त कठिन है, अतः जैनपरम्परा में उपमाओं के आधार पर उसे पल्योपम, सागरोपम, पुद्गल-परावर्तन आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। आत्मा एवं जीव शब्द का प्रयोग जैन दर्शन में एकार्थक है। ज्ञान एवं दर्शन जीव के प्रमुख लक्षण एवं स्वरूप हैं। आत्मा किसी भी अवस्था में इन दोनों गुणों से रहित नहीं होती, ज्ञान एवं दर्शन के व्यापार (प्रवृत्ति) को उपयोग कहा गया है। प्रत्येक जीव उपयोग युक्त होता है। वह अमूर्तिक, कर्ता एवं भोक्ता होता है। अपने कर्मों का फल-भोग वह जीव तत्काल या कालान्तर में अवश्य करता है। साधना के द्वारा वह उस फल-भोग की स्थिति एवं तीव्रता को कम भी कर सकता है। जब तक कर्म शेष हैं तब तक संसार में परिभ्रमण जारी रहता है। किन्तु जैन दर्शन यह मानता है कि जीव एक शरीर को छोड़कर नया शरीर एक समय से लेकर अधिकतम चार समय में ग्रहण कर लेता है। कई लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि अन्यत्र जन्म नहीं होने तक आत्मा यहाँ भटकती रहती है। जैनदर्शन के अनुसार पुनर्जन्म होने में कोई विशेष काल व्यतीत नहीं होता, जीव तुरन्त ही अन्य भव में जन्म ग्रहण कर लेता है।

वस्तु की विवेचना में जैनदर्शन स्याद्वाद का प्रयोग करता है तथा वस्तु को वह अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक स्वीकार करता है। यही अनेकान्तवाद का मूल

है। वस्तु का यह स्वरूप जैनदार्शनिक तत्त्वमीमांसीय विवेचन का आधार बना है। वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए एवं कथन करने के लिए नयों का प्रयोग किया जाता है। जब किसी दृष्टिकोण विशेष से कथन किया जाता है तो उसकी अभिव्यक्ति स्यात् शब्द से की जाती है। इसे ही स्याद्वाद कहा गया है। जैन दार्शनिकों ने विभिन्न तर्कों के आधार पर वस्तु की अनेकान्तात्मकता को सिद्ध किया है, जिसके अनुसार वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक, नित्यानित्यात्मक, सामान्यविशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, भावाभावात्मक तथा एकानेकात्मक कही गई है। अनेकान्तवाद की यह दृष्टि जैनदर्शन के विकास का आधार बनी है। इसी का सुपरिणाम है कि जैनदर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त का विचार करते हुए काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ इन पंच कारण-समवाय के सिद्धान्त का विकास हुआ।

ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय परम्परा में मात्र जैनदर्शन ही ऐसा दर्शन है, जिसमें ज्ञान को पाँच प्रकारों में विभक्त करते हुए उनके स्वरूपों की विशिष्ट व्याख्या की गई है। पाँच ज्ञान हैं- मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से हम प्रायः मतिज्ञान से परिचित हैं, जो इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है। बुद्धि से होने वाला ज्ञान भी मतिज्ञान के अन्तर्गत ही समाविष्ट होता है। पूर्वजन्म का स्मरण , जिसे जातिस्मरण ज्ञान कहा जाता है वह भी मतिज्ञान का ही एक स्वरूप है। समस्त स्मृतिज्ञान, पहचानने रूप प्रत्यभिज्ञान, तर्कज्ञान एवं अनुमान से होने वाला ज्ञान भी मतिज्ञान ही है। यह ज्ञान जब सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है तो इसे सम्यग्ज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है तथा जब यह इसके अभाव में होता है तो अज्ञान कहा जाता है। मतिज्ञान से श्रेष्ठ है श्रुतज्ञान। यह भी सम्यग्दर्शन के सद्भाव में सम्यग्ज्ञान तथा उसके अभाव में अज्ञान माना गया है। प्रत्येक संसारी जीव में मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान- ये दो ज्ञान 'ज्ञान' या 'अज्ञान' के रूप में अवश्य पाए जाते हैं। श्रुतज्ञान ही ऐसा ज्ञान है, जो मुक्ति में सहायक है। इसकी तुलना केवलज्ञान से की गई है। केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष, यही दोनों में भेद है। श्रुतज्ञान से ही मनुष्य को यह प्रकाश प्राप्त होता है कि उसे क्या छोड़ना है और क्या ग्रहण करना है तथा कैसे आत्म-शुद्धि की ओर आगे बढ़ना है। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता

है। शेष तीन ज्ञान सब जीवों को नहीं होते। अवधिज्ञान नारकों और देवों को जन्म से तथा तिर्यंच एवं मनुष्य को विशेष क्षयोपशम से प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत वर्ण-गंध-रस-स्पर्श से युक्त पदार्थों का इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना सीधे आत्मा से ज्ञान होता है। मनः पर्यायज्ञान के द्वारा दूसरे के मन की पर्यायों को जाना जाता है तथा केवलज्ञान वह ज्ञान है जिससे समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों का साक्षात्कार किया जाता है। यह शुद्ध ज्ञान मोहकर्म के साथ ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षय होने पर प्रकट होता है। यह पूर्ण, अनन्त एवं अक्षय ज्ञान है, जिसके पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। संसार में रहते हुए भी केवली मुक्त ही होता है तथा शरीर छूटने के साथ वह सिद्ध हो जाता है।

मुक्ति का प्रारम्भ तब ही हो जाता है जब किसी व्यक्ति को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। सम्यग्दर्शन से ही जीव को सही दिशा मिलती है। अपने एवं पर-पदार्थो के स्वरूप में भेद ज्ञान की प्रतीति होने पर सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति होती है। यह मोह कर्म के न्यून होने पर ही सम्भव है। प्रगाढ़ मोहयुक्त जीव सही एवं गलत का भेद करने में समर्थ नहीं होता, उसे अपने गुण-दोषों को जानने की क्षमता प्राप्त नहीं होती। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर मोह-कर्म का पूर्ण क्षय निश्चित है। सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान सम्यक् होता है तथा ज्ञान सम्यक् होने पर ही आचरण सम्यक् होता है। इन तीनों के होने पर ही मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है।

ज्ञान को ही जैन परम्परा में प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रमाण का प्रयोग जीवन- व्यवहार के लिए हुआ है, अतः इसमें सम्यग्दर्शन की शर्त नहीं है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान तो प्रमाण होता ही है, किन्तु मिथ्यात्वी का ज्ञान भी जीवन-व्यवहार की दृष्टि से संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय से रहित होने पर प्रमाण स्वीकार किया गया है। उमास्वाति ने प्रमाण के दो भेद किए हैं- प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। उन्होंने सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि में तथा इन्द्रियादि की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष की कोटि में रखा। तदनुसार मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत तथा अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत विभक्त होते हैं। आगे चलकर जिनभद्रगणि ने इन्द्रिय एवं मन से होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में प्रतिष्ठित किया, जिसे भट्ट अकलङ्क आदि दार्शनिकों ने अपनाया। भट्ट अकलङ्क ने प्रत्यक्ष के मुख्य एवं

सांव्यवहारिक ये दो भेद किए तथा परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम का व्यवस्थापन किया। जैन न्याय में जब ज्ञान को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित किया गया तो प्रश्न उठा कि क्या मतिज्ञान का भेद अवग्रह भी प्रमाण है? प्रमाण को निश्चयात्मक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि अवग्रह ज्ञान सामान्यग्राही होता है। निश्चयात्मकता उसके पश्चात् होने वाले ईहाज्ञान में भी नहीं होती, स्पष्टतः अवाय ज्ञान में होती है। इस विषय पर दार्शनिकों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अवग्रह के एक भेद अर्थावग्रह को कंथचित् प्रमाण माना जा सकता है, किन्तु उसके अन्य भेद व्यंजनावग्रह को नहीं।

नय भी ज्ञानात्मक होता है, किन्तु उसे प्रमाण का अंश माना गया है। नय एक प्रकार से जानने का एक दृष्टिकोण है, जिसका प्रतिपादन जैन दर्शन की विशेषता है। अन्य दर्शनों में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत- इन सात नयों का उल्लेख नहीं मिलता , इसलिए नयों का प्रतिपादन भी जैनदर्शन की विशेषता को इंगित करता है। नयों के द्वारा जाना भी जाता है एवं अभिव्यक्ति भी की जाती है। किसी अपेक्षा से जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नय हैं। नय की भाँति निक्षेप भी जैन दर्शन का विशिष्ट शब्द है। नय के द्वारा जहाँ वाक्यों का अर्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ निक्षेप के द्वारा शब्दों का अर्थ ग्रहण किया जाता है।

आचारमीमांसा की दृष्टि से भी जैन धर्म-दर्शन समृद्ध है। इसमें अहिंसा का जैसा सूक्ष्म एवं तार्किक विवेचन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रायः यह समझा जाता है कि हिंसा पाप है, कर्मबन्ध की हेतु है, इसलिए हिंसा त्याज्य है, किन्तु जैन आगमों में हिंसा-त्याग के अन्य कारण भी दिए गए हैं। वहाँ सभी प्राणियों के जीने की अभिलाषा के प्रति आदर एवं उनके प्रति संवेदनशीलता को गहरा किया गया है। हिंसा को अहित एवं अबोधि का सूचक बताया गया है। अहिंसा न केवल व्यक्तिगत हित का दर्शन है, अपितु यह समाजदर्शन के रूप में भी उभर कर आती है। हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जितना उपादेय है उतना ही सामाजिक दृष्टि से भी। जिस प्रकार मुझे अपना आयुष्य प्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी उनका जीवन एवं आयुष्य प्रिय है। किसी भी प्राणी का शोषण नहीं किया जाना चाहिए किसी को भी गुलाम नहीं बनाया जाना चाहिए। सबके प्रति आत्मवद्भाव एवं

मैत्रीभाव के विकास की आवश्यकता है। हिंसा से कभी हिंसा की शुद्धि नहीं होती। इसलिए अहिंसा ही मानवजाति के लिए हितावह है। जैनदर्शन में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रसकायिक जीवों की रक्षा द्वारा पर्यावरण-संरक्षण तथा हिंसा को न्यूनतम करने का संदेश प्राप्त होता है।

अपरिग्रह का सिद्धान्त जहाँ ममत्व एवं आसक्ति को तोड़ने में सहायक है वहाँ वह सतत आर्थिक विकास एवं समृद्धि का भी सूत्रपात करता है। परिग्रह की लालसा के कारण दूसरे के प्रति संवेदनशीलता का समापन एवं क्रूरता का प्रवेश हो जाता है। स्वहित के प्रति अनभिज्ञता बढ़ती है तथा धन-सम्पदा आदि के समक्ष मानवता का दृष्टिकोण भी फीका पड़ जाता है। अपरिग्रही होने का तात्पर्य निर्धन या दरिद्र होना नहीं, अपितु पर पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग करना ही अपरिग्रही होना है। मनुष्य को संगृहीत पदार्थ के प्रति स्वामित्व की अभिलाषा नहीं, अपितु सदुपयोग का भाव रखना चाहिए। जो इच्छाओं को अल्प कर लेता है वह स्वयं भी सुखी हो जाता है तथा दूसरों के लिए भी वस्तुओं की उपलब्धि में सहयोगी हो जाता है। अपरिग्रह का विचार योगसूत्र में भी हुआ है तथा प्रकारान्तर से अपरिग्रह का विचार विश्व के अनेक विचारकों से पुष्टि प्राप्त कर चुका है। जैनदर्शन में परिग्रह को बन्धन एवं पराधीनता का कारण माना गया है, जबकि अपरिग्रह को सुख एवं शान्ति का साधन।

आर्थिक विकास की दौड़ में परिग्रह का परिमाण करना एक कठिन कदम है, किन्तु तृष्णा एवं लालसा के क्षितिज का अन्त कहीं नहीं आता। फलतः दुःख का अन्त नहीं होता। दुःख का अन्त करने के लिए परिग्रह का परिमाण एक उपयोगी एवं आवश्यक कदम है। अर्थ का विकास ही विकास नहीं है, शिक्षा, संस्कृति एवं सोच का विकास भी आवश्यक है।

मनुष्य आज अधिकाधिक वस्तुओं का भोगोपभोग करना चाहता है, जिससे प्राकृतिक पर्यावरण प्रदूषित होता है। पर्यावरण संरक्षण के लिए जैन धर्म में मनुष्य को भोग-उपभोग की वस्तुओं का परिमाण करने की शिक्षा दी गई है। वह जितना भोग्य वस्तुओं का सीमांकन करेगा उतना ही प्राकृतिक संसाधनों का अनावश्यक दोहन रुकेगा एवं स्वयं भी पराधीनता के दुःख से बच सकेगा।

जैन धर्म-दर्शन की एक प्रमुख विशेषता है-संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण। मृत्यु का समतापूर्वक स्वागत करना एक उच्च कोटि की साधना है। इसमें होने वाले मरण को पण्डित मरण भी कहा गया है। इस मरण के पूर्व क्रोधादि कषायों तथा शरीर को कृश किया जाता है, फिर एक बिछौना (संस्तारक) अंगीकार कर आहार का पूरी तरह त्याग करते हुए सबसे क्षमायाचना की जाती है तथा आत्मशुद्धि में सहायक भावनाओं का आलम्बन लिया जाता है। समाधिमरण एक प्रकार से मरण की उत्कृष्ट कला एवं साधना है, यह आत्महत्या नहीं है,क्योंकि इसमें बिना किसी आवेश के सहजतापूर्वक समताभाव की साधना की जाती है।

नियमित रूप से आत्मशुद्धि के लिए जैन परम्परा में अनेक उपाय निर्दिष्ट हैं, जिनमें एक उपाय प्रतिक्रमण है। साधक के द्वारा प्रतिदिन क्या दोष हुआ है, उसका प्रातःकाल एवं सायंकाल परिमार्जन करने हेतु वह प्रतिक्रमण करता है। इससे साधना में सजगता रहती है। आचारांगसूत्र में साधना में सजगता किं वा अप्रमत्तता पर विशेष बल दिया गया है। आत्मस्वरूप की विस्मृति प्रमाद है। अज्ञानी व्यक्ति तो आत्मस्वरूप की विस्मृति में ही जीता है, किन्तु ज्ञानी भी प्रमाद के वशीभूत होकर दोषों का शिकार हो जाता है। जो प्रमाद में जीता है, वह भयभीत होता है तथा जो अप्रमत्त होकर जीता है, वह निर्भय होता है। दुःखमुक्ति की साधना में अप्रमत्त होना अनिवार्य है।

तीर्थंकरों ने जनसाधारण को लाभान्वित करने के लिए लोक भाषा प्राकृत में जो उपदेश दिया, उसे गणधरों एवं आचार्यों ने आगमों के रूप में प्रस्तुत किया। इन आगमों में आध्यात्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, जो मानवसमुदाय एवं इतिहासविदों के लिए आज भी उपयोगी है। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन आदि आगमों में अनेक जिज्ञासाओं के समाधान प्राप्त होते हैं। एक महत्त्वपूर्ण आगम है- 'इसिभासियाइं'। इस आगम में याज्ञवल्क्य, असित देवल, अंगर्षि आदि सतरह वैदिक ऋषियों, महाकश्यप, मातंग, साचिपुत्र आदि पाँच बौद्ध ऋषियों एवं ऋषिपुष्पशाल, तेतलिपुत्र, पार्श्व, वर्द्धमान आदि बारह निर्ग्रन्थ ऋषियों सहित 45 ऋषियों के वचन बड़े आदर के साथ संगृहीत हैं, जिनमें अधिकतर ऋषियों को अर्हत् कहा गया है। इसमें जैन परम्परा की व्यापक दृष्टि एवं उदारता का परिचय

मिलता है। इन ऋषियों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचार मानवजाति के लिए दिग्बोधक हैं।

जैनदर्शन को उमास्वाति, कुन्दकुन्द, सिद्धसेन, समन्तभद्र, जिनभद्रगणि, हरिभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्द, शीलाङ्क, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, वादिदेव, मलयगिरि, यशोविजय आदि अनेक आचार्यों ने अपनी कृतियों से समृद्ध बनाया है। जैनदर्शन को प्रथम बार संस्कृत-सूत्रों में निबद्ध करने वाले दार्शनिक उमास्वाति की दो कृतियों तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरतिप्रकरण की प्रस्तुत पुस्तक में तुलना की गई है, जिससे अनेक नूतन तथ्य उद्घाटित हुए हैं। जीवादि नव तत्त्वों में पुण्य-पाप तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता पर भी विचार किया गया है।

जैनदर्शन का वैशिष्ट्य अन्य धर्म-दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर विदित होता है। वैदिक एवं बौद्ध परम्परा के चिन्तन से जैनदर्शन का चिन्तन किन बिन्दुओं एवं किन आधारों पर भिन्न है, यह अध्ययन जैनदर्शन की विशेषताओं एवं समानताओं को उजागर करता है। एक- दूसरे दर्शन पर वैचारिक प्रभाव का भी इससे बोध होता है। प्रस्तुत पुस्तक में बौद्ध एवं जैन परम्परा तथा वैदिक एवं जैन परम्परा के चिन्तन पर भी तुलनात्मक विचार किया गया है। जैनपरम्परानुसार वीतरागता एवं भगवद्गीता के संदर्भ में स्थितप्रज्ञता की अवधारणा के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन दोनों में परस्पर कितना साम्य है तथा कितना भेद है। उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित वीतरागता हमें समतारूप साधना के रूप में ज्ञात होती है, जो भगवद्गीता की स्थितप्रज्ञता से साम्य रखती है। कषाय का पूर्ण क्षय होने पर जो वीतरागता प्राप्त होती है वह जैनदर्शन में साध्यरूप है, गीता में उसे ब्राह्मी स्थिति कहा गया है।

एक ही धराभाग पर पल्लवित पुष्पित होने के कारण वैदिक एवं जैन परम्परा में अन्तःसम्बन्ध रहा है तथा परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान भी हुआ है। इसकी कुछ चर्चा पुस्तक के "जैन आगम-परम्परा एवं निगम-परम्परा में अन्तःसम्बन्ध" आलेख में हुई है। जैन और बौद्ध दोनों धर्म-दर्शन श्रमण संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। दोनों की 'श्रम' अर्थात् 'पुरुषार्थ' में आस्था है। दोनों ने जगत् का स्रष्टा ईश्वर को नहीं माना है। बुद्ध एवं महावीर दोनों का विचरण क्षेत्र प्रायः समान ही रहा तथा दोनों ने जनसमुदाय को लोकभाषा में सम्बोधित कर अपनी-अपनी दृष्टि से मुक्ति

का मार्ग प्रस्तुत किया। इन दोनों धर्म-दर्शनों में रही समानता एवं असमानता की चर्चा पुस्तक के दो लेखों में हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता का निर्धारण पाठक स्वयं करेंगे। पुस्तक के आलेखों में प्रदत्त संदर्भों के स्वरूप में एकरूपता नहीं रह पाई है, क्योंकि ये आलेख विगत दो दशकों में समय-समय पर भिन्न-भिन्न रीति से लिखे गए थे। उन्हें ही संशोधित एवं संवर्धित कर पुस्तक का आकार प्रदान किया गया है।

परम आदरणीय पद्मभूषण श्री देवेन्द्रराज जी मेहता का मुझे शिक्षा- काल से ही पूर्ण आशीर्वाद एवं स्नेह मिलता रहा है। उन्हीं की यह कृपा है कि मैं अपने आलेखों को संकलित कर पुस्तक का स्वरूप प्रदान करने हेतु प्रवृत्त हुआ। उनके प्रति मैं श्रद्धा एवं आदर के साथ कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आलेखों के पुनरीक्षण एवं संवर्धन में डॉ. श्वेता जैन के अमूल्य सुझाव उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्रूफ संशोधन में श्री देवेन्द्रनाथ जी मोदी का विशेष योगदान रहा है। मैं इन दोनों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

'जैन धर्म-दर्शन : एक अनुशीलन' पुस्तक के प्रकाशन का सहर्ष दायित्व अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर ने स्वीकार कर मुझे कृतार्थ किया है। इण्डियन मैप सर्विस के डॉ. आर.पी.आर्य के प्रति निष्ठा एवं तत्परतापूर्वक कार्य-सम्पादन के लिए मैं अनुगृहीत हूँ। यह पुस्तक जैन धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में पाठकों की जिज्ञासाओं का शमन करने में यदि किञ्चित् भी सहायक सिद्ध हुई तथा उनकी रुचि को अभिवृद्ध कर सकी, तो मुझे महती प्रसन्नता का अनुभव होगा।

3 K 24-25 कुड़ी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर

– धर्मचन्द जैन

दूरभाष - 0291-2730081, मो. 09413253084

Email- dcjain.jnvu@gmail.com

अर्द्धमागधी आगम-साहित्य में अस्तिकाय

'अस्तिकाय' जैन दर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है, जो लोक या ब्रह्माण्ड के स्वरूप का निर्धारण करता है। अस्तिकाय का निरूपण एवं विवेचन शौरसेनी, अर्द्धमागधी एवं संस्कृत भाषा में रचित आगम-ग्रंथों, सूत्रों, टीकाओं एवं प्रकरण ग्रंथों में विस्तार से समुपलब्ध है, किन्तु प्रस्तुत लेख में अर्द्धमागधी आगमों में निरूपित पंचास्तिकाय पर विचार करना ही समभिप्रेत है। अर्द्धमागधी भाषा में निबद्ध आगम श्वेताम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दिगम्बर परम्परा इन्हें मान्य नहीं करती। उसमें मान्य षट्खण्डागम, कसायपाहुड, समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि (आगम) ग्रंथ शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं।

अर्द्धमागधी आगमों में मुख्यतः व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, जीवाजीवाभिगमसूत्र, समवायांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि में पंचास्तिकाय एवं षड् द्रव्यों का निरूपण सम्प्राप्त होता है। इसिभासियाइं ग्रंथ भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[1]

अस्तिकाय पाँच हैं[2] -1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय और 5. पुद्गलास्तिकाय।

द्रव्य को छह प्रकार का प्रतिपादित करते समय अद्धासमय (काल) को भी पंचास्तिकाय के साथ जोड़कर निरूपित किया जाता है।[3] अस्तिकाय एवं द्रव्य दो भिन्न शब्द हैं, अतः इनके अर्थ में भी कुछ भेद होना चाहिये। अस्तिकाय द्रव्य हैं, किन्तु द्रव्यमात्र अस्तिकाय नहीं है।

'अस्तिकाय' (अत्थिकाय) शब्द का विवेचन करते हुए आगम टीकाकार अभयदेवसूरि कहते हैं- **'अस्ति' इत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना। अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति - अस्तिकायाः।**[4] 'अस्ति' शब्द त्रिकाल का वाचक निपात है, अर्थात् 'अस्ति' से भूतकाल, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों में रहने वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। 'काय' शब्द 'राशि' या समूह का वाचक है। जो काय अर्थात् राशि तीनों कालों में रहे, वह अस्तिकाय है। अस्तिकाय की एक अन्य व्युत्पत्ति में अस्ति का अर्थ प्रदेश

करते हुए प्रदेशों की राशि या प्रदेश समूह को अस्तिकाय कहा गया है- **अस्तिशब्देन प्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः**।[5] इस अस्तिकाय के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या हो जाती है। 'अस्तिकाय' को व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के आधार पर अधिक स्पष्टरूपेण समझा जा सकता है। वहाँ पर तीर्थंकर महावीर से उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर ने जो संवाद किया, वह इस प्रकार है।[6]

प्रश्न - भंते! क्या धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

उत्तर - गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात् धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता)

प्रश्न - भंते! क्या धर्मास्तिकाय के दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दस, संख्यात और असंख्यात प्रदेशों को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

उत्तर - गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न - भंते! एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय को क्या 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

उत्तर - गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न - भंते! किस कारण से ऐसा कहा जा सकता है ?

उत्तर - गौतम! जिस प्रकार चक्र के खण्ड को चक्र नहीं कहते, किन्तु सम्पूर्ण को चक्र कहते हैं। इसी प्रकार गौतम! धर्मास्तिकाय के प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता है। यावत् एक प्रदेश न्यून तक को भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न - भंते! फिर धर्मास्तिकाय किसे कहा जा सकता है ?

उत्तर - गौतम! धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं, जब वे कृत्स्न, परिपूर्ण, निरवशेष एक के ग्रहण से सब ग्रहण हो जाएं, तब गौतम! उसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय की भाँति व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का भी अखण्ड स्वरूप में अस्तिकायत्व स्वीकार किया गया है। यह अवश्य है कि जहाँ धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं, वहाँ आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय के

अनन्त प्रदेश हैं।[7] इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार धर्मास्तिकाय के अन्तर्गत निरवशेष असंख्यात प्रदेशों का ग्रहण होता है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय आदि के भी अपने समस्त प्रदेशों का उस अस्तिकाय में ग्रहण होता है। एक प्रदेश भी न्यून होने पर उसे तत् तत् अस्तिकाय नहीं कहा जाता।

अस्तिकाय का द्रव्य से भेद

अस्तिकाय का द्रव्य से यही भेद है कि अस्तिकाय में जहाँ धर्मास्तिकाय आदि के अखण्ड निरवशेष स्वरूप का ग्रहण होता है, वहाँ धर्मद्रव्य आदि में उसके अंश का भी ग्रहण हो जाता है । परमार्थतः धर्मास्तिकाय अखण्ड द्रव्य है, उसके अंश नहीं होते हैं । अतः इसे समझने के लिए पुद्गलास्तिकाय का उदाहरण अधिक उपयुक्त है । जब समस्त पुद्गल द्रव्यों का अखण्ड रूप से ग्रहण किया जाएगा तब वह पुद्गलास्तिकाय कहलायेगा तथा टेबल, कुर्सी, पेन, पुस्तक, मकान आदि पुद्गल द्रव्य कहलायेंगे, पुद्गलास्तिकाय नहीं । टेबल आदि पुद्गल तो हैं, किन्तु पुद्गलास्तिकाय नहीं। क्योंकि इनमें समस्त पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता है । अतः टेबल, कुर्सी, आदि को पुद्गल द्रव्य कहना उपयुक्त है। इसी प्रकार जीवास्तिकाय में समस्त जीवों का ग्रहण हो जाता है, उसमें कोई भी जीव छूटता नहीं है, जबकि अलग-अलग, एक-एक जीव भी जीव द्रव्य कहे जा सकते हैं । यह अस्तिकाय एवं द्रव्य का सूक्ष्म भेद आगमों में सन्निहित है । काल को द्रव्य तो स्वीकार किया गया है, किन्तु उसका कोई अखण्ड स्वरूप नहीं है, उसमें प्रदेशों का प्रचय भी नहीं है, अतः वह अस्तिकाय नहीं है।

'द्रव्य' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा जाता है- **द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यम्**। जो प्रतिक्षण विभिन्न पर्यायों को प्राप्त होता है वह द्रव्य है । अस्तिकाय पाँच ही हैं, जबकि द्रव्य छह हैं । व्याख्याप्रज्ञप्ति के द्वितीय शतक में पाँचों अस्तिकायों का पाँच द्वारों से वर्णन किया गया है-द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से।[8] द्रव्य से वर्णन करते हुए धर्मास्तिकाय को एक द्रव्य, अधर्मास्तिकाय को एक द्रव्य, आकाशास्तिकाय को एक द्रव्य तथा जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय को क्रमशः अनन्त जीवद्रव्य एवं अनन्त पुद्गलद्रव्य प्रतिपादित

किया गया है। इसका तात्पर्य है कि 'अस्तिकाय' जहाँ तीनों कालों में रहने वाली अखण्ड प्रचयात्मक राशि का बोधक है, वहाँ द्रव्य शब्द के द्वारा उस अस्तिकाय के खण्डों का भी ग्रहण हो जाता है। इनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय तो अखण्ड ही रहते हैं, उनके कल्पित खण्ड ही हो सकते हैं, वास्तविक नहीं, जबकि जीवास्तिकाय में अनन्त जीव द्रव्य और पुद्गलास्तिकाय में अनन्त पुद्गल द्रव्य अपने अस्तिकाय के खण्ड होकर भी अपने आप में स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में रहते हैं। नाम से वे सभी जीव जीवद्रव्य एवं सभी पुद्गल पुद्गलद्रव्य कहे जाते हैं।

अनुयोगद्वारसूत्र में द्रव्य नाम छह प्रकार का प्रतिपादित है- 1.धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय, 5. पुद्गलास्तिकाय और 6. अद्धासमय (काल)।[9]

पुद्गलास्तिकाय के एक प्रदेश अर्थात् परमाणु को कथंचित् द्रव्य, कथंचित् द्रव्यदेश कहा गया है। इसी प्रकार दो प्रदेशों को कथंचित् द्रव्य, कथंचित् अनेक द्रव्य और अनेक द्रव्यदेश कहा गया है। इसी प्रकार तीन, चार, पाँच, यावत् असंख्यात एवं अनन्त प्रदेशों के संबंध में कथन करते हुए उन्हें एक द्रव्य एवं द्रव्यदेश, अनेक द्रव्य एवं अनेक द्रव्यदेश कहा गया है।[10]

पाँच अस्तिकायों में आकाश सबका आधार है। आकाश ही अन्य अस्तिकायों को स्थान देता है। आकाशास्तिकाय लोक एवं अलोक में व्याप्त है, जबकि अन्य चार अस्तिकाय लोकव्यापी हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय से पूरा लोक स्पृष्ट है।[11]

द्रव्य का विभाजन आगमों में षड्द्रव्यों के अतिरिक्त जीव एवं अजीव के रूप में भी किया गया है, यथा-

कइविहा णं भंते! दव्वा पण्णत्ता ?

गोयमा दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा- जीवदव्वा य अजीवदव्वा य।[12]

भगवन्! द्रव्य कितने प्रकार के प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम! दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं - जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में अजीव द्रव्यों को पुनः रूपी अजीव द्रव्य एवं अरूपी अजीव द्रव्य में विभक्त किया गया है।

प्रज्ञापनासूत्र में अरूपी अजीव द्रव्य की 10 पर्याय एवं रूपी अजीव द्रव्य की 4 पर्याय निरूपित हैं। अरूपी अजीव द्रव्य की 10 पर्याय हैं[13]-

1. धर्मास्तिकाय, 2. धर्मास्तिकाय के देश, 3. धर्मास्तिकाय के प्रदेश, 4. अधर्मास्तिकाय, 5. अधर्मास्तिकाय के देश, 6. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, 7. आकाशास्तिकाय, 8. आकाशास्तिकाय के देश, 9. आकाशास्तिकाय के प्रदेश और 10. अद्धासमय।

अरूपी से तात्पर्य है वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से रहित। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल द्रव्य वर्णादि से रहित होने के कारण अरूपी हैं। रूपी द्रव्य एक ही है - पुद्गलास्तिकाय। इसके चार पर्याय हैं- स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु पुद्गल। पुद्गल का स्वतंत्र खण्ड स्कन्ध, उसका कल्पित अंश देश एवं उसका परमाणु जितना कल्पित अंश प्रदेश कहा जाता है। परमाणु पुद्गल स्वतंत्र है। देश एवं प्रदेश के धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यों में भी क्रमशः कल्पित अंश एवं परमाणु जितने कल्पित अंश ही वाच्य हैं।

रूपी अजीव द्रव्य की अनन्त पर्यायों का भी प्रतिपादन हुआ है। गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर में प्रज्ञापनासूत्र में भगवान महावीर ने स्पष्ट किया है- "गौतम! परमाणु पुद्गल अनन्त हैं, द्विप्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, यावत् दशप्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, संख्यात प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, असंख्यात प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, अनन्त प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि रूपी अजीव- पर्याय संख्यात और असंख्यात नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं।"[14]

जीवद्रव्य की भी अनन्त पर्याय स्वीकृत हैं। इसका कारण प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- असंख्यात नैरयिक हैं, असंख्यात असुरकुमार यावत् असंख्यात स्तनित कुमार हैं, असंख्यात पृथ्वीकायिक हैं, असंख्यात अप्कायिक हैं, असंख्यात तेजस्कायिक हैं, असंख्यात वायुकायिक हैं, अनन्त वनस्पतिकायिक हैं, असंख्यात द्वीन्द्रिय हैं, असंख्यात त्रीन्द्रिय हैं, असंख्यात चतुरिन्द्रिय हैं, असंख्यात पंचेन्द्रिय

तिर्यंचयोनिक हैं, असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वाणव्यन्तर हैं, असंख्यात ज्योतिष्क देव है, असंख्यात वैमानिक देव हैं, अनन्त सिद्ध हैं। इस प्रकार हे गौतम! जीवपर्याय संख्यात और असंख्यात नहीं, किन्तु अनन्त हैं।[15]

धर्मास्तिकाय गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की गति में सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहकारी होता है। आकाशास्तिकाय अन्य सभी द्रव्यों/अस्तिकायों को स्थान/ अवकाश देता है। जीवास्तिकाय चेतनागुण या उपयोगगुण वाला होता है। पुद्गलास्तिकाय वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श वाला होता है। शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप, उद्योत वाले द्रव्य भी पुद्गल होते हैं। काल वर्तना लक्षण वाला है।[16]

इनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय अजीवकाय हैं तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय अरूपीकाय हैं, क्योंकि इनमें वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श नहीं हैं। प्रदेश की अपेक्षा धर्म, अधर्म एवं एक जीव द्रव्य में असंख्यात प्रदेश माने गए हैं तथा आकाश में अनन्त प्रदेश कहे गए हैं। पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी होकर भी अनेक स्कन्ध रूप बहु प्रदेशों को ग्रहण करने की योग्यता रखता है। गुरुलघुत्व की अपेक्षा से पुद्गलास्तिकाय गुरु लघु भी है और अगुरुलघु भी, किन्तु धर्मास्तिकाय आदि शेष चार अगुरुलघु हैं।

षड्द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्य की दृष्टि से तुल्य हैं तथा सबसे अल्प हैं। उनसे जीवास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं।जीवास्तिकाय से पुद्गलास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं और पुद्गलास्तिकाय से अद्धासमय द्रव्य की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं।[17]

संख्या का यह निर्देश इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि अस्तिकाय एवं द्रव्य में भिन्नता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय में द्रव्य एवं अस्तिकाय की दृष्टि से समानता है, क्योंकि वे अस्तिकाय की दृष्टि से भी एक-एक हैं तथा द्रव्य की दृष्टि से भी एक-एक हैं। जीवास्तिकाय को द्रव्य की दृष्टि से

धर्मास्तिकाय की अपेक्षा अनन्तगुणा कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक जीव एक भिन्न द्रव्य है, इसलिए उसे अनन्तगुणा कहा गया है। पुद्गलास्तिकाय को तो द्रव्य की दृष्टि से जीव से भी अनन्तगुणा प्रतिपादित किया गया है। इसका कारण परमाणु को भी द्रव्य के रूप में समझना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह फलित होता है कि जात्यपेक्षया तो द्रव्य छह ही हैं, किन्तु व्यक्त्यपेक्षया द्रव्य अनन्त हैं। प्रत्येक वस्तु अपने आप में एक द्रव्य है। जो भी स्वतन्त्र अस्तित्ववान् वस्तु है वह द्रव्य है। इसीलिए द्रव्यापेक्षया जीव भी अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त। काल को तो पुद्गल की अपेक्षा भी अनन्तगुणा स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि अस्तिकाय एवं द्रव्य का स्वरूप पृथक् है। अस्तिकाय तो द्रव्य है, किन्तु जो द्रव्य है वह अस्तिकाय हो यह आवश्यक नहीं।

धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त द्रव्य आकाश में एक साथ रहते हुए भी एक-दूसरे को बाधित या प्रतिहत नहीं करते। वे किसी न किसी रूप में एक-दूसरे के सहकारी बनते हैं। यथा-धर्मास्तिकाय से जीवों में आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग और काययोग प्रवृत्त होते हैं। अधर्मास्तिकाय से जीवों में स्थित होना, बैठना, मन की एकाग्रता आदि कार्य होते हैं। आकाशास्तिकाय जीव एवं अजीव द्रव्य का भाजन या आश्रय है। जीवास्तिकाय से जीवों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान, केवल ज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान, चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन की अनन्त पर्यायों के उपयोग की प्राप्ति होती है। पुद्गलास्तिकाय से जीवों को औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्मण शरीर, श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ, मनोयोग, वचनयोग, काययोग और श्वासोच्छ्वास को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है।[18]

भगवतीसूत्र के बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय आदि के अनेक अभिवचन(पर्यायवाची शब्द) दिए गए हैं, जिनसे इनका विशिष्ट स्वरूप प्रकाश में आता है। उदाहरणार्थ धर्मास्तिकाय के अभिवचन हैं-धर्म या धर्मास्तिकाय, प्राणातिपात-विरमण यावत् परिग्रह-विरमण, क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शन

शल्य-विवेक, ईर्या समिति यावत् उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, मनोगुप्ति यावत् कायगुप्ति। धर्मास्तिकाय के ये अभिवचन उसे धर्म के निकट ले आते हैं। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के अधर्म, प्राणातिपात अविरमण यावत् परिग्रह-अविरमण, क्रोध-अविवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य अविवेक आदि अभिवचन अधर्मास्तिकाय को अधर्म या पाप के निकट ले आते हैं। आकाशास्तिकाय के गगन, नभ, सम, विषम आदि अनेक अभिवचन हैं। जीवास्तिकाय के अभिवचनों में जीव, प्राण, भूत, सत्त्व, चेता, आत्मा आदि के साथ पुद्गल को भी लिया गया है, जो यह सिद्ध करता है कि पुद्गल शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल में जीव के लिए भी होता रहा है। बौद्धग्रन्थों में पुद्गल शब्द जीव के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। पुद्गलास्तिकाय के अनेक अभिवचन हैं, यथा-पुद्गल, परमाणु-पुद्गल, द्विप्रदेशी यावत् संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी आदि।[19]

काल की द्रव्यता

पंचास्तिकाय के अतिरिक्त काल को द्रव्य मानने के संबंध में जैनाचार्यो में मतभेद रहा है। इस मतभेद का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति (उमास्वामी) ने **'कालश्चेत्येके'** सूत्र के द्वारा किया है। आगम में भी दोनों प्रकार की मान्यता के बीज उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ भगवान महावीर से प्रश्न किया गया - **किमिदं भंते! काले त्ति पवुच्चति** ? भगवन्! काल किसे कहा गया है ? भगवान् ने उत्तर दिया-**जीवा चेव अजीवा चेव त्ति**। अर्थात् काल को जीव और अजीव कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि काल जीव और अजीव की पर्याय ही है, भिन्न द्रव्य नहीं। यह कथन एक अपेक्षा से समीचीन है। 'लोकप्रकाश' नामक ग्रन्थ में उपाध्याय विनयविजय (17वीं शती) ने इस आगमवाक्य के आधार पर तर्क उपस्थित किया है कि वर्तना आदि पर्यायों को यदि द्रव्य माना गया तो अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः पर्यायरूप काल पृथक् द्रव्य नहीं बन सकता है।[20] विनयविजय ने इस मान्यता का खण्डन कर काल द्रव्य की स्थापना भी की है। आगम में 'अद्धासमय' के रूप में काल द्रव्य का विवेचन प्राप्त होता है, अतः लोकप्रकाश में काल को पृथक् द्रव्य सिद्ध करने हेतु तर्क उपस्थापित करते हुए कहा गया है-

1. लोक में नानाविध ऋतुभेद प्राप्त होता है, उसके पीछे कोई कारण होना चाहिए और वह काल है ।[21]
2. आम्र आदि वृक्ष अन्य समस्त कारणों के उपस्थित होने पर भी फल से वंचित रहते हैं । वे नानाशक्ति से समन्वित कालद्रव्य की अपेक्षा रखते हैं ।[22]
3. वर्तमान, अतीत एवं भविष्य का नामकरण भी काल द्रव्य के बिना संभव नहीं हो सकता तथा काल के बिना पदार्थों को पृथक्-पृथक् नहीं जाना जा सकता ।[23]
4. क्षिप्र, चिर, युगपद्, मास, वर्ष, युग आदि शब्द भी काल की सिद्धि करते हैं ।[24]
5. काल को षष्ठ द्रव्य के रूप में आगम में भी निरूपित किया गया है,यथा-**कइ णं भंते! दव्वा? गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता, तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए य ।**[25]

इस प्रकार आगम और युक्तियों से काल पृथक् द्रव्य के रूप में सिद्ध है । वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल के उपकार हैं । द्रव्य का होना ही वर्तना, उसका विभिन्न पर्यायों में परिणमन परिणाम, देशान्तर प्राप्ति आदि क्रिया, ज्येष्ठ होना परत्व तथा कनिष्ठ होना अपरत्व है । काल को परमार्थ और व्यवहार काल के रूप में दो प्रकार का प्रतिपादित किया जाता है।

जैन प्रतिपादन का वैशिष्ट्य

पंचास्तिकायात्मक या षड्द्रव्यात्मक जगत् का प्रतिपादन जैन आगम-वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है । जीव एवं पुद्गल अथवा जड़ एवं चेतन का अनुभव तो हमें होता ही है, किन्तु इनमें गति एवं स्थिति भी देखी जाती है । गति एवं स्थिति में सहायक उदासीन निमित्त के रूप में क्रमशः धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय की स्वीकृति और उसका जीव एवं पुद्गल के कारण लोकव्यापित्व स्वीकार करना संगत ही प्रतीत होता है। इन सबके आश्रय हेतु आकाशास्तिकाय का प्रतिपादन अपरिहार्य था । आकाश को लोक तक सीमित न मानकर उसे अलोक में भी स्वीकार किया गया है, क्योंकि लोक के बाहर रिक्त स्थान आकाशस्वरूप ही हो सकता है। पंचास्तिकाय के साथ पर्याप्त परिणमन के हेतु रूप में काल को मान्यता देना भी

जैन-परम्परा को आवश्यक प्रतीत हुआ। इसलिए षड् द्रव्यों की मान्यता साकार हो गई।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय की मान्यता जैन दर्शन का अपना वैशिष्ट्य है। इनका अन्य किसी भारतीय दर्शन में निरूपण नहीं हुआ है। यद्यपि सांख्यदर्शन में मान्य प्रकृति के रजोगुण से धर्मद्रव्य का तथा तमोगुण से अधर्मद्रव्य का साम्य प्रतीत होता है, किन्तु जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय स्वतन्त्र द्रव्य हैं, जबकि सांख्य में ये प्रकृति के स्वरूप हैं। दूसरी बात यह है कि धर्म एवं अधर्म द्रव्य लोकव्यापी हैं और तीसरी बात यह है कि सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण मिलकर कार्य करते हैं, जबकि जैन दर्शन में ये दोनों स्वतंत्ररूपेण कार्य में सहायक बनते हैं।

आकाश को द्रव्य रूप में प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है, किन्तु आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश भेद जैनेतर दर्शनों में प्राप्त नहीं होते। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों में 'शब्द' को आकाश द्रव्य का गुण माना गया है-'शब्दगुणकमाकाशम्',जबकि जैन दर्शन में आकाश का गुण अवगाहन करना माना गया है। शब्द को तो पुद्गल द्रव्य में सम्मिलित किया गया है।

वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को द्रव्य माना जाता है। इनमें से आकाश, काल एवं आत्मा को तो पृथक् द्रव्य के रूप में जैन दार्शनिकों ने भी अंगीकार किया है, किन्तु पृथ्वी, अप्, तेजस एवं वायु की पृथक् द्रव्यता का जैनदर्शन के अनुसार कोई औचित्य नहीं है,क्योंकि वे सजीव होने पर जीव द्रव्य में और निर्जीव होने पर पुद्गल द्रव्य में समाहित हो जाते हैं। दिशा कोई पृथक् द्रव्य नहीं है वह तो 'आकाश' की ही पर्याय है। मन को जैन दार्शनिकों ने पुद्गल में सम्मिलित किया है, क्योंकि मन पुद्गल की ही पर्याय है।

आगमों में पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय का विस्तार से निरूपण मिलता है। पुद्गल द्रव्य में 'परमाणु' का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। परमाणु पुद्गल की सबसे छोटी स्वतंत्र इकाई है। परमाणु का जैसा वर्णन आगमों में उपलब्ध होता है वह आश्चर्यजनक है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से आकार में तुल्य होकर भी वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श में भिन्न होता है। इनमें कोई काला, कोई नीला आदि वर्ण का

होता है। कोई एक गुण काला, कोई द्विगुण काला आदि होने से भी उनमें भेद होता है।

परमाणु की अस्पृशद्गति अद्भुत है। इस गति के कारण परमाणु एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सकता है।[26]

जैन दर्शन के ग्रंथों में आगे चलकर 'अस्तिकाय' के स्थान पर 'द्रव्य' शब्द का ही प्रयोग हो गया तथा वस्तु या सत् की व्याख्या 'द्रव्यपर्यायात्मक' स्वरूप से की जाने लगी। किन्तु आगमों में अस्तिकाय एवं द्रव्य के स्वरूप में भेद रहा है, यह व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र आदि में की गई चर्चा से स्पष्ट है।

सन्दर्भ :-

1. चउव्विहे लोए वियाहिते : दव्वतो लोए, खेत्तओ लोए, कालओ लोए, भावओ लोए। - इसिभासियाइं, जैन विश्व भारती लाडनूँ, अध्ययन 31
2. गोयमा! पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।- व्याख्याप्रज्ञप्ति, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, शतक 2, उद्देशक 10 सूत्र 1
3. से किं तं दव्वणामे? दव्वणामे छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए य। - अनुयोगद्वारसूत्र, आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, सूत्र-218
4. श्रीस्थानाङ्गसूत्रम्, अभयदेवसूरिवृत्तिविभूषित, भाग-2, श्री जैन आत्मानन्दसभा भावनगर, अध्ययन 4, उद्देशक 1, पृ. 330
5. वही, पृ. 330
6. द्रष्टव्य, व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 2, उद्देशक 10, सूत्र 7-8
7. णवरं पएसा अणंता भणियव्वा। - वही
8. वही, सूत्र 2-6
9. अनुयोगद्वार, सूत्र 218
10. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 8, उद्देशक 10, सूत्र 23-24
11. स्थानांगसूत्र, स्थान 4, उद्देशक 3
12. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 25, उद्देशक 2
13. प्रज्ञापनासूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, पद 5, सूत्र 500-503

14. वही, सूत्र 504
15. वही, सूत्र 438-439
16. गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
    भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं।
    वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
    नाणेण दंसणेण च सुहेण दुहेण य ।।
    सद्दंधयार उज्जोओ, पभा छायातवे इ व ।
    वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं।। - उत्तराध्ययनसूत्र, 28.9-12
17. प्रज्ञापनासूत्र, पद 3 सूत्र 270
18. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक 13, उद्देशक 4, सूत्र 24-28
19. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक 20, उद्देशक 2, सूत्र 4-8
20. अत्र द्रव्याभेदवर्ति - वर्तनादिविवक्षया।
    कालोऽपि वर्तनाद्यात्मा जीवाजीवतयोदितः
    पर्यायाणां हि द्रव्यत्वेऽनवस्थापि प्रसज्यते।
    पर्यायरूपस्तत्कालः पृथग् द्रव्यं न संभवेत्।।-लोकप्रकाश,सर्ग 28, श्लोक 13 व 15
21. वही 28.47
22. वही 28.48
23. वही 28.49
24. वही 28.53
25. लोकप्रकाश 28.55 के पश्चात्
26. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र शतक 3 सूत्र 24-25



काल का स्वरूप

आधुनिक वैज्ञानिक युग में 'काल' अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके सम्बन्ध में अनेकविध शोध हुए हैं। प्राचीन काल में भी 'काल' को लेकर गहन विचार हुआ है। काल को समस्त कार्यों का कारण मानने वाला एक सिद्धान्त रहा- कालवाद। भारतीय वाङ्मय में इसकी विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा आदि भारतीय दर्शनों में भी काल का अस्तित्त्व स्वीकार करते हुए उसकी सिद्धि में अनेक हेतु दिए गए हैं तथा उसके स्वरूप को लेकर भी पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। जैनदर्शन में भी काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार किया गया है तथा उसके स्वरूप एवं गणना पर गहन विचार किया गया है। जैनदर्शन में 'समय' को काल की इकाई माना गया है तथा अनन्त काल की गणना के लिए भी पल्योपम, सागरोपम, पुद्गल परावर्तन आदि उपमापरक शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत आलेख में भारतीय परम्परा एवं उसके दर्शन-ग्रन्थों के आधार पर काल का संक्षेप में विचार करते हुए जैनदर्शन के अनुसार काल का निरूपण किया गया है।

भारतीय परम्परा में काल

भारतीय परम्परा में काल गहन चिन्तन का विषय रहा है । विभिन्न प्राचीन भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों में एक कालवाद नामक सिद्धान्त भी मान्य रहा है, जिसका मन्तव्य है कि जो कोई भी कार्य घटित होता है, उसमें काल ही प्रमुख कारण होता है। कालवाद की इस मान्यता का प्रतिपादक एक प्रसिद्ध श्लोक है-

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ।[1]

अर्थात् काल ही पृथ्वी आदि भूतों का परिणमन करता है, काल ही प्रजा यानी जीवों को पूर्व पर्याय से प्रच्यवित कर अन्य पर्याय में स्थापित करता है । काल ही जीवों के सो जाने पर जागता है । काल की कारणता का अपाकरण नहीं हो सकता। काल को परमात्मा के रूप में भी स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद, नारायणोपनिषद्, शिवपुराण, भगवद्गीता आदि ग्रन्थ इसके साक्षी हैं । अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53-54 वें सूक्त में काल का विवेचन हुआ है । वहाँ काल की महिमा

का गान करते हुए कहा है-

कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात्, तपः कालादजायत।।
कालादाप समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः।[2]

काल ने प्रजा (जगत् एवं जीवों) को उत्पन्न किया। स्वयंभू कश्यप भी काल से उत्पन्न हुए तथा तप भी काल से उत्पन्न हुआ। काल से जल-तत्त्व उत्पन्न हुआ। काल से ही ब्रह्मा, तप और दिशाएँ उत्पन्न हुईं। काल से ही सूर्य उदित होता है तथा काल में ही निविष्ट होता है। नारायणोपनिषद् में काल को नारायण[3],शिवपुराण में काल को ईश्वर[4] तथा विष्णुपुराण में उसे ब्रह्म का परम प्रधान रूप कहा गया है।[5] भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।[6]

अर्थात् मैं लोक का क्षय करने वाला प्रवृद्ध काल हूँ तथा इस समय लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ।

कालवाद का प्रथम उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राप्त होता है-'**कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या**'[7] इसका तात्पर्य है कि काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, पुरुष आदि कारण हैं। ज्योतिर्विद्या में काल के आधार पर ही समस्त गणनाएँ की जाती हैं तथा जीवन की भूत-भविष्य की घटनाओं का आकलन काल के आधार पर किया जाता है। बुरे दिनों या अच्छे दिनों का आना आदि जनमान्यता, काल की कारणता को इंगित करती है। कालवाद की मान्यता के अनुसार काल ही सर्वविध कार्यों का कारण है।

भारतीय दर्शन-ग्रन्थों में भी काल के स्वरूप एवं उसकी कारणता का प्रतिपादन हुआ है। **वैशेषिक दर्शन** में काल को एक द्रव्य माना गया है। ''**पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि**''[8] सूत्र से स्पष्ट है कि काल एक द्रव्य है। काल का अनुमान ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व, क्रम-यौगपद्य, चिर-क्षिप्र आदि प्रत्ययों से होता है।[9] वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल नित्य है। संख्या में एक ही है। भूत, भविष्य और वर्तमान में इसे विभक्त किया जा सकता है। प्रशस्तपादभाष्य में

काल को संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग-इन पाँच गुणों से युक्त माना गया है।[10] वैशेषिक दर्शन में काल को सभी क्रियाओं का सामान्य कारण माना गया है, ऐसा '**कारणेन कालः**'[11] सूत्र से सिद्ध होता है। काल निमित्त कारण बनता है, **समवायी** कारण नहीं। न्यायदर्शन में बारह प्रमेय पदार्थों में काल की गणना नहीं की गयी है, किन्तु काल की सत्ता को स्वीकार अवश्य किया गया है। उदाहरणार्थ मन की सिद्धि करते हुए नैयायिक कहते हैं-''**युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।**''[12] यहाँ युगपद् शब्द काल का बोधक है। प्रसंगवश एक स्थल पर अक्षपाद गौतम ने दिशा, देश, काल और आकाश की कारणता के सम्बन्ध में काल शब्द का प्रयोग भी किया है।[13]

सांख्यदर्शन के 25 तत्त्वों में कहीं भी काल का उल्लेख नहीं आया है, तथापि सांख्यप्रवचनभाष्य के द्वितीय अध्याय में उल्लेख प्राप्त होता है कि दिशा और काल आकाश के ही स्वरूप हैं।[14] ये दोनों आकाश प्रकृति के गुण विशेष हैं। आकाश के विभु होने के कारण दिक् और काल भी विभु हैं। जो दिक्-काल आदि के खण्ड प्राप्त होते हैं वे उपाधि संयोग आदिं से आकाश से उत्पन्न माने गये हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन में प्रकारान्तर से काल को अंगीकार किया गया है तथा उसके विभु और खण्ड दोनों स्वरूप स्वीकार किये गए हैं। युक्तिदीपिकाकार ने उपादान का सामर्थ्य होने पर भी काल की अपेक्षा को अंगीकार किया है। सांख्य दर्शन में काल को तृतीय तुष्टि के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है।[15]

योग दर्शन में व्यासभाष्य के अन्तर्गत काल का विवेचन क्षण एवं क्रम की व्याख्या करते हुए प्राप्त होता है। क्षण को परिभाषित करते हुए व्यास कहते हैं कि एक परमाणु पूर्व स्थान को छोड़कर उत्तर स्थान को जितने समय में प्राप्त होता है वह काल 'क्षण' कहलाता है। इस क्षण के प्रवाह का विच्छेद न होना ही क्रम कहलाता है। क्षण वास्तविक है तथा क्रम का आधार है। क्रम अवास्तविक है, क्योंकि दो क्षण कभी भी साथ नहीं रहते हैं। पहले वाले क्षण के अनन्तर दूसरे क्षण का होना ही क्रम कहलाता है, इसलिए वर्तमान एक क्षण ही वास्तविक है, पूर्वोत्तर क्षण नहीं। मुहूर्त, अहोरात्र आदि जो क्षण-समाहार रूप व्यवहार है, वह बुद्धि कल्पित है, वास्तविक नहीं।[16] काल और दिक् को सांख्यदर्शन की भाँति योग

दार्शनिक विज्ञानभिक्षु ने आकाश से ही उत्पन्न स्वीकार किया है।[17] **मीमांसा दर्शन** में काल का स्वरूप वैशेषिक दर्शन के ही समान माना गया है। पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका टीका के व्याख्याकार पंडित रामकृष्ण का मंतव्य है कि वैशेषिक जहाँ काल को अप्रत्यक्ष मानते हैं, वहाँ मीमांसक मत में वह प्रत्यक्ष है।[18] अद्वैत वेदान्त दर्शन में व्यावहारिक रूप से काल को स्वीकार किया गया है। वेदान्त परिभाषा में नैमित्तिक प्रलय में काल को निमित्त माना गया है। शुद्धाद्वैत दर्शन में काल को अतीन्द्रिय होने से कार्य से अनुमित स्वीकार किया गया है।[19] **बौद्धदर्शन** में भी भूत, भविष्य एवं वर्तमान के रूप में काल स्वीकृत है। काल-क्षण को स्वीकार करने के आधार पर ही वस्तु को क्षणिक कहा गया है।

व्याकरण दर्शन में भी काल की चर्चा प्राप्त होती है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में **काल समुद्देश** के अन्तर्गत काल के स्वरूप एवं भेदों पर विचार किया है। काल को हेलाराज ने अमूर्त क्रिया के परिच्छेद का हेतु प्रतिपादित किया है- **कालोऽमूर्त्तक्रियापरिच्छेदहेतुः**।[20] उत्पत्ति, स्थिति और विनाश क्रियाओं में तथा इन क्रियाओं से युक्त पदार्थों की उत्पत्ति आदि में काल निमित्त कारण होता है।

जैनदर्शन में काल की द्रव्यता विषयक मतभेद

जैन दर्शन में काल को द्रव्य स्वीकार करने के सम्बन्ध में मत-वैभिन्य है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति अथवा उमास्वामी '**कालश्चेत्येके**'[21] सूत्र से मतभेद का संकेत करते हैं। जैन दर्शन में लोक को **षड्द्रव्यात्मक** कहा गया है[22], अतः उसमें काल द्रव्य का समावेश स्वतः हो जाता है, किन्तु भगवतीसूत्र में लोक को **पंचास्तिकायात्मक** भी कहा गया है[23] पंचास्तिकाय में काल का अन्तर्भाव नहीं होने से उसकी पृथक् द्रव्यता पर प्रश्नचिह्न उपस्थित होता है। दिगम्बर परम्परा में तो निर्विवाद रूप से काल को द्रव्य अङ्गीकार किया गया है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में दो मत हैं। कुछ श्वेताम्बर जैन दार्शनिक काल को पृथक् द्रव्य अंगीकर करते हैं तथा कुछ नहीं। इन दोनों मतों का उल्लेख जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य में, हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहणि में, उपाध्याय विनयविजय की कृति लोकप्रकाश आदि ग्रन्थों में संप्राप्त है।[24]

काल की पृथक् द्रव्यता अस्वीकृति में तर्क

जो दार्शनिक काल की पृथक् द्रव्यता अङ्गीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का पर्याय ही काल है, उसका पृथक् अस्तित्व असिद्ध है। इस मत के प्रतिपादन में व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में निरूपित भगवान् महावीर एवं गौतम गणधर के मध्य संवाद प्रमुख आधार है।[25] गौतम गणधर ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया- '**किमिदं भंते! काले त्ति पवुच्चति।**' भगवन् यह काल किसे कहा जाता है? भगवान् ने उत्तर दिया- **जीवा चेव अजीवा चेव।** अर्थात् काल जीव भी हैं और अजीव भी। जीवों की पर्याय रूप से यह काल जीवस्वरूप है एवं अजीव द्रव्यों की पर्याय रूप में यह अजीव रूप है। स्थानाङ्गसूत्र में भी कहा गया है- **समयाति वा आविलयति वा जीवाति वा अजीवाति वा पवुच्चति**[26] अर्थात् जो पर्याय उत्पन्न होती है एवं विलीन होती है, वह जीव एवं अजीव पर्याय ही होती है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य में भी काल का जीव और अजीव द्रव्यों के पर्याय रूप में उल्लेख किया गया है। वहाँ पर कथन है- "**सो वत्तणाइरूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ।**[27] वह वर्तनादिस्वरूप काल द्रव्य की ही पर्याय है। हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहणि के टीकाकार मलयगिरि का भी कथन है कि काल जीव एवं अजीव द्रव्यों का पर्याय होता है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मलयगिरि के शब्दों में- "जीवादिवस्तु से व्यतिरिक्त काल नामक परिकल्पित पदार्थ प्रत्यक्ष से कहीं उपलब्ध नहीं होता है।"[28] टीकाकार मलयगिरि यहाँ काल के द्रव्यत्व को अङ्गीकार करने वाले वैशेषिक मत को पूर्वपक्ष में उपस्थापित करते हैं- "प्रत्यक्ष से काल भले ही उपलब्ध न हो, अनुमान से तो उसकी प्राप्ति होती है, क्योंकि पूर्वापर व्यवहार देखा जाता है। वह पूर्वापर व्यवहार वस्तु के स्वरूप मात्र का निमित्त नहीं होता है, क्योंकि वह तो वर्तमान में भी होता है। इसलिए वह जिस निमित्त से होता है वह काल है। उस काल का पूर्वत्व और अपरत्व स्वयं जान लेना चाहिए, अन्यथा अनवस्था का प्रसङ्ग आता है। अतः पूर्वकालयोगी पूर्व है तथा अपरकालयोगी अपर है।" कहा गया है-"**पूर्वकालादियोगी यः स पूर्वाद्यपदेशभाक् पूर्वापरत्वं तस्यापि स्वरूपादेव नान्यतः।**"[29]

आचार्य मलयगिरि वैशेषिकों की इस युक्ति का प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि काल एक ही है तो उसमें पूर्वापरत्व कैसे सम्भव हैं ? यदि सहचारी के सम्पर्क के कारण काल की पूर्वत्व, अपरत्व आदि कल्पना की जाती है तो यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इतरेतराश्रय दोष का प्रसङ्ग आता है। क्योंकि सहचारी राम आदि की पूर्वता कालगत पूर्वत्वादि योग से होगी एवं काल की पूर्वत्वादिता सहचारी राम आदि के योग से होगी। इस प्रकार एक के असिद्ध होने पर दूसरा असिद्ध हो जाता है। इसलिए पर परिकल्पित काल युक्ति से अनुपपन्न होने के कारण वर्तनालक्षण काल ही स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि इसमें बिना कठिनाई के पूर्व आदि का प्रयोग सम्भव है, क्योंकि अतीत वर्तना को पूर्व, भावी वर्तना को अपर और तत्काल में होने वाली वर्तना को वर्तमान कहा जाता है। उस वर्तना लक्षण काल के प्रति द्रव्य भिन्न होने के कारण यह अनन्त है। इसलिए यह कथन उपयुक्त है कि वह काल जीवाजीवादि पर्याय रूप धर्म है।[30]

काल पृथक् द्रव्य नहीं है,इसकी पुष्टि में लोकप्रकाशकार उपाध्याय **विनयविजय** कहते हैं-"वर्तनादि पर्याय रूप काल जीव-अजीव का स्वरूप है एवं द्रव्य से अभिन्न हैं। वर्तनादिस्वरूप काल पृथक् द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि यदि द्रव्य की पर्याय ही पृथक् द्रव्य के रूप में स्वीकार की जायेगी तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। काल तो द्रव्यों के पर्यायरूप है, अतः वह पृथक् द्रव्य नहीं हो सकता।" उपाध्याय विनयविजय अन्य तर्क देते हुए कहते हैं,"जिस प्रकार व्योम सर्वत्र विद्यमान होने से अस्तिकाय माना जाता है तो उसी प्रकार वर्तमानस्वरूप एवं सर्वत्र व्याप्त काल को भी अस्तिकाय की कोटि में अङ्गीकार किया जाना चाहिए, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि आगमों में पाँच ही अस्तिकाय माने गए हैं"।[31] इस प्रकार जहाँ काल की पृथक् द्रव्यता का निरसन किया गया है वहाँ जैनदार्शनिक काल की पृथक् द्रव्यता को सिद्ध करने में भी अनेक हेतु प्रस्तुत करते हैं।

काल की पृथग्द्रव्यतासिद्धि में तर्क

यह तो विदित ही है कि दिगम्बर परम्परा में निर्विवाद रूप से काल को पृथक् द्रव्य अङ्गीकार किया गया है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा भी इसकी सिद्धि में अनेक तर्क प्रस्तुत करती है। आगमों में द्रव्य छह कहे गए हैं तथा अस्तिकाय पाँच। कहीं

भी यह उल्लेख नहीं है कि द्रव्य पाँच होते हैं। इस आगम संदर्भ से ही सिद्ध होता है कि काल भी एक द्रव्य है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र एवं अनुयोगद्वार सूत्र में धर्मास्तिकायादि छह द्रव्यों का कथन है।[32] काल की पृथक्द्रव्यता सिद्धि में आचार्य विद्यानन्द, मलयगिरि और उपाध्याय विनयविजय ने अनेक तर्क दिए हैं। विद्यानन्द दिगम्बर दार्शनिक हैं, किन्तु तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उन्होंने द्रव्य के लक्षण '**गुणपर्यायवद् द्रव्यम्**'[33] को काल में घटित करने का प्रयत्न किया। वे कहते हैं कि 'द्रव्य' गुण एवं पर्याययुक्त होता है। काल भी गुणयुक्त एवं पर्याययुक्त होता है। काल में सामान्यतः संयोग, विभाग, संख्या, परिमाण आदि गुण तथा विशेषरूप से सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व, एक प्रदेशत्व आदि गुण होते हैं। अन्य पदार्थों के क्रम-वर्तन में जो वर्तना आदि कारण हैं वे काल की पर्याय हैं, अतः काल भी गुणपर्यायवान् होने से द्रव्य है।[34]

प्रश्न उत्पन्न होता है कि अलोकाकाश में कालद्रव्य नहीं होता है अतः वहाँ पर्यायपरिवर्तन कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में विद्यानन्द कहते हैं कि आकाश तो अखण्ड है उसके लोकाकाश एवं अलोकाकाश भेद औपचारिक हैं। अतः लोकाकाश में कालद्रव्य के निमित्त से जो पर्याय परिर्वतन होता है वह सम्पूर्ण आकाशद्रव्य का एक साथ होता है। अतः अलोकाकाश का भी पर्याय परिवर्तन साथ ही हो जाता है।[35]

आचार्य **मलयगिरि** काल को द्रव्य सिद्ध करने हेतु निम्नलिखित तर्क देते हैं-[36]

1. धर्मास्तिकायादि पाँच द्रव्यों से पृथक् अढाई द्वीप समुद्र के भीतर रहने वाला षष्ठ काल द्रव्य है जिसके कारण बीता हुआ कल, आने वाला कल इत्यादि का ज्ञान होता है तथा ये कालवाची शब्द भी यथार्थ हैं, क्योंकि आप्त के द्वारा प्रयोग किए गए हैं।
2. आगम में भी साक्षात् कहा गया है कि छठा द्रव्य काल है, यथा "**कइ णं भंते दव्वा पण्णत्ता?! छ दव्वा पण्णत्ता तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए इति।**"
3. यह अद्धासमय पूर्वापर कोटि से रहित नहीं है, क्योंकि अत्यन्त असत् का उत्पाद नहीं होता तथा सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता, अपितु वह काल

पूर्वापर में अन्वयी है। उसका अन्वयी रूप ध्रुव है, पूर्वापरपर्याय के नाश एवं उत्पाद से उसमें व्यय एवं उत्पाद की सिद्धि होती है। अतः 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'सल्लक्षणयोग से कालद्रव्य की सत्तासिद्धि होती है।

4. '**गुणपर्यायवद् द्रव्यम्**'। (तत्त्वार्थसूत्र 5.37) एवं '**द्रव्यम् सल्लक्षणम्**' सूत्रानुसारी द्रव्यलक्षण भी काल में घटित होने से वह स्वतन्त्र द्रव्य है।

उपाध्याय **विनयविजय** ने भी काल की सिद्धि में विभिन्न तर्क दिए हैं, यथा-

1. जिस प्रकार स्कन्धादि कार्यों से परमाणु स्वरूप कारण का अनुमान होता है उसी प्रकार सूर्य आदि की गति को देखकर काल का अनुमान होता है।[37]
2. समयादि विशेष स्वरूप के आधार से काल का पृथक् द्रव्यत्व सिद्ध होता है।[38]
3. लोक में नानाविध ऋतुभेद दृष्टिगोचर होता है, जिसका कारण काल है।[39]
4. अन्य समस्त कारणों के होने पर भी आम्रादि वृक्षों में फल नहीं लगते हैं, वे नाना शक्ति समन्वित काल की अपेक्षा रखते हैं।[40]
5. काल द्रव्य को स्वीकार किए बिना वर्तमान, अतीत, भविष्यत् आदि शब्दों का प्रयोग संभव नहीं है तथा कालद्रव्य के बिना इनका पृथक् रूप से ज्ञान भी सम्भव नहीं।[41]
6. क्षिप्र, चिर, दिवस, मास, वर्ष, युग आदि शब्द भी काल द्रव्य को सिद्ध करते हैं।[42]
7. जिस शुद्ध पद से जो वाच्य होता है वह संसार में अवश्य होता है, इस अनुमान से भी काल शब्द के द्वारा कालद्रव्य की सिद्धि होती है।[43]

भट्ट अकलङ्क ने तत्त्वार्थवार्तिक में यह स्पष्ट किया है कि आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों का आधार होता है, परन्तु उनकी वर्तना में निमित्त कालद्रव्य ही होता है। कालद्रव्य की वर्तना में अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती। काल द्रव्य का वर्तना लक्षण दूसरे द्रव्यों की सत्ता सिद्ध करने के साथ स्वकाल द्रव्य की भी सत्ता सिद्ध कर देता है।[44]

काल के उपकार : वर्तनादि का स्वरूप

जैन दर्शन में काल के कुछ उपकार या कार्य स्वीकृत हैं, यथा वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।[45] इन कार्यों से कारण स्वरूप काल द्रव्य का अनुमान

होता है। वर्तना एवं परिणाम शब्दों का प्रयोग काल के स्वरूप-विवेचन में जैन दार्शनिकों ने ही किया है। वर्तना, परिणाम एवं क्रिया में अत्यन्त-सूक्ष्म भेद है। परत्वापरत्व का अभिप्राय तो जैन दर्शन में भी वही है जो वैशेषिक दर्शन में मान्य है। अर्थात् परत्व शब्द ज्येष्ठ का बोधक है एवं अपरत्व कनिष्ठ का बोध कराता है। ज्येष्ठ-कनिष्ठ का व्यवहार काल के आश्रित है । यदि काल नामक द्रव्य मान्य न हो तो ज्येष्ठ-कनिष्ठ का भेद नहीं हो सकेगा । अब वर्तना, परिणाम एवं क्रिया का स्वरूप समझ लें । तत्त्वार्थभाष्य में कहा गया है- **''सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः।**[46] समस्त पदार्थो की जो काल के आश्रित वृत्ति है वह वर्तना है । दूसरे शब्दों में कहें तो वस्तु अस्तित्व काल के आश्रित है। सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद कहते हैं- **''वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति भवति। वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना इति। धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृतिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तमानोपलक्षितः काल इति कृत्वा कालस्योपकारः।**[47] 'वर्तना' शब्द 'वृतु वर्तने' धातु से णिच् प्रत्यय एवं फिर युट् प्रत्यय लगकर बना है । वस्तु का वर्तनमात्र वर्तना है। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव एवं पुद्गल द्रव्य अपनी पर्यायों को स्वयं प्राप्त होते हैं, तथापि उनमें बाह्य उपग्रह के रूप में काल कारण बनता है । वह उदासीन निमित्त कारण होता है । वर्तना के उपादान कारण तो स्वयं धर्म, अधर्म आदि द्रव्य होते हैं । यह वर्तना उत्पत्ति, स्थिति अथवा गति के रूप में प्रथम समय आश्रित मानी गई है जैसा कि तत्त्वार्थभाष्यकार कहते हैं- **'वर्तना उत्पत्तिः स्थितिरथ गतिः प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थः।**[48] द्रव्य चाहे उत्पत्ति अवस्था में हो, चाहे स्थिति अवस्था में हो या गति अवस्था में, वह जिस भी अवस्था में प्रथम समय में वर्तमान है वह काल के वर्तना नामक उपग्रह या कार्य का फल है। परिणाम, क्रिया आदि की व्याख्या द्वितीयादि समयों के आश्रित होती है। लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय जी कहते हैं-

द्रव्यस्य परमाण्वादेर्या तद्रूपतया स्थितिः।
नवजीर्णतया वा सा वर्तना परिकीर्तिता।।[49]

अर्थात् द्रव्य की या परमाणु आदि की तत्स्वरूप से अथवा नवीनता या जीर्णता रूप से जो अवस्थिति है वह वर्तना कही गई है ।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की वर्तना बहिरंग कारण की अपेक्षा रखती है और उनका बहिरंग कारण काल है। काल के वर्तन का अन्य कोई निमित्त कारण नहीं है। यदि उसकी वर्तना का अन्य कोई निमित्त कारण माना जाए, तो अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। वर्तना को यदि धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का ही कार्य माना जाए तो उपादान कारणों की भिन्नता होने से इनसे एक प्रकार का कार्य होना सम्भव नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न उपादान कारण भिन्न-भिन्न कार्यों को जन्म देते हैं, किसी एक प्रकार के कार्य को नहीं।[50] अतः काल को ही वर्तना का कारण मानने से समस्या का निराकरण हो जाता है। परिणाम का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए पूज्यपाद कहते हैं- **''द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरानिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः। जीवस्य क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः।**[51] द्रव्य की अपरिस्पन्दात्मक पर्याय को ही परिणाम कहते हैं। यह एक धर्म की निवृत्तिरूप तथा अन्य धर्म की उत्पत्तिस्वरूप होता है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में परिणाम को स्पष्ट करते हुए कहा है- **''द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः विस्रसापरिणामोऽनादिरादिमांश्च।''**[52] स्वजाति का त्याग किए बिना द्रव्य का प्रयोग लक्षण एवं विस्रसा लक्षण विकार परिणाम कहलाता है। इनमें विस्रसा परिणाम अनादि एवं आदिमान् के भेद से दो प्रकार का है। उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में **'तद्भावः परिणामः'**[53] सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों तथा उनके गुणों का स्वभाव ही परिणाम है और वह अनादि एवं आदिमान के भेद से दो प्रकार का है।[54] धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यों में अनादि परिणाम होता है और रूपी पुद्गल द्रव्य तथा जीव में अनादि एवं आदिमान दोनों परिणाम पाये जाते हैं। यह परिणमन रूप कार्य भी काल के बिना सम्भव नहीं। पर्याय परिणमन ही यहाँ परिणाम हैं। परिणाम को स्वभाव परिणाम एवं विभाव परिणाम के रूप में भी विवेचित किया गया है। जीव के क्रोधादि परिणाम विभाव परिणाम हैं तथा ज्ञान, दर्शनादि स्वभाव परिणाम हैं।

क्रिया परिस्पन्दात्मिका होती है। तत्त्वार्थभाष्य में गति को क्रिया कहा है तथा इसे तीन प्रकार का निरूपित किया गया है- प्रयोगगति, विस्रसागति एवं मिश्रिका।[55]

पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रायोगिक एवं वैस्रसिक ये दो भेद निरूपित करते हुए शकट आदि की गति को प्रायोगिक एवं मेघ आदि की गति को वैस्रसिक कहा है।[56] शकट को अश्व या वृषभ खींचते हैं, अतः जीव के प्रयत्न से युक्त होने के कारण यह प्रायोगिकी गति है तथा मेघ आदि स्वतः स्वाभाविक गति करते हैं अतः उनकी गति वैस्रसिकी कहलाती है। लुढ़कती हुई गेंद को पैर से धक्का मारने पर जो गति होती है उसे मिश्रिका कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें स्वतः गति के साथ जीव का प्रयत्न भी सम्मिलित है। विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में क्रिया को द्रव्य की वह परिस्पन्दात्मक पर्याय माना है जो देशान्तर प्राप्ति में हेतु होती है तथा वह गति, भ्रमण आदि भेदों से युक्त होती है।[57]

अब प्रश्न यह है कि क्रिया अथवा गति में तो निमित्त कारण धर्मास्तिकाय द्रव्य है, फिर काल भी उसमें निमित्त कैसे हुआ? यहाँ समझना यह है कि धर्मास्तिकाय जहाँ पदार्थों/द्रव्यों की सर्वविध गति में सीधा निमित्त कारण है वहाँ काल द्रव्य उस गति/क्रिया की निरन्तरता या अवधि का ज्ञान कराता है एवं उसमें निमित्त भी होता है। यदि काल/समय न हो तो क्रिया की अवधारणा घटित नहीं हो सकती। व्याकरण दर्शन में जहाँ '**अमूर्तक्रियापरिच्छेदहेतुः कालः**'[58] कहा गया है वहाँ जैनदर्शन में क्रिया की निष्पत्ति में भी काल को हेतु कहा जाता है।

परत्व-अपरत्व शब्दों का प्रयोग काल के सन्दर्भ में ज्येष्ठ-कनिष्ठ, नया-पुराना आदि अर्थों में अथवा पूर्वभावी पश्चाद्भावी के अर्थ में होता है। काल को स्वीकार किए बिना परत्व-अपरत्व बोध होना कठिन है।

इस प्रकार वर्तना को प्रथम समयाश्रित, परिणाम को द्वितीयादि समयाश्रित, अपरिस्पन्दात्मक पर्याय तथा क्रिया को बहुसमयाश्रित, परिस्पन्दात्मक गति, चेष्टा आदि कहा जा सकता है। परत्व-अपरत्व के स्वरूप में कोई विवाद नहीं है। वर्तनालक्षण काल परमार्थ काल है तथा परिणामादि लक्षण काल व्यवहार काल है।[59]

काल का स्वरूप

जैन दर्शन में काल अमूर्त है तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित मान्य है। वह अगुरुलघु गुण युक्त होता है। उसका प्रमुख लक्षण वर्तना है।[60] यह अप्रदेशी

किंवा एक प्रदेशी होता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक पृथक् कालाणु की सत्ता है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है, उसके प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भांति काल द्रव्य के एक-एक कालाणु अवस्थित हैं।[61] ये भी आकाश प्रदेशों की भाँति असंख्यात हैं, किन्तु व्यवहार नय से अनन्त पर्यायों की वर्तना में निमित्त होने से यह काल अनन्त भी कहा जाता है।[62] इन कालाणुओं में स्निग्ध एवं रुक्ष गुण का अभाव होने से इनका प्रदेश प्रचय अथवा संचय नहीं बन पाता है। इसीलिए काल द्रव्य का कायत्व अथवा अस्तिकायत्व मान्य नहीं है।[63] ये कालाणु निरंश एवं निष्क्रिय होते हैं काल अनन्त समयस्वरूप होता है। तत्त्वार्थसूत्र में '**सोऽनन्तसमयः**'[64] सूत्र के द्वारा इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'समय' काल की सूक्ष्मतम इकाई है, जिसे एक सेकण्ड का भी असंख्यातवाँ भाग कहा जा सकता है। क्योंकि गणित के आधार पर एक सेकण्ड में 5825 आवलिकाएँ बीत जाती हैं एवं एक आवलिका में असंख्यात समय होते हैं।[65] दूसरी ओर एक मुहूर्त (48 मिनट) में एक करोड़ सडसठ लाख सत्तहत्तर हजार दो सौ सोलह आवलिकाएँ होती हैं।[66] वर्तमान एक समय का होता है तथा अतीत एवं अनागत अनन्त होता है।[67] पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में प्रश्न उठाया गया है कि जितने काल में आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल को समय कहते हैं तो एक समय में परमाणु चौदह रज्जु लोक तक गमन करे तो क्या जितने आकाश प्रदेश हैं, उतने ही समय मानने चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि आगम में जो परमाणु की एक समय में एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में गमन की बात कही गई है वह मन्दगति से कही गई है तथा एक समय में परमाणु का चौदह रज्जु गमन शीघ्र गति की अपेक्षा से है।[68] विद्यानन्द सूरि ने पर्याय से एवं व्यवहार से काल को अनन्त समयक माना है तथा द्रव्य से एवं परमार्थतः उसे लोकाकाश प्रदेश परिमाणक स्वीकार किया है-

सोऽनन्तसमयः प्रोक्तो भावतो व्यवहारतश्च।
द्रव्यतो जगदाकाशप्रदेशपरिमाणकः।।[69]

पर्याय से काल अनन्त समय वाला है, क्योंकि वह अनन्त पर्यायों की वर्तना का

हेतु है । एक-एक कालाणु शक्तिभेद से प्रतिक्षण अनन्त पर्यायों का वर्तन करता है। अनन्त शक्ति सम्पन्न काल व्यवहार से अनन्त समय वाला है। द्रव्य से वह लोकाकाश प्रदेश परिमाणक होने से असंख्येय ही होता है, आकाशादि के समान वह एक नहीं होता और न ही अनन्त होता है ।[70]

काल का अनस्तिकायत्व

यहाँ पर यह भी स्पष्टतः जान लेना आवश्यक है कि अस्तिकाय और द्रव्य ये दोनों भिन्न पारिभाषिक शब्द हैं । 'अस्तिकाय' में 'अस्ति' शब्द त्रिकालवाची निपात है तथा 'काय' शब्द प्रदेशों के समूह का द्योतक है ।[71] अर्थात् जो प्रदेश समूह कालत्रय में एक साथ रहते हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं । 'अस्ति' शब्द का प्रदेश अर्थ भी किया जाता है । अतः प्रदेशों का समूह अस्तिकाय कहलाता है ।[72] काल में प्रदेश प्रचय नहीं होता । प्रदेश प्रचय के अभाव में उसे अनस्तिकाय स्वीकार किया जाता है ।

अस्तिकाय एवं द्रव्य में क्या भेद है, यह व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र से स्पष्ट होता है । वहाँ गौतम गणधर का भगवान् महावीर के साथ जो संवाद हुआ[73] उससे विदित होता है कि धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय नहीं होता । उसके दो, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नव, दश, संख्यात एवं असंख्यात प्रदेश भी धर्मास्तिकाय नहीं होते । धर्मास्तिकाय का अखण्ड ग्रहण होने पर ही उसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है। एक प्रदेश भी न्यून होने पर उसे धर्मास्तिकाय कहना सम्भव नहीं । जब धर्मास्तिकाय के समस्त असंख्यात प्रदेश निरवशेष रूप से गृहीत होते हैं तभी उसे धर्मास्तिकाय, कहा जाता है । धर्मास्तिकाय के समान ही अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का भी अखण्ड रूप स्वीकार किया जाता है । अस्तिकाय एवं द्रव्य का भेद पुद्गल और जीव में पूर्णतः स्पष्ट होता है, क्योंकि वे द्रव्य से अनन्त हैं एवं अस्तिकाय से एक-एक हैं । जब पुद्गलास्तिकाय शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसमें समस्त पुद्गलों का समावेश हो जाता है, किन्तु द्रव्य की दृष्टि से पुद्गल अनन्त हैं । स्कन्ध, देश एवं प्रदेश भी पुद्गल द्रव्य हैं । पुस्तक, भवन, लेखनी, कुर्सी आदि पुद्गल द्रव्य हैं,

किन्तु अस्तिकाय नहीं । इसी प्रकार अनन्त जीव अनन्त द्रव्य तो हैं, किन्तु सब मिलाकर एक जीवास्तिकाय हैं । अस्तिकाय और द्रव्य में यह सूक्ष्म भेद व्याख्याप्रज्ञप्ति में वर्णित है । काल द्रव्य तो है, किन्तु अस्तिकाय नहीं, क्योंकि उसका कोई स्वरूप नहीं बनता है ।

काल के प्रकार

स्थानाङ्गसूत्र, षट्खण्डागम, नियमसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में काल के प्रकारों का निरूपण है । काल के परमार्थ एवं व्यवहार भेद प्रसिद्ध हैं ।[74] इन्हें निश्चय एवं व्यवहार भी कहा जाता है । काल के मुख्यतः तीन प्रकार हैं-अतीत, अनागत और वर्तमान ।[75] ये व्यवहारकाल के ही भेद हैं । नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से काल चार प्रकार का है । गुणस्थिति, भवस्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, उपपाद और भावस्थिति की अपेक्षा से काल के छह प्रकार हैं ।[76]

विशेषावश्यकभाष्य और लोकप्रकाश में निक्षेप की अपेक्षा से काल के 11 प्रकार निरूपित हैं,[77] यथा-1. नामकाल, 2. स्थापनाकाल, 3. द्रव्यकाल, 4.अद्धाकाल, 5.यथायुष्ककाल, 6.उपक्रमकाल, 7.देशकाल 8. कालकाल, 9. प्रमाणकाल, 10. वर्णकाल और 11. भावकाल ।

किसी का 'काल' नाम रखना नामकाल है । किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में काल का गुण-अवगुण रहित आरोपण करना स्थापना काल है । जैसे रेतघड़ी की रेत के एक खण्ड से दूसरे खण्ड में आने की अवधि में मुहूर्त या घण्टे की स्थापना करना स्थापना काल है। सचेतन और अचेतन द्रव्यों की स्थिति ही द्रव्यकाल है । यह सादि-सान्त, सादि-अनन्त, अनादि-सान्त एवं अनादि अनन्त के भेद से चार प्रकार का है । चौथा अद्धाकाल है । यह अढ़ाईद्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड एवं अर्द्ध पुष्करद्वीप) क्षेत्र में सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह-नक्षत्रों की गति-क्रिया से उत्पन्न होता है ।[78]

अद्धाकाल के ही भेद हैं-समय, आवलिका, मुहूर्त आदि। यह अद्धाकाल जब जीवों के आयुष्य मात्र का कथन करता है, तो उसे यथायुष्ककाल कहा जाता हैं ।[79]

नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव जितने आयुष्कर्म का उपार्जन कर उसका जीवनकाल में अनुभव करते हैं, वह यथायुष्ककाल है । उपक्रमकाल सामाचारी उपक्रम और यथायुष्क उपक्रम के भेद से दो प्रकार का होता है । इसमें कर्मपुद्गलों को अपने उदयकाल से पूर्व उदय में लाकर भोगा जाता है । विशिष्ट स्थिति से युक्त का बोध करना देशकाल है । मरण का समय 'कालकाल'है । काल का निश्चित माप निर्धारित कर गणना करना प्रमाणकाल है । यह अद्धाकाल का भी भेद है ।[80] स्थानाङ्गसूत्र की टीका में स्पष्ट किया गया है कि जिससे सौ वर्ष, पल्योपम आदि प्रमाण मापा जाता है वह प्रमाण काल है ।[81] श्यामवर्ण को वर्णकाल माना गया है तथा औदयिकादि पाँच भावों की सादि, सान्त आदि विभागों के साथ जो स्थिति बनती है उसे 'भावकाल' कहा गया है ।

पुद्गल परावर्तन

इस विषय के विवेचन से सम्बद्ध दो पाण्डुलिपियों 'पुद्गल परावर्तन विचार' एवं 'पुद्गल परावर्तन' का अवलोकन किया गया है ।[82] 'पुद्गल परावर्तन विचार' पाण्डुलिपि से स्पष्ट होता है कि काल को मापने की 'पुद्गल परावर्तन' सबसे बड़ी इकाई है, जिसमें अनन्त उत्सर्पिणी एवं अनन्त अवसर्पिणी युक्त कालचक्रों का अन्तर्भाव हो जाता है ।

जैन दर्शन में व्यवहार काल को संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से समझा जाता है । समय, आवलिका, मुहूर्त, अहोरात्र, ऋतु, अयन, संवत्सर से लेकर शीर्ष प्रहेलिका (194 अंक) तक के काल की गणना संख्यात काल में होती है । पल्योपम एवं सागरोपम को उपमा से समझाया गया है । उसे अंकों से वर्षगणना करके समझाना सम्भव नहीं है । एक ऐसा पल्य जो एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा एवं एक योजन गहरा हो, उसे एक से सात दिन वाले नवजात शिशु के बालों के टुकड़े कर उनसे ठसाठस भर दिया जाए । उस पर से हाथी, घोड़े फिरा दिए जाएँ, सौ वर्ष में एक बाल निकाला जाए और इस विधि से जितने काल में वह पल्य खाली हो उसे पल्योपम कहा जाता है । दस कोटाकोटि पल्योपम का एक सागरोपम होता है । काल की गणना में पृथ्वीकाल शब्द का भी प्रयोग होता है, जो इस तथ्य का द्योतक है कि पृथ्वीकाय के जीव अधिकतम कितने समय तक

पृथ्वीकाय में रह सकते हैं । इसे असंख्यात उत्सर्पिणी एवं असंख्यात अवसर्पिणी जितना काल माना गया है ।

पुद्गल परावर्तन अनन्तकाल का द्योतक है । पुद्गल परावर्तन से आशय है संसार के समस्त पुद्गलों को शरीरादि के रूप में ग्रहण कर छोड़ देने का जब एक चक्र पूर्ण हो जाए तो उसे एक पुद्गल परावर्तन कहते हैं । एक पुद्गल परावर्तन में अनन्त अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल व्यतीत होता है । पुद्गल परावर्तन द्रव्य,क्षेत्र,काल एवं भाव के भेद से चार प्रकार का है तथा इन चारों के बादर एवं सूक्ष्म-भेद करने पर यह पुद्गल परावर्तन आठ प्रकार का हो जाता है ।

आठ प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ निरूपित हैं- (1) औदारिक वर्गणा, (2) वैक्रिय वर्गणा, (3) आहारक वर्गणा, (4) तैजस वर्गणा, (5) भाषा वर्गणा, (6) श्वासोच्छ्वास वर्गणा, (7) मनोवर्गणा और (8) कार्मण वर्गणा ।

समानजातीय पुद्गल समूह को वर्गणा कहते हैं । इनमें आहारक वर्गणा का पुद्गल परावर्तन सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी भी जीव को आहारक शरीर चार बार से अधिक प्राप्त नहीं होता ।[83] इसलिए शेष सात वर्गणाओं को आधार बताकर कहा गया है कि जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहते हैं और जितने काल में समस्त पुद्गल परमाणुओं को किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने परावर्तन काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहते हैं । यह द्रव्य पुद्गल परावर्तन है ।

एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को जब बिना क्रम स्पर्श कर लेता है तो उसे बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहते हैं तथा जब वह क्रम से उनका स्पर्श करता है, तो उसे सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहा जाता है । इसी प्रकार उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल के प्रत्येक खण्ड में बिना क्रम से मरण को प्राप्त होने पर बादर काल पुद्गल परावर्तन होता है एवं क्रम से ऐसा करने पर सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन कहा जाता है । जब जीव समस्त अनुभाग बंध के स्थानों को बिना क्रम के स्पर्श कर लेता है, तो उसे बादर भाव पुद्गल परावर्तन कहते हैं एवं

क्रम से स्पर्श करने पर सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्तन कहलाता है। औदारिक पुद्गल परावर्तन का अभिप्राय है संसार की समस्त पुद्गल वर्गणाओं को औदारिक के रूप में परिणत करके छोड़ देने पर उसमें लगने वाला काल। इसी प्रकार वैक्रिय आदि अन्य पुद्गल परावर्तन को समझना चाहिए। औदारिक आदि सात पुद्गल परावर्तनों में सबमें अनन्त काल लगता है, तथापि कार्मण पुद्गल परावर्तन में सबसे कम काल लगता है एवं वैक्रिय पुद्गल परावर्तन में सबसे अधिक।[84]

इस प्रकार जैन दर्शन में काल का अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचन हुआ है। 'समय' की इकाई रूप में प्रतिष्ठा जैनदर्शन की विशिष्ट दृष्टि की परिचायक है, जो आधुनिक विज्ञान में मान्य सैकिण्ड के करोड़वें हिस्से से भी सूक्ष्म है। पल्योपम, सागरोपम एवं पुद्गल परावर्तन आदि की अवधारणा भी जैनदर्शन की काल विषयक अवधारणा की व्यापक दृष्टि का अनुमान कराती है। संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त शब्दों का गणितीय प्रयोग भी जैन दार्शनिकों की गणना विषयक मौलिक मेधा को सूचित करता है।

सन्दर्भः-

1. (1) सन्मतितर्कप्रकरण 3.52 पर अभयदेवसूरि कृत तत्त्वबोधविधायिनी टीका, गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद, विक्रम संवत् 1980, पृ. 711
   (2) आचारांग पर शीलाङ्क टीका, श्री सिद्ध साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, 1935, 1.1.1.3
   (3) शास्त्रवार्तासमुच्चय, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, बम्बई, स्तबक 2, श्लोक 54,
   (4) महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, 1988, आदिपर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक 248 एवं 250 की प्रथम पंक्तियाँ,
2. (1) अथर्ववेद, हरियाणा साहित्य संस्थान, रोहतक, वि.सं. 2043, काण्ड 19, अध्याय 6, सूक्त 53, मंत्र 10
   (2) अर्थववेद, काण्ड 19, अध्याय 6, सूक्त 54, मंत्र 1
3. कालश्च नारायणः। - त्रिपादविभूतिमहानारायणोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, 2, ईशाद्यष्टोशतोपनिषद्, व्यास प्रकाशन, वाराणसी, 1983, पृ. 312
4. शिवपुराण, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस-दिल्ली, 1973, वायुसंहिता (पूर्व भाग), श्लोक 16

5. श्री विष्णुपुराण, प्रथम भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर,1956, प्रथम अंश, सृष्टिप्रक्रिया, पृष्ठ 9
6. भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, 11.32
7. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2002, प्रथम अध्याय, मन्त्र 2
8. वैशेषिक सूत्र, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा,1982, अध्याय 1, आह्निक 1, सूत्र 4
9. (1) अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि। - वैशेषिकसूत्र, अध्याय 2, आह्निक 2, सूत्र 6,
   (2) कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्। - प्रशस्तपादभाष्य, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्रव्यनिरूपण
10. तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः।- प्रशस्तपादभाष्य, पूर्वोक्त
11. वैशेषिक सूत्र, 5.2.26
12. न्यायसूत्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1.1.16
13. दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसंगः।- न्यायसूत्र, 2.1.23
14. दिक्कालावाकाशादिभ्यः।- सांख्यप्रवचनभाष्य, द्वितीय अध्याय, सूत्र 12
15. सांख्यकारिका में 9 तुष्टियों में चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं- प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य। इनके अतिरिक्त पाँच तुष्टियाँ शब्दादि पाँच बाह्य विषयों से विरत होने पर प्राप्त होती हैं।
16. योगभाष्य, योगसूत्र, 3.52 पर, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1997
17. योगवार्तिक, योगसूत्र, 3.52 पर, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1997
18. नास्माकं वैशेषिकादिवदप्रत्यक्षः कालः, किन्तु प्रत्यक्ष एव, अस्मिन्क्षणे मयोपलब्ध इत्यनुभवात्। अरूपस्याप्याकाशवत् प्रत्यक्षत्वं भविष्यति ।- शास्त्रदीपिका (युक्तिस्नेहपूरणीसिद्धान्त चन्द्रिकाटीका)-अध्याय 5, पाद 1, अधिकरण 5, सूत्र 5, दर्शन अने चिन्तन,पृ. 1027 पर उद्धृत
19. अतीन्द्रियत्वेन कार्यानुमेयत्वेन च। - प्रस्थानरत्नाकर, पुरुषोत्तम गोस्वामी, श्री वल्लभ विद्यापीठ, कोल्हापुर, तृतीय संस्करण, विक्रम संवत् 2056 , पृ. 202
20. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश कारिका 2 पर हेलाराजकृत प्रकाशव्याख्या
21. तत्त्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1993, 5.38
22. (क) धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो
    एस लोगो त्ति पण्णतो, जिणेहिं वरदंसीहिं।।- उत्तराध्ययन सूत्र, 28.7

(ख) दव्वणामे छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए, अद्धासमए य - अनुयोगद्वारसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सूत्र 218

23. "किमियं भंते! लोयत्ति पवुच्चइ ? गोयमा पंचत्थिकाया।"
- व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, (राज.) 1983, शतक, 13.4.481
24. अन्यत्र भी उल्लेख प्राप्त होता है। द्रष्टव्य- पण्डित सुखलाल संघवी, 'दर्शन और चिन्तन', पं. सुखलाल सन्मान समिति, अहमदाबाद, 1953, पृ. 331
25. उद्धृत, लोकप्रकाश, चतुर्थ भाग, श्री भैरूलाल कन्हैयालाल कोठारी रीलिजियस ट्रस्ट, बालकेश्वर, मुम्बई, पृ. 3
26. स्थानाङ्गसूत्र, स्थान 2, उद्देशक 4, उद्धृत, लोकप्रकाश, चतुर्थभाग,
27. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, 20-26
28. न हि जीवादिवस्तुव्यतिरिक्तः कश्चित् कालो नाम पदार्थविशेषः परिकल्पितः एकः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।- धर्मसंग्रहणि, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका, गाथा 32 पर टीका
29. वही, गाथा 32 पर टीका
30. वही, गाथा 32 पर टीका
31. लोकप्रकाश, 28.13-15 एवं 29.16-17
32. द्रष्टव्य- उपर्युक्त टिप्पण, 22
33. तत्त्वार्थसूत्र, 5.37
34. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1951, 5.39.2-3,
35. वही, 5.40.2
36. धर्मसंग्रहणि, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका, गाथा 32 पर टीका, पृ. 38
37. लोकप्रकाश, श्री जिनाज्ञा प्रकाशन, वापी (गुज.), वि.सं. 2062, 28.16
38. वही, 28.21,
39. वही, 28.25
40. वही, 28.48
41. वही, 28.49-50
42. वही, 28.53-54
43. वही, 28.20
44. तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, 1955, 5.22

45. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।-तत्त्वार्थसूत्र, 5.22
46. तत्त्वार्थभाष्य, सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, बम्बई 1932, 5.22
47. सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 2009, सूत्र 5.22, पृ. 222
48. तत्त्वार्थभाष्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 1992, सूत्र 5.22, पृ. 267
49. लोकप्रकाश, 28.58
50. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग, पृ. 165
51. सर्वार्थसिद्धि, 5.22, पृ. 222
52. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग, पृ. 169
53. तत्त्वार्थसूत्र, 5.41
54. अनादिरादिमांश्च। - तत्त्वार्थसूत्र, 5.42
55. क्रिया गतिः, सा त्रिविधा-प्रयोगगतिः, विस्रसागतिः, मिश्रिकेति। - तत्त्वार्थभाष्य, 5.22
56. क्रिया परिस्पन्दात्मिका । सा द्विविधा; प्रायोगिकवैस्रसिकभेदात्। तत्र प्रायोगिकी शकटादीनाम्, वैस्रसिकी मेघादीनाम्।-सर्वार्थसिद्धि, 5.22, पृ.223
57. परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः सम्प्रतीयते
क्रिया देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदभृत्।।-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग, पृ. 195
58. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, कारिका 2 पर हेलाराजकृत प्रकाश व्याख्या
59. कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च। परमार्थकालो वर्तनालक्षणः। परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः।- सर्वार्थसिद्धि, 5.22, पृ.223
60. ववगदपण्णवण्णरसो ववगद दो गंध अट्ठफासो य। अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति।। -पंचास्तिकाय संग्रह, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1984, 24
61. लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो निष्क्रियाः एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकं व्याप्य व्यवस्थिताः। उक्तं च - लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्कक्का। रयणाणं रासी विव ते कालाणू मुणेयव्वा।।- गोम्मटसार जीवकाण्ड, 589 एवं द्रव्यसंग्रहवृत्ति, 22
62. तत्त्वार्थराजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1953, 5.40
63. नियमसार, गाथा 34, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, वीर.नि. 2511
64. तत्त्वार्थसूत्र, 5.40
65. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर(राज.),1957, शतक 6, उद्देशक 6
66. एगा कोडी सतसट्ठि लक्खा सत्तहुत्तरि सहस्सा य,
दो य सया सोलहिया आवलिया इग मुहुतम्मि।।
- नवतत्त्वप्रकरण, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, वि.सं. 1954

67. तत्त्वार्थभाष्य, 5.40
68. पंचास्तिकायसंग्रह तात्पर्य वृत्ति, 25 एवं द्रव्यसंग्रहटीका, 22 (असंख्यात कोटाकोटि योजन का एक रज्जु होता है।)
69. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 5.39
70. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 5.39 पर वृत्ति
71. अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना। अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिकायः।- अभयदेवसूरि, श्री स्थानाङ्गसूत्रम् (अभयदेवसूरिकृत टीका युक्त) सम्पादक-मुनिजम्बूविजय, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् 2003, भाग 2 पृष्ठ 330, श्री अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 1, पृष्ठ 513 पर भी उद्धृत
72. अस्तिशब्देन प्रदेशप्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः।- श्री स्थानाङ्गसूत्रम् (अभयदेवसूरिटीका), पृ. 330 तथा श्री अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 1, पृष्ठ 513
73. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उद्देशक 10, सूत्र 7-8
74. द्विविधः कालः परमार्थकालः व्यवहारकालश्चेति। - तत्त्वार्थवार्तिक, 5.22
75. (1) स्थानांगसूत्र, तीन स्थान, चतुर्थ उद्देशक, कालसूत्र
    (2) षट्खण्डागम, जीवस्थान 1.5.1
76. षट्खण्डागम, जीवस्थान, 1.5.1
77. (1) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2030-31,(2)- लोकप्रकाश, 28.93-94
78. सूर्यादिक्रियया व्यक्तीकृतो नृक्षेत्रगोचर : ।
    गोदोहादिक्रियानिर्व्यपेक्षोऽद्धाकाल उच्यते ।। - लोकप्रकाश, 28.105
79. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2038 तथा लोकप्रकाश, 28.110
80. लोकप्रकाश, 28.192
81. स्थानङ्गटीका, गणितानुयोग,आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 692 पर उद्धृत
82. (1) पुद्गल परावर्तनविचार, 24 पन्ने, लेखक का उल्लेख नहीं
    (2) पुद्गल परावर्तन, 1 पन्ना
83. प्रज्ञापनासूत्र, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.), समुद्घातपद
84. उपर्युक्त पाण्डुलिपियाँ, पंचकर्मग्रन्थ, गाथा 86-88, लोकप्रकाश, सर्ग 35 एवं प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1043-1050



सर्वार्थसिद्धि में आत्म-विमर्श

उमास्वाति* (द्वितीय-तृतीय शती ई.) द्वारा रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' जैनदर्शन का संस्कृत भाषा में रचित प्रथम सूत्र ग्रन्थ है जो श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य है । इस सूत्र पर पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा 'सर्वार्थसिद्धि' टीका की रचना की गई है। सिद्धसेनगणि (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति), हरिभद्रसूरि (तत्त्वार्थटीका), भट्ट अकलंक (तत्त्वार्थवार्तिक) आचार्य विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) आदि के द्वारा भी तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या ग्रन्थ लिखे गए । यहाँ पूज्यपाद देवनन्दी की टीका के आधार पर जैनदर्शन में प्रतिपादित 'आत्मा' किं वा 'जीव' के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इस विवेचन से विदित होता है कि चेतनालक्षण से युक्त जीव में ज्ञान एवं दर्शन ये दो गुण जीव के स्वरूप बनकर रहते हैं। इनका जीव से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । ये दोनों गुण बोध रूप व्यापार की अपेक्षा उपयोग भी कहे गए हैं। इस आधार पर जीव का लक्षण 'उपयोग' भी स्वीकृत है। उपयोग के भी दो प्रकार प्रतिपादित हैं- ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग निर्विकल्पक बोध है तथा ज्ञानोपयोग सविकल्पक बोध। प्रस्तुत आलेख में जीव के भेदों, अमूर्तता-मूर्तता, मुक्त जीव, जीवों के बहुत्व, देह-परिमाणत्व, नित्यानित्यात्मकता, परस्पर-उपग्रहत्व आदि के सम्बन्ध में भारतीय परम्परा के दर्शनों के साथ तुलना करते हुए प्रकाश डाला गया है।

जैनदर्शन में 'जीव' एवं 'आत्मा' शब्द का प्रयोग एकार्थक है। दोनों में कोई भेद नहीं है । तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वगणना एवं द्रव्यगणना के प्रकरण में क्रमशः प्रथम एवं पंचम अध्याय में 'जीव' शब्द का ही प्रयोग किया गया है ।[1] सर्वार्थसिद्धि में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए वहाँ 'अक्ष' का अर्थ आत्मा एवं इन्द्र का अर्थ आत्मा किया गया है ।[2] प्रायः 'जीव' शब्द ही अधिक प्रयुक्त है। जीव तत्त्व भी है एवं द्रव्य भी है। जब जीव का निरूपण षड्द्रव्यात्मक लोक के रूप में किया जाता है तब वह 'द्रव्य' कहलाता है तथा जब बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से किया जाता है तो वह तत्त्व कहलाता है। तत्त्व एवं द्रव्य स्वरूपतः पृथक् होकर भी एक ही अधिकरण में रह सकते हैं अर्थात् उनका सामानाधिकरण्य सम्भव है । तत्त्वार्थसूत्र पर टीका 'सर्वार्थसिद्धि' के रचयिता

* दिगम्बर जैन परम्परा में 'उमास्वामी' एवं श्वेताम्बर परम्परा में 'उमास्वाति' नाम प्रचलित है।

पूज्यपादाचार्य कहते हैं कि तत्त्व द्रव्य से पृथक् नहीं पाया जाता है, वह द्रव्य का ही भाव होता है। इसलिए तत्त्व का द्रव्य के साथ सामानाधिकरण सम्भव है। दूसरी बात यह है कि भाव में द्रव्य का अध्यारोप कर लिया जाता है। इसलिए भी दोनों का सामानाधिकरण्य सम्भव है।[3] इस आलेख में जीव का तत्त्व एवं द्रव्य दोनों स्वरूपों में आगे सम्मिलित रूप से निरूपण किया जाएगा।

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने उपयोग लक्षण वाले को जीव कहा है।[4] उपयोग के दो भेद हैं- ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग। इनमें ज्ञानोपयोग साकार तथा दर्शनोपयोग निराकार होता है।[5] ज्ञान सविकल्पक होता है तथा दर्शन निर्विकल्पक होता है। ज्ञान एवं दर्शन ये दोनों आत्मा अथवा जीव के स्वरूप हैं। इनके अभाव में जैन दर्शन में जीवद्रव्य अथवा जीवतत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों से ही प्रकृति का स्वरूप बनता है, प्रकृति का इनसे भिन्न कोई स्वरूप नहीं है तथा सत्त्व, रजस् एवं तमस् की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं है, इसी प्रकार जैन दर्शन में जीव या आत्मा के स्वरूप को समझा जा सकता है। ज्ञान एवं दर्शन गुण जीव अथवा आत्मा के स्वरूप हैं, इनसे भिन्न जीव का कोई स्वरूप नहीं है तथा ज्ञान एवं दर्शन का स्वतन्त्र रूप से पृथक् अस्तित्व भी नहीं है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक ज्ञान को आत्मा में आगन्तुक गुण मानते हैं, किन्तु जैनदर्शन को ऐसा स्वीकार्य नहीं है । जैन दर्शन तो ज्ञानदर्शनोपयोग को ही जीव का लक्षण स्वीकार करता है। ज्ञान जीव का लक्षण भी है, स्वरूप भी है एवं गुण भी है ।

जीव का लक्षण : उपयोग

सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद '**उपयोगो लक्षणम्**' सूत्र पर वृत्ति करते हुए लिखते हैं- "**उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः**"[6] अर्थात् अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से उत्पन्न होने वाला चैतन्य संपृक्त जो परिणाम है वह उपयोग है। सर्वार्थसिद्धिकार की इस वृत्ति से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि उपयोग का प्रकटीकरण बाह्य अथवा आभ्यन्तर अथवा दोनों निमित्तों से हो सकता है, दूसरा यह कि इस उपयोग में चैतन्य निहित होता है। यह

उपयोग ही आत्मा को कर्म-पुद्गल आदि अजीवों से पृथक् करता है । 'उपयोग' लक्षण जीव के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता। प्रथम अध्याय में जब जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष- इन सात तत्त्वों की गणना की गई तब पूज्यपाद देवनन्दी ने जीव का लक्षण चेतना करते हुए कहा है- '**तत्र चेतनालक्षणो जीवः**।'[7] जीव का यह लक्षण संसारी एवं सिद्ध सभी जीवों में घटित होता है। प्राणधारण करने से जो जीता है वह जीव है, यह लक्षण संसारी जीवों में तो घटित हो जाता है, किन्तु सिद्धों में घटित नहीं होता। संसारी प्राणियों में भी विग्रहगति में यह लक्षण घटित नहीं होता। अतः इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है। इसलिए चेतना अथवा उपयोग ही ऐसा लक्षण है जो सिद्ध एवं संसारी सब जीवों में पूर्णतः घटित होता है एवं उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोष नहीं आते हैं।*

जीव के लक्षण 'उपयोग' में ज्ञानोपयोग के आठ एवं दर्शनोपयोग के चार प्रकार होते हैं। ज्ञानोपयोग के आठ भेदों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान तथा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान तथा विभङ्गज्ञान ये तीन अज्ञान परिगणित होते हैं तथा दर्शनोपयोग में चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण एवं केवलदर्शनावरण की गणना होती है। इनमें केवलज्ञान एवं केवलदर्शन क्षायिक होते हैं जो क्रमशः ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण के क्षय से प्रकट होते हैं। शेष सभी ज्ञान, अज्ञान एवं दर्शन क्षायोपशमिक हैं, जो ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण के क्षयोपशम से प्रकट होते हैं। मिथ्यात्व की अवस्था में जो ज्ञान 'अज्ञान' कहलाता है वही सम्यक्त्व की अवस्था में ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। सर्वार्थसिद्धिकार ने छद्मस्थ जीवों में ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग का क्रमभाव स्वीकार किया है तथा निरावरण केवलियों एवं सिद्धों में केवलज्ञान एवं केवलदर्शन को युगपद् स्वीकार किया है।[8]

प्रश्न यह होता है कि जब छद्मस्थ जीव में क्रमभाव के कारण एक समय में

* जब लक्षण लक्षणीय वस्तु में पूरा न घटित हो तो उसे अव्याप्ति दोष, लक्षणीय से अन्य वस्तु में भी चला जाए तो उसे अतिव्याप्ति दोष तथा लक्षणीय वस्तु में कतई घटित न हो तो उसे असम्भव दोष कहते हैं।

ज्ञानोपयोग होता है तब उस समय में उसके दर्शनोपयोग का क्या होता है? यहाँ कहना होगा कि उपयोग तो एक समय में एक ही होगा, किन्तु जब 'ज्ञान' गुण का उपयोग होगा तब 'दर्शन' गुण के रूप में तो विद्यमान रहेगा, किन्तु उसका व्यापार नहीं होगा। इसी प्रकार जब 'दर्शन' गुण का उपयोग होगा तब 'ज्ञान' गुण के रूप में विद्यमान रहेगा, उसका व्यापार नहीं होगा। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। जब किसी के विनय गुण की प्रवृत्ति होती है तब उसमें ईमानदारी, सत्यवादिता आदि गुण भी रहते हैं, किन्तु उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान की प्रवृत्ति होने पर दर्शनगुण समाप्त नहीं होता, किन्तु उपयोग में नहीं रहता है। इसलिए उपयोग को क्रमभावी कहा गया है।

वस्तु को जानने के लिए जीव के द्वारा जो ज्ञानादि का व्यापार (प्रवर्तन) किया जाता है वह उपयोग है।[9] उपयोग क्रमभावी होता है तथा गुण सहभावी होते हैं। अतः छद्मस्थ में जब चार ज्ञान एवं तीन दर्शन पाए जाते हैं तब एक समय में उपयोग इनमें से एक का ही होता है अर्थात् एक का ही व्यापार होता है, शेष गुण के रूप में विद्यमान रहते हैं। कसायपाहुड के अनुसार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल क्षुद्रभाव प्रमाण है।[10] अर्थात् इतने समय में ज्ञान एवं दर्शन का उपयोग परिवर्तित होता रहता है।

संसारी एवं मुक्तजीव का स्वरूप

जीवों के संसारी और मुक्त- ये जो दो भेद किए गए हैं[11] उनमें संसारी जीवों के संसरण का सर्वार्थसिद्धि में विस्तार से निरूपण हुआ है। पूज्यपाद लिखते हैं- "संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः। स एषामस्ति ते संसारिणः। तत्परिवर्तनं पञ्चविधम्-द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्तनं कालपरिवर्तनं भवपरिवर्तनं भावपरिवर्तनं चेति।"[12] संसरण अथवा संसार का अर्थ परिवर्तन है। यह परिवर्तन पाँच प्रकार का होता है -द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन एवं भावपरिवर्तन। जैन दर्शन में परिवर्तन अथवा परावर्तन का यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जो किसी अन्य भारतीय दर्शन में इतनी सूक्ष्मता से विवेचित नहीं है।

द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का होता है- नोकर्मद्रव्य परिवर्तन एवं कर्मद्रव्य

परिवर्तन। इनमें कर्मबन्ध के योग्य पुद्गलों को जब कोई जीव ग्रहण करता है तथा फिर निर्जरित कर पुनः नये पुद्गल ग्रहण करता है, इस क्रम से जब वह समस्त पुद्गलों को ग्रहण कर छोड़ देता है तथा पुनः उन्हीं गृहीत पुद्गलों को ग्रहण करने लगता है तो एक कर्मद्रव्य परिवर्तन पूर्ण होता है। इस प्रक्रिया में अनन्त काल व्यतीत होता है। जब यह जीव शरीर, पर्याप्ति आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ एवं छोड़ता हुआ समस्त नोकर्म द्रव्यपुद्गलों को ग्रहण कर छोड़ देता है तो उसे एक **नोकर्मद्रव्य परिवर्तन** कहते हैं। इस प्रकार जीव का कर्मद्रव्य परिवर्तन के रूप में एवं नोकर्मद्रव्य परिवर्तन के रूप में संसरण चलता रहता है । क्षेत्र का तात्पर्य है लोकाकाश । जब कोई जीव आकाश के प्रत्येक प्रदेश को क्रमशः अपना जन्म क्षेत्र बनाकर छोड़ देता है तो इसे एक **क्षेत्रपरिवर्तन** कहते हैं । लोक में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ यह जीव अपनी अवगाहना से बहुत बार उत्पन्न न हुआ हो, **कालपरिवर्तन** को स्पष्ट करते हुए पूज्यपाद देवनन्दी कहते हैं- "कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ एवं अपनी आयु समाप्त होने पर मर गया। पुनः वही जीव द्वितीय उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ एवं आयु पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हो गया । पुनः वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तृतीय समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इस क्रम से उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल पूर्ण किया । जन्म एवं मरण दोनों से इस प्रकार उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के सब समय पूर्ण हो जायँ तो इसे एक कालपरिवर्तन कहते हैं। यह जीव उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा एवं मरा है। **भवपरिवर्तन** के अन्तर्गत नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देवभव की सब आयुष्यों के प्रत्येक समय में उत्पत्ति एवं मरण को प्राप्त होने पर एक भव परिवर्तन कहा गया है। इस जीव ने मिथ्यात्व के कारण नरक से लेकर ग्रैवेयक तक अनेक बार परिभ्रमण किया है । **भावपरिवर्तन** का सम्बन्ध कषाय अध्यवसाय स्थानों एवं योगस्थानों से है। इनमें जब जीव षट्स्थान हानि एवं वृद्धि* के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेशबन्ध के सब स्थानों को

* अनन्तभागवृद्धि, असंख्येयभागवृद्धि, संख्येयभागवृद्धि, संख्येयगुणवृद्धि, असंख्येयगुणवृद्धि एवं अनन्तगुणवृद्धि-ये छह वृद्धि स्थान हैं। इनके विपरीत अनन्तभागहानि, असंख्येयभागहानि, संख्येयभागहानि, संख्येयगुणहानि, असंख्येयगुणहानि एवं अनन्तगुणहानि- ये छह हानि स्थान हैं।

प्राप्त कर लेता है तो उसे एक भाव परिवर्तन कहते हैं।"[13]

पूज्यपाद कहते हैं जो इन पंचविध परिवर्तन रूप संसार से निवृत्त हो गए हैं, वे जीव मुक्त हैं।[14] मुक्त का यह स्वरूप सर्वार्थसिद्धिकार ने अद्भुत रीति से विस्तार से दिया है, अन्यथा वे संक्षेप करना चाहते तो कह सकते थे कि अष्टविध कर्मों से रहित जीव मुक्त कहलाते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन संसार की परिवर्तनशीलता एवं उसमें अनन्तकाल से हो रहे परिभ्रमण का बोध कराना था, ताकि हम सावधान होकर इस परिभ्रमण के मार्ग से ऊपर उठकर मुक्ति के मार्ग को चुनने का मन बना सकें।

जीव की अमूर्तता एवं कथंचिद् मूर्तता

प्रायः जैनदर्शन में जीव को अमूर्त ही माना जाता है, क्योंकि वह रूप, रस, गंध एवं स्पर्श से रहित होता है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि में प्रश्न उठाया गया कि अमूर्त मानने पर आत्मा के कर्मबंध नहीं हो सकता। प्रश्न के उत्तर में आचार्य पूज्यपाद ने कहा कि यह शंका करना उचित नहीं है। जैन दर्शन में अनेकांतदृष्टि है। एकान्त रूप से हम आत्मा को अमूर्त नहीं मानते। कर्मबंध की पर्याय की अपेक्षा से कर्मयुक्त होने के कारण आत्मा कथंचित् मूर्त है और शुद्ध (कर्मरहित) स्वरूप की अपेक्षा से वह अमूर्त है।[15] पूज्यपाद द्वारा प्रदत्त यह समाधान उनकी अनेकांतदृष्टि एवं सूझबूझ का परिचायक है। कोई कहे कि कर्मबंध के आवेश से युक्त आत्मा एवं कर्म में ऐक्य हो जाएगा तो पूज्यपाद कहते हैं कि लक्षणतः अथवा स्वरूपतः आत्मा एवं कर्म पृथक् हैं। आत्मा उपयोग अथवा चेतनालक्षण वाला है और कर्म अजीव पुद्गल है।[16]

आचारांगसूत्र में शुद्ध चेतना का निरूपण करते हुए कहा गया है कि आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न गोल है, न त्रिकोण है। वह न काली है, न नीली है, न लाल है, न पीली है, न श्वेत है। वह वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श से रहित है। (आचारांग 1.5.6, सूत्र 176) इसी प्रकार समयसार में भी उसे रस, रूप, गन्ध एवं शब्द से रहित, इन्द्रिय से अगोचर, बाह्य लिंग से अग्राह्य, आकार रहित तथा चेतना गुण से युक्त निरूपित किया गया है। (समयसार, गाथा 49) आत्मा के इस अमूर्त स्वरूप

से पूज्यपाद परिचित थे, तथापि कर्मबन्धन को समझाने की नय दृष्टि से उन्होंने उसे मूर्त स्वीकार किया है।

पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों की सत्ता स्वीकार करना तथा इन्हें स्पर्शनेन्द्रियधारक स्थावर जीवों की श्रेणी में रखना जैन दर्शन का वैशिष्ट्य है जो इसे अन्य भारतीय दर्शनों से पृथक् करता है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदांत आदि दर्शनों में पृथ्वी, अप्, तेजस एवं वायु को पाँच भूतों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है । पंचम भूत आकाश है। जैन दर्शन में आकाश को तो अजीव ही माना गया है, किन्तु पृथ्वी, अप्, अग्नि एवं वायु को सजीव एवं निर्जीव दोनों प्रकार का स्वीकार किया गया है। पूज्यपाद ने इसे स्पष्ट करते हुए पृथ्वी आदि के चार-चार प्रकार स्वीकार किए हैं । उदाहरण के लिए पृथिवी के पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक एवं पृथिवीजीव ये चार प्रकार हैं।[17] इनमें जो अचेतन एवं वैस्रसिक परिणमन से बनी काठिन्य गुण वाली है, वह पृथिवी है । काय का अर्थ शरीर है । पृथिवीकायिक जीव के द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह मृत शरीर पृथिवीकाय कहलाता है । जिस जीव की पृथ्वी ही काया है उसे पृथिवीकायिक जीव कहते हैं तथा कार्मणकाय योग में स्थित वह जीव जिसने अभी तक पृथिवी को कार्य रूप से ग्रहण नहीं किया है तब तक वह पृथिवी जीव कहलाता है। इसी प्रकार अप्, तेजस, वायु एवं वनस्पति के भी चार-चार भेद समझने चाहिए ।[18] वनस्पतिकायिक को जीव मानने का जैन सिद्धान्त वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु आदि के द्वारा भी पुष्ट किया गया है । अन्य भारतीय दर्शन वनस्पति को प्रायः जीव नहीं मानते हैं ।

जीवों में प्राणों का वर्गीकरण

जैनदर्शन में जीव का विवेचन वैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है । किस जीव में कितनी इन्द्रियाँ होंगी, कितनी पर्याप्तियाँ होंगी, कितने प्राण होंगे, कौनसा शरीर कब होगा आदि विभिन्न बिंदु वैज्ञानिक रीति से तय होते हैं। एकेन्द्रिय पृथिवीकायिक आदि जीवों में स्पर्शनेन्द्रिय बलप्राण, कायबलप्राण, उच्छ्वास- निःश्वास एवं

आयुष्य बल प्राण ये चार प्राण स्वीकार किये गए हैं । द्वीन्द्रिय जीव में रसनेन्द्रिय बलप्राण एवं वचन बलप्राण को मिलाकर छह प्राण प्राप्त होते हैं। त्रीन्द्रिय जीव में घ्राणेन्द्रिय बलप्राण सहित सात, चतुरिन्द्रिय जीव में चक्षुरिन्द्रिय बलप्राण सहित आठ, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण सहित नौ एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय में मनोबल प्राण सहित दश प्राण होते है ।[19] द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस तथा पृथिवीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहा गया है।[20]

इन्द्रिय विचार

इन्द्रिय पाँच हैं - श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ स्वीकार की गई हैं । इस सम्बन्ध में आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि जो उपयोग के साधन हैं उन्हें ही इन्द्रिय के रूप में ग्रहण किया जाता है, क्रिया-साधन को नहीं । फिर उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है, क्योंकि नामकर्म से निष्पन्न सभी अङ्गोपाङ्ग क्रिया के साधन होते हैं ।[21] इन्द्रिय के भी तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्येन्द्रिय एवं भावेन्द्रिय ये दो भेद किए गए हैं। उनमें द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्ति एवं उपकरण के रूप में तथा भावेन्द्रिय के लब्धि एवं उपयोग के रूप में दो-दो भेद प्रतिपादित हैं।[22] इनमें निर्वृत्ति, उपकरण एवं लब्धि तो उपयोग में साधन होने से इन्द्रिय हैं, किन्तु उपयोग को इन्द्रिय क्यों कहा गया? इसके उत्तर में पूज्यपाद का कथन है -**''कारणधर्मस्य कार्यदर्शनात्। यथा-घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति । स्वार्थस्य तत्र मुख्यत्वाच्च। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमिति यः स्वार्थः स उपयोगे मुख्यः उपयोगलक्षणो जीव इति वचनात्।''**[23] अर्थात् कारण का धर्म कार्य में दिखाई देने से उपयोग को भी इन्द्रिय कहा जा सकता है, जिस प्रकार कि घट के आकार में परिणत ज्ञान को भी घट कहा जाता है। दूसरा समाधान यह है कि इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिङ्ग इन्द्रिय कहलाता है। इस दृष्टि से उपयोग आत्मा का लिङ्ग है तथा स्व अर्थ को मुख्य रूप से प्रस्तुत करता है इसलिए उपयोग भी इन्द्रिय है।

जीवों का बहुत्व

जैनदर्शन में अनन्त जीवों की सत्ता मानी गई है। सबके अपने-अपने कर्म हैं

तथा उन कर्मों के अनुसार ये नाना गतियों एवं योनियों में गमन करते हैं। सांख्यदर्शन में भी अनेक पुरुष माने गए हैं। सांख्यकारिका में तर्क दिया गया है कि सब प्राणियों का जन्म एवं मरण अलग-अलग होता है, सबकी इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण भिन्न होते हैं। सबकी प्रवृत्ति एक साथ होती दिखाई नहीं देती तथा सबमें सत्त्व, रज एवं तम का भेद होता है, इसलिए चेतन पुरुष एक नहीं, अनेक हैं ।[24] वेदांत दर्शन में यद्यपि ब्रह्म एक ही है, किंतु अज्ञान की व्यष्टि से आच्छन्न अनेक जीव स्वीकार किए गए हैं।[25] बौद्धदर्शन में उस जीव को पुद्गल शब्द से कहा गया है तथा कर्मसिद्धान्त एवं पुनर्जन्म को मानने के कारण उसमें भी अनेक पुद्गल स्वीकृत हैं जो अपने-अपने कृत कर्मों के अनुसार स्वर्ग एवं नरक का सुख-दुःख भोगते हैं।[26] न्याय-वैशेषिक दर्शनों में आत्मत्व जाति मानी गई है जो अनेक आत्माओं में रहती है, इसलिए आत्माएँ अनेक हैं।[27] आत्मा या जीव को अनेक माने बिना कर्मफल की व्यवस्था नहीं बन सकती, इसलिए लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने इस व्यवस्था की संगति बिठायी है । तत्त्वार्थसूत्र का '**जीवाश्च**' सूत्र (5.3) यह प्रतिपादित करता है कि जीव अनेक हैं । सर्वार्थसिद्धिकार ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'जीवाः' शब्द में बहुवचन का निर्देश जीवों के भेदों को बतलाता है ।[28] तत्त्वार्थसूत्र (5.15) में 'असंख्येयभागादिषु जीवानाम्' से भी जीव के बहुत्व की सिद्धि होती है। इसकी टीका में पूज्यपाद देवनन्दी लिखते हैं- **नानाजीवानां तु सर्वलोक एव।**[29] नानाजीव तो समस्त लोक को अवगाहन करके रहते हैं। यहाँ नानाजीव शब्द से जीवों का बहुत्व स्पष्ट है। यहाँ पर वह कथन भी प्रासंगिक होगा कि जैनदर्शन में जीव संख्या की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात नहीं अपितु अनन्त स्वीकार किए गए हैं ।

देहपरिमाणत्व

जीव के परिमाण को लेकर जैन दर्शन का विशिष्ट एवं व्यावहारिक प्रतिपादन है, जिसके अनुसार संसारी जीव का देहपरिमाणत्व स्वीकार किया गया है। अन्य कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं मानता। न्याय, वैशेषिक, वेदांत, मीमांसा, सांख्य आदि दर्शन आत्मा को विभु अथवा व्यापक मानते हैं, जबकि बौद्धदर्शन रूप,

वेदना, विज्ञान, संज्ञा एवं संस्कार के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं मानता । हाँ, उसे पुद्गल कहकर भी सर्वथा परिणमनशील मानता है। जैन दर्शन ने आत्मा को व्यापक मानने का खंडन किया है, क्योंकि चेतना का अनुभव अथवा सुख-दुःख का वेदन सबको अपने शरीर परिमाण में ही होता है, शरीर के बाहर नहीं। यदि शरीर के बाहर भी अपनी आत्मा का अस्तित्व माना जाएगा तो दूसरे के सुखःदुख का अनुभव भी अपनी आत्मा को होने लगेगा एवं कर्म-फल की पृथक्-पृथक् व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी ।[30] इसलिए जैनदर्शन में चेतना को देहपरिमाण स्वीकार कर व्यावहारिक यथार्थ प्रस्तुत किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में इस तथ्य को **'प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्'**[31] सूत्र में निबद्ध किया गया है। जिस प्रकार दीपक को छोटे कक्ष में रखने पर उसका प्रकाश उस कक्ष में तथा बड़े कक्ष में रखने पर उतने स्थान में फैल जाता है अर्थात् - उसमें संकोच एवं विस्तार का वैशिष्ट्य होता है, इसी प्रकार आत्मप्रदेश भी संकोच एवं विस्तार की विशेषता वाले होते हैं। जितने आकार की देह होती है, आत्मप्रदेश उसी आकार में फैल जाते हैं । सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपादाचार्य ने कहा है कि यद्यपि आत्मा अमूर्त स्वभावी है तथापि अनादिकाल से कार्मण शरीर से संयुक्त रहने के कारण कथंचित् मूर्त है, इसलिए वह संकोच एवं विस्तार स्वभाव वाला है।[32]

आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व

जैन धर्म में आत्मा को अपने सुखःदुःख का कर्त्ता एवं विकर्त्ता माना गया है- **'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण व सुहाण य।'**[33] अष्टविध कर्मों का बंधनकर्ता भी वही तथा उनका फलभोग भी वही आत्मा करता है। आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व जैन दर्शन में एकमत से स्वीकार किया गया है। तभी कर्मसिद्धान्त के नियम भी घटित हो पाते हैं। विकर्त्ता शब्द का एक अर्थ कर्म न करने वाला भी हो सकता है । अर्थात् सुख-दुःख का कर्त्ता एवं अकर्त्ता होने में आत्मा स्वतन्त्र है । तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि जीव कषाययुक्त होकर कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है तथा यही बन्ध का स्वरूप ग्रहण करता है ।[34] मोक्ष-प्राप्ति में बन्ध हेतुओं का अभाव आवश्यक होता है ।[35] बन्ध का फल भी जीव को भोगना पड़ता है । सर्वार्थसिद्धि में

तत्त्वार्थसूत्र के एतद्विषयक सूत्रों की व्याख्या में भी यह तथ्य पुष्ट हुआ है कि जीव ही अपने कर्मों का कर्ता है, फल भोक्ता है तथा वह ही मुक्त होता है। सांख्यदर्शन में चेतन पुरुष को अकर्त्ता अथवा निष्क्रिय माना गया है, किन्तु न्याय वैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शन आत्मा का कर्त्ता एवं भोक्ता होना स्वीकार करते हैं।

जीवों का परस्परोपग्रह

यद्यपि जीव स्वयं के सुख-दुःख के कर्त्ता एवं भोक्ता होते हैं तथापि वे एक दूसरे के उपकारी या अपकारी भी हो सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**'[36] सूत्र जीव के बाह्य लक्षण के रूप में प्रतिपादित है। जीवों में परस्पर हितकारी कार्य रूप उपकार उपादेय है तथा अहितकारी प्रवृत्ति त्याज्य है। आचार्य पूज्यपाद कर्मव्यतिकर अथवा पारस्परिक क्रिया द्वारा उपकार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "**परस्परशब्दः कर्मव्यतिहारे वर्तते। कर्मव्यतिहारश्च क्रियाव्यतिहारः। परस्परस्योपग्रह परस्परोपग्रहः, कः पुनरसौ? स्वामी भृत्यः, आचार्यः शिष्यः, इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोग्रहः। स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते। भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उभयलोकफल-प्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि तदानुकूल्यवृत्या आचार्याणाम्।**"[37] परस्पर शब्द कर्मव्यतिहार अथवा पारस्परिक क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परस्पर उपग्रह का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि स्वामी धन देकर सेवक का उपकार करता है तथा भृत्य स्वामी के हित का प्रतिपादन कर एवं अहित का निषेध कर उपकार करता है। आचार्य इहलोक एवं परलोक के फल का उपदेश देकर तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्य का उपकार करता है। शिष्य भी आचार्य के अनुकूल व्यवहार कर उनका उपकार करते हैं। पूज्यपादाचार्य ने इस सूत्र में उपग्रह शब्द के पुनः प्रयोग को सार्थक बताते हुए कहा है कि पूर्वसूत्र '**सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च**'[38] में सुख, दुःख, जीवन एवं मरण को जो पुद्गल का उपकार निरूपित किया गया है, वह जीवों का भी परस्पर उपग्रह समझना चाहिये। अर्थात् जीव भी एक दूसरे के सुख, दुःख जीवन एवं मरण में निमित्त बनते हैं।

जीव की नित्यानित्यात्मकता

जीव अथवा आत्मा के सम्बन्ध में जैन दर्शन की एक विशेष मान्यता यह है कि वह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं काल की भाँति जीव को भी नित्यानित्यात्मक स्वीकार करता है । द्रव्य की दृष्टि से जीव नित्य है एवं नरक, तिर्यंचादि पर्यायों की दृष्टि से वह अनित्य है। जीव में जीवपना कभी समाप्त नहीं होता, वह ध्रुव है। इस दृष्टि से जीव नित्य है, किन्तु वह संसारी अवस्था में नरकादि विभिन्न पर्यायों में परिणत होता रहता है, इसलिए वह अनित्य है। यही नहीं, उसमें ज्ञानादि गुणों की पर्यायें भी निरन्तर उत्पन्न एवं व्यय होती रहती हैं, इसलिए पूर्व पर्यायों के नाश एवं उत्तर पर्यायों के उत्पाद की दृष्टि से वह अनित्य है। जीव अथवा आत्मा की ऐसी नित्यानित्यात्मकता अन्य किसी भी भारतीय दर्शन को मान्य नहीं है। सांख्य-योग दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। न्याय-वैशेषिक एवं वेदान्त दर्शनों में भी आत्मा को नित्य माना गया है। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है, उसमें चित्त सन्तति का जो सतत प्रवाह है वह ही सत्त्व अथवा पुद्गल है एवं वह अनित्य है । सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद देवनन्दी कहते हैं- अनित्य पर्याय के साथ द्रव्य की दृष्टि से तद्भाव रूप नित्यता बने रहने पर ही वस्तु का प्रत्यभिज्ञान होना सम्भव है। यदि पूर्व वस्तु का सर्वथा नाश हो जाए तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि के रूप में लोक-संव्यवहार नहीं हो सकता। यदि सर्वथा नित्यता मान ली जाए तो संसार से निवृत्ति की प्रक्रिया सम्भव नहीं हो सकेगी।[39] आचार्य हेमचन्द्र आत्मा के एकान्त नित्य एवं अनित्यत्व का खंडन करते हुए कहते हैं- **''नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ।''**[40] एकान्त नित्य एवं एकान्त अनित्य आत्मा मानने पर कर्मफल के रूप में सुख एवं दुःख का भोग संभव नहीं है। पुण्य एवं पाप तथा बन्ध व मोक्ष की प्रक्रिया भी एकान्तवाद में उत्पन्न नहीं हो सकती।

मोक्ष में ऊर्ध्वगमन

जीव अष्टविध कर्मों से रहित होकर जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो वह कहाँ स्थिर होता है? वेदान्त दर्शन का मन्तव्य है कि जीवात्मा तब ब्रह्म में विलीन हो जाता

है, न्याय-वैशेषिक दर्शन मानते हैं कि तब आत्मा ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न से रहित हो जाता है अर्थात् वह अज्ञानादि से रहित होने के कारण जडवत् हो जाता है। मीमांसा दर्शन में मुक्ति की नहीं स्वर्ग की परिकल्पना है, अतः आत्मा स्वर्ग में गमन कर जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण होने पर विज्ञान अथवा चित्त संतति का प्रवाह सदा के लिए रुक जाता है। जैन दर्शन के अनुसार न तो मुक्त आत्मा का किसी अन्य में विलय होता है, न कभी वह अवतार के रूप में पुनः जन्म ग्रहण करता है और न ही उसकी सत्ता समाप्त होती है, अपितु वह ज्योंही सर्वकर्म मलों से रहित होता है तो लोक के ऊर्ध्वभाग में जाकर अवस्थित हो जाता है।[41] वह लोक से अलोक में नहीं जाता, क्योंकि गति में सहायक उदासीन निमित्त लोक में ही रहता है, अलोक में नहीं। लोकाग्र में अवस्थित उस सिद्ध जीव में भी अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अव्याबाध सुख आदि विशेषताएँ रहती हैं।

उपसंहार

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में जीव अथवा आत्मा के विविध पक्षों का सुन्दर निरूपण हुआ है। तात्त्विक स्पष्टता के साथ ललित एवं सुग्राह्य भाषा का प्रयोग पूज्यपादाचार्य की विलक्षण विशेषता है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम चार अध्याय जीवतत्त्व से ही सम्बद्ध हैं, किन्तु पंचम एवं अन्य अध्याय भी किसी न किसी रूप में जीव से जुड़े हुए हैं। आत्मा विषयक जैन दर्शन की प्रमुख मान्यताएँ सर्वार्थसिद्धि टीका में चर्चित हुई हैं । औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक भावों के रूप में भी जीव की विशेषता वर्णित हुई है तथा तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के सातवें एवं आठवें सूत्र पर विभिन्न मार्गणाओं के माध्यम से जीव की विविध विशेषताओं पर जो प्रकाश डाला गया है वह पूज्यपादाचार्य के गहन आर्षज्ञान का द्योतक है । षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड भी उसके आधार रहे हैं ।

जैन दर्शन एवं भारतीय दर्शनों में आत्मा-विषयक मान्यता - भेदों का संक्षेप में उल्लेख निम्न सारणी में किया जा रहा है ।

प्रमुख भारतीय दर्शनों एवं जैनदर्शन में आत्माविषयक मान्यताएँ

	स्वरूप/लक्षण	मूर्त/अमूर्त	कर्त्ता/अकर्त्ता	परिमाण	भेद	नित्य/अनित्य	एक/अनेक	मोक्ष के अनन्तर जीव
जैन	उपयोगमय	अमूर्त, मूर्त	कर्त्ता	स्वदेह परिमाण	संसारी एवं सिद्ध	नित्यानित्य	अनेक	ऊर्ध्वगामी होकर लोक के अग्रभाग पर स्थित
न्याय - वैशेषिक	आत्मलजातियुक्त । ज्ञान, इच्छा, दुःख, सुख, द्वेष, प्रयत्न आदि गुण आत्मुक हैं ।	अमूर्त	कर्त्ता	व्यापक, विभु	भेद नहीं	नित्य	अनेक	जड़
सांख्य	चेतन, गुणत्रय से भिन्न	अमूर्त	अकर्त्ता, निष्क्रिय	व्यापक	-	नित्य	अनेक	पुनः नहीं बंधता
मीमांसा	चेतनालक्षण	अमूर्त	कर्त्ता	व्यापक	-	नित्य	अनेक	स्वर्गस्थ
वेदान्त	अज्ञान की व्यष्टि से आच्छन्न सत्, चित् एवं आनन्दमय	अमूर्त	कर्त्ता	व्यापक	जीव एवं ब्रह्म	नित्य	अनेक अंश	मोक्ष/ब्रह्म में विलीन
बौद्ध	पुद्गल/रूप, विज्ञान, वेदना संज्ञा एवं संस्कार स्कन्ध रूप □ अनात्मवाद □ विज्ञान का प्रवाह	मूर्त/ अमूर्त	कर्त्ता	-	स्रोतापन्न सकृदागामी अनागामी अर्हत्	अनित्य	अनेक	निर्वाण/सन्तति प्रवाह समाप्त
चार्वाक	चारभूतों से उत्पन्न चेतन	मूर्त	कर्त्ता	देहपरिमाण	-	अनित्य	अनेक	मोक्ष की अवधारणा नहीं, मृत्यु के साथ ही चेतना का नाश

सन्दर्भ :-

1. (i) जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।- तत्त्वार्थसूत्र, 1.4
   (ii) द्रव्याणि जीवाश्च ।- तत्त्वार्थसूत्र 5.2(सर्वार्थसिद्धि में 'जीवाश्च' पृथकसूत्र है ।-5.3)
2. (i) अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा ।-सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 15 वां संस्करण, 2009 सूत्र 1.12 पृ. 73
   (ii) इन्दतीति इन्द्र आत्मा ।- सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 1.14 पृ. 77
3. "तत्त्वशब्दो भाववाचीत्युक्तः। स कथं जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः सामानाधिकरण्यं प्रतिपद्यते? अव्यतिरेकात्तद्भावाध्यारोपाच्च सामानाधिकरण्यं भवति। तथा-'उपयोग एवात्मा' इति।" सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 1.4, पृष्ठ 12
4. उपयोगो लक्षणम्। - तत्त्वार्थसूत्र, 2.8
5. साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। - सर्वार्थसिद्धि 2.9 पृष्ठ 118
6. सर्वार्थसिद्धि 2.8, पृष्ठ 117
7. वही 1.4, पृष्ठ 11
8. तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्। - वही 2.9, पृष्ठ 118
9. उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः। - प्रज्ञापनासूत्र, 24वें पद की टीका
10. कसायपाहुड, गाथा 16 से 20
11. संसारिणो मुक्ताश्च। - तत्त्वार्थसूत्र, 2.10
12. सर्वार्थसिद्धि 2.10, पृष्ठ 119
13. वही, पृष्ठ 119-122
14. उक्तात्पंचविधात्संसारान्निवृत्ता ये ते मुक्ताः। - वही, पृष्ठ 122
15. न चामूर्तेः कर्मणां बन्धो युज्यत इति। तन्न, अनेकान्तात्। नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः। शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः। - सर्वार्थसिद्धि 1.7, पृष्ठ 116
16. बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते। - वही, पृष्ठ 116
17. एषां पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तं प्रत्येकं। तत्कथमिति चेत् ? उच्यते-पृथिवी, पृथिवीकायः, पृथिवीकायिकः, पृथिवीजीव इति। - वही 2.13, पृष्ठ 124
18. वही, पृष्ठ 124-125
19. वही, 2.14 पृष्ठ 125
20. तत्त्वार्थसूत्र 2.13-14
21. कर्मेन्द्रियाणां वागादीनामिह ग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्, उपयोगप्रकरणात्।

उपयोगसाधनानामिह ग्रहणं, न क्रियासाधनानाम्, अनवस्थानाच्च। क्रियासाधनानामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिवर्तितानां सर्वेषामपि क्रियासाधनत्वमस्तीति न पंचैव कर्मेन्द्रियाणि। - सर्वार्थसिद्धि 215, पृष्ठ 126

22. तत्त्वार्थसूत्र 2.17-18
23. सर्वार्थसिद्धि 2.18, पृष्ठ 128
24. जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। - सांख्यकारिका, 18
25. तथाज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इत्यादि' श्रुतेः। - वेदान्तसार, साहित्य भण्डार, मेरठ, सूत्र 40, पृष्ठ 80
26. अंगुत्तरनिकायपालि, संपादक - द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, भाग-4, पृष्ठ 408
27. आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिध्यति।- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष खण्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977, पृष्ठ 232-233
28. सर्वार्थसिद्धि 5.3, पृ. 203
29. सर्वार्थसिद्धि 5.15 पृ. 213
30. द्रष्टव्य, स्याद्वादमंजरी, श्लोक 9 पर टीका
31. तत्त्वार्थसूत्र, 5.16
32. सर्वार्थसिद्धि, 5.16, पृष्ठ 213-214
33. उत्तराध्ययन सूत्र, 20.37
34. तत्त्वार्थसूत्र, 8.2
35. तत्त्वार्थसूत्र, 10.2
36. तत्त्वार्थसूत्र 5.21
37. सर्वार्थसिद्धि, 5.21, पृष्ठ 220
38. तत्त्वार्थसूत्र, 5.20
39. सर्वार्थसिद्धि, 5.31, पृष्ठ 230-231
40. अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, स्याद्वादमंजरी,परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, श्लोक 27
41. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। - तत्त्वार्थसूत्र, 10.5



सूत्रकृतांग में परमतानुसारी आत्म-स्वरूप की मीमांसा

आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व को लेकर भारतीय चिन्तनधारा में विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं, उनमें से कई मतों की चर्चा प्राचीन जैनागम सूत्रकृतांग सूत्र में उपलब्ध है। इसमें पंच महाभूतों से चेतना की उत्पत्ति मानने वाले चार्वाकों, एक ही आत्मा को स्वीकार करने वाले वैदिकों, तज्जीव-तच्छरीरवादी लोकायतिकों, आत्मा को अकर्ता मानने वाले सांख्यदार्शनिकों, आत्मषष्ठवादियों, अनात्मवादी एवं चातुर्धातुकवादी बौद्धों तथा सुख-दुःख को नियति से स्वीकार करने वाले नियतिवादियों की चर्चा की गई है। इन विभिन्न मतवादों में से कुछ का खण्डन सूत्रकृतांग में हुआ है तो कुछ का खण्डन सूत्रकृतांग निर्युक्ति, सूत्रकृतांग चूर्णि एवं शीलाङ्काचार्य कृत टीका में उपलब्ध है। प्रस्तुत आलेख में आत्मा-सम्बन्धी विभिन्न परमतों के पूर्वपक्ष का उपस्थापन करने के साथ सूत्रकृतांग एवं उसके व्याख्या- साहित्य के आधार पर खण्डन प्रस्तुत किया गया है। जैनदर्शन में स्वीकृत आत्म-स्वरूप को उपसंहार के रूप में विवेचित किया गया है। जैनदर्शन को स्वमत तथा उससे भिन्न मतों को यहाँ परमत कहा गया है।

जैन दर्शन में आत्मा ज्ञान एवं दर्शन गुणों से युक्त चेतन तत्त्व है। विश्व में अनन्त आत्माएँ हैं तथा सब अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्र हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि में चेतना का अनुभव आत्मा के संयोग से होता है। आत्मा को ही जीव भी कहा गया है। संसारी एवं सिद्ध के भेद से आत्मा के दो प्रकार हैं। सिद्ध आत्मा का संसार में पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वह संसार में जन्म-मरण के हेतु अष्टविध कर्मों से रहित होता है। संसारी आत्मा को कर्म-बन्धनों से बंधा हुआ स्वीकार किया गया है, साथ ही यह भी माना गया है कि वह सम्यग्ज्ञान तथा क्रिया के बल पर अथवा ज्ञ-परिज्ञा एवं प्रत्याख्यान-परिज्ञा के आलम्बन से पराधीनता के बन्धनों को तोड़कर सदा के लिए उनसे मुक्त हो सकता है।

ध्यातव्य है कि काम-भोगों में आसक्त जो श्रमण एवं ब्राह्मण बन्धनमुक्ति के सम्यक् उपायों को नहीं जानते, वे अनेक ऐसे मन्तव्यों का प्रतिपादन करते हैं जो मानव जाति को सन्मार्ग से भटकाते हैं। प्राचीनकाल से आत्मा के स्वरूप तथा बन्धन और मुक्ति को लेकर विभिन्न विचारकों में मतभेद रहा है। कुछ मतों का

संकेत हमें सूत्रकृतांग सदृश महत्त्वपूर्ण आगम में प्राप्त होता है।

सूत्रकृतांग में वैदिक परम्परा, चार्वाक, सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों से सम्बद्ध विभिन्न मान्यताओं का उपस्थापन एवं खण्डन उपलब्ध होता है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, आत्मषष्ठवाद, क्षणिकवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद, जगत्कर्तृत्ववाद, अवतारवाद आदि विभिन्न परमतों की चर्चा उपलब्ध होती है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में अज्ञानवाद, विनयवाद, अक्रियावाद एवं क्रियावाद नामक मिथ्यामतों का निरूपण किया गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में पुनः तज्जीव-तच्छरीरवाद, पंचमहाभूतवाद, नियतिवाद आदि के साथ ईश्वरकारणवाद की भी विशद चर्चा हुई है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आर्द्रकीय नामक छठे अध्ययन में गोशालक की मान्यता का आर्द्रक मुनि द्वारा प्रतिवाद किया गया है। बौद्धों, मांसभोजी ब्राह्मणों, सांख्य मतवादियों एवं हस्तितापसों की मान्यताओं का भी खण्डन किया गया है। इस प्रकार सूत्रकृतांग में हमें उस समय प्रचलित विभिन्न मतवादों का उल्लेख एवं खण्डन प्राप्त होता है।

सूत्रकृतांग पर आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति, जिनदासगणि कृत चूर्णि तथा आचार्य शीलांक की टीका प्राप्त होती है। आचार्य शीलांक ने इन मतों पर विशेष प्रकाश डाला है। आधुनिक काल में पूज्य घासीलाल जी महाराज के द्वारा सूत्रकृतांग पर समयार्थबोधिनी टीका का निर्माण किया गया है। इनसे पूर्व हर्षकुलगणि रचित दीपिका तथा साधुरङ्गगणिविरचित दीपिका टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इन सबमें परमतों की चर्चा की गई है। आत्मा के स्वरूप से सम्बद्ध कतिपय मतों की चर्चा इस आलेख में की जा रही है।

(1) पंचमहाभूतों से चेतना की उत्पत्ति का मत एवं उसका खण्डन

भारतीय परम्परा में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इन पांचों को महाभूत कहा गया है। इन महाभूतों की चर्चा सांख्य, वैशेषिक, न्याय, वेदान्त आदि विभिन्न दर्शनों में प्राप्त होती है। प्रायः ये दर्शन पंचमहाभूतों को स्वीकार करके भी आत्मा का स्वरूप एवं अस्तित्व इनसे पृथक् अंगीकार करते हैं। किन्तु चार्वाक एक ऐसा दर्शन है जो इन पांच महाभूतों से आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करता एवं इन पांच

भूतों से चेतना की उत्पत्ति उसी प्रकार अंगीकार करता है जिस प्रकार जौ, गुड़, महुआ आदि पदार्थों के संयोग से बनने वाली मदिरा में मद शक्ति उत्पन्न हो जाती है। चार्वाक मत का कथन है कि पृथ्वी आदि पंच महाभूतों के शरीर रूप में परिणत होने पर इन्हीं भूतों से शरीर में चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। सूत्रकृतांग की निम्नांकित गाथाओं में चार्वाक दर्शन की इसी मान्यता का निरूपण हुआ है-

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवी आऊ तेऊ वा, वाऊ आगासपंचमा।
एते पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो।[1]

(किन्हीं के द्वारा पांच महाभूत कहे गए हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन पांच महाभूतों से एक चैतन्य अथवा आत्मा उत्पन्न होता है और इन पंच महाभूतों के विनाश होने पर उस देही आत्मा का विनाश हो जाता है।)

चार्वाक अथवा लोकायतिक परम्परा में पुनर्जन्म एवं नरक-स्वर्ग आदि की परिकल्पना नहीं है। उनके अनुसार इस जीवन में प्राप्त होने वाला दुःख ही नरक है तथा यहाँ मिलने वाला सुख ही स्वर्ग है। लोक में कोई नरक-स्वर्ग नहीं है। इस शरीर का उच्छेद होना ही मोक्ष है। 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ', 'मैं काला हूँ' आदि अनुभवयुक्त कथन भी इंगित करते हैं कि चेतना शरीर रूप ही है। यह मेरा शरीर है इस प्रकार का व्यवहार औपचारिक है।

लोकायतिकों की एक अन्य मान्यता के अनुसार पाँच नहीं, अपितु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति होती है-

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।।[2]

(यहाँ चार भूत हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चार भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है।) यहां पर यह कहना उचित होगा कि चार्वाक-दर्शन प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। आकाश में किसी प्रकार का वर्ण या रूप नहीं होता। इसका चक्षु आदि इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। इसलिए यह सम्भव है कि चार्वाकों की एक परम्परा ने आकाश को भूत स्वीकार करने का निषेध कर दिया हो

एवं पाँच के स्थान पर चार भूतों से ही चैतन्य की उत्पत्ति मानने लगे हों।

बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में चार भूतों को मानने वाले लोकायतिकों का उल्लेख हुआ है। उनका कथन है कि यह आत्मा रूपी है, चार महाभूतों से निर्मित तथा माता-पिता के संयोग से उत्पन्न है तथा शरीर के नष्ट होते ही चेतना उच्छिन्न, विनष्ट और लुप्त हो जाती है।[3]

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अनुसार पंचमहाभूतवादी कहते हैं कि सत्क्रिया या असत्क्रिया, सुकृत या दुष्कृत, कल्याण या पाप, साधु या असाधु, सिद्धि या असिद्धि, नरक या स्वर्गादि की प्राप्ति अथवा तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी इन पंच महाभूतों से होती है। ये पांच महाभूत किसी कर्त्ता के द्वारा निर्मित नहीं हैं और न निर्मेय हैं। ये किसी के द्वारा कृत नहीं हैं और न ही ये कृत्रिम हैं। न ही ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पांचों महाभूत अनादि एवं अनन्त हैं। ये स्वतन्त्र एवं शाश्वत हैं। अपना कार्य स्वयं करने में समर्थ हैं।[4]

खण्डनः- चार्वाकों की इस मान्यता का सूत्रकृतांग में सीधा खण्डन नहीं किया गया है। किन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने खण्डन करते हुए कहा है कि पृथ्वी आदि पंच भूतों के संयोग से चैतन्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि पंचमहाभूतों का गुण चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार बालू रेत में तेल उत्पन्न करने का स्निग्धता गुण नहीं है, इसलिए बालू रेत को पीलने पर उससे तेल उत्पन्न नहीं हो सकता; उसी प्रकार पंचभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने का गुण न होने से उनके संयोग से चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि पांच इन्द्रियों (रसन, स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) से होने वाले ज्ञानों का संकलनात्मक अनुभव एक ही ज्ञाता को होने के कारण आत्मा का अलग अस्तित्व ज्ञात होता है।[5]

आचार्य शीलाङ्क ने सूत्रकृताङ्गटीका में चार्वाक मत का खण्डन करते हुए कहा है कि जौ, गुड, महुआ आदि में मदशक्ति नहीं होते हुए भी इनके समुदाय में मदशक्ति प्रकट हो जाती है, यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि जौ, गुड आदि में भूख मिटाने का सामर्थ्य होता है, भ्रम (चक्कर) उत्पन्न करने का सामर्थ्य होता है

तथा जल में तृषा को दूर करने का सामर्थ्य होता है, अतः इनसे मदशक्ति का उत्पन्न होना सम्भव है, जबकि पंचभूतों में से पृथ्वी आदि किसी भी भूत में चैतन्य नहीं होता, अतः पंचभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति हेतु जो दृष्टान्त दिया गया है वह विषम या अनुचित है।[6] यदि पंचभूतों में चैतन्य स्वीकार किया जाए तो उनसे उत्पन्न जीव का कभी मरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि मृत शरीर में भी पृथ्वी आदि पांच भूतों का सद्भाव रहता है।[7] इससे यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि पंच भूतों के नष्ट होते ही देही आत्मा का भी नाश हो जाता है।

शीलाङ्काचार्य ने एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया है कि मिट्टी से निर्मित पुतली में पांचों महाभूत होते हैं, फिर भी उसमें जड़ता ही देखी जाती है, चेतना नहीं।[8]

आत्मा की सिद्धि अनुमान एवं आगम प्रमाण से भी होती है। शीलाङ्काचार्य ने अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि करते हुए कहा है- आत्मा है, क्योंकि उसके ज्ञानादि असाधारण गुण उपलब्ध होते हैं, जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय का साक्षात् ज्ञान नहीं होता है, वह उसके असाधारण गुण रूपविज्ञान की शक्ति से अनुमित होती है, उसी प्रकार आत्मा भी उसके असाधारण चैतन्य गुण से ज्ञात होता है। आत्मा का असाधारण गुण चैतन्य है तथा पृथिवी आदि भूतों में इसका निराकरण करने पर ही यह असाधारण गुण ज्ञात होता है।[9] 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' आदि अनुभवों में आत्मा प्रत्यक्ष से तथा "अत्थि मे आया उववाइए" वाक्यों में आगम प्रमाण से सिद्ध है।

पंचभूतों से पृथक् शाश्वत आत्म-तत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा बंध-मोक्ष एवं पुण्य-पाप आदि की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जैनदर्शन का मंतव्य है कि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव या आत्मा शाश्वत है तथा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से वह अशाश्वत या अनित्य है। आत्मा की पर्यायों में परिवर्तन होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जो आत्मा कर्मों का कर्ता होता है वही उसके फल का भोक्ता भी होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टरूपेण कहा गया है-

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ।।[10]

आत्मा ही अपने दुःख एवं सुख का कर्ता एवं विकर्त्ता है। वह सन्मार्ग में

चलने पर अपना मित्र तथा कुमार्ग पर आरूढ होने पर अपना शत्रु हो जाता है। यदि आत्मा को पंचभूतों से स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना जाएगा तो कर्म-बंध एवं उसका फल भोग किसके द्वारा होगा, यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाएगा।

(2)एकात्मवाद का सिद्धान्त एवं उसका खण्डन

जैनदर्शन के अनुसार लोक में अनन्त जीव हैं तथा वे सभी अपने-अपने कृत कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करते हैं। शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ प्राप्त होता है। किन्तु कुछ परमतावलम्बी एक ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर सभी जीवों को उसी के नानारूप मानते हैं। सूत्रकृतांग में उनके मत का उल्लेख करते हुए कहा गया है-

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ।
एवं भो! कसिणे लोए, विण्णू नाणा हि दीसइ।।[11]

जिस प्रकार एक ही पृथ्वी पिण्ड घर, भवन आदि नाना रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार समस्त लोक में व्याप्त विज्ञ पुरुष (ब्रह्म) नाना जीव रूपों में दिखाई देता है। वैदिक ग्रन्थ ब्रह्मबिन्दूपनिषद् एवं कठोपनिषद् में इसका प्रतिपादन करते हुए कहा गया है-

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।[12]
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।[13]

जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न घड़ों में अनेक दिखाई देता है, उसी प्रकार सभी भूतों में रहा हुआ एक ही भूतात्मा उपाधिभेद से नाना दिखाई देता है। जिस प्रकार एक ही वायु सारे लोक में व्याप्त है, किन्तु उपाधिभेद से अलग-अलग रूप वाला हो गया है, उसी प्रकार एक ही आत्मा उपाधिभेद से विभिन्न रूप वाला हो जाता है।

वेदान्तदर्शन में भी एक ब्रह्म को सत् मानकर समस्त जीवों को उसी का अंश स्वीकार किया गया है तथा उसे समस्त चराचर जगत् का कारण माना गया है।

वेदान्तदर्शन का विकास उपनिषदों के आधार पर हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।[14]

अर्थात् एक देव ही समस्त प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी है एवं समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा है, वह सब कर्मों का अधिष्ठाता तथा समस्त भूतों का निवास है। वह सबका साक्षी चेतन स्वरूप, शुद्ध एवं गुणातीत (सत्त्व, रज एवं तम रहित)है।

खण्डनः- सूत्रकृतांग में इसका खण्डन करते हुए कहा गया है कि यह मन्दबुद्धि लोगों का कथन है कि आत्मा एक है। वास्तव में तो आरम्भ आदि पापप्रवृत्ति में संलग्न सभी लोग स्वयं पाप करके अपने-अपने कर्मानुसार तीव्र दुःख को प्राप्त करते हैं।[15] सब आत्माएँ अस्तित्व की दृष्टि से अलग-अलग हैं, सबका अपना-अपना कर्म होता है, तदनुसार ही जीवों को फल की प्राप्ति होती है। स्वरूपतः आत्मा एक है, इसलिए स्थानांगसूत्र में '**एगे आया**' कथन आया है, वह जीव के अकेलेपन को भी द्योतित करता है, अतः जैनदर्शन में अस्तित्व की दृष्टि से विचार करें तो सभी जीव अलग-अलग हैं, स्वतन्त्र हैं एवं संख्या में अनन्त हैं। यदि इन जीवों को भिन्न-भिन्न नहीं माना जाएगा तो कर्म-फल की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। एक के कृत कर्मों का फल सबको भोगना पड़ेगा। परिवार, समाज आदि का व्यवहार नहीं हो सकेगा। एक का जन्म होने पर सभी का जन्म, एक की मृत्यु होने पर सभी की मृत्यु माननी पड़ेगी। एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जायेंगे तथा एक के बंधन को प्राप्त होने पर सभी जीव बंधन को प्राप्त हो जायेंगे। किन्तु सत्य इससे विपरीत है। यहाँ किसी का जन्म होता है तो किसी की मृत्यु। कोई सुखी होता है तो कोई दुःखी। कोई वृद्ध है तो कोई बालक है। कोई मनुष्य है तो कोई पशु। अतः यह मानना चाहिए कि सभी जीवों की स्वतन्त्र सत्ता है एवं सभी अपने कृत कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करते हैं। सभी जीवों को अलग-अलग मुक्त होना है। सामाजिक व्यवहार एवं नैतिकता का प्रश्न भी तभी घटित होगा जब सब जीवों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाएगी। आचार्य शीलांक का कथन है कि एक आत्मा

को स्वीकार करने पर एक के पाप से सभी पापी और एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति माननी पड़ेगी, जो उचित नहीं है। वे आगे कहते हैं कि यदि एक ही व्यापक आत्मा है तो घटादि में भी चैतन्य मानना होगा, जो है नहीं। सभी भूतों के अपने-अपने गुण हैं तथा सभी जीवों का अपना-अपना ज्ञान है। अतः आत्माद्वैत का सिद्धान्त सम्यक् नहीं है।[16] साधुरङ्ग ने दीपिका व्याख्या में कहा है कि यदि एक ही आत्मा व्यापक होकर प्रत्येक शरीर में जलचन्द्रवत् प्रतिभासित होता है तो कुछ सुखी हैं, कुछ दुःखी हैं, कुछ धनिक हैं, कुछ निर्धन हैं, कुछ मूर्ख हैं, कुछ प्राज्ञ हैं इत्यादि व्यवस्था नहीं हो सकेगी।[17] यदि एक ही आत्मा है तो एक प्राणी के द्वारा अपराध किए जाने पर सभी देव, मानव, तिर्यञ्च एवं नारक समान दुःखरूप फल का अनुभव करेंगे। जबकि ऐसा देखा नहीं जाता है। नारकों को दुःख एवं देवों को सुख का आधिक्य रहता है।[18]

(3)तज्जीव-तच्छरीरवादियों का मत एवं उसका खण्डन

जीव एवं शरीर में भिन्नता नहीं मानना ही तज्जीव-तच्छरीरवाद कहा गया है। इस मत के अनुसार आत्माएँ तो अनेक स्वीकार किए गए हैं, क्योंकि संसार में अज्ञानी जीव भी हैं और पण्डित पुरुष भी। अतः सर्वव्यापी रूप में एक आत्मा स्वीकार करना तज्जीव-तच्छरीरवादी उचित नहीं मानते, किन्तु इनका मानना है कि जब तक शरीर रहता है तब तक ही चैतन्य या आत्मा का अस्तित्व है। मृत्यु होने के पश्चात् आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अतः शरीर से भिन्न कोई आत्मा मृत्यु के पश्चात् परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता है।[19] इनका कथन है- **''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति।''**[20] अर्थात् इन पंचभूतों से विज्ञानघन आत्मा उत्पन्न होता है तथा उन्हीं भूतों में विलीन हो जाता है। वह मरकर अन्यत्र कहीं उत्पन्न नहीं होता।

पंचभूतवाद के समान तज्जीव- तच्छरीरवाद की मान्यता भी चार्वाकों की प्रतीत होती है। आचार्य शीलांककृत टीका एवं श्री हर्षकुलगणि रचित दीपिका व्याख्या में यह प्रश्न उठाया गया है कि भूतवादियों से तज्जीव-तच्छरीरवादियों में क्या भिन्नता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि भूतवादियों के अनुसार पंचभूत काया के आकार में परिणत होकर धावन, चलन आदि क्रिया करते हैं, किन्तु

तज्जीव-तच्छरीरवाद में काया के आकार में परिणत भूतों से चेतना नामक आत्मा उत्पन्न होता है।

तज्जीव-तच्छरीरवादियों के मत को सूत्रकृतांग में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है-

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतोवरे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो।।[21]

इनके अनुसार अभ्युदय की प्राप्ति कराने वाला तत्त्व पुण्य भी नहीं है तथा इसके विपरीत जीव का पतन करने वाला तत्त्व पाप भी नहीं है, क्योंकि जब शरीर से भिन्न जीव की ही सत्ता नहीं है तो उसमें रहने वाले पुण्य-पाप भी सत्तावान् नहीं हो सकते। इस लोक से भिन्न अन्य लोक भी नहीं है, जहां पर पुण्य-पाप का अनुभव किया जा सके, क्योंकि शरीर का विनाश होने पर आत्मा या चैतन्य का विनाश हो जाता है।

सूत्रकृताङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी तज्जीव-तच्छरीरवाद की चर्चा है। उसके अनुसार तज्जीव-तच्छरीरवादियों का कथन है कि पैरों के तलवे से ऊपर तथा सिर के केशों के अग्रभाग से नीचे तक तथा बीच में जो भी शरीर है, वह जीव है। यह शरीर ही जीव का समस्त पर्याय है। इस शरीर के जीने तक ही यह जीता है तथा शरीर के मर जाने पर यह नहीं जीता। शरीर के चलने पर ही यह चलता है तथा विनष्ट होने पर नहीं चलता।[22] वे कहते हैं कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, इसे किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। जीव को शरीर से पृथक् मानते हैं तो उनका प्रश्न है कि वह आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व? परिमंडल है या गोल? वह त्रिकोण है या चतुष्कोण? षट्कोण है या अष्टकोण? अथवा क्या यह आयत है?यह काला है या नीला? लाल है या पीला या श्वेत? यह सुगन्धित है या दुर्गन्धित? यह तीखा है या कड़वा? कषैला है या खट्टा या मीठा? यह कर्कश है या कोमल? भारी है या हल्का? शीतल है या उष्ण? स्निग्ध है या रुक्ष?[23] तज्जीव-तच्छरीरवादियों की इस शंका का उत्तर हमें आचारांग सूत्र में प्राप्त होता है।[24]

जो लोग जीव और शरीर को पृथक् मानते हैं वे आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् करके दिखा नहीं सकते। जिस प्रकार म्यान से तलवार को बाहर

निकाल कर दिखाया जा सकता है उस प्रकार कोई पुरुष शरीर से जीव को पृथक् करके नहीं दिखा सकता। इस प्रकार के आठ तर्क तज्जीव-तच्छरीरवादियों के द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं, जिनसे यही सिद्ध किया गया है कि आत्मा को शरीर से पृथक् दिखाना सम्भव नहीं है। इसलिए शरीर को ही जीव मानना उचित है।[25]

राजप्रश्नीयसूत्र में भी राजा प्रदेशी के द्वारा केशीश्रमण के समक्ष ऐसी शंकाएँ उठायी गई हैं जो तज्जीव-तच्छरीरवाद की पुष्टि करती हैं। राजा प्रदेशी ने अपने अधार्मिक दादा एवं धार्मिक दादी के दृष्टान्त देकर कहा है कि यदि शरीर से जीव भिन्न होता तो दादा नरक से लौटकर मुझे सावधान करते कि मैं पापक्रिया न करूँ तथा दादी स्वर्ग से आकर सजग करती कि मैं अपना आचरण सुधारूँ। उन्होंने आकर मुझे कुछ नहीं कहा। इससे मुझे लगता है कि जो शरीर है वही जीव है। जीव एवं शरीर भिन्न नहीं हैं। राजप्रश्नीय सूत्र में लोहकुम्भी में चोर को बन्द करने आदि के भी उदाहरण दिए गए हैं, जो तज्जीव-तच्छरीरवाद को प्रतिपादित करते हैं।[26]

सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जो कर्म समारम्भों में लगे रहते हैं वे सत्क्रिया और असत्क्रिया में, सुकृत और दुष्कृत में, पुण्य और पाप में, साधु और असाधु में, सिद्धि और असिद्धि में, नरक और स्वर्ग में भेद नहीं मानते। सूत्रकृतांग में यह भी संकेत किया गया है कि तज्जीव-तच्छरीरवादी भी कदाचित् अपने मतानुसार प्रव्रज्या अंगीकार करते हैं और अपने ही धर्म को सत्य समझते हैं। वे उपदेश देकर दूसरे लोगों को भी अपने मत से जोड़ते हैं, किन्तु सत्-असत् आदि क्रियाओं में भेद का प्रतिपादन नहीं होने के कारण वे हिंसा, परिग्रह आदि का सेवन और अनुमोदन करने लगते हैं। काम भोगों में आसक्त होकर न अन्यों को बन्धन मुक्त कर पाते हैं और न स्वयं मुक्त हो पाते हैं।

आचार्य शीलांक ने तज्जीव-तच्छरीरवाद को प्रस्तुत करते हुए यह भी शंका उठाई है कि पुण्य-पाप के अभाव में जगत् के जीवों की विचित्रता किस प्रकार होगी? इसके उत्तर में वे तज्जीव-तच्छरीरवादियों की ओर से स्वभाववाद को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- "**कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि।**"[27] अर्थात् कांटों की तीक्ष्णता, मयूर की

विचित्रता और मुर्गे के विभिन्न वर्णों का होना स्वभाव से ही सिद्ध है। इसमें पुण्य, पाप आदि कारणों की अपेक्षा नहीं है। अतः आत्मा को शरीर रूप स्वीकार करने में बाधा नहीं है।

खण्डन- तज्जीव-तच्छरीरवाद भी एक प्रकार से चार्वाकों का ही मत है। क्योंकि यह आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करके नास्तिकता को स्थापित करता है। समाज में नैतिकता की स्थापना के लिए आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि वही अपने कृत कर्मों के अनुसार अन्य भव में भी फल की प्राप्ति कराता है। तज्जीव-तच्छरीरवाद मत अत्यन्त स्थूल अनुभव के आधार पर कहा गया प्रतीत होता है। वास्तव में चैतन्यधारी आत्मा शरीर से भिन्न है, ऐसा भेद-विज्ञानियों एवं केवलज्ञानियों ने अनुभव किया है। शरीर में चेतनाशीलता आत्मा के कारण है, आत्म-तत्त्व के निकल जाने पर शरीर निढाल हो जाता है। अतः यह कहना कि शरीर परिणत पंचभूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है, उचित नहीं है। जैन दर्शन में तो आत्मा का विस्तृत विवेचन हुआ है, जिसके अनुसार गुणस्थानों में आरोहण आत्मा का होता है, शरीर का नहीं। औपशमिक आदि भाव भी आत्मा में पाए जाते हैं, शरीर में नहीं। ज्ञान, दर्शन, गुण की उपलब्धि आत्मा में होती है, शरीर में उपलब्ध इन्द्रियाँ तो मात्र साधन बनती हैं। विभिन्न इन्द्रियों से होने वाले ज्ञानों के आधार पर ही आत्मा को यह अनुभव होता है कि मैंने देखा, मैंने सुना, मैंने चखा, मैंने स्पर्श किया एवं मैंने सूंघा। ये सभी ज्ञान यद्यपि अलग-अलग इन्द्रियों के माध्यम से होते हैं, तथापि इनका संकलनात्मक ज्ञान एक ही आत्मा को होता है।

आत्मा को शरीर से अभिन्न मानने वाले वादियों का निराकरण करते हुए कहा गया है कि पंचभूतों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं मानने पर चतुर्गतिक संसार में जीव द्वारा जन्म-मरण किस प्रकार किया जाएगा और फिर जगत् की विचित्रता भी कैसे घटित हो सकेगी? ऐसे अज्ञानी लोग अज्ञान रूपी अन्धकार से पुनः अधिक अन्धकार (ज्ञानावरण आदि) की ओर गमन करते हैं। पंचभूतों से निर्मित शरीर से भिन्न आत्मा का अभाव मानने पर पुण्य, पाप का भी अभाव होगा और पुण्य-पाप के अभाव से परलोक गमन का अभाव हो जायेगा। इस प्रकार आत्मा के अभाव का

प्रतिपादन करने वाले मतवादी महारम्भ में डूब जाते हैं और महारम्भ में निमग्न होकर वे नरक का रास्ता पकड़ लेते हैं।[28]

राजप्रश्नीय सूत्र में केशीकुमार श्रमण ने राजा प्रदेशी द्वारा '**जीवो तं सरीरं तं चेव**' (तज्जीव-तच्छरीरवाद) के पक्ष में प्रदत्त तर्कों का सोदाहरण खण्डन किया है। उन्होंने बताया है कि किन कारणों से नरक गया हुआ जीव हमें सावधान करने नहीं आ सकता, तथा स्वर्ग में गया हुआ जीव भी किन कारणों से आकर हमें नहीं चेताता। लोहकुम्भी आदि से निकलने में जीव को किसी छिद्र की आवश्यकता नहीं होती। जीव अप्रतिहत गति वाला होता है।[29]

पूज्य घासीलालजी कृत टीका एवं युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी द्वारा सम्पादित सूत्रकृतांग में आत्मा को शरीर से अभिन्न मानने को अनुचित ठहराते हुए कतिपय तर्क दिए गए हैं, यथा-

1. शरीर को ही आत्मा मानने पर बुद्धिमानों की शास्त्रादि में प्रवृत्ति नहीं होगी।[30] मोक्ष के लिए ली जाने वाली दीक्षा, चारित्र आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु तीर्थंकर, गणधर आदि की मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होने से उसे निष्फल नहीं कहा जा सकता।
2. यदि शरीर से भिन्न आत्मा न हो तो बाल्यावस्था में अनुभूत पदार्थ का स्मरण नहीं होना चाहिए।
3. किसी भी व्यक्ति को दान, सेवा, परोपकार, लोक-कल्याण आदि शुभकर्मों का फल प्राप्त नहीं होगा।
4. हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्म करने वाले लोग निःशंक होकर पापकर्म करेंगे, क्योंकि शरीर के साथ चैतन्य का विनाश हो जाने से फल भोगने वाला कोई नहीं रहेगा।

आत्मा के अकर्तृत्व सम्बन्धी मत एवं उसका खण्डन

आत्मा को अकर्ता-स्वीकार करने वाला यह सिद्धान्त अकारकवाद अथवा अकर्तृत्ववाद के नाम से कहा गया है। कपिल द्वारा प्रणीत सांख्यदर्शन में आत्मा किं वा पुरुष को चेतन मानकर भी अकर्ता कहा गया है। षड्दर्शनसमुच्चय टीका में सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में उल्लेख आता है-

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने।।[31]

कापिल अर्थात् सांख्य दर्शन में आत्मा को अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण (सत्त्व, रज एवं तमो गुण से रहित) और सूक्ष्म स्वीकार किया गया है। सूत्रकृतांग में इस मत का उल्लेख निम्नांकित गाथा में किया गया है-

कुव्वं च कारवं चेव, सव्वं कुव्वं ण विज्जति।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उपगब्भिया।।[32]

(आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता, न दूसरों से करवाता है तथा वह सभी प्रकार की क्रियाओं से रहित है। इस प्रकार आत्मा अकारक है। यह परमतावलम्बी (सांख्य दर्शन) का धृष्टतापूर्वक किया गया कथन है।)

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दो प्रमुख तत्त्व हैं। जिनमें से प्रकृति में सांख्य दार्शनिक कर्तृत्व स्वीकार करते हैं तथा पुरुष को भोक्ता मानकर भी कर्ता नहीं मानते हैं। इस अकारकवाद सिद्धान्त में अन्तर्विरोध है, क्योंकि आत्मा या पुरुष चेतन है अतः वह निष्क्रिय तथा अकर्ता नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जो कर्ता नहीं होता वह फल का भोक्ता कैसे हो सकता है? सांख्य दर्शन में पुरुष को अकर्ता मानकर भी भोक्ता स्वीकार किया गया है। यह उसकी मान्यता का पारस्परिक विरोध है।

खण्डनः- इस अकारकवाद के निराकरण में निर्युक्तिकार भद्रबाहु का तर्क है कि जब आत्मा को अकर्ता स्वीकार किया गया है तो उसके अकृत का वेदन कौन करता है।[33] आचार्य शीलांक ने व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मा के निष्क्रिय होने से उसमें वेदन क्रिया भी घटित नहीं हो सकती। यदि अकृत का भी अनुभव हो सकता है तो फिर अकृत के आगमन और कृत के नाश की आपत्ति आती है। दूसरी बात यह है कि पुरुष के व्यापक एवं नित्य होने के कारण उसमें पांच प्रकार की गति नहीं हो सकती। पांच प्रकार की गतियाँ हैं- नरक, तिर्यक्, मनुष्य, देव और मोक्ष। अकर्ता पुरुष इनमें से किसी भी गति में नहीं जा सकता है। फिर पुरुष के अकर्ता होने के कारण उसे काषाय वस्त्र धारण करने की क्या आवश्यकता है?

सिर का मुण्डन करने की, दण्ड धारण करने की और भिक्षा मांगकर भोजन करने की भी क्या आवश्यकता है? पंचरात्र के नियम के अनुसार यम-नियम के अनुष्ठान की भी क्या आवश्यकता है?फिर तो सांख्यदार्शनिकों का निम्नांकित कथन व्यर्थ सिद्ध होता है- **'पंचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः। जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः।'**[34] (सांख्य के 25 तत्त्वों को जानने वाला व्यक्ति, किसी भी आश्रम में रहने वाला हो, जटाधारी हो, अथवा मुण्डन किया हुआ, अथवा शिखा धारण करने वाला हो, वह मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।) आत्मा को सर्वव्यापक एवं नित्य मानने से विस्मरण का भी अभाव होता है। अतः जातिस्मरण ज्ञान आदि की क्रिया भी नहीं हो सकती। जब पुरुष को नित्य एवं निष्क्रिय स्वीकार किया गया है तो उसमें भोक्ता होने की क्रिया भी संभव नहीं है, क्योंकि वह भी एक क्रिया है।[35]

यदि पुरुष की निष्क्रियता का अभिप्राय सांख्यदर्शन में पूर्ण निष्क्रियता नहीं है, किन्तु सक्रियता की अल्पता के कारण उसे निष्क्रिय कहा गया है तो उत्तर में शीलांकाचार्य कहते हैं कि यदि किसी वृक्ष के फल नहीं है तो उससे द्रुम के अभाव की सिद्धि नहीं होती। फलवान होने पर ही किसी वृक्ष को द्रुम कहा जाए, अन्यथा अद्रुम कहा जाए, तो यह उचित नहीं है। सुप्त आदि अवस्था में आत्मा की कथञ्चित् निष्क्रियता हमें भी स्वीकार है, किन्तु इससे आत्मा को निष्क्रिय कहना उचित नहीं है। थोड़े फल वाला होने पर वृक्ष का अभाव सिद्ध करना उचित नहीं है। क्योंकि थोड़े फल वाले पनस आदि वृक्ष भी 'वृक्ष' कहे जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी स्वल्प क्रिया वाला होने पर भी क्रियावान् ही कहलाता है। यदि सांख्य दार्शनिक यह मानता हो कि जिस प्रकार थोड़े धन वाला धनी नहीं कहलाता, उसी प्रकार थोड़ी क्रिया वाला भी क्रियावान् नहीं कहा जाता, तो ऐसा मानना उचित नहीं है। अल्प धन वाले पुरुष को भी जीर्ण वस्त्र वाले व्यक्ति की अपेक्षा धनी समझा जाता है।[36]

आत्मषष्ठवाद मत एवं उसका खण्डन

कुछ दार्शनिक पृथ्वी आदि पांच महाभूतों को स्वीकार करने के साथ आत्मा को

छठा पदार्थ मानते हैं। ये आत्मा को शाश्वत मानते हैं। जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापी और अमूर्त होने से शाश्वत है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वव्यापी तथा अमूर्त होने से शाश्वत है। इनके मत का उल्लेख करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है-

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिं आहिया।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए।।[37]

(पाँच महाभूत हैं। किन्हीं के द्वारा आत्मा को छठा पदार्थ कहा गया है। इनमें आत्मा एवं लोक (पंच महाभूत) शाश्वत हैं।)

इस मत में आत्मा को पंच महाभूतों से स्वतन्त्र स्वीकार किया गया है तथा पंच महाभूतात्मक, लोक एवं आत्मा को शाश्वत अंगीकार किया गया है। आत्मा भी शाश्वत है एवं लोक भी शाश्वत है। पंच भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानने वाले चार्वाक के मत में जहाँ पंचभूत एवं उनसे उत्पन्न चैतन्य अनित्य है वहाँ आत्मषष्ठवाद मत में पांचों भूतों एवं आत्मा को नित्य स्वीकार किया गया है।

मात्र पंचभूतों एवं आत्मा इन छह द्रव्यों या पदार्थों को मानने वाला वर्तमान में कोई दर्शन प्रचलित नहीं है। हाँ, वैशेषिक दर्शन में मान्य नौ द्रव्यों के अन्तर्गत इन छहों का समावेश हो जाता है। वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य अंगीकृत हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें पूर्वोक्त छहों द्रव्य समाविष्ट हैं। किन्तु वैशेषिक दर्शन में आत्मा एवं आकाश को पूर्णतः नित्य स्वीकार किया गया है, जबकि पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु के परमाणुओं को नित्य तथा कार्यरूप पृथ्वी आदि को अनित्य माना गया है। सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्त्वों में भी पंचभूतों का प्रकृति में तथा आत्मा का पुरुष तत्त्व में समावेश होता है। सांख्य दर्शन में पुरुष नित्य है, जबकि पृथ्वी आदि पंचभूत कार्य अथवा विकृति रूप होने से अनित्य हैं। मीमांसा दर्शन में भी पंचभूत एवं आत्मा को स्वीकृत किया गया है, किन्तु इनके अतिरिक्त भी पदार्थ स्वीकार किए गए हैं। अतः यह आत्मषष्ठवाद कोई प्राचीन मत रहा है, जिसका अभी स्वतन्त्र अस्तित्व दृग्गोचर नहीं होता है।

सूत्रकृतांग में आत्मषष्ठवाद की अन्य विशेषताओं को निम्नांकित गाथा में प्रस्तुत किया गया है-

दुहओ ते ण विणस्सति, नो य उपज्जए असं।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतीभावमागता।।[38]

(ये पांच महाभूत और आत्मा दोनों प्रकार (निर्हेतुक एवं सहेतुक) से नष्ट नहीं होते हैं। असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है। ये सभी पदार्थ सर्वथा नियतिभाव अर्थात् नित्यत्व को प्राप्त होते हैं।)

इन छह पदार्थों का न निर्हेतुक विनाश होता है और न सहेतुक। बौद्ध परम्परा क्षणिकवादी है। उसमें प्रत्येक वस्तु का निर्हेतुक अर्थात् बिना कारण के विनाश स्वीकार किया जाता है। जो भी वस्तु उत्पन्न होती है वह नई वस्तु को जन्म देकर स्वतः नष्ट हो जाती है। उसके नाश में कोई अन्य हेतु नहीं होता है इसलिए इसे निर्हेतुक विनाश कहा जाता है। दूसरा विनाश सहेतुक होता है जैसे लकड़ी, डण्डे, हथौड़े या किसी अस्त्र-शस्त्र से जो विनाश किया जाता है, उसे सहेतुक विनाश कहते हैं। इस प्रकार का विनाश वस्तुवादी न्याय-वैशेषिक दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मषष्ठवादी के मत में इन दोनों प्रकार का विनाश नहीं होता। इनका मानना है कि जो सत् है उसका विनाश नहीं होता और जो असत् है उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता।[39]

बौद्धों की मान्यता है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नष्ट हो जाती है। उसकी उत्पत्ति ही उसके विनाश का हेतु होती है। अन्य कोई उसका हेतु नहीं होता है।[40]

खण्डनः- जैन दर्शन के अनुसार सभी पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से उन्हें नित्य और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य प्रतिपादित किया गया है। मात्र नित्यपदार्थों को स्वीकार करने पर जगत् का व्यवहार नहीं चल सकता। आत्मा को नित्य मानने पर उसमें कर्तृत्व घटित नहीं हो सकता। जब आत्मा में कर्तृत्व ही नहीं होगा तो कर्मबन्धन का अभाव हो जायेगा तथा कर्मफल की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी। कोई सुखी है तो वह सुखी ही बना रहेगा और कोई दुःखी है तो वह दुःखी ही बना रहेगा। प्राणियों का जन्म-मरण भी सम्भव नहीं होगा। नरकादि चार प्रकार की गतियों की अवधारणा व्यर्थ हो जायेगी तथा मोक्ष भी सम्भव नहीं हो सकेगा। जैनदर्शन द्वारा मान्य कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यता में जन्म-मरण, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि सभी पर्यायें घटित हो

सकती हैं। इसी प्रकार पृथ्वी आदि पंचभूतों की नित्यता स्वीकार करने पर उनसे घट आदि वस्तुओं का निर्माण नहीं हो सकेगा। जल एवं वायु एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं कर सकेंगे। अग्नि की लपटें ऊर्ध्व गमन नहीं कर सकेंगी व चारों ओर भी नहीं फैल सकेंगी।

अनात्मवाद एवं उसका खण्डन

बौद्ध दार्शनिक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। वे इसे पंचस्कन्धों से जन्य स्वीकार करते हैं। वहां चेतना को प्रवाही विज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध मत क्षणिकवादी भी है। इस मत को सूत्रकृतांग की निम्न गाथा में प्रस्तुत किया गया है-

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उखणजोइणो।
अन्नो अणन्नो णेवाऽऽहु, हेउयं च अहेउयं।।[41]

(वस्तु को क्षणिक मानने वाले कुछ अज्ञानी पांच स्कन्ध का प्रतिपादन करते हैं। वे आत्मा को पांच स्कन्धों से न भिन्न मानते हैं और न अभिन्न। वे इसे सहेतुक अर्थात् स्कन्धों से उत्पन्न अथवा निर्हेतुक अर्थात् अनादि अनन्त भी नहीं मानते हैं।)

बौद्ध मत में पांच स्कन्ध प्रतिपादित हैं- रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार। इन पांच स्कन्धों से सर्वथा भिन्न आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इनमें से पृथ्वी और पार्थिव रूप वस्तुएँ 'रूप-स्कन्ध' के अन्तर्गत समाविष्ट होती हैं। सुख-दुःख और उनके अभाव का अनुभव 'वेदना-स्कन्ध' के अन्तर्गत आता है। रूपज्ञान, रसज्ञान आदि का ज्ञान 'विज्ञान-स्कन्ध' के अन्तर्गत समाविष्ट होता है। घट, पट आदि संज्ञाओं का ज्ञान 'संज्ञा-स्कन्ध' से होता है। पुण्य-पाप आदि वासनाओं का समुदाय 'संस्कार-स्कन्ध' है। आत्मा यानी चेतना इन पंच स्कन्धों का समुदाय रूप ही होता है। इनसे भिन्न आत्मा नामक पदार्थ मानने में प्रमाण का अभाव है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों प्रमाणों से आत्मा की पृथक् सिद्धि नहीं होती। चक्षु आदि इन्द्रियों से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता तथा अनुमान प्रमाण से उसका ज्ञान करने के लिए कोई निर्दोष हेतु उपलब्ध नहीं है। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष एवं अनुमान के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं माना गया है, जिससे साध्य की सिद्धि की जा सके।[42]

यहां पर यह ध्यातव्य है कि बौद्ध दर्शन चैतन्य को स्वीकार तो करता है, किन्तु वैशेषिक आदि दर्शनों की भांति उसे नित्य नहीं मानता। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवस्था में चेतना या आत्मा का प्रवाह रुक जाता है तथा वह कहीं अन्यत्र गमन नहीं करता। जिस प्रकार दीपक का निर्वाण होने पर उसकी लौ वहीं समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाण की अवस्था में चेतना का प्रवाह वहीं समाप्त हो जाता है।[43]

एक बार निर्वाण होने के पश्चात् वह सदा के लिए हो जाता है। निर्वाण को बौद्ध परम्परा में परम सुख स्वरूप स्वीकार किया गया है- **'निब्बाणं परमं सुखं।'**[44] निर्वाण के बौद्ध दर्शन में दो प्रकार निरूपित हैं- सोपधिशेष निर्वाण और निरुपधिशेष निर्वाण। जब शरीर रहते हुए निर्वाण की प्राप्ति होती है तो उसे सोपधिशेष निर्वाण कहा गया है तथा शरीर के छूटने पर जो निर्वाण प्राप्त होता है उसे निरुपधिशेष निर्वाण कहा गया है। जैन दर्शन में अरिहन्त की जो अवस्था है उसे सोपधि शेष निर्वाण के समान तथा सिद्ध की अवस्था को निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था के समकक्ष माना जा सकता है। वेदान्त दर्शन में इसे जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त अवस्था के रूप में प्रतिपादित किया गया है। किन्तु जैन दर्शन में सिद्ध जीवों में अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख आदि आठ गुण स्वीकार किए गए हैं, जिनका बौद्ध दर्शन में मान्य परिपूर्ण निर्वाण की अवस्था में चेतना का प्रवाह रुक जाने से अभाव हो जाता है।

बौद्धों को क्षणयोगी अर्थात् क्षणिकवादी कहा गया है। इनके अनुसार जो भी सत् है वह क्षणिक है। आकाश एवं निर्वाण को छोड़कर बौद्ध दर्शन में सभी वस्तुएँ क्षणिक अंगीकार की गई हैं। प्रत्येक वस्तु अपने समान वस्तुओं को जन्म देकर स्वयं समाप्त हो जाती हैं।

खण्डनः- प्रायः बौद्धों को अनात्मवादी कहा जाता है, क्योंकि वे नित्य आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते। किन्तु आत्मा की कथंचित् नित्यता स्वीकार न की जाए तो कर्ता एवं भोक्ता की व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। तब कर्तृत्व किसी अन्य का होगा तथा फलभोग कोई अन्य करेगा। एकान्त क्षणिकवाद में सुख-दुःख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि की व्यवस्था घटित नहीं हो सकती। यदि पंचस्कन्धों से भिन्न

आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो बन्धन और मोक्ष किसका होगा? कर्तृत्व और भोक्तृत्व किसमें घटित होगा? पूर्णतः चेतना या आत्मा का अस्तित्व न मानने पर पुनर्जन्म की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी। जबकि बौद्ध परम्परा में बुद्ध के अनेक भवों का वर्णन जातक कथाओं में प्राप्त होता है। इसलिए ऐसा कहना उचित नहीं होगा कि बौद्ध दर्शन में आत्मा या चेतना को बिल्कुल स्वीकार नहीं किया गया है। वे विज्ञानस्कन्ध को आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं।

पूज्य घासीलाल जी महाराज ने बौद्धों के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा है- **''ननु को ब्रूते आत्मा नास्ति, अस्त्येव तु विज्ञानस्कन्धरूप आत्मा- यद्यपि आत्मापि विज्ञानरूप एव, तथापि तस्मिन्नेव विज्ञानात्मनि ज्ञानसुखादयो विद्यन्ते। ज्ञानसुखादयश्च तादृशविज्ञानात्मन एवाकार-विशेषाः ते तदात्मनि समवेताः, ततः सुखदुःखादिफलानामुपभोगो जन्ममरणादिका सर्वाऽपि व्यवस्था च समाहिता भवति।''**[45] अर्थात् बौद्ध मत में आत्मा विज्ञानरूप है। उस विज्ञान आत्मा में ज्ञान, सुख आदि रहते हैं। उस विज्ञान आत्मा में समवेत सुख दुःखादि फलों का भोग तथा जन्म-मरण आदि की व्यवस्था सम्भव होती है। किन्तु जैन दार्शनिकों ने क्षणिकवाद के आधार पर इसका खण्डन किया है। पूज्य घासीलाल जी ने खण्डन में कहा है कि जिस प्रकार घट आदि पदार्थ क्षणिक हैं उसी प्रकार बौद्धमत में आत्मा भी क्षणिक ही है। क्षणिक होने से उत्पन्न होकर वह नष्ट हो जाती है। उस विनष्ट आत्मा के द्वारा कालान्तरभावी स्वर्गादि फलों का भोग नहीं किया जा सकता। क्योंकि अन्य क्षण में की गई क्रिया का अन्य क्षण में मिलने वाले फल के साथ अनित्य पक्ष में सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि क्षणिकवाद में कृतकर्म के फल के नाश एवं अकृत कर्म के फल की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित होता है।[46]

चातुर्धातुकवाद एवं नियतिवाद में आत्म-चर्चा

बौद्ध दर्शन की एक मान्यता के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु इन चार धातुओं से यह शरीर निर्मित होता है, जिसे जीव कहा जाता है।[47] बौद्धदर्शन में जीव को पुद्गल शब्द से भी अभिहित किया गया है। चार्वाक दर्शन में जहाँ इन चारों को भूत कहा गया है, वहाँ बौद्ध दर्शन में इन्हें धारण-पोषण के कारण धातु कहा गया है। बौद्धों की इस अवधारणा का खण्डन निर्युक्ति गाथा **'को वेएइ'** के आधार पर

करते हुए शीलांकाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार पाँच स्कन्धों से पृथक् आत्मा को स्वीकार न करने पर यह समस्या उत्पन्न होती है कि सुख-दुःख आदि कर्मफल का अनुभव कौन करता है, वही समस्या इस चातुर्धातुकवाद में भी उत्पन्न होती है।[48]

नियतिवाद की मान्यता है कि दुःख-सुख स्वयंकृत नहीं हैं और न अन्यकृत हैं, इनकी प्राप्ति सांगतिक है अर्थात् नियति से होती है।[49] नियतिवाद में नियति ही एक मात्र कारण है। मंखलि गोशालक के इस मत में आत्मा का स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है तथा कर्म-सिद्धान्त की व्यवस्था भी ढह जाती है। इस व्यवस्था में पुरुषार्थपूर्वक दुःखों से मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, अतः आत्मा को ही अपने सुख-दुःख तथा बन्धन एवं मोक्ष के लिए उत्तरदायी मानना चाहिए।

उपसंहार

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा में ज्ञान एवं दर्शन ये दो गुण प्रमुख हैं, क्योंकि इनसे ही चेतना का बोधरूप व्यापार 'उपयोग' संभव होता है। इसलिए '**उपयोगो लक्षणम्**' (तत्त्वार्थसूत्र 2.8) सूत्र के द्वारा आत्मा का लक्षण उपयोग स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन में आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से पृथक् प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि आत्मा के साथ इनका कर्म के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि आध्यात्मिक दृष्टि से इनसे आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पृथक् अंगीकार किया गया है। शरीर आदि में चेतना का अनुभव हमें आत्मा के संयोग से ही होता है। इसलिए भ्रमवश कुछ दार्शनिक शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। यह उनका अधूरा एवं स्थूल ज्ञान है। जैनदर्शन में आत्मा की विशेषताओं को अग्रांकित गाथा में व्यक्त किया जा सकता है-

जीवो उवओगमओ, अमुत्ती कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो, सो विस्ससोड्ढगई।।[50]

(जीव उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है तथा स्वदेहपरिमाण है। वह भोक्ता है। उसके दो प्रकार हैं- संसारस्थ एवं सिद्ध। वह स्वभावतः ऊर्ध्वगति वाला है।)

'जीव' एवं 'आत्मा' शब्द के प्रयोग को लेकर कई बार मतभेद दिखाई देते हैं। किन्तु जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो इन दोनों शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में ही हुआ है। '**अतति सततं गच्छति इति आत्मा**' अर्थात् जो सदैव विभिन्न गतियों में

उत्पन्न होता है, अथवा जो सदैव जानता है, वह आत्मा है। '**जीवति प्राणैरिति जीवः**' अर्थात् जो इन्द्रियादि बल प्राणों के आधार पर जीता है, वह जीव है। इस प्रकार व्युत्पत्तिपरक भेद होने पर भी आगम-साहित्य में एवं तत्त्वार्थसूत्र में जीव एवं आत्मा शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। सिद्ध आत्माओं के लिए भी 'जीव' शब्द का प्रयोग इसका एक उदाहरण है।

जीव उपयोगमय है। उपयोग उसका स्वरूप है। ज्ञानादि गुणों का उपयोग ही जीव का स्वरूप बनता है। न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक ज्ञान आदि गुणों को आत्मा नामक द्रव्य में आगन्तुक गुण मानते हैं तथा मोक्ष की अवस्था में इन गुणों का नाश स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में उनकी आत्मा का स्वरूप चैतन्यरहित अर्थात् जड़ हो जाता है। जैनदर्शन आत्मा का यह स्वरूप नहीं मानता। जैनदर्शन में स्वीकृत आत्मा ज्ञान एवं दर्शन से अभिन्न है। विवक्षा की दृष्टि से ज्ञानादि गुणों को कथंचित् गुण एवं आत्मा को द्रव्य कह दिया जाता है। अन्यथा ज्ञान को ही आत्मा एवं आत्मा को ही ज्ञान कहने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार दर्शन गुण आत्मा की संवेदनशीलता को व्यक्त करता है। आत्मा के ये दो आवश्यक गुण हैं, जो उसके स्वरूप का निर्धारण करते हैं तथा जड़ पदार्थों से उसे पृथक् सिद्ध करते हैं। जीव का उपयोग-लक्षण चैतन्य का सूचक है। जीव के इस लक्षण से पंचभूतवाद की मान्यता का खण्डन हो जाता है। पंचभूतवादी चार्वाक मतावलम्बी पृथ्वी आदि पांच भूतों से ही चैतन्य का अनुभव मानते हैं, जो उनकी अत्यन्त स्थूल दृष्टि का सूचक है। वे बाह्य जगत् को देखकर ही इस प्रकार की मान्यता को लेकर चले हैं, भीतर में आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी पुरुष इस सत्य को जानते हैं एवं प्रतिपादित करते हैं कि आत्मा या जीव वस्तुतः शरीर से पृथक् स्वरूप वाला है। वह अष्टविध कर्मों से आबद्ध होने के कारण औदारिक आदि शरीरों से युक्त है। विग्रह गति में वह तैजस और कार्मण शरीर से युक्त रहता है। ये शरीर उस चेतना के कारण ही चेतन बने हुए लगते हैं। इस सत्य की सिद्धि जैन आगम के विशेषावश्यक आदि भाष्यग्रंथों, टीकाओं एवं उत्तरकालीन दार्शनिक ग्रंथों में विस्तार से की गई है। पंचभूतों से पृथक् चेतन तत्त्व को स्वीकार किये बिना सन्मार्ग का एवं सत्य का अन्वेषण संभव नहीं है।

आत्मा का दूसरा लक्षण उसका अमूर्तत्व है। उसका न कोई आकार है और न ही

उसमें रूप, रस, स्पर्श आदि गुण हैं। उसे हम इन्द्रियों से नहीं जान सकते। उसका अनुभव स्वयं कर सकते हैं। उदाहरण के लिए 'मैं जानता हूँ' यह एक हमारा अनुभव है। जानने का कार्य भले ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के माध्यम से होता हो, किन्तु फिर भी हमें यह अनुभव होता है कि ज्ञाता व्यक्ति इन्द्रिय आदि से भिन्न है। इसीलिए वह यह जानता है कि मैं ही सुनता हूँ, देखता हूँ, सूँघता हूँ, चखता हूँ, छूता हूँ, सोचता हूँ, तर्क करता हूँ आदि। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से होने वाले ज्ञान का कर्ता इनसे भिन्न है। इसीलिए वह अनेक ज्ञानों का ज्ञाता स्वयं को मानता है। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि का ज्ञाता भी वही होता है। इस प्रकार आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी होती है। आगम में तो आत्मा के अस्तित्व एवं अमूर्तता के अनेक कथन प्राप्त होते हैं। आत्मा को अमूर्त स्वीकार करने के कारण लोकायतिक मत में मान्य पंचभूतवाद एवं तज्जीव-तच्छरीरवाद का खण्डन हो जाता है। क्योंकि वे जीव को मूर्त मानकर अपना मत रखते हैं। अमूर्त तत्त्व को जानने के लिए उनके पास प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि कोई प्रमाण नहीं हैं।

आत्मा का तीसरा लक्षण इसका कर्ता होना है। सांख्य दार्शनिक आत्मा को अकर्ता एवं भोक्ता मानते हैं। किन्तु प्रश्न होता है कि जो अकर्ता है वह भोक्ता कैसे हो सकता है?वस्तुतः जो जैसा कर्म करता है वह उसी के अनुरूप फल भोगता है। सांख्यदर्शन में फलभोग की यह प्रक्रिया बाधित हो जाती है, क्योंकि वहाँ अकर्ता को ही भोक्ता मान लिया गया है। एक बात यह भी है कि जो अकर्ता है वह भोग की क्रिया भी कैसे कर सकता है?क्योंकि भोग की क्रिया का भी तो वह कर्त्ता कहलाएगा। सांख्यदर्शन में जड़ प्रकृति को कर्त्री माना है जो किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है। सांख्य एवं जैनदर्शन में यह तो समानता है कि ये दोनों दर्शन आत्मा को अनेक मानते हैं, किन्तु आत्मा के कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व को लेकर मतभेद है।

उपनिषद् एवं वेदान्त की धारणा है कि आत्मा सर्वव्यापक है तथा एक ही आत्मा के अंश रूप में अन्य जीव रहते हैं। यह धारणा भी उचित नहीं है। आत्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि हमें सुख-दुःख आदि का वेदन शरीर पर्यन्त ही होता है। शरीर के बाहर होने वाली घटनाओं का अनुभव मन एवं संस्कारों के माध्यम से तो हो सकता है, किन्तु उसके लिए आत्मा को व्यापक मानने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा को व्यापक

मानने पर अन्य के सुख-दुःखादि का भी हमें वेदन होना चाहिए, अन्य के चोट लगने पर, या अन्य के द्वारा स्वादिष्ट पदार्थों का आस्वादन लेने पर हमें भी उसका अनुभव होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि सभी जीव स्वतन्त्र हैं, कोई किसी का अंश या अंशी नहीं है। सबको अपने-अपने कृत कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति होती है। बन्धनों से मुक्त होने के लिए सबको पृथक् रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। इसलिए जैन दर्शन में जीव को स्वदेह परिमाण स्वीकार किया गया है। जीव को सर्वव्यापक नहीं मानने एवं अनन्त मानने से एकात्मवाद की मान्यता का भी खण्डन हो जाता है।

जीव अपने कृत कर्मों का स्वयं भोक्ता है। जैनदर्शन का यह सिद्धान्त उसे अपनी प्रवृत्ति में सुधार की प्रेरणा देता है। मन, वचन एवं काया के माध्यम से हम सम्यग्दर्शन पूर्वक जो प्रवृत्ति करते हैं वह ही हमें भोक्तृत्वभाव की शृंखला से छुटकारा दिला सकती है। भोक्ता होना संसारी जीवों का लक्षण है। कर्तृत्व के अनुरूप फल-प्राप्ति स्वीकार करने के कारण जैनदर्शन नियतिवाद का भी निरसन कर देता है। जीव दो प्रकार के हैं- संसारी और सिद्ध। जो कर्म-बन्धनों से आबद्ध हैं तथा संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, वे संसारी जीव हैं तथा जो अष्टविध कर्मों से मुक्त हो गये हैं, वे सिद्ध जीव हैं। वे पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते। इससे अवतारवाद की मान्यता का भी खण्डन हो जाता है।

जैनदर्शन में आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी। वह द्रव्यार्थिक नय से नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। अनेक भवों में जन्म लेकर भी जीव द्रव्यार्थिक नय से वही जीव बना रहता है, जबकि पर्यायार्थिक नय से वह हर भव में शरीरादि के कारण बदल जाता है। इसीलिए भगवतीसूत्र में भगवान महावीर ने जीवों को स्यात् शाश्वत एवं स्यात् अशाश्वत कहा है। अष्टविध कर्मों से मुक्त होने के लिए आत्मा के सही स्वरूप को जानना आवश्यक है और वह ज्ञान सम्यग् दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के होने पर ही संभव है। इन दोनों के होने पर चारित्र अथवा आचरण में प्रगति हो सकती है। ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग कहलाते हैं। जीव के कारण औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक भावों की चर्चा होती है।

जैन आगमों में सूत्रकृतांग एक महत्त्वपूर्ण आगम है, जो अहिंसा, समता, अपरिग्रह आदि के आचरण की प्रेरणा करने के साथ जीव के सही स्वरूप का बोध

कराता है। संसार में अनेक मत-मतान्तरों को देखकर या सुनकर मंदबुद्धि एवं कोमल हृदय वाले लोग भटक जाया करते हैं। अतः उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए अन्य मतों के दोषों या कमियों का ज्ञान कराना भी शास्त्रकारों का उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य में सूत्रकृतांग एवं उसके व्याख्या-ग्रन्थों की भूमिका सराहनीय है।

सन्दर्भः-

1. सूत्रकृतांग, 1.1.1., गाथा 7-8
2. सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन, श्लोक 6
3. अयं अत्ता रूपी चातुर्महाभूतिको मातापेत्तिकसम्भवो कायस्स भेदा उच्छिज्जत्ति, विनस्सति, न होइ परं मरणा..... इत्थेके सतो सत्तस्स उच्छेदं विनासं विभवं पञ्ञापेंति।- दीघनिकाय, ब्रह्मजाल सुत्त, पृ. 30, प्रकाशक-भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्ध विहार, लखनऊ।
4. सूत्रकृतांग 2.1, सूत्र 655
5. पंचण्हं संजोए अण्णगुणाणं च चेयणाइगुणो।
   पंचिंदियठाणाणं ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो।।-निर्युक्ति-संग्रह, सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा 33
6. यदप्यत्रपूर्वोक्तं यथा- मद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येकं मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्र किण्वादिषु या च यावती च शक्तिरुपलभ्यते, तथाहि किण्वे बुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यं च उदकस्य तृडपनयन- सामर्थ्यमित्यादिनेति, भूतानां च प्रत्येकं चैतन्यानभ्युपगमे दृष्टान्तदार्ष्टान्ति- कयोरसाम्यम्।- श्री सूत्रकृतांगसूत्र 1.1.1, गाथा 7-8 पर शीलांककृतटीका, पत्रांक 53
7. किं च भूतचैतन्याभ्युगमे मरणाभावो, मृतकायेऽपि पृथ्व्यादीनां भूतानां सद्भावात्। -वही, पत्रांक 53
8. लेप्यप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते।- वही, पत्रांक 53
9. अस्त्यात्मा, असाधारणतद्गुणोपलब्धेः.....। -वही, पत्रांक 54
10. उत्तराध्ययनसूत्र 20.37
11. सूत्रकृताङ्ग 1.1.1.9
12. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, 11
13. कठोपनिषद्, 2.2.10
14. श्वेताश्वरोपनिषद्, 6.11
15. एवमेगे त्ति जंपंति, मंदा आरंभनिस्सिया।
    एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ।।- सूत्रकृतांग, 1.1.1.10

16. यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यात्, न चैवं, तस्मान्नेक आत्मा भूतानां चान्याऽन्यगुणत्वं न स्याद्, एकस्मादात्मनोऽभिन्नत्वात्।
- श्री सूत्रकृतांगसूत्र, लाखाबावल, शीलांङ्कटीका, पत्रांक 60
17. श्री सूत्रकृतांगसूत्र, लाखाबावल, साधुरङ्गदीपिका व्याख्या, पत्राङ्क 61
18. वही, पत्राङ्क 61
19. पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिया।
संति पिच्चा न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया।।- सूत्रकृतांग, 1.1.1.11
20. वृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.12
21. सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.1.12
22. सूत्रकृतांग सूत्र, 2.1, सूत्र 648
23. वही, सूत्र 649
24. आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आत्मा न दीर्घ है न ह्रस्व, न वृत्त है न त्रिकोण, न चतुष्कोण, न परिमंडल, न कृष्ण, न नील, न लोहित, न पीला, न शुक्ल, न सुरभिगन्ध, न दुरभिगन्ध, न तिक्त है न कटु, न कसैला, न खट्टा, न मधुर, न ककर्श है न मृदु, न गुरु है न लघु, न शीत है न उष्ण, न स्निग्ध है न रुक्ष, न वह काया है। वह जन्मधर्मा नहीं है, वह संगरहित है, वह न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक।- आचारांगसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1.5.6, सूत्र 176
25. सूत्रकृताङ्ग, 2.1, सूत्र 650
26. द्रष्टव्य- राजप्रश्नीयसूत्र, सूत्र 242 से 259
27. सूत्रकृतांग टीका, 1.1.1.12 में उद्धृत वाक्य
28. तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरम्भनिस्सिया। - सूत्रकृतांग 1.1.1.14
29. द्रष्टव्य, राजप्रश्नीय सूत्र, सूत्र 243 से 259
30. देहमात्रस्य ह्यात्मत्वे देहनाशाद्विनाशतः।
महाधियां च शास्त्राणां प्रवृत्तिर्नैव संभवेत्।।
-श्री सूत्रकृतांगसूत्र, पूज्य घासीलाल कृत टीका, भाग-1, पृ. 141
31. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका में उद्धृत, पृ.152
32. सूत्रकृतांग, 1.1.1.13
33. को वेयई अकयं? कयनासो पंचहा गई नत्थि।
देवमणुस्सगयागइं जाईसरणाइयाणं च।।-निर्युक्तिसंग्रह, सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 34।
34. द्रष्टव्य, सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.1.14 पर शीलांकाचार्य कृत टीका, प्रथम भाग, पत्रांक 71
35. द्रष्टव्य, वही, पत्रांक 71

36. श्री सूत्रकृताङ्गसूत्र, शीलाङ्काचार्यकृत टीका, लाखा बावल, प्रथम भाग, पत्राङ्क 72
37. सूत्रकृतांग सूत्र, 1.1.1.15
38. सूत्रकृतांग सूत्र, 1.1.1.15
39. 'नासतो विद्यते भावो, ना भावो विद्यते सतः।'-भगवद्गीता, 2.26
40. जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते।
    यो जातश्च न नश्येत्, नश्येत् पश्चात्स केन सः।। -श्री सूत्रकृतांगसूत्र 1.1.1.15 पर घासीलाल जी महाराज की समयार्थबोधिनी नामक टीका में उद्धृत।
41. सूत्रकृतांग सूत्र, 1.1.1.17
42. श्री सूत्रकृतांग सूत्र, पूज्य घासीलाल कृत टीका, भाग-1, पृष्ठ 214
43. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
    दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।
    एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
    दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।-सौन्दरनन्द, सर्ग 16, श्लोक 28-29
44. धम्मपद, 15.8
45. श्री सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.1.18, पूज्य घासीलालकृत समयार्थबोधिनी टीका, भाग प्रथम, पृ. 229
46. यथा घटादयो भावाः क्षणिकाः तथा आत्मापि क्षणिक एवेति क्षणिकत्वात् उत्पद्य सद्य एव विनश्यति, ततो विनष्टेनात्मना कालान्तरभावि स्वर्गादिफलं कथमिव भोक्तुं शक्येत। क्षणरूपयोः क्रियाफलवतोः संबन्धाऽभावात्। कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषश्च स्यात्। -श्री सूत्रकृतांग सूत्र, 1.1.1.18, समयार्थबोधिनी टीका, भाग-1, पृष्ठ 230
47. (1) पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
    चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे।- सूत्रकृतांग, 1.1.1.18
    (2) पृथिवी धातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति, धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम्, 'एगओत्ति' यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया तदा जीवव्यपदेशमश्नुवते, तथा चोचुः- "चतुर्धातुकमिदं शरीरं, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति।-श्री सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.1.18 पर शीलांकाचार्य कृत टीका पत्रांक 81
48. द्रष्टव्य- श्री सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.1.18 पर शीलांकाचार्य कृत टीका पत्रांक 81-82
49. न सयं कडं ण अन्नेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया।
    संगतियं तं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहियं।।- सूत्रकृतांग, 1.1.2.3
50. बृहद्द्रव्य संग्रह, 1.2

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

1. आचारांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कन्ध)- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, चतुर्थ संस्करण, सन् 2010
2. ईशादि नौ उपनिषद्- गीता प्रेस, गोरखपुर
3. उपनिषद्वाक्यमहाकोष (239 उपनिषदों के वाक्यों से युक्त)- संकलक- श्री गजानन शम्भु साधले, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1990
4. निर्युक्ति-सङ्ग्रह- भद्रबाहु, संपादक- श्री विजयजिनेन्द्रसूरीश्वर, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखा बावल, शांतिपुरी, जामनगर (सौराष्ट्र), सन् 1989
5. भगवद्गीता- गीता प्रेस, गोरखपुर
6. राजप्रश्नीयसूत्र- युवाचार्य श्री मधुकरमुनि सम्पादित, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1981
7. श्री सूत्रकृताङ्गसूत्रम् (भाग-एक) (निर्युक्ति, चूर्णि, शीलाङ्काचार्यकृत टीका, श्री हर्षकुलगणि रचित दीपिका एवं श्री साधुरङ्गणि कृत दीपिका व्याख्या सहित), सम्पादक- आचार्य श्री विजयजिनेन्द्रसूरीश्वर, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखा बावल, शांतिपुरी, जामनगर (सौराष्ट्र), सन् 1992
8. श्री सूत्रकृताङ्गसूत्रम् (भाग 1 एवं 4) (श्री घासीलाल महाराज कृत समयार्थबोधिनी टीका एवं हिन्दी- गुजराती अनुवाद युक्त), श्री अ.भा.श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, गुरेडिया कुवा रोड, राजकोट (सौराष्ट्र), सन् 1969 एवं 1971
9. सर्वदर्शनसंग्रह- माधवाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2001
10. सूत्रकृताङ्गसूत्र (हिन्दी अनुवाद, विवेचनादि सहित), युवाचार्य श्री मधुकर मुनि सम्पादित, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण 1991
11. षड्दर्शनसमुच्चय (गुणरत्नकृत टीका सहित)- हरिभद्रसूरि, सम्पादक- डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, सन् 1981

आगम- साहित्य में पुद्गल एवं परमाणु

विश्व में जीव को आकर्षित करने वाला सबसे बड़ा साम्राज्य पुद्गल का है। मोबाइल एवं टी.वी. हो या इनकी तरंगें, सोनोग्राफी एवं एक्सरे की किरणें हो या सूर्य की किरणें, मधुर संगीत हो या सुन्दर रूप, फ्रिज हो या कूलर, भवन हो या फर्नीचर, पेन हो या पुस्तकें सभी पुद्गल हैं। हमारा शरीर, हमारी भोज्यसामग्री आदि सभी पुद्गल हैं। पुद्गल ठोस, द्रव, गैस, तरंग, ऊर्जा आदि विभिन्न रूपों में रहता है। यह परमाणु, स्कन्ध आदि किसी भी आकार में हो सकता है। पुद्गल का वैशिष्ट्य है कि वह स्पर्श, रस, गंध एवं रूप से युक्त होता है। ये स्पर्शादि जब उत्कट होते हैं तो हम इन्हें इन्द्रियों से जान लेते हैं तथा जब ये सूक्ष्म होते हैं तो इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं होते। परमाणु भी स्पर्श, रस आदि गुणों से युक्त होता है। जैन दर्शन में प्राणातिपात आदि पापों को भी पुद्गल माना गया है। पुद्गल हमारे सुख, दुःख, जीवन, मरण, प्राण, अपान, भाषा, मन आदि सबमें हमारा उपकार करते हैं। आत्मा को बंधन में डालने वाले कर्म भी पुद्गल ही हैं। पुद्गलों की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रस्तुत आलेख में आगम-साहित्य के आधार पर प्रकाश डाला जा रहा है।

जैन दर्शन में पुद्गल एक द्रव्य है। द्रव्य के छह प्रकार प्रतिपादित हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय। इनमें पुद्गल द्रव्य को रूपी अथवा मूर्त माना गया है तथा शेष पाँच द्रव्य अरूपी एवं अमूर्त हैं। पुद्गल में रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुण होने के कारण इसे रूपी अथवा मूर्त स्वीकार किया गया है।

पुद्गल का स्वरूप

आधुनिक विज्ञान में पदार्थ (Matter), परमाणु (Atom), ऊर्जा (Energy) और तरंगों (Waves) का जो निरूपण प्राप्त होता है, जैनदर्शन में वह पुद्गल के विवेचन का विषय है। स्थानांगसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्रिसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, जीवाजीवाभिगमसूत्र आदि आगमों में तथा नियमसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार,बृहद्द्रव्यसंग्रह आदि एवं तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में पुद्गल का पर्याप्त विवेचन हुआ है। संक्षेप में कहें तो जो पूरण एवं गलन स्वभावी होता है, वह पुद्गल है।[1] पूरण का अर्थ है

मिलना एवं गलन का अर्थ है बिछुड़ना। पुद्गल में संयोग एवं वियोग की प्रवृत्ति होती है, संघात एवं भेद की प्रवृत्ति होती है। लोक में हम श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन इन्द्रियों से जो कुछ जानते हैं वह सब पुद्गल ही है। इस तरह जो इन्द्रिय ग्राह्य है, वह सब पुद्गल है, किन्तु कुछ सूक्ष्म पुद्गल इस प्रकार के भी होते हैं, जिन्हें हम इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर पाते हैं।

अजीव द्रव्य 'पुद्गल' के प्रमुखतः दो प्रकार हैं - 1. सूक्ष्म पुद्गल एवं 2. बादर पुद्गल। जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य पुद्गल है वह बादर पुद्गल है तथा जो पुद्गल इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है वह सूक्ष्म पुद्गल है। इन दोनों प्रकार के पुद्गलों में पुद्गल का लक्षण पाया जाता है। पुद्गल का लक्षण है- **स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः**। (तत्त्वार्थसूत्र 5:30) जो स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण/रूप गुण वाले द्रव्य हैं वे पुद्गल हैं। पुद्गल चाहे बादर/स्थूल हों अथवा सूक्ष्म, सबमें स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण का अस्तित्व न्यूनाधिक रूप में रहता है। पुद्गल का यह लक्षण सभी पुद्गलों में व्याप्त है। परमाणु एवं सूक्ष्म पुद्गलों में यह लक्षण अनुत्कट रूप में रहता है, अतः हमें ज्ञात नहीं होता है। यदि सूक्ष्म पुद्गलों में स्पर्श आदि गुण न हों तो वे स्थूल पुद्गलों में भी नहीं आ सकते। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में पुद्गल में वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श के साथ संस्थान परिणाम का भी कथन हुआ है[2], क्योंकि पुद्गल इनके साथ परिणमन करता है। संस्थान का तात्पर्य है- आकार। पुद्गल का कोई न कोई आकार भी होता है। पुद्गल को वर्णादि के आधार पर जाना जाता है। इसलिए वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान को पुद्गल-करण कहा गया है।[3] आलापपद्धति नामक ग्रन्थ में स्पर्शादि चार गुणों के साथ मूर्तत्व एवं अचेतनत्व को भी पुद्गल का विशेष गुण स्वीकार किया गया है।[4] अतः यह कहा जा सकता है कि स्पर्श, रस, गन्ध एवं रूप से युक्त वह द्रव्य जो अचेतन हो एवं मूर्त हो वह पुद्गल है। किन्तु मूर्तत्व गुण रूपित्व या संस्थान/ आकार के रूप में पहले से स्वीकृत गुण है तथा अचेतनत्व सभी अजीव द्रव्यों में पाया जाता है। इस तरह स्पर्श, गन्ध एवं वर्ण ही अजीव पुद्गल के प्रमुख गुण एवं लक्षण कहे जा सकते हैं।

शब्द, बन्धादि भी पुद्गल के पर्याय

उत्तराध्ययन सूत्र में शब्द, अन्धकार, उद्योत (चन्द्रमा का प्रकाश), प्रभा (सूर्य

का प्रकाश), छाया, आतप को भी पुद्गल का लक्षण (पर्याय) कहा गया है।[5] तत्त्वार्थसूत्र में शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप, उद्योत से युक्त को भी पुद्गल कहा गया है।[6] ये सब पुद्गल की पर्याय हैं[7] एवं पुद्गलरूप हैं, इन्हें गुण नहीं कहा जा सकता। **शब्द** को न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन आकाश का गुण मानते हैं, किन्तु जैन दार्शनिक इसका खण्डन करते हैं एवं शब्द को पुद्गल की पर्याय सिद्ध करते हैं। शब्द जीव या अजीव पदार्थों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। कहीं दोनों के मिश्रित रूप से भी शब्द की उत्पत्ति होती है। किन्तु पुद्गल के संयोग के बिना शब्द उत्पन्न नहीं होता। पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होने के कारण शब्द पुद्गल की पर्याय है। आधुनिक विज्ञान में भी शब्द की तरंगों पर शोधकार्य हुए हैं, जो इनके पुद्गल होने का प्रमाण है।

बन्ध भी पुद्गल की पर्याय है, क्योंकि बन्ध पुद्गलों में ही होता है। बन्ध दो परमाणुओं, द्विप्रदेशी स्कन्धों आदि के मिलने से होता है। परमाणुओं अथवा स्कंधों का परस्पर मिलने से जो बन्ध होता है, उसमें मुख्य कारण उनमें विद्यमान स्निग्ध और रुक्ष स्पर्श है। आधुनिक विज्ञान में जिसे धनात्मक आवेश कहा जाता है वह स्निग्ध गुण का तथा जिसे ऋणात्मक आवेश कहा जाता है, वह रुक्ष गुण का सूचक है। बन्धन किसका होता है एवं किसका नहीं, इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर मतों में भिन्नता है। जघन्य गुणयुक्त दो परमाणुओं का बन्ध नहीं होता, इस सम्बन्ध में दोनों परम्पराएँ एक मत हैं[8], किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में मान्य तत्त्वार्थभाष्य एवं तत्त्वार्थवृत्ति के अनुसार एक परमाणु के जघन्य गुण होने और दूसरे के जघन्य गुण न होने पर उनका बन्ध मान्य है। जबकि सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर ग्रन्थों के आधार पर जघन्य गुण और अजघन्य गुण परमाणु का परस्पर बन्ध नहीं होता है। दोनों परम्पराएँ यह मानती हैं कि समान अंश होने पर सदृश स्निग्ध आदि गुण वाले अवयवों का बन्ध नहीं होता है।[9]

समान अंश वाले स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा समान अंश वाले रुक्ष का रुक्ष के साथ बन्ध नहीं होता है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर परम्परागत तत्त्वार्थभाष्य की मान्यता है कि एक अवयव में स्निग्धत्व या रुक्षत्व के सदृश अंश एक से अधिक दो-तीन चार तथा संख्यात, असंख्यात या अनन्त अधिक होने पर तो बन्ध होता

है,[10] किन्तु केवल एक अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं होता है। दिगम्बर ग्रन्थों की व्याख्याओं के अनुसार एक अवयव से दूसरे अवयवों के मात्र दो अधिक होने पर बन्ध माना गया है। एक अंश की तरह, तीन, चार यावत् संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त होने पर बन्ध नहीं माना जाता। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार असदृश अवयवों में मात्र जघन्य से जघन्य गुण का बंध नहीं होता, शेष स्थितियों में बंध होता है। जबकि दिगम्बर मान्यतानुसार जघन्य से भिन्न गुणांश वाले अवयव का दो अधिक गुणांश वाले अवयवों से ही बन्ध होता हैं, अन्य से नहीं।[11]

सूक्ष्मता एवं स्थूलता पुद्गल में ही उपलब्ध होती है। इस आधार पर पुद्गल के छह प्रकार निरूपित हैं[12]-

1. **बादर-बादर (अतिस्थूल-स्थूल)**- महत्काय ठोस पुद्गलों को स्थूल-स्थूल अथवा बादर-बादर कहा जाता है। पर्वत, चट्टान, लकड़ी आदि इसके उदाहरण हैं।
2. **बादर (स्थूल)**- यह द्रव अथवा गैस रूप में होता है, यथा- जल, तेल, दूध, घी, वायु आदि। ये छिन्न-भिन्न होने पर पुनः मिल जाते हैं।
3. **बादर-सूक्ष्म**- जिसका छेदन-भेदन न किया जा सके, न ही जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सके, किन्तु जो चक्षुगोचर हो सके उसे बादरसूक्ष्म कहते हैं, यथा- प्रकाश, छाया, आतप आदि।
4. **सूक्ष्म-बादर**- जो अदृश्य होते हुए भी इन्द्रिय-ग्राह्य हो, यथा- सुगन्ध, शब्द आदि। ध्वनि एवं मोबाइल, रेडियो, टी.वी. आदि की तरंगें भी इसी वर्ग में समाविष्ट होती हैं।
5. **सूक्ष्म**- जीव जिन पुद्गलों को ग्रहणकर भाषा, मन, कर्म आदि का निर्माण करता है, उन्हें सूक्ष्म पुद्गल कहते हैं।
6. **सूक्ष्म-सूक्ष्म**- अनन्त परमाणुओं से न्यून द्वयणुक आदि से बना वह स्कन्ध जिसका उपयोग जीव भी नहीं कर पाता है, उसे सूक्ष्मसूक्ष्म कहा गया है।

संस्थान का तात्पर्य आकार है। पुद्गल किसी न किसी आकार को ग्रहण करता है। संस्थान के व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में परिमण्डल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण,

आयत और अनियत ये छह प्रकार प्रतिपादित हैं।[13] स्थानांग सूत्र में इसके सात भेद भी हैं- दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, पृथुल और परिमण्डल।[14] पुद्गल इनमें से किसी न किसी आकार में रहता है।

भेदन क्रिया पुद्गल में उपलब्ध होती है, धर्मास्तिकाय आदि अन्य द्रव्यों में नहीं। भेद एवं संघात भी पुद्गल की पर्याय हैं। पुद्गल द्रव्य का ही भेदन होता है। धर्मास्तिकायादि अखण्ड द्रव्य हैं, उनका भेदन सम्भव नहीं। संघात भी पुद्गल में ही प्राप्त होता है। अनेक परमाणुओं एवं स्कन्धों के मिलने को संघात कहते हैं तथा स्कन्धों के टूटने को भेदन कहा जाता है। पुद्गलों में भेद (भेदन) एवं संघात (मिलन) की प्रक्रिया चलती रहती है । यह प्रकिया कभी स्वतः होती है तो कभी किसी निमित्त से होती है। परमाणु पुद्गलों के संघात से स्कन्धों का निर्माण होता है तथा कभी बड़े स्कन्ध के टूटने से छोटे स्कन्धों की तो कभी परमाणुओं की उत्पत्ति होती है। पुद्गल में संघात रुक्ष एवं स्निग्ध गुण के कारण होता है।

अंधकार एवं **छाया** को पुद्गल की पर्याय स्वीकार किया गया है। अंधकार के परमाणु प्रकाश में तथा प्रकाश के परमाणु अंधकार में बदल सकते हैं। इसी प्रकार छाया भी पुद्गल का परिणाम है। क्योंकि पुद्गल से हीं छाया का निर्माण होता है। सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को **आतप**, चन्द्रमा आदि के अनुष्ण प्रकाश को उद्द्योत कहते हैं। ये दोनों ही पुद्गल के पर्याय हैं।

पुद्गल सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। वह परमाणु, द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि के रूप में सर्वत्र उपलब्ध है। वह धर्मास्तिकाय के निमित्त से गति करता है तथा अधर्मास्तिकाय के निमित्त से स्थिर रहता है।

जीव एवं पुद्गल

जीव के साथ पुद्गल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आहारादि पुद्गलों को ग्रहण करके जीव उन्हें शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में परिणत करता है। शरीर, इन्द्रियादि भी पुद्गलों से निर्मित हैं। शरीर के भीतर बनने वाले रक्त, हार्मोन आदि भी सब पुद्गल ही हैं। जीव के संयोग के कारण उनमें चेतना की प्रतीति होती है। जीव के साथ सम्बद्ध ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्म भी पौद्गलिक ही स्वीकार किए गए हैं। यही नहीं

प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पापों को भी पौद्गलिक कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र में शरीर, वाणी, मन, प्राण, अपान आदि को जीव के प्रति पुद्गल का उपकार कहा गया है।[15] शरीर तो पुद्गलों से निर्मित है ही, वाणी मन, प्राण एवं अपान भी पौद्गलिक है। पुद्गलों के कारण जीव को ऐन्द्रियक सुख एवं दुःख की प्राप्ति होती है, प्राणादि के संयोग से जीवन की तथा इनके वियोग से मरण की प्राप्ति होती है।[16]

जैनदर्शन में प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एवं परिग्रह को भी पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस एवं चार स्पर्श से युक्त स्वीकार किया गया है। क्रोध,मान,माया, लोभ, राग, द्वेष, यावत् मिथ्यादर्शन आदि पापों में भी पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस एवं चार स्पर्श स्वीकार किए गए हैं।[17] किन्तु प्राणातिपात विरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विरति को वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श से रहित अंगीकार किया गया है।[18] ज्ञानावरणादि आठ कर्म भी वर्णादि से युक्त होने के कारण पुद्गल हैं। जीव को जो पर-भाव में ले जाते हैं, वे सब आगम में पौद्गलिक द्रव्य माने गए हैं। राग-द्वेषादि स्वभाव नहीं, पर भाव स्वरूप हैं अतः ये भी पौद्गलिक हैं। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में इसी प्रकार का निरूपण करते हैं ।द्रव्य लेश्या भी वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श से युक्त होने से पौद्गलिक है[19], जबकि भाव लेश्या इनसे रहित होने से पुद्गल नहीं है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक एवं तैजस शरीर पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस एवं आठ स्पर्शयुक्त हैं, जबकि कार्मण शरीर चतुःस्पर्शी है। मनोयोग एवं वचनयोग चतुःस्पर्शी हैं तथा काययोग अष्टस्पर्शी होता है।[20]

वैशेषिक मत से भिन्नता

वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश को पंचभूत कहा गया है। जैनदर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु जब सजीव होते हैं तो इनकी गणना एकेन्द्रिय जीव में होती है, किन्तु इनके शरीर तो पौद्गलिक ही होते हैं, अतः निर्जीव होने पर इनकी गणना पुद्गल द्रव्य में होती है । जैन दर्शन में पंचभूतों या महाभूतों की अवधारणा नहीं है। वैशेषिक दर्शन में वायु में स्पर्श गुण, जल में स्पर्श एवं रस गुण, अग्नि में स्पर्श, रस एवं रूप गुण तथा पृथ्वी में इनके साथ गन्ध गुण स्वीकार किया गया है, किन्तु जैनदर्शन में सभी पुद्गल द्रव्यों में ये चारों गुण एक

साथ स्वीकृत हैं। ये चारों गुण सहभावी हैं। एक के होने पर चारों होते हैं। यह अवश्य है कि किसी गुण की तीव्रता एवं किसी गुण की मन्दता हो सकती है। आकाश को जैन दर्शन में पृथक् से द्रव्य माना गया है।

पुद्गल परिणमन

पर्याय की अपेक्षा पुद्गल में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है । वह परिवर्तन या परिणमन तीन प्रकार का प्रतिपादित है- 1. प्रयोग परिणमन 2. विस्रसा परिणमन 3. मिश्र परिणमन।[21] जीव द्वारा गृहीत पुद्गलों का परिणमन प्रयोग परिणमन है, यथा आहार आदि ग्रहण करने पर उसका मन, वचन, रक्त, मज्जा आदि में परिणमन । पुद्गल का जो परिणमन स्वतः होता है उसे विस्रसा परिणमन कहते हैं, जैसे परमाणुओं का स्वतः संघात होना, स्कन्धों का भेदन होना आदि । जिसमें विस्रसा एवं प्रयोग दोनों परिणमन हों उसे मिश्र परिणमन कहा गया है। उदाहरण के लिए आम, केला आदि को रसायनों से पकाना मिश्र परिणमन है। इसमें पुद्गल एवं जीव दोनों का योगदान होता है। आम, केला आदि पकने पर स्वभावतः पीले हो जाते हैं, मनुष्य उन्हें रसायनों के प्रयोग से शीघ्र पका देता है।

परमाणु

पुद्गल के प्रमुखतः चार स्वरूप हैं - 1. स्कन्ध 2. देश 3. प्रदेश एवं 4. परमाणु। पुद्गल का स्वतन्त्र खण्ड जो परमाणु से बड़ा हो **स्कन्ध** कहलाता है। यह द्विप्रदेशिक से लेकर अनन्तप्रदेशिक तक हो सकता है। स्कन्ध का काल्पनिक अंश **देश** कहलाता है तथा पुद्गल का सूक्ष्मतम अविभाज्य खण्ड परमाणु माना गया है। स्कन्ध का परमाणु जितना अपृथक् अंश **प्रदेश** कहा गया है।

पुद्गल का सबसे छोटा अविभाज्य खण्ड परमाणु है,* जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। इसे अविभाज्य के साथ अदाह्य, अच्छेद्य और अग्राह्य स्वीकार किया गया है। आधुनिक विज्ञान में स्वीकृत परमाणु का विभाजन इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन एवं न्यूट्रॉन के रूप में मान्य है, किन्तु जैनदर्शन में मान्य परमाणु का विखण्डन अमान्य है। जैनदर्शन के अनुसार परमाणु को किसी साधन से जलाया नहीं जा सकता है, उसे किसी भी उपकरण से छेदा नहीं जा सकता और न ही उसे इन्द्रियादि से ग्रहण किया जा सकता है ।

परमाणु के द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल-परमाणु एवं भाव परमाणु के आधार पर चार प्रकार कहे गए हैं।[22] इनमें हम प्रायः जिस परमाणु की चर्चा करते हैं वह द्रव्य परमाणु है। द्रव्य परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य एवं अग्राह्य होता है । क्षेत्र परमाणु को अनर्द्ध (जिसका आधा भाग न हो), अमध्य (जिसका कोई केन्द्र या मध्य भाग न हो), अप्रदेश (जिसका कोई प्रदेश न हो), तथा अविभाज्य स्वीकार किया गया है। काल परमाणु को अवर्ण, अगन्ध, अरस एवं अस्पर्श अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस, एवं स्पर्श से रहित प्रतिपादित किया गया है । भाव परमाणु वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान् एवं स्पर्शवान् होता है।[23] पुद्गल परमाणु द्रव्य एवं भावरूप है।

द्रव्य परमाणुओं के संघात से द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि सूक्ष्म पुद्गल बनते हैं तथा उनके संघात से स्थूल पुद्गल निर्मित होते हैं। द्रव्य की दृष्टि से परमाणु शाश्वत हैं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत हैं, क्योंकि पर्याय निरन्तर बदलती रहती है। समस्त पुद्गलों में परिर्वतन होता रहता है, किन्तु उनमें आधारभूत कुल परमाणुओं की संख्या लोक में समान ही रहती है। वह न्यूनाधिक नहीं होती है। परमाणु का स्कन्ध में एवं स्कन्ध का परमाणु में परिवर्तन होता रहता है । स्कन्ध के भेदन से परमाणु तथा परमाणुओं के संघात से स्कन्ध निर्मित होते हैं। संख्या की दृष्टि से परमाणु अनन्त हैं। ये जब गति करते हैं तो प्रकाश की भाँति अनुश्रेणि अर्थात् सीधी गति करते हैं। किसी प्रतिघात के कारण ही इनकी गति में मोड़ उत्पन्न होता है ।

परमाणु की गति के सम्बन्ध में कहा गया है कि एक परमाणु पुद्गल लोक के पूर्वी चरमान्त से पश्चिमी चरमान्त तक, उत्तरी चरमान्त से दक्षिणी चरमान्त तक, नीचे के चरमान्त से ऊपर के चरमान्त तक एक समय (काल की सूक्ष्मतम इकाई) में गति कर सकता है।[24] यह गति आधुनिक विज्ञान में स्वीकृत प्रकाश की गति से भी अधिक है । अतः विज्ञान के द्वारा यह अन्वेषणीय है कि क्या कोई पुद्गल (Particle) प्रकाश की गति से भी तीव्र गति कर सकता है ।

परमाणु सूक्ष्मतम होने के कारण उसका कोई प्रदेश या अवयव नहीं होता, किन्तु तीन कारणों से परमाणु पुद्गल का प्रतिघात (गतिभङ्ग) स्वीकार किया गया है[25]-

1. एक परमाणु दूसरे परमाणु पुद्गल को प्राप्त कर प्रतिहत होता है। (वह कदाचित्

संघात के माध्यम से द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि का स्वरूप ग्रहण कर लेता है ।)

2. रुक्ष स्पर्श के कारण प्रतिघात को प्राप्त होता है।
3. लोकान्त में जाकर धर्मास्तिकाय के अभाव में गति न करने के कारण प्रतिहत होता है।

जैनागमों के अध्ययन से विदित होता है कि सब परमाणु एक जैसे नहीं होते। वर्णादि की भिन्नता के आधार पर उनमें परस्पर **भिन्नता** पायी जाती है। परमाणुओं में वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श गुणों की तरतमता या भिन्नता के आधार पर परमाणु परस्पर भिन्न होते हैं। जैनदर्शन में वर्ण के पाँच प्रकार हैं - 1. कृष्ण (काला), 2. नील 3. रक्त (लाल), 4. पीत, 5. श्वेत । गन्ध के दो प्रकार हैं - 1. सुरभिगन्ध और 2. दुरभिगन्ध। रस के पाँच भेद हैं- 1. अम्ल 2. मधुर 3. तिक्त 4. कटु और 5. काषायिक। स्पर्श के 8 प्रकार हैं- 1. स्निग्ध 2. रुक्ष 3. शीत 4. गुरु 5. लघु 7. कर्कश और 8. मृदु । वर्णादि के इन प्रकारों में से एक परमाणु में कम से कम एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श अवश्य पाये जाते हैं। पाँच प्रकार के वर्णों में से एक वर्ण, दो प्रकार की गन्धों में से एक गन्ध, पाँच प्रकार के रसों में एक रस तथा आठ प्रकार के स्पर्शों में से दो स्पर्श (स्निग्ध और रुक्ष में से कोई एक तथा शीत और उष्ण में से कोई एक) अवश्य पाये जाते हैं। कभी कोई परमाणु काले वर्ण का होता है तो कोई नीले वर्ण का, कोई लाल वर्ण का होता है तो कोई पीले वर्ण का, तो कोई परमाणु श्वेत वर्ण का होता है। इसी प्रकार कोई परमाणु सुरभिगन्ध युक्त होता है तो कोई दुरभिगन्ध युक्त, कोई खट्टा होता है तो कोई मधुर, कोई तिक्त होता है तो कोई कटु या कसैला । दो स्पर्श वाला होने पर परमाणु कदाचित् शीत और स्निग्ध, कदाचित् शीत और रुक्ष, कदाचित् उष्ण और स्निग्ध तो कदाचित् उष्ण एवं रुक्ष स्पर्श वाला होता है । इस प्रकार परमाणुओं में परस्पर भिन्नता पायी जाती है। यही नहीं वर्णादि में भी गुणात्मक तरतमता होती है। कोई काला वर्ण एक गुण, कोई दो गुण, यावत् कोई संख्यात गुण, कोई असंख्यात गुण एवं कोई अनन्त गुण काला होता है। इसी प्रकार वर्णादि के अन्य भेदों में गुणात्मकता का यह भेद उपलब्ध होता है।[26]

एक प्रश्न यह उठाया गया है कि एक परमाणु दूसरे परमाणु को एक देश से स्पर्श

करता है या सर्व से स्पर्श करता है? उत्तर में कहा गया है कि एक परमाणु दूसरे परमाणु पुद्गल को स्पर्श करता हुआ सर्व से सर्व को स्पर्श करता है।[27] परमाणु पुद्गल की सकम्पता एवं निष्कम्पता को लेकर भी विचार किया गया है। परमाणु पुद्गल कदाचित् सकम्प होता है और कदाचित् निष्कम्प होता है। जब वह सकम्प होता है तब सर्वसकम्प होता है, देश सकम्प नहीं होता।[28] परमाणु पुद्गल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक निष्कम्प रहता है।[29]

परमाणु के अतिरिक्त सूक्ष्म पुद्गल

सूक्ष्म पुद्गल भी दो प्रकार के हैं- 1. अन्त्य अर्थात् परमाणु एवं 2. आपेक्षिक अर्थात द्वयणुकादि । परमाणु तो सूक्ष्म हैं ही, किन्तु द्विप्रदेशी स्कन्ध, त्रिप्रदेशी स्कन्ध, चतुःप्रदेशी स्कन्ध यावत्, संख्यात, असंख्यात एवं अनन्तप्रदेशी भी ऐसे अनेक स्कन्ध हैं जो इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते, किन्तु वे पुद्गल के लक्षणों से युक्त हैं और सूक्ष्म पुद्गल की कोटि में आते हैं।

परमाणु के अतिरिक्त द्वयुणकादि स्कन्ध भी सूक्ष्म पुद्गल होते हैं। ये इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होते तथा दूसरी विशेषता यह है कि ये चतुःस्पर्शी होते हैं। अष्टस्पर्शी पुद्गल बादर पुद्गल कहलाते हैं, जबकि चतुःस्पर्शी पुद्गल सूक्ष्म पुद्गलों की श्रेणी में आते हैं। दो परमाणुओं वाले स्कन्ध को द्विप्रदेशी, तीन परमाणुओं वाले स्कन्ध को त्रिप्रदेशी, चार परमाणुओं वाले स्कन्ध को चतुःप्रदेशी स्कन्ध कहा जाता है। यह क्रम निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। कोई स्कन्ध दशप्रदेशी एवं उससे अधिक, संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी या अनन्तप्रदेशी भी होता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध में एक या दो वर्ण, एक या दो गन्ध, एक या दो रस तथा दो, तीन या चार स्पर्श होते हैं। दो स्पर्श हों तो कदाचित् शीत और स्निग्ध, कदाचित् शीत और रुक्ष, कदाचित् उष्ण और स्निग्ध, कदाचित् उष्ण और रुक्ष स्पर्श होते हैं। तीन स्पर्श होने पर सर्वशीत, एक अंश स्निग्ध और एक अंश रुक्ष होता है । स्निग्ध एवं रुक्ष के अतिरिक्त सर्व उष्ण, सर्व स्निग्ध एवं सर्वरुक्ष के भी विकल्प पाए जाते हैं। त्रिप्रदेशी स्कन्ध में वर्ण एवं रस एक से लेकर तीन तक हो सकते हैं, किन्तु स्पर्श चार से अधिक नहीं होते हैं। चतुःप्रदेशी स्कन्ध में चार वर्ण, दो गन्ध, चार रस एवं चार स्पर्श तक हो सकते हैं। चार स्पर्शों में शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं

रुक्ष की गणना होती है। पंचप्रदेशी स्कन्ध में पाँचों वर्ण एवं पाँचों रस का होना सम्भव है। असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध में पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस एवं चार स्पर्श पाए जाते हैं। अनन्तप्रदेशी स्कन्ध भी सूक्ष्म हो सकता है, जिसमें भी इतने ही वर्णादि उपलब्ध होते हैं।[30] बादर परिणत अनन्त प्रदेशी स्कन्ध प्रायः अष्ट स्पर्शी होता है। उसमें स्पर्श के आठों भेद पाए जाते हैं। वह कभी चतुःस्पर्शी भी हो सकता है। तब बादर पुद्गल में कर्कश एवं मृदु में से तथा गुरु-लघु में से कोई न कोई स्पर्श अवश्य पाया जाता है।

बादर पुद्गल

बादर अर्थात् स्थूल पुद्गल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध वाला होता है । वह कदाचित् एक वर्णवाला यावत् कदाचित् पाँच वर्ण वाला होता है। कदाचित् एक गन्ध वाला और कदाचित् दो गन्ध वाला होता है। कदाचित् एक रस वाला यावत् कदाचित् पाँच रस वाला होता है। कदाचित् चतुःस्पर्शी यावत् कदाचित् अष्टस्पर्शी होता है। यदि बादर पुद्गल चतुःस्पर्शी हो तो वह कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वशीत एवं सर्व स्निग्ध होता है। वह कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्व उष्ण और सर्व स्निग्ध होता है। चतुःस्पर्शी के इस प्रकार सोलह भंग होते हैं, जिनमें मृदु या कर्कश, लघु या गुरु, उष्ण या शीत एवं स्निग्ध या रुक्ष में से एक-एक स्पर्श पाये जाते हैं।[31] चतुःस्पर्शी सूक्ष्म पुद्गल में उष्ण, शीत, स्निग्ध एवं रुक्ष स्पर्श ही पाए जाते हैं। मृदु, कर्कश, लघु, गुरु में से कोई नहीं पाया जाता।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार विचार किया जाए तो स्निग्ध स्पर्श **धनात्मक आवेश** का सूचक है तथा रुक्ष स्पर्श **ऋणात्मक आवेश** का सूचक है। इसी प्रकार गुरु एवं लघु स्पर्श आपेक्षिक भार का सूचन करते हैं। यदि किसी पुद्गल को भारहीन कहा जाए तो वह गुरु- लघु स्पर्श से रहित होता है ।

हमें प्रायः अष्टस्पर्शी बादर पुद्गलों का ही बोध होता है । इन्द्रियों के माध्यम से हम उन्हें ही जानते हैं ।

वर्गणाएँ

समान प्रकार के पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहा जाता है। स्थानांगसूत्र में वर्गणा के अनेक प्रकारों का कथन हुआ है । उदाहरण के लिए परमाणु पुद्गलों की वर्गणा

एक है । द्विप्रदेशी स्कन्धों की यावत् अनन्त प्रदेशी स्कन्धों की एक-एक वर्गणा है। आकाश के एक प्रदेश को अवगाहन कर रहने वाले पुद्गलों की वर्गणाएँ भी एक-एक हैं। समय की अपेक्षा एक समय की स्थिति वाले पुद्गलों की वर्गणा एक है। इसी प्रकार दो समय की स्थिति वाले यावत् असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गलों की वर्गणा एक-एक है। एक गुण काले पुद्गलों की वर्गणा एक है। इसी प्रकार दो गुण काले पुद्गलों की यावत् असंख्यात गुण काले पुद्गलों की वर्गणा एक-एक है। अनन्त गुण काले पुद्गलों की वर्गणा एक है। इसी प्रकार सभी वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श के एक गुण नीले यावत् अनन्त गुण रुक्ष स्पर्श वाले पुद्गलों की वर्गणा एक-एक है। जघन्य प्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा एक है एवं उत्कृष्ट प्रदेशी स्कन्धों की भी वर्गणा एक है। अजघन्य अनुत्कृष्ट (मध्यम) प्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा एक है । इसी प्रकार जघन्य अवगाहना वाले स्कन्धों की, उत्कृष्ट अवगाहना वाले स्कन्धों की और मध्यम अवगाहना वाले स्कन्धों की वर्गणा एक है। जघन्य स्थिति वाले स्कन्धों की, उत्कृष्ट स्थिति वाले स्कन्धों की तथा मध्यम स्थिति वाले स्कन्धों की वर्गणा एक है। जघन्य गुण वाले स्कन्धों, उत्कृष्ट गुण वाले स्कन्धों एवं मध्यम गुण वाले स्कन्धों की वर्गणाएँ एक-एक हैं। इसी प्रकार शेष सभी वर्ण-गन्ध रस एवं स्पर्शो के जघन्य गुण, उत्कृष्ट गुण और मध्यम गुण वाले पुद्गलों की वर्गणा एक-एक है।[32]

गोम्मटसार जीवकाण्ड में 23 प्रकार की वर्गणाओं का निरूपण हुआ है, यथा- अणु वर्गणा, संख्याताणु वर्गणा, असंख्याताणु वर्गणा, अनन्ताणु वर्गणा, आहार वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, तेजस वर्गणा, भाषावर्गणा मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा आदि।[33]

जीव एवं पुद्गल के सम्बन्ध को लेकर आठ प्रकार की वर्गणाएँ प्रसिद्ध हैं, यथा-

1. **औदारिक वर्गणा** - जिन वर्गणाओं से औदारिक शरीर का निर्माण होता है, उन्हें औदारिक वर्गणा कहा गया है।
2. **वैक्रिय वर्गणा** - वैक्रिय शरीर के निर्माण में प्रयुक्त वर्गणा। नैरयिक एवं देवता इसका प्रयोग करते हैं। कभी मनुष्य एवं तिर्यंच के द्वारा भी वैक्रिय शरीर का निर्माण करते समय इसका उपयोग किया जाता है ।
3. **आहारक वर्गणा** - प्रमत्त संयत मनुष्यों के द्वारा आहारक शरीर का निर्माण

करते समय आहारक वर्गणा का प्रयोग किया जाता है।

4. **तैजस वर्गणा** - तैजस शरीर के निर्माण में प्रयुक्त पुद्गल वर्गणा।
5. **कार्मण वर्गणा**- कर्म पुद्गलों के माध्यम से कार्मण शरीर के निर्माण में प्रयुक्त वर्गणा।
6. **श्वासोच्छ्वास वर्गणा**- जीवों के द्वारा श्वासोच्छ्वास में प्रयुक्त वर्गणा।
7. **भाषा वर्गणा**- भाषा बोलने में प्रयुक्त वर्गणा।
8. **मनोवर्गणा**- मन के निर्माण एवं चिन्तन प्रक्रिया में प्रयुक्त पुद्गल वर्गणा ।

ये सभी वर्गणाएँ सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। एक वर्गणा के पुद्गल दूसरी वर्गणा के पुद्गलों में भी परिवर्तित हो सकते हैं। प्रायः ये वर्गणाएँ अपने प्राकृतिक स्वरूप में रहती हैं, जीव के द्वारा प्रयुक्त होने पर इनमें कार्य सम्पन्न होते है।

आठ वर्गणाओं में से औदारिक, वैक्रिय, आहारक एवं तैजस वर्गणाएँ अष्टस्पर्शी हैं, जबकि कार्मण, भाषा एवं मनोवर्गणा चतुःस्पर्शी (शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रुक्ष स्पर्शयुक्त) हैं। श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतुःस्पर्शी एवं अष्टस्पर्शी दोनों प्रकार की हैं।

आधुनिक विज्ञान एवं पुद्गल

आज हम विज्ञान के अनेक चमत्कारपूर्ण प्रयोगों से परिचित हैं । मोबाइल फोन पर बातचीत हो या इण्टरनेट पर चेटिंग, टी.वी. पर धारावाहिक का प्रसारण हो या रेडियो पर कार्यक्रमों का श्रवण- यह सब पुद्गलों का ही चमत्कार है । मोबाइल तरंगें एक मोबाइल से दूसरे मोबाइल तक सेटेलाइट के माध्यम से पहुँचती हैं, वे भी पुद्गल ही हैं। वे दृष्टिगोचर नहीं होने से सूक्ष्म पुद्गल के रूप में स्वीकार्य हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में जो चमत्कार हुए हैं वे भी पुद्गलों पर किए गए प्रयोग हैं। हृदय की शल्य चिकित्सा हो या किसी अंग का ट्रांसप्लान्टेशन - सारे प्रयोग पुद्गलों पर आश्रित हैं।

आधुनिक विज्ञान में जितनी भी शोध की जा रही है, वह प्रयोग पर आश्रित है और जितने भी प्रयोग हैं, वे पौद्गलिक वस्तुओं अथवा जीव युक्त पुद्गलों पर ही संभव हैं। हम विज्ञान के कारण जितना विकास देख रहे हैं, वह पुद्गलों के प्रयोग परिणमन और मिश्र परिणमन का फल है। पटरी का निर्माण हो या ट्रेन का, कारों का

निर्माण हो या सड़कों का, वायुयान का निर्माण हो या रॉकेट का, यह सब पुद्गलों का परिणमन है।

सन् 2010 एवं 2012 में फ्रांस एवं जेनेवा के निकट सर्न में संसार का एक बहुत बड़ा प्रोटॉन टकराव का प्रयोग हुआ। इसे हिग्सबोसोन अथवा गोड पार्टिकल प्रयोग के नाम से जाना जाता है। यह विश्व को चमत्कृत कर देने वाला प्रयोग था। इसमें एक सैकिण्ड में 600 मिलियन टकराव उत्पन्न किये गये। उससे जो ध्वनि उत्पन्न हुई उसका अध्ययन किया गया।[34] इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुद्गल की जिस गति एवं शक्ति का निरूपण जैन आगम व्याख्याप्रज्ञप्ति में हुआ है उसके प्रयोग की दिशा में वैज्ञानिकों ने कुछ कदम बढ़ाए हैं।

विज्ञान में फोटोन नाम तत्त्व स्वीकार किया गया है, जो स्वयं भारहीन होता है। परन्तु उसकी ऊर्जा और गति के कारण उसमें भार माना गया है। भौतिक शास्त्र में लेपटोन, न्यूट्रियोन, बैरीयोन आदि विभिन्न प्रकार की भौतिक संरचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जो स्कंधों के अर्न्तगत समाविष्ट हो सकती हैं। क्वार्क, ग्लोओन, क्वाण्टम आदि शब्द भी पुद्गलों की विभिन्न अवस्थाओं को समझाते हैं।[35]

सन्दर्भः-

1. (i) पूरणगलनान्वार्थसंज्ञत्वात् पुदुगलाः ।- तत्त्वार्थराजवार्तिक 5.1.24
   (ii) गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः ।- नियमसरतात्पर्यवृत्ति 9
2. गोयमा! पंचविहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते, तंजहा-वन्नपरिणामे, गंधपरिणामे, रस परिणामे, फास परिणामे, संठाण परिणामे।-व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 8, उद्देशक 1, सूत्र 1
3. गोयमा! पंचविहे पोग्गल-करणे पन्नत्ते, तं जहा-वण्णकरणे, गंधकरणे, रस करणे, फास करणे, संठाणकरणे।- व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 19, उद्देशक 9 सूत्र 11
4. पुद्गलस्य स्पर्शरसगन्धवर्णाः मूर्तत्वमचेतनत्वमिति षट् ।- आलापपद्धति, 2
5. सद्दंधयार-उज्जोओ, पभा-छायाऽऽतवो इ वा।
   वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं।।-उत्तराध्ययन, 28.12
6. शब्दबन्ध सौपृक्यस्थौल्यसंस्थान भेदतमश्छायातपोद्द्योतवन्तश्च। - तत्त्वार्थसूत्र, 5.31
7. सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेदतमछाया।
   उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।-बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 16
8. न जघन्यगुणानाम्।-तत्त्वार्थसूत्र, 5.33

9. गुणसाम्ये सदृशानाम्।-तत्त्वार्थसूत्र, 5.34
10. द्व्यधिकादिगुणानां तु।-तत्त्वार्थसूत्र, 5.35
11. द्रष्टव्य- तत्त्वार्थ सूत्र, 5.33-35 पर पण्डित सुखलाल संघवी कृत व्याख्या।
12. (i) अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
    सुहुमं अइसुहुमं इति धरादिगं होइ छब्भेयं।।-नियमसार, गाथा 21
    (ii) बादरबादर बादरसुहुमं सुहमथूलं च।
    सुहुमं च सुहमसुहमं च धरादियं होदि छब्भेयं।। -गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 603
13. गोयमा! छ संठाणा पण्णत्ता, तं जहा-परिमंडले, वट्टे, तंसे, चउरंसे, आयते, अणित्थंथे। -व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 25, उद्देशक 3, सूत्र 1
14. सत्त संठाणा पन्नत्ता, तं जहा-दीहे, रहस्से, वट्टे, तंसे, चउरंसे, पिहुले, परिमंडले।-स्थानांगसूत्र, स्थान 7
15. शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ।- तत्त्वार्थसूत्र 5.19
16. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।- तत्त्वार्थसूत्र 5.20
17. अठारह पापों में वर्णादि का निरूपण हुआ है। द्रष्टव्य, द्रव्यानुयोग, भाग 3, आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1995, पुद्गल अध्ययन, पृ. 1774 पर व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 12, उद्देशक 5, सूत्र 2-7 का उद्धरण।
18. द्रव्यानुयोग,भाग 3, पृ. 1774-75 पर उद्धृत व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 12, उद्देशक 5, सूत्र 8
19. द्रव्यानुयोग, भाग 3, पृ. 1777
20. ओरालियसरीरे जाव तेयगसरीरे एयाणि पंचवण्णाणि जाव अट्ठफासाणि कम्मसरीरे-चउफासे। मणजोगे वइजोगे य चउफासे, कायजोगे अट्ठफासे। - व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 12, उद्देशक 5, सूत्र 31, द्रव्यानुयोग, भाग-3, पृ. 1777
21. गोयमा! पओगपरिणए वा, मीसापरिणए वा, वीससापरिणए वा।-व्याख्या- प्रज्ञप्ति, शतक 8, उद्देशक 1, सूत्र 49, द्रव्यानुयोग, भाग-3, पृ. 1812
22. गोयमा! चउव्विहे परमाणु पण्णत्ते, तं जहा-दव्वपरमाणु, खेत्तपरमाणु, काल- परमाणु, भावपरमाणु। -व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 20, उद्देशक 5, सूत्र 15
23. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 20, उद्देशक 5
24. हंता, गोयमा! परमाणुपोग्गले णं लोगस्स पुरित्थिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चत्थिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छए जाव हेट्ठिल्लाओ चरिमंताओ उवरिल्ले चरिमंते एगसमएणं गच्छइ। -व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 16, उद्देशक 8, सूत्र 13, द्रव्यानुयोग, भाग 3, पृष्ठ 1831
25. तिविहे पोग्गलपडिघाए पण्णत्ते, तंजहा- 1. परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गले पप्प पडिहम्मेज्जा, 2. लुक्खत्ताताए वा पडिहम्मेज्जा, 3. लोगंते वा पडिहम्मेज्जा।- स्थानांगसूत्र, अध्ययन 3,

उद्देशक 4, सूत्र 211

26. द्रष्टव्य, द्रव्यानुयोग, भाग 3, पृ. 1755-1776 एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 18, उद्देशक 6 एवं शतक 20 उद्देशक 5
27. द्रव्यानुयोग, भाग-3, पृ. 1844 एवं व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 5, उद्देशक 7
28. द्रव्यानुयोग, भाग-3, पृ. 1848 एवं व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 25, उद्देशक 4, सूत्र 211-216
29. द्रव्यानुयोग, भाग-3, पृ. 1854
30. द्रव्यानुयोग, भाग-3, पृ. 1756-1768
31. द्रव्यानुयोग, भाग-3, पृ. 1768-1770
32. स्थानांगसूत्र, स्थान-1
33. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 594-595
34. गूगल सर्च के आधार पर
35. विज्ञान के साथ पुद्गल की तुलना हेतु द्रष्टव्य पुस्तकें-
    (i) 'The Enigma of the Universe' by Prof. Muni Mahendra Kumar, Jain Vishva Bharati University, Ladnun, 2010
    (ii) 'Jain Metaphysics And Science : A Comparision', by N.L. Kachhara, Prakrit Bharati Academy, Jaipur, 2011

कारण-कार्य सिद्धान्त एवं पंचकारण-समवाय

बिना कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। कार्य की उत्पत्ति में प्रायः उपादान एवं निमित्त ये दो कारण प्रमुख होते हैं। जिस कारण में कार्य उत्पन्न होता है, उसे उपादान कारण कहा जाता है, यथा दही का उपादान कारण दूध होता है, क्योंकि दूध से ही दही बनता है। उपादान से भिन्न सभी कारणों को निमित्त कारण कहा जाता है। दूध में दिया जाने वाला जामण, उचित तापमान का होना, जामण देने वाला व्यक्ति, बर्तन आदि निमित्त कारण हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारणों का प्रतिपादन हुआ है, किन्तु उनमें से समवायी एवं असमवायी कारणों को उपादान की श्रेणि में रखा जा सकता है।

जैनदर्शन में उपादान एवं निमित्त कारणों के अतिरिक्त भिन्न प्रकार से भी कारणों की चर्चा सम्प्राप्त होती है। तदनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव की कारणता; धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्यों की कारणता; कर्ता, कर्म आदि षट्कारकों की कारणता भी अंगीकार की गई है । सिद्धसेनसूरि ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुष/पुरुषार्थ के रूप में पंच कारण समूह की भी चर्चा की है । कालादि इन पाँच कारणों के समुदाय को अब (19वीं शती से) **'पंच समवाय'** के नाम से जाना जाता है। जैनदर्शन के अनेकान्तवादी एवं नयवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है कि इसमें पंच समुदाय की कारणता को स्थान मिला। इससे जैनदर्शन की व्यापक दृष्टि का बोध होता है। इसमें कारण-कार्य व्यवस्था पर गहन, सूक्ष्म एवं व्यावहारिक चिन्तन हुआ है। जैनदर्शन ने जीव एवं अजीव दोनों को लक्ष्य में रखकर कारणवाद का विचार किया है। प्रस्तुत आलेख में जैनदर्शन की कारण-कार्य विषयक मान्यताओं एवं कालादि पंचकारण समवाय की संक्षेप में चर्चा की गई है।

जैनदर्शन में कारण-कार्य-विमर्श

जैनदर्शन में मान्य षड्द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल में तो स्वाभाविक परिणमन रूप कार्य स्वतः होता रहता है। काल को उसमें निमित्त माना जा सकता है, किन्तु जीव एवं पुद्गल में कार्य का विशिष्ट स्वरूप देखा जाता है । इनमें कार्य उत्पन्न होते समय अन्य द्रव्यों की भी निमित्तकारणता दृष्टिगोचर होती है । धर्मास्तिकाय गति में, अधर्मास्तिकाय स्थिति

में, आकाशास्तिकाय अवगाहन में, काल पर्यायपरिणमन में, जीव प्रयोगपरिणमनादि में तथा पुद्गल भी विविध कार्यों में निमित्त बनता है । जैन दर्शन के कारण-कार्य सिद्धान्त के अनेक आयाम हैं, जिन्हें संक्षेप में निम्नांकित बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है-

(1) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के आधार पर कारण-कार्य का चिन्तन जैनदर्शन का अपना वैशिष्ट्य है।[1] प्रायः द्रव्य की कारणता से आशय है- धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल की कारणता। किन्तु यहाँ आकाश का समावेश क्षेत्र में होने से तथा काल का पृथक् उल्लेख होने से द्रव्य की कारणता से आशय प्रमुखतः जीव एवं पुद्गल की कारणता है। धर्म एवं अधर्म द्रव्य तो उदासीन निमित्त के रूप में क्रमशः गति एवं स्थिति में कारण बनते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वपरिणमन में उपादान कारण होता है। पुद्गल एवं जीव द्रव्य अन्य जीव तथा पुद्गल के प्रति सक्रिय निमित्त कारण भी हो सकते हैं। इस प्रकार सभी द्रव्य स्वपरिणमन में अन्तरंग और अन्य द्रव्यों के परिणमन में बहिरंग कारण बनते हैं।

क्षेत्र की कारणता से आशय है आकाश की कारणता। '**खित्तं खलु आगासं**' कथन क्षेत्र को आकाश प्रतिपादित कर रहा है। सभी द्रव्यों को अवगाहन हेतु स्थान देने के कारण आकाश को ही क्षेत्र माना गया है। सभी द्रव्य आकाश में ही निवास करते हैं, इसलिए वह सबका क्षेत्र या निवास कहा जाता है। जो द्रव्य या पदार्थ जितना आकाशीय स्थान घेरता है, उसका उतना क्षेत्र होता है।

काल की कारणता वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व स्वरूप कार्यों की दृष्टि से अंगीकार की गई है। काल के कारण ही धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य वर्तन करते हैं अर्थात् बने रहते हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो इनका अस्तित्व काल से ही सम्भव होता है। द्रव्यों के पर्याय-परिणमन में, उनकी परिस्पन्द रूप क्रिया में तथा ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व में काल उदासीन निमित्त कारण होता है।

भाव की कारणता का सम्बन्ध विशेषतः जीव से है। जीव के पाँच भाव स्वीकार किये गये हैं - औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक।[2] छठा भाव इनके मिश्रण से सान्निपातिक कहलाता है।[3] औदयिक भाव से नरक आदि चार गतियाँ, क्रोध आदि चार कषाय, स्त्री आदि तीन वेद, मिथ्यादर्शन,

अज्ञान, षड्लेश्याएँ, असंयम, संसारित्व और असिद्धत्व स्वरूप कार्यों की उत्पत्ति होती है। औपशमिक भाव से सम्यक्त्वलब्धि और चारित्रलब्धि तथा क्रोध-शमन, मान-शमन आदि कार्य निष्पन्न होते हैं। क्षायोपशमिक भाव से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, सम्यक्-दर्शन तथा दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्यलब्धि प्राप्त होती है। जीव का जीवत्व, अजीव का अजीवत्व, भव्यजीव का भव्यत्व और अभव्य जीव का अभव्यत्व पारिणामिक भाव से निष्पन्न होते हैं। अजीव में अजीवत्व पारिणामिक भाव होता है, किन्तु अजीव पुद्गल के वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श की पर्यायों को भी उनका भाव कहा गया है । इन भावों की तरतमता के अनुसार परिणमनरूप कार्य सिद्ध होता है ।

भव की कारणता का तात्पर्य है- अमुक योनि में जन्म की कारणता से किसी कार्य का होना । उदाहरणार्थ- देवगति और नरकगति में जन्म से ही वैक्रिय शरीर पाया जाता है । अवधिज्ञान या विभंगज्ञान देवों और नारकों में जन्म से होता है ।[4] तिर्यंच गति में पक्षियों का उड़ना, सांप का रेंगना, मछली का तैरना, मेंढक का जल-थल में रहना आदि कार्य भव की कारणता सिद्ध करते हैं ।

(2) षड्द्रव्यों की कारणता जैनदर्शन की अपनी विशेषता है । जीव के शरीर, मन, वाक्, श्वास, निःश्वास आदि कार्य पुद्गल द्रव्य के द्वारा सम्पन्न होते हैं ।[5] जीव-पुद्गल के गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तना रूप कार्य क्रमशः धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं । जीवों के गमन-आगमन, भाषा, उन्मेष, मन-वचन-काय-योग की प्रवृत्ति भी धर्मास्तिकाय के निमित्त से होती है।[6] जीवों के स्थिरीकरण, निषीदन, मन की एकाग्रता आदि स्थिर भावों में अधर्मास्तिकाय निमित्त बनता है।[7] आकाश एवं काल की कारणता का विचार ऊपर बिन्दु न. 1 में किया जा चुका है ।

पुद्गल से जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीरों का निर्माण होता है। जीव द्रव्य भी अन्य जीवों के लिए उपकारी होता है- **"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (तत्त्वार्थसूत्र, 5.21)** वाक्य से इसकी पुष्टि होती है । कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया

गया है । जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्म रूप में परिणत होते हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागादि भाव में परिणमन करता है ।[8] षड्द्रव्यों में कार्य-कारणता स्वीकार करने पर भी जैन दर्शन यह मानता है कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य अपने स्वरूप का कभी त्याग नहीं करते एवं अन्य द्रव्य रूप में परिणमित नहीं होते हैं ।

(3) जैन दर्शन में निरूपित परिणमन भी एक प्रकार का कार्य ही है तथा परिणमनों के आगमों में तीन प्रकार निरूपित हैं- विस्रसा परिणमन, प्रयोग परिणमन और मिस्र परिणमन।[9] बिना किसी बाह्य प्रेरक निमित्त के उपादान में स्वतः होने वाला परिवर्तन विस्रसा (स्वभाव) परिणमन कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल द्रव्य में जो परिणमन होता है, वह विस्रसा परिणमन है। जीव और पुद्गल में भी यह परिणमन पाया जाता है । ज्ञान, दर्शन आदि की पर्यायों का परिणमन सिद्ध जीवों में स्वाभाविक रूप से होता है । इसी प्रकार परमाणुओं में परिणमन बहुधा स्वाभाविक रूप से होता है। प्रयोग-परिणमन में जीव के प्रयत्न का योगदान रहता है, यथा- तन्तुओं से वस्त्र, मिट्टी से घट आदि का निर्माण प्रयोगज परिणमन है। मिस्र परिणमन में स्वाभाविक परिणमन एवं जीव के प्रयत्न दोनों का समावेश होता है।

(4) तद्द्रव्य और अन्यद्रव्य की कारणता के रूप मे विशेषावश्यकभाष्य एवं उस पर मल्लधारी हेमचन्द्र की वृत्ति में चर्चा की गई है[10], जो दोनों क्रमशः उपादान और निमित्त कारणों के सूचक हैं । पट कार्य की उत्पत्ति में तन्तु 'तद्द्रव्य कारण' तथा वेमादि को 'तद् अन्य द्रव्य कारण' स्वीकार किया गया है ।

(5) कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण-इन षट्कारकों को विशेषावश्यक भाष्य में कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है,[11] क्योंकि ये सभी क्रिया या कार्य की जनकता में सहयोगी होते हैं। व्याकरण-दर्शन में क्रिया का जनक होने से ही कर्ता, कर्म आदि को कारक कहा गया है।

(6) जैनदार्शनिकों के अनुसार नित्यानित्यात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक अथवा सदृशासदृशात्मक पदार्थों में ही कार्यकारण भाव घटित हो सकता है। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि कार्यकारण भाव अर्थक्रिया करने वाले

पदार्थों में ही संभव है और अर्थक्रिया सर्वथा नित्य तथा सर्वथा अनित्य पदार्थों में न क्रम से हो सकती है और न युगपत्। नित्यानित्यात्मक पदार्थों में ही अर्थक्रिया का घटन हो सकता है[12] इसलिए उनमें ही कार्य-कारण भाव संभव है।

(7) जैन दार्शनिक कार्य-कारण में भेदाभेदता स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार घट-कार्य मृत्तिका कारण से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य अपने कारण से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी। सांख्यदर्शन कारण एवं कार्य में एकान्त अभेद मानता है तथा वैशेषिक दर्शन इनमें एकान्त भेद स्वीकार करता है। इन दोनों की मान्यताओं का जैनदार्शनिकों ने निरसन किया है। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि कार्य अपने कारण से अभिधान, संख्या, लक्षण आदि से भिन्न भी होता है तथा सत्त्व, ज्ञेयत्व आदि अपेक्षा से वह अभिन्न भी होता है।[13]

(8) जैन दर्शन में कारण-कार्य को सदसदात्मक स्वीकार किया गया है।[14] इसमें कारण भी सदसदात्मक होता है तथा कार्य भी सदसदात्मक होता है। कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् होता है तथा उत्पत्ति के पश्चात् सत् होता है, जबकि कारण कार्य की उत्पत्ति के पूर्व सत् होता है तथा उत्पत्ति के पश्चात् वह असत् हो जाता है। इस दृष्टि से कार्य एवं कारण दोनों सदसदात्मक होते हैं।

(9) उपादान एवं निमित्त भेदों का प्रतिपादन भी जैनदर्शन में हुआ है। जिस कारण में कार्य उत्पन्न होता अथवा जो कार्य का प्रमुख कारण होता है उसे उपादान कहते हैं सहकारी कारण को निमित्त कारण कहा जाता है। वेदान्तदर्शन में उपादान एवं निमित्त शब्दों से ही कार्य- कारण-व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। ये शब्द जैनदर्शन में विद्यानन्द की अष्टसहस्री, बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं।[15] फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री ने 'जैनतत्त्वमीमांसा' ग्रन्थ में उपादान-निमित्त की विस्तृत चर्चा की है ।

(10) कार्य उत्पन्न हो जाने के अनन्तर अपनी अर्थक्रिया में वह कारण-सापेक्ष नहीं रहता है, इसका प्रतिपादन प्रभाचन्द्र (980-1065 ई.) ने प्रमेयकमल-मार्तण्ड में किया है।[16]

पंचकारण समवाय की पृष्ठभूमि

श्वेताश्वतरोपनिषद् में विभिन्न कारणवादों का उल्लेख हुआ है, यथा-

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।

-श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.2

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत, योनि, पुरुष- इनका संयोग सृष्टि का कारण है, मात्र आत्मभाव से यह सृष्टि निर्मित नहीं हुई है, क्योंकि सुख-दुःख के कारण आत्मा भी स्वयं की ईश नहीं है। यहाँ पर यह संकेत प्राप्त होता है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में चेतन एवं अचेतन दोनों के संयोग को सृष्टि का कारण स्वीकार किया गया है। यह उपनिषद् उस समय प्रचलित सृष्टि की उत्पत्ति एवं उसके संचालन विषयक विभिन्न मतों को प्रस्तुत कर रहा है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, पंचभूतवाद, योनिवाद एवं पुरुषवाद इन सात मतों की ओर यहाँ संकेत मिल रहा है । उपनिषद् का यह मन्त्र विभिन्न वादों में समन्वय स्थापित कर रहा है।

इसी प्रकार का समन्वय हमें सिद्धसेनसूरि (पांचवी शती) के 'सन्मतितर्क प्रकरण' की निम्नांकित गाथा में प्राप्त होता है ।

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता ।
मिच्छत्तं ते चेव, समासओ होंति सम्मत्तं ।। -सन्मतितर्क, 3.53

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (कर्म) एवं पुरुष (चेतन तत्त्व, आत्मा, जीव) इन्हें एकान्त कारण मानने पर ये मिथ्यात्व के द्योतक हैं तथा इनका सामासिक (सम्मिलित) रूप सम्यक्त्व कहलाता है।

सिद्धसेनसूरि (सिद्धसेन दिवाकर) यहाँ श्वेताश्वतरोपनिषद् में उक्त यदृच्छावाद, पंचभूतवाद एवं योनिवाद के मतों को अस्वीकृत करते हुए पूर्वकृत कर्म का नूतन उल्लेख कर रहे हैं। जैनदर्शन यदृच्छावाद अथवा आकस्मिकवाद को स्वीकार नहीं करता। वह कार्यकारण- व्यवस्था को अंगीकार करता है। पंचभूत नाम जैन दर्शन में प्रचलित नहीं है, इनका समावेश पृथ्वीकायिकादि जीवों एवं पुद्गलों में हो जाता है। जैन दर्शन द्रव्य की कारणता को अंगीकार करता है, जिसमें पुद्गल

द्रव्यों का समावेश हो जाता है । योनि का तात्पर्य है उत्पत्ति स्थान । इसका समावेश पुरुष (चेतन तत्त्व) एवं स्वभाव में किया जा सकता है ।

जैनदर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त की पहले से ही व्यवस्था होते हुए भी उसके अनेकान्तवाद एवं नयवाद सिद्धान्त के कारण सिद्धसेनसूरि (5वीं शती) ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (कर्म) एवं पुरुष (जीव एवं उसकी क्रिया) के समुदाय को कार्य की उत्पत्ति में कारण स्वीकार किया है। जैनदर्शन में ये पाँचों कारण उत्तरकाल में पंच **कारणसमवाय** अथवा **पंचसमवाय** के नाम से प्रसिद्ध हुए है। सिद्धसेनसूरि इन पाँचों का समन्वय करने वाले प्रथम जैन दार्शनिक हैं, जो इनके एकान्तवाद को मिथ्या एवं सम्मिलित रूप को सम्यक् कहते हैं। पंचकारण-समवाय का यह सिद्धान्त जैन मान्यताओं से अविरुद्ध है। इसीलिए सिद्धसेनसूरि के अनन्तर विभिन्न जैन दार्शनिकों ने पंचकारणसमवाय सिद्धान्त का तार्किक समर्थन किया है। इन दार्शनिकों में हरिभद्रसूरि (700-770 ई.), शीलांकाचार्य (9-10 वीं शती), अभयदेवसूरि (10 वीं शती), मल्लधारी राजशेखरसूरि (12-13 वीं शती), यशोविजय (17 वीं शती), उपाध्याय विनयविजय (17 वीं शती) आदि का नाम उल्लेखनीय है।[17] आधुनिक युग में पण्डित टोडरमल जी, कानजी स्वामी, श्री तिलोक ऋषि जी, शतावधानी रतनचन्द्र जी, आचार्य हस्तीमल जी, आचार्य महाप्रज्ञ आदि ने पंच समवाय के सिद्धान्त को पुष्ट किया है। सम्प्रति जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में पंचकारणसमवाय सिद्धान्त मान्य एवं प्रतिष्ठित है। जैनदर्शन सृष्टि उत्पत्ति की दृष्टि से कारणों की चर्चा नहीं करता, क्योंकि इसमें सृष्टि को अनादि अनन्त स्वीकार किया गया है।

कालादि पाँच कारणों के समुदाय को कार्य की सिद्धि में कारण स्वीकार करना जैन दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि का सूचक है। यह उसके व्यापक दृष्टिकोण को भी इंगित करता है। जैनदर्शन के अनुसार काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुष/पुरुषकार की कारणता अनेक कार्यों में सिद्ध है। जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय में सम्मिलित काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषवाद/पुरुषकार के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विविध प्रकार की जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। इनको एकान्त रूप से कारण मानने वाले कालवाद आदि सिद्धान्तों

के स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते, किन्तु वेद, रामायण, महाभारत आदि विभिन्न ग्रन्थों में इनके सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त होती है। यहाँ कालवाद, स्वभाववाद आदि पंचकारण समवाय पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

कालवाद एवं जैनदर्शन में काल की कथंचित् कारणता

कालवाद से आशय है ऐसी विचारधारा जो काल को ही कारण मानकर समस्त कार्य उसी से निष्पन्न होना स्वीकार करती है। इस विचारधारा का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु भारतीय परम्परा में इसकी गहरी जड़ें रही हैं। अथर्ववेद, नारायणोपनिषद्, शिवपुराण, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में तो काल को परमतत्त्व, परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर आदि स्वरूपों में प्रतिष्ठित किया गया है। अथर्ववेद के 11 वें काण्ड के 53-54 वें सूक्तों को कालसूक्त के नाम से जाना जाता है। इनमें कहा गया है कि काल ने प्रजा को उत्पन्न किया, काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया, स्वयम्भू कश्यप काल से उत्पन्न हुए हैं तथा तप भी काल से उत्पन्न हुआ।[18] काल सभी का ईश्वर और प्रजापति का पिता है। नारायणोपनिषद् में काल को नारायण कहा गया है। अक्ष्युपनिषद् में काल को समस्त पदार्थों का निरन्तर निर्माता कहा गया है- "**कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावानारतम्**"। माण्डूक्योपनिषद् पर रचित गौडपादकारिका (1.8) में कालवाद का स्पष्ट उल्लेख हुआ है- "**कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः**"। शिवपुराण भी कहता है कि काल से ही सब उत्पन्न होता है तथा काल से ही वह विनाश को प्राप्त होता है। काल से निरपेक्ष कहीं कुछ नहीं है। विष्णुपुराण में उल्लेख है कि कालस्वरूप भगवान् अनादि हैं और इनका अन्त भी नहीं होता। श्रीमद्भागवत में निरूपित है कि पुरुषविशेष ईश्वर काल को उपादान कारण बनाकर अपने आप से विश्वरूप सृष्टि की रचना करता है। महाभारत को विश्वकोष कहा जाता है, अतः कालवाद के भी संकेत इसमें प्राप्त होते हैं। महाभारत में निगदित है कि स्थावर-जंगम प्राणी सभी काल के अधीन हैं। सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पर्जन्य, वसु, अदिति, नदी, समुद्र आदि सभी का कर्ता काल है। सृष्टिगत कार्यों के साथ-साथ काल स्वयं सृष्टि का रचनाकार और संहारकर्ता है। श्रीमद्भगवद्गीता (11.32) में श्रीकृष्ण ने स्वयं को काल कहा है। वे अर्जुन से कहते हैं- "**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह**

प्रवृत्तः।'' कि वे लोक के विनाशकर्ता काल हैं। सारी ज्योतिर्विद्या कालाश्रित है। काल के ही आधार पर ज्योतिर्विद्या में गणित एवं फलित निष्पादित किए गये हैं।

भारतीय दर्शन भी काल की चर्चा करते हैं, किन्तु वे कालवादी नहीं हैं, क्योंकि वे एक मात्र काल से कार्य की उत्पत्ति नहीं मानते। काल को भारतीय दर्शन में प्रायः साधारण निमित्त कारण माना गया है। वैशेषिक दर्शन इसे द्रव्य मानता है तथा इसे एक, नित्य, व्यापक एवं अमूर्त स्वीकार करता है। उसके अनुसार काल की सिद्धि ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व, क्रम, यौगपद्य, चिर, क्षिप्र आदि प्रत्ययों से होती है।[19] न्यायदर्शन में मान्य 12 प्रमेयों में काल की गणना नहीं हुई है, किन्तु प्रकारान्तर से न्यायदर्शन में काल को अवश्य स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ मन की सिद्धि करते हुए अक्षपाद गौतम कहते हैं- ''**युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्**।'' (न्यायसूत्र 1.1.16) यहाँ युगपत् शब्द काल का ही बोधक है। एक अन्य स्थल पर दिशा, देश और आकाश के साथ काल शब्द का भी कारणता के सम्बन्ध में प्रयोग किया गया है।[20] सांख्यदर्शन में काल को आकाश तत्त्व का ही स्वरूप माना गया है।[21] योगदर्शन में क्षण को वास्तविक तथा क्रम को अवास्तविक स्वीकार किया गया है, क्योंकि दो क्षण कभी भी साथ नहीं रहते हैं। पहले वाले क्षण के अनन्तर दूसरे क्षण का होना ही क्रम कहलाता है, इसलिए वर्तमान एक क्षण ही वास्तविक है, पूर्वोत्तर क्षण नहीं। मुहूर्त्त, अहोरात्र आदि जो क्षण समाहार रूप व्यवहार है वह बुद्धिकल्पित है, वास्तविक नहीं।[22] मीमांसादर्शन में काल का स्वरूप वैशेषिक दर्शन के समान माना गया है, किन्तु वैशेषिक जहाँ काल को अप्रत्यक्ष मानते हैं वहाँ मीमांसक उसे प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं।[23] अद्वैतवेदान्त में काल को व्यावहारिक रूप से स्वीकार किया गया है। शुद्धाद्वैत दर्शन में काल को अतीन्द्रिय होने से कार्य से अनुमित स्वीकार किया गया है।[24] व्याकरणदर्शन में भर्तृहरि के वाक्यपदीय में तृतीयकाण्ड का 'कालसमुद्देश' काल के स्वरूप एवं भेदों की चर्चा से सम्पृक्त है। टीकाकार हेलाराज ने काल को अमूर्त क्रिया के परिच्छेद का हेतु निरूपित किया है - ''**कालोऽमूर्तक्रिया- परिच्छेदहेतुः**''।[25] बौद्धदर्शन में भी काल को भूत, वर्तमान एवं भविष्य के रूप में स्वीकार किया गया है तथा क्षणिक पदार्थ की व्याख्या करते हुए वे काल को भी महत्त्व देते हैं। हाँ, बौद्धदर्शन में क्षणस्थायी घटादि पदार्थ को भी

क्षण कहा गया है।[26] भारतीय दर्शन में जहाँ भी काल की चर्चा है वहाँ उसे कार्य की उत्पत्ति में आकाश की भाँति साधारण कारण स्वीकार किया गया है, किन्तु एकमात्र काल से कार्य की उत्पत्ति मान्य नहीं की गई है ।

जैनदर्शन में भी काल को द्रव्य स्वीकार किया गया है, किन्तु कार्य की उत्पत्ति में उसे उदासीन निमित्त कारण माना गया है। प्रत्येक द्रव्य के पर्याय परिणमन में जैनदर्शन काल को कारण मानता है। जैनदर्शन में काल की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। तत्त्वार्थसूत्र में वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व एवं अपरत्व को काल के उपकार या कार्य कहा गया है।[27] समस्त पदार्थों की जो काल के आश्रित वृत्ति है वह वर्तना है। वस्तु का वर्तनमात्र वर्तना है। द्रव्य उत्पत्ति अवस्था में हो, स्थिति अवस्था में हो अथवा गति अवस्था में, वह जिस भी अवस्था में वर्तमान है वह काल के वर्तना नामक उपग्रह या कार्य का फल है।[28] जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की वर्तना बहिरंग कारण की अपेक्षा रखती है और उनका बहिरंग कारण काल है। काल के वर्तन का उससे भिन्न कोई कारण नहीं है, अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न होगा । द्रव्य की स्वजाति का त्याग किये बिना द्रव्य का प्रयोगलक्षण (जीव के प्रयत्न से जन्य) तथा विस्रसालक्षण (स्वभावतः उत्पन्न) विकार परिणाम कहलाता है। क्रिया परिस्पन्दात्मिका होती है । तत्त्वार्थभाष्य में गति को क्रिया कहा है तथा इसे तीन प्रकार का निरूपित किया गया है- प्रयोगगति, विस्रसागति एवं मिश्रिकागति।[29] विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में क्रिया को द्रव्य की वह परिस्पन्दात्मक पर्याय माना है जो देशान्तर प्राप्ति में हेतु होती है तथा वह गति, भ्रमण आदि भेदों से युक्त होती है। यदि काल न हो तो क्रिया की अवधारणा घटित नहीं हो सकती। परत्व-अपरत्व शब्दों का प्रयोग काल के सन्दर्भ में ज्येष्ठ-कनिष्ठ, नया-पुराना आदि अर्थों में अथवा पूर्वभावी-पश्चाद्भावी के अर्थ में होता है। जैनदर्शन में काल अमूर्त है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित एवं अगुरुलघु है। वह अप्रदेशी किंवा एक प्रदेशी अर्थात् अनस्तिकाय होता है। लोक में प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक पृथक् कालाणु की सत्ता है।[30] अनन्त पर्यायों की वर्तना में निमित्त होने से यह काल अनन्त भी कहा जाता है। इन कालाणुओं में स्निग्ध एवं रुक्ष गुण का अभाव होने से इनका प्रदेश प्रचय अथवा संचय नहीं बन पाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त,

अहोरात्र, पक्ष आदि को जैनदर्शन में अद्धासमय अथवा व्यवहार काल कहा गया है, जो मनुष्यों द्वारा अढाईद्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड एवं अर्द्धपुष्करद्वीप) में ही व्यवहृत होता है। व्यवहार काल को संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से भी समझा जाता है।

जैनदार्शनिकों ने काल की कारणता को उदासीन निमित्त के रूप में स्वीकार किया है तथा कालवाद की मान्यताओं का पूर्वपक्ष में उपस्थापन कर निरसन किया है। कालवाद के उपस्थापन एवं विधिवत् निरसन में मल्लवादी क्षमाश्रमण (5वीं शती), हरिभद्रसूरि (700-770 ई.), शीलांकाचार्य (9वीं-10वीं शती), अभयदेवसूरि (10वीं शती) का विशेष योगदान रहा है। इन दार्शनिकों की कृतियों में पूर्वपक्ष के रूप में काल को परम तत्त्व, परमात्मा, ईश्वर आदि के रूप में तो प्रतिपादित नहीं किया गया है, किन्तु समस्त कारणों के उपलब्ध होने पर भी काल के बिना कार्य नहीं होने के अनेक उदाहरण दिए गए हैं। जैनदार्शनिक कालवाद का निरसन करते हुए विभिन्न तर्क देते हैं । दो, तीन तर्क उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत हैं-

1. हरिभद्रसूरि कहते हैं कि एकमात्र काल को कारण मानना उचित नहीं है, क्योंकि काल के समान होने पर भी कार्य समान नहीं देखा जाता।
2. शीलांकाचार्य कहते हैं कि क्या काल एक स्वभावी, नित्य और व्यापक है? ऐसा स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है, दूसरी बात यह है कि काल को एक स्वभावी, नित्य एवं व्यापक मानने पर उसमें पूर्वापर व्यवहार सम्भव नहीं है। यदि वह समयादि रूप से परिणमन करके कारण बनता है तो भी मात्र उसे ही कारण नहीं माना जा सकता,क्योंकि एक ही समय में कोई मूँग पकता है तथा कोई नहीं।[31]
3. अभयदेवसूरि का तर्क है कि प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक् काल की कारणता स्वीकार करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें अनित्यता आदि दोष आते हैं। काल की क्रम से एवं युगपद् दोनों प्रकार से ही कारणता स्वीकार नहीं की जा सकती। क्रम से कारण होने पर उसमें अनित्यत्व दोष आता है तथा युगपद् कार्योत्पत्ति मानने पर सभी कार्य एक साथ उत्पन्न हो जाने एवं फिर द्वितीय क्षण में काल के अकिंचित्कर होने की अवस्था बनती है।[32]

काल को ही एकान्त कारण मानने का जैनदार्शनिक खण्डन करते हैं, किन्तु उसकी कथंचित् कारणता उन्हें स्वीकार्य है। जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य के पर्याय-परिणमन में काल की कारणता अंगीकार की गई है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय के पर्याय-परिणमन में काल प्रमुख उदासीन निमित्त कारण है। यही नहीं सभी द्रव्यों का वर्तन काल से ही सम्भव होता है। क्रिया एवं ज्येष्ठ-कनिष्ठ का बोध भी काल के बिना सम्भव नहीं। काललब्धि को मोक्ष में भी हेतु माना गया है। कर्मसिद्धान्त में अबाधाकाल की अवधारणा भी काल की कारणता का द्योतन करती है।

स्वभाववाद एवं जैनदर्शन में उसकी कथंचित् कारणता

स्वभाववाद के अनुसार सभी कार्य स्वभावजन्य होते हैं। कांटों की तीक्ष्णता, मृगों और पक्षियों के विचित्र वर्ण एवं स्वरूप स्वभाव से होते है। स्वभाववाद का वेदों में सीधा उल्लेख नहीं है, किन्तु वेद व्याख्याकार पं. मधुसूदन ओझा ने नासदीयसूक्त के आधार पर दस वादों का स्थापन किया है। इन दस वादों के अन्तर्गत अपरवाद को स्वभाववाद कहा है। वे 'अ पर' का अर्थ 'स्व' (अ+पर) करते हैं तथा स्वभाववाद को चार रूपों में प्रस्तुत करते हैं- 1. परिणामवाद 2. यदृच्छावाद 3.नियतिवाद 4. पौरुषी प्रकृतिवाद।[33] स्वभाव से होने वाला परिणमन 'परिणामवाद' कहा गया है। उदाहरण के लिए अग्नि की ज्वाला से ताप और प्रकाश स्वतः होते हैं। जल में शीतलता और अन्न-जल से तृप्ति स्वभावतः होती है। यदृच्छावाद को 'आकस्मिकवाद' भी कहा जाता है। यह एक पृथक् विचारधारा के रूप में प्रचलित रहा, किन्तु पं. ओझा ने इसे स्वभाववाद का ही एक प्रकार स्वीकार किया है। नियतिवाद को भी पं. ओझा ने स्वभाववाद का अंग माना है। प्राचीनकाल में भी तिलों से तेल होता था, आज भी होता है और भविष्य में भी होता रहेगा, यह नियति एक स्वभाव है। प्रकृतिवाद भी स्वभाववाद है, क्योंकि त्रिगुणात्मिकता प्रकृति में स्वभाव से परिणमन होता है। उन्होंने स्वभाव का सम्बन्ध प्रकृतिवाद से माना है तथा पुरुष को स्वभावातीत स्वीकार किया है। पदार्थों की नियत शक्ति का नाम स्वभाव है। जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता- "**स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः अग्नेरौष्ण्यमिव**"।[34] हरिवंशपुराण में जगत् को स्वभावकृत प्रतिपादित

किया गया है- "**स्वाभावाज्जायते सर्वं स्वभावाच्च ते तथाऽभवन्, अहंकारः स्वभावाच्च तथा सर्वमिदं जगत्।**[35] स्वभाव से ही सबकी उत्पत्ति होती है, स्वभाव से ही वस्तुएँ वैसी हुई हैं। स्वभाव से ही यह अंहकार तथा यह सारा जगत् प्रकट हुआ है। माण्डूक्यकारिका में प्रतिपादित है कि अमर वस्तु कभी मरणशील नहीं होती और न मरणशील वस्तु कभी अमर। क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है।[36] भगवद्गीता में भी स्वभाववाद का प्रतिपादन है। क्योंकि वहाँ स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों का विभाग किया गया है । गीता में यह भी कहा गया है-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। - भगवद्गीता, 5.14

अर्थात् लोक के कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलसंयोग की प्रभु ने रचना नहीं की है, अपितु स्वभाव इन सबमें प्रवृत्त हुआ है। रामायण और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख हुआ है। '**स्वभावं भूतचिन्तकाः**'[37] वाक्य के द्वारा पंचभूतों को स्वीकार करने वाले स्वभाववाद को अपनी विचारधारा में स्थान देते हैं। पाँच भूतों में अप्, आकाश, वायु, ज्योति (अग्नि) और पृथ्वी का समावेश होता है। ये स्वभाव से ही साथ रहते हैं और स्वभाव से ही वियुक्त होते हैं । बुद्धचरित में स्पष्ट रूप से स्वभाववाद का उल्लेख हुआ है।[38] बृहत्संहिता, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि साहित्यिक कृतियों में भी स्वभाव की चर्चा है। पं. नारायण ने स्वभाव को दुरतिक्रम बताया है।[39] सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में स्वभाव की कारणता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[40] न्यायसूत्र एवं न्यायभाष्य में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं निरसन किया गया है।[41] वाक्यपदीय में स्वाभाविकी प्रतिभा का उल्लेख है।[42] बौद्ध ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने स्वभाववाद का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। स्वभाववादियों के अनुसार पदार्थों की उत्पत्ति समस्त स्व-पर कारणों से निरपेक्ष होती है। कमल के पराग, मयूर के चन्दोवा आदि का निर्माण किसी के द्वारा नहीं किया गया, स्वभाव से ही उनकी उपलब्धि होती है।[43] न्यायकुसुमांजलि में उदयनाचार्य ने आकस्मिकवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद की चर्चा की है। चार्वाक दर्शन में जगत् की विचित्रता को स्वभाव से ही उत्पन्न माना गया है। चार्वाक दर्शन स्वभाववाद का प्रतिनिधि दर्शन है।

जैन आगम प्रश्नव्याकरण सूत्र, नन्दीसूत्र की अवचूरि, हरिभद्रसूरि रचित लोकतत्त्वनिर्णय एवं शास्त्रवार्तासमुच्चय, शीलांकाचार्यकृत आचारांग एवं सूत्रकृतांग की टीका प्रभृति ग्रन्थों में स्वभाववाद की चर्चा उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशारनयचक्र, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के विशेषावश्यक-भाष्य, हरिभद्रसूरि रचित धर्मसंग्रहणि, अभयदेवसूरि कृत तत्त्वबोधविधायनी टीका में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं निरसन प्राप्त होता है। जैन ग्रन्थों में प्रतिपादित स्वभाववाद एवं उसके निरसन से स्वभाववाद के सम्बन्ध में विभिन्न तथ्य प्रकट हुए हैं। जैनाचार्यों द्वारा निरूपित स्वभाववाद की कतिपय विशेषताएँ यहाँ दी जा रही हैं-

1. प्रश्नव्याकरणसूत्र के टीकाकार ज्ञानविमलसूरि ने स्वभाववाद का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सूंठ में तिक्तता और हरितकी में विरेचनशीलता का गुण स्वभाव से ही होता है।[44] नन्दीसूत्र की अवचूरि में कहा गया है कि स्वभाववाद के अनुसार सभी पदार्थ स्वभाव से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि मिट्टी से कुम्भ उत्पन्न होता है, पटादि नहीं।[45]

2. शास्त्रवार्तासमुच्चय में कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावानुसार ही कार्य को उत्पन्न करता है। यदि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति में मिट्टी आदि की समान कारणता मानी जाए तो कारण-कार्य की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।[46] हरिभद्रसूरि स्वभाववाद का पक्ष रखते हुए कहते हैं- पूर्व-पूर्व उपादान परिणाम उत्तरोत्तर होने वाले तत्तत् उपादेय परिणामों के प्रति कारण हैं। उदाहरण के लिए बीज का चरम क्षणात्मक परिणाम अंकुर के प्रथम क्षणात्मक परिणाम का कारण होता है। इस प्रकार क्रमवत् कार्यजनकत्व भी स्वभाव है।[47]

3. मल्लवादी क्षमाश्रमण द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि भूमि, जल आदि द्रव्यों की अपेक्षा रखकर कण्टकादि की उत्पत्ति होती है, यह भी स्वभाव ही है। भूमि आदि निमित्तों की निमित्तता भी स्वाभाविक है। इसका तात्पर्य यह भी है कि स्वभाववाद में उपादान एवं निमित्त दोनों का समावेश हो जाता है।[48]

शीलांकाचार्य ने तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता को उपपन्न बताया है।[49] कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव से भिन्न द्रव्यों की

उपस्थिति से स्वभाववादियों को कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वे अन्य कारणों को स्वभाव के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। स्वभाववाद के खण्डन में भी जैनदार्शनिक सबल तर्क प्रस्तुत करते हैं। कतिपय तर्क द्रष्टव्य हैं-

1. मल्लवादी क्षमाश्रमण स्वभाववादियों से प्रश्न करते हैं कि स्वभाव व्यापक है या प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है ? यदि व्यापक है तो एकरूप होने के कारण पररूप का अभाव होने से स्व या पर विशेषण निरर्थक है। यदि यह प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है तो लोक में प्रचलित घट के घटत्व, पट के पटत्व स्वभाव आदि से भिन्न यह स्वभाव नहीं हो सकेगा।[50]

2. हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणि में अनेक प्रश्न खडे किए हैं। स्वभाव भावरूप है या अभावरूप? यदि भाव रूप है तो एकरूप है या अनेकरूप? यदि अनेकरूप है तो वह मूर्त है या अमूर्त? यदि मूर्त है तो वह जैनदर्शन में मान्य कर्म से अविशिष्ट यानी पुद्गल रूप होगा। यदि अमूर्त है तो वह अनुग्रह एवं उपघात न करने से सुख-दुःख का हेतु नहीं हो सकता। स्वभाव यदि एक रूप है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो वह भावों/पदार्थों की उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति में हेतु होने से उसमें परिवर्तन आ जाता है। यदि वह अनित्य है तो एक रूप होकर अनित्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनित्य विविध रूपों वाला होता है अथवा अनेक होता है।[51]

इस प्रकार विभिन्न तर्कों से जैनदार्शनिक मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि (6-7वीं शती), हरिभद्रसूरि, शीलांकाचार्य, अभयदेवसूरि, यशोविजय (17वीं शती) आदि ने स्वभाववाद का निरसन किया है। जैनदार्शनिकों ने स्वभाववाद के दो स्वरूपों का निरूपण किया है- 1. स्वभावहेतुवाद एवं 2. निर्हेतुक स्वभाववाद। प्रथम स्वरूप के अनुसार कार्य की उत्पत्ति एवं जगत् की विचित्रता में एकमात्र स्वभाव ही हेतु है। द्वितीय स्वरूप के अनुसार सभी पदार्थ एवं कार्य बिना किसी कारण के उत्पन्न होते हैं, यही उनका स्वभाव है, किन्तु स्वभाववाद का यह दूसरा रूप यदृच्छावाद, कादाचित्कत्व अथवा आकस्मिकवाद के रूप में भी जाना जाता है।

यद्यपि जैनदार्शनिकों ने स्वभाववाद का निरसन किया है तथापि नयवाद से जैनदर्शन में भी स्वभाव की कारणता स्वीकृत है। उदाहरण के लिए- षड्द्रव्य अपने

स्वभाव के अनुसार ही कार्य करते हैं। परिणाम के त्रिविध प्रकारों में विस्रसा परिणमन में वस्तु का स्वभाव ही कारण बनता है। जीव का अनादि पारिणामिक भाव भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व आदि के रूप में स्वभाव से ही कार्य करता है। इसी प्रकार दर्शनावरण आदि अन्य कर्मों का भी अपना-अपना स्वभाव है, जिसके अनुसार वे कार्य करते हैं। जैन दर्शन में इसे कर्म का प्रकृतिबन्ध कहा जाता है। यही कारण है कि जैनदार्शनिक पंचकारण समवाय में स्वभाव को भी स्थान देते हैं।

नियतिवाद एवं जैनदर्शन में उसकी कथंचित् कारणता

नियतिवाद के अनुसार नियति ही सब कार्यों का कारण है। नियतिवाद मुख्यतः मंखलिपुत्र गोशालक की मान्यता के रूप में जाना जाता है। किन्तु यह भारतीय मनीषियों की विचारधारा में ओतप्रोत रहा है। आगम, त्रिपिटक, उपनिषद्, पुराण, संस्कृत महाकाव्यों एवं नाटकों में भी नियति के महत्त्व को स्पष्ट करने वाले उल्लेख प्राप्त होते हैं। सूत्रकृतांग टीका (1.1.2.3), शास्त्रवार्तासमुच्चय (2.62 की टीका), उपदेशमहाग्रन्थ (पृ. 140), लोकतत्त्वनिर्णय (श्लोक 27) आदि दार्शनिक ग्रन्थों में नियतिवाद का प्रतिपादक निम्नांकित श्लोक प्राप्त होता है -

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।।

अर्थात् जो पदार्थ नियति के बल के आश्रय से प्राप्तव्य होता है वह शुभ या अशुभ पदार्थ मनुष्यों (जीवमात्र) को अवश्य प्राप्त होता है। प्राणियों के द्वारा महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य कभी नहीं होता है तथा भावी का नाश नहीं होता है।

नियति को साहित्य में भवितव्यता भी कहा गया है। वेद में नियतिवाद का प्रतिपादक कोई मन्त्र या सूक्त नहीं है, किन्तु वेद विवेचक पं. मधुसूदन ओझा ने अपरवाद के अन्तर्गत नियतिवाद का भी समावेश किया है। श्वेताश्वतरोपनिषद्, महोपनिषद् एवं भावोपनिषद् में नियामक तत्त्व के रूप में नियतिवाद का प्रतिपादन हुआ है। हरिवंशपुराण में "**दुर्वारा हि भवितव्यता**", "**दुर्लंघ्यं हि भवितव्यता**"[52] आदि उक्तियों से नियतिवाद की पुष्टि हुई है। रामायण में कहा गया है-

नियतिः कारणं लोके, नियतिः कर्मसाधनम् ।
नियतिः सर्वभूतानां, नियोगेष्विह कारणम् ।।

– रामायण,किष्किन्धा काण्ड, सर्ग 25 श्लोक 4

लोक में नियति सबका कारण है, नियति समस्त कार्यों का साधन है, समस्त प्राणियों को विभिन्न कार्यों में संलग्न करने में नियति ही कारण है। महाभारत में भी नियति की प्रस्तुति निम्नांकित शब्दों में हुई है-

यथा यथाऽस्य प्राप्तव्यं, प्राप्नोत्येव तथा तथा ।
भवितव्यं यथा यच्च, भवत्येव तथा तथा ।।

–महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 226, श्लोक 10

अर्थात् पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलने योग्य होती है, वह उसे उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है। जो जिस प्रकार भवितव्य होता है वह वैसे घटित होता ही है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी भवितव्य शब्द से युक्त दो सूक्तियाँ प्रसिद्ध हैं- 1. **भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र 2. भवितव्यता खलु बलवती ।**[53] हितोपदेश में भी कहा गया है- '**यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा।**'[54] जो होनहार नहीं है वह नहीं होगा तथा जो होनहार है वह अवश्य होगा। भर्तृहरि के नीतिशतक में भी इस प्रकार के विचार पुष्ट हुए हैं। काव्यप्रकाश जैसे साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ में भी नियतिकृत नियम का उल्लेख हुआ है।[55] योगवासिष्ठ में अक्षय नियम को नियति कहा है। वे कहते हैं कि नियति को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति को पुरुषार्थ का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थ रूप से ही नियति नियामक होती है।[56] शैवदर्शन के ग्रन्थ परमार्थसार में "मुझे यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए" इस प्रकार के नियमन का हेतु नियति कहा गया है।[57]

नियतिवाद का सम्प्रदाय आजीवक नामक सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। जैन आगमों एवं बौद्ध त्रिपिटकों में नियतिवाद की चर्चा प्राप्त होती है। बौद्ध त्रिपिटक में दीघनिकाय के प्रथम भाग में मंखलि गोशालक के मत को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- "प्राणियों के दुःख का कोई प्रत्यय या हेतु नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के प्राणी दुःखी होते हैं। प्राणियों की विशुद्धि का भी कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु या प्रत्यय के ही प्राणी विशुद्धि को प्राप्त होते हैं। न आत्मा

कुछ करती है और न पर कुछ करता है। न पुरुषकार है और न बल है, न वीर्य है, न पुरुषस्ताम है, न पुरुषपराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अवश हैं, अबल हैं, अवीर्य हैं। नियति के संग के भाव से परिणत होकर वे छह प्रकार की अभिजातियों में सुख-दुःख का संवेदन करते हैं।"[58]

जैनागम सूत्रकृतांग, भगवतीसूत्र और उपासकदशांग जैसे प्रमुख जैनागमों में नियतिवाद का निरूपण एवं निरसन हुआ है। सूत्रकृतांग (2.1.665) में नियतिवाद के सम्बन्ध में कहा गया है- "पूर्व आदि दिशाओं में रहने वाले जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना को प्राप्त करते हैं। वे नियति के कारण ही बाल, युवा और वृद्धावस्था को प्राप्त करते हैं और शरीर से पृथक् होते हैं। वे नियति के बल से ही काणे या कुब्ज होते हैं। वे नियति का आश्रय लेकर ही नाना प्रकार के सुख-दुःखों को प्राप्त करते हैं।"[59] उपासकदशांग में गोशालक के अनुयायी सकडालपुत्र की नियतिवादी मान्यता का भगवान् महावीर के द्वारा खण्डन किया गया है तथा प्रयत्न, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि के महत्त्व का स्थापन किया गया है।

जैनाचार्य सिद्धसेनसूरि ने द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिकाओं में 16 वीं द्वात्रिंशिका में नियति का विवेचन किया है। इन्होंने नियति के स्वरूप की चर्चा करने के अनन्तर सर्व सत्त्वों के स्वभाव की नियतता प्रतिपादित की है। जीव, इन्द्रिय, मन आदि के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है तथा स्वर्ग-नरक की प्राप्ति नियति से स्वीकार की है। ज्ञान को भी उन्होंने नियति के बल से स्वीकार किया है। हरिभद्रसूरि के शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवाद का उपस्थापन किया गया है। नियतिवाद के अनुसार सभी पदार्थ नियत रूप से ही उत्पन्न होते हैं। नियति के बिना मूंग का पकना भी सम्भव नहीं है। कार्य का सम्यक् निश्चय नियति से होता है। नियति के बिना कार्य में सर्वात्मकता की आपत्ति प्राप्त होती है-

अन्यथा नियतत्वेन सर्वभावः प्रसज्यते।
अन्योन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च। -शास्त्रवार्तासमुच्चय, 2.64

सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि ने नियतिवाद के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए काल एवं स्वभाव को भी नियति में ही सम्मिलित कर लिया है, जैसा कि कहा

है- ''**न च नियतिमन्तरेण स्वभावः कालो वा कश्चिद् हेतुः यतः कण्टकादयोऽपि नियत्यैव तीक्ष्णादितया नियताः समुपजायन्ते न कुण्ठादितया ।**''[60] अर्थात् नियति से भिन्न कोई स्वभाव अथवा काल हेतु नहीं है, क्योंकि कण्टकादि भी नियति से ही तीक्ष्णादि होते हैं, कुण्ठादि नहीं होते। दिगम्बर ग्रन्थ स्वयम्भूस्तोत्र, अष्टशती, गोम्मटसार एवं स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी नियति का स्वरूप विवेचित हुआ है। गोम्मटसार में कहा है-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इति वादो णियदिवादो हु ।। -गोम्मटसार, कर्मकाण्ड

अर्थात् जो जब, जिसके द्वारा, जिस प्रकार, जिसके नियम से होना होता है वह तब, उसके द्वारा, उसी प्रकार उसके होता हो तो यह नियतिवाद है। नियतिवाद में घटना की पूर्ण व्यवस्थिति सुनिश्चित है। भट्ट अकलंक ने अष्टशती में भवितव्यता से सम्बद्ध श्लोक उद्धृत किया है, जिसका आशय है कि जैसी भवितव्यता होती है व्यक्ति की वैसी बुद्धि हो जाती है, वैसा ही प्रयत्न होता है तथा सहायक भी वैसे ही मिल जाते हैं।[61]

जैनदार्शनिक जहाँ नियतिवाद को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने में निपुण हैं, वहाँ वे उसकी एकान्त कारणता का निरसन करने में भी दक्ष हैं। जैनदार्शनिकों के कतिपय तर्क द्रष्टव्य हैं-

1. सूत्रकृतांगसूत्र में नियतिवाद के निरसन में कहा गया है कि कोई सुख-दुःख पूर्वकृतकर्म जन्य होने से नियत होते हैं तथा कोई सुख-दुःख पुरुष के उद्योग, काल आदि से उत्पन्न होने से अनियत होते हैं। इसलिए एकान्त नियति को कारण मानना समुचित नहीं।[62]
2. नियतिवाद को स्वीकार करने पर शुभ क्रिया के पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए नियतिवादी विप्रतिपन्न हैं।
3. नियति को अंगीकार करने पर हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए उपदेश निरर्थक हो जाता है।
4. नियति की एकरूपता होने पर कार्यों की अनेकरूपता सम्भव नहीं हो सकती।
5. अभयदेवसूरि कहते हैं कि नियति को नित्य मानने पर उसमें कारकत्व का

अयोग होगा, क्योंकि नित्यत्व में परिवर्तनशीलता का अभाव होता है। नियति को अनित्य मानने पर वह स्वयं कार्य बन जाएगी, अतः उसकी उत्पत्ति के लिए किसी अन्य कारण की कल्पना करनी होगी।[63]

नियतिवाद के निरसन में जैनदार्शनिकों ने अनेक तर्क दिए हैं, किन्तु जैनदर्शन में काललब्धि एवं सर्वज्ञता ऐसे प्रत्यय हैं, जो जैनदर्शन में कथंचित् नियति को स्वीकृत करते हैं। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जीव काललब्धि आने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। काललब्धि से आशय है समुचित काल की प्राप्ति। उसका होना नियत होता है तभी काललब्धि होती है। इसी प्रकार सर्वज्ञता को तीनों कालों के समस्त द्रव्यों एवं उनकी पर्यायों को जानने के रूप में स्वीकार किया जाता है तो भी भावी को जानने के कारण नियतता का प्रसंग उपस्थित होता है। इस नियतता के आधार पर ही विगत शताब्दियों में जैनदर्शन में क्रमबद्धपर्याय सिद्धान्त का विकास हुआ है। सर्वज्ञता का आत्मज्ञता अर्थ स्वीकार करने पर उपर्युक्त स्थिति नहीं बनती, तथापि जैन परम्परा में नियति को कारण मानने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा- (1) कालचक्र में अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी का क्रम तथा उनमें छह आरकों का विधान। (2) 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव आदि की निश्चित मान्यता। (3) अकर्मभूमि में सदैव तथा कर्मभूमि में तीन आरों में स्त्री-पुरुष के युगलों की उत्पत्ति। (4) अनपवर्त्य आयुष्य वाले जीवों का आयुष्य की पूर्ण अवधि भोगकर मरण को प्राप्त होना। (5) पूर्वभवाश्रित सिद्धों, क्षेत्राश्रित सिद्धों, अवगाहना आश्रित सिद्धों का कथन भी कथंचित् नियति को मान्य करता है। एक समय में अधिकतम 108 जीवों के सिद्ध होने का कथन भी इसी प्रकार का है। (6) विभिन्न गतियों में जीवों की अधिकतम आयु निश्चित है।

पूर्वकृतकर्मवाद एवं जैनदर्शन में उसका स्थान

पूर्वकृतकर्मवाद एक प्रमुख सिद्धान्त है जो यह प्रतिपादित करता है कि प्राणी के द्वारा पूर्व में किए गए कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। जीव जगत् की विचित्रता में यह एक प्रमुख कारण है। प्राणी के द्वारा किए गए कर्मों का फल ईश्वर प्रदान करता है या अपने आप प्राप्त होता है, इस विषय में भारतीय दर्शनों में मतभेद है।

न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन कर्मों का फल प्रदाता ईश्वर को मानते हैं, जबकि जैन, बौद्ध आदि दर्शन इनकी फल-प्राप्ति को स्वतः व्यवस्थापित मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कर्म-सिद्धान्त को लेकर जितना चिन्तन जैनदर्शन में हुआ है, उतना किसी अन्य दर्शन में प्राप्त नहीं होता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि अष्टविध कर्मों, करण-सिद्धान्त तथा पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बंध-निर्जरा एवं मोक्ष सदृश तत्त्वों का प्रतिपादन जैनदर्शन का वैशिष्ट्य है जो कर्म-पुद्गलों के बंधन एवं विमोचन की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। पूर्वकृत कर्मों से ही दैव अथवा भाग्य का निर्माण होता है।

कर्म के साथ पुनर्जन्म का अटूट सम्बन्ध है। इसकी पुष्टि कठोपनिषद्,[64] बृहदारण्यकोपनिषद,[65] छान्दोग्योपनिषद्, पुराण-साहित्य, रामायण एवं महाभारत सदृश ग्रन्थों से भी होती है। जैन एवं बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ तो पुनर्जन्म को स्पष्ट करते ही हैं, किन्तु चार्वाकदर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन है, इसकी पुष्टि विभिन्न वाक्यों से होती है। "**कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।**"[66] "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**"[67] आदि ऐसे ही वाक्य हैं। रामायण में कहा है- "**यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते।**"[68] अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल प्राप्त होता है। भगवद्गीता में अनासक्त कर्मयोग का प्रतिपादन है, जिसके अनुसार फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म किया जाना चाहिए। "**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**" (भगवद्गीता, 2.47) वाक्य यही संदेश देता है। फलेच्छा में आसक्ति रखने वाला व्यक्ति सदा कर्मों से बंधता है।

संस्कृत-साहित्य में पूर्वकृतकर्म को दैव या भाग्य कहा गया है तथा उसके अनुसार फलप्राप्ति अंगीकार की गई है। शुक्रनीति में पूर्वजन्म कृत कर्म को भाग्य तथा इस जन्म में किए गए कर्म को पुरुषार्थ कहा है,[69] किन्तु भाग्य एवं पुरुषार्थ का दायरा इससे व्यापक है, क्योंकि इस जन्म में किया गया कर्म भी भाग्य को प्रभावित करता है। स्वप्नवासवदत्तम् में "**कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव भाग्यपंक्तिः**" तथा मेघदूत में "**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण**" आदि वाक्य भी पूर्वकृतकर्म अथवा भाग्य के स्वरूप को प्रकट करते हैं। भर्तृहरि विरचित

नीतिशतक में "**भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः**" वाक्य स्पष्ट करता है कि पूर्वतप से संचित भाग्य समय आने पर उसी प्रकार फल प्रदान करते हैं, जैसे वृक्ष समय आने पर फल प्रदान करते हैं। योगवासिष्ठ में प्रतिपादित है कि दैव से प्रबल पुरुषार्थ होता है। भारतीय दर्शनों में भी कर्म को विभिन्न रूपों में स्वीकृति मिली है। न्यायदर्शन में इसे अदृष्ट, सांख्यदर्शन में धर्माधर्म, मीमांसादर्शन में अपूर्व तथा बौद्धदर्शन में चैतसिक कहा गया है। योगदर्शन में कृष्ण, शुक्ल, शुक्लकृष्ण एवं अशुक्लकृष्ण के भेद से चार प्रकार के कर्म निर्दिष्ट हैं।[70] वैदिक परम्परा में कर्म तीन प्रकार का है- संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पूर्वजन्म में कृतकर्म संचित हैं, जिन कर्मों का फल प्रारम्भ हो गया है वे प्रारब्ध कर्म हैं तथा वर्तमान में पुरुषार्थ के रूप में जो कर्म किए जा रहे हैं वे क्रियमाण कर्म हैं।

श्वेताम्बर जैनपरम्परा में प्रज्ञापनासूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, कम्मपयडि आदि ग्रन्थों में तथा दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबंध तथा इनकी धवला, जयधवला, महाधवला टीकाओं में कर्मसिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन हुआ है। पूर्वकृतकर्मवाद जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है तथा जैनदर्शन में इसका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। जैनदर्शन कर्म को पौद्गलिक अंगीकार करता है। कर्म एवं जीव का अनादिकाल से सम्बन्ध है, किन्तु मोक्षावस्था में जीव कर्म से रहित हो जाता है। शुभाशुभ क्रिया करने पर जीव में विद्यमान कषाय से कर्म-पुद्गल जीव के साथ चिपक जाते हैं, जिसे बन्ध कहते हैं। यह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का होता है। प्रकृतिबन्ध कर्म के ज्ञानावरण आदि स्वभाव को निश्चित करता है। स्थितिबन्ध उस कर्म की फलावधि को द्योतित करता है। अनुभाग या अनुभव बन्ध उस कर्म की फलदानशक्ति की तरतमता का निर्धारण करता है तथा प्रदेशबन्ध कर्मप्रदेशसमूह को इंगित करता है। कर्मों को जैनदर्शन में आठ प्रकार का निरूपित किया गया है, यथा- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय । इनमें ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान को आवरित करता है, दर्शनावरण उसके दर्शन गुण को आवरित करता है। वेदनीय कर्म सुख-दुःख का वेदन कराता

है। मोहनीय कर्म जीव की अन्तःदृष्टि को मलिन बनाता है तथा उसके आचरण को क्रोध, मान, माया एवं लोभ से युक्त करता है। आयुष्यकर्म एक भव की जीवनावधि का निर्धारक है। नामकर्म से गति, जाति, शरीरादि की प्राप्ति होती है। गोत्रकर्म जीव के उच्च एवं नीच संस्कारों का द्योतक है । अन्तराय कर्म विघ्नरूप होता है, जो जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य गुण को बाधित करता है। जैनदर्शन में कर्म की बन्धन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति एवं निकाचना अवस्थाओं का निरूपण हुआ है।

जैनदर्शन में कर्म को पौद्गलिक किंवा मूर्त माना गया है, क्योंकि वह आत्मा से भिन्न है तथा उस मूर्तकर्म से मूर्त शरीरादि की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की साधना द्वारा जीव से मूर्तकर्म का सम्बन्ध-विच्छेद होने पर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। मुक्त होने पर भी जीव में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अव्याबाध सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुण रहते हैं तथा उस जीव अथवा आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है।

प्रश्न यह है कि जैन दर्शन कर्म-सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन करके भी कार्य की सिद्धि में उसकी एकान्त कारणता को अंगीकार क्यों नहीं करता? इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि जैन दर्शन व्यापकदृष्टि को लिए हुए है, अतः वह पुरुषार्थ को भी उतना ही महत्त्व देता है, जितना पूर्वकृत कर्म को । बल्कि नूतन कर्मों की रचना वर्तमान पुरुषार्थ से ही होती है। पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति एवं फलदानशक्ति में परिवर्तन को भी जैनदर्शन अंगीकार करता है। पुरुषार्थ के साथ वह काल, स्वभावादि को भी महत्त्व देता है।

पूर्वकृतकर्मवाद जैनदर्शन की प्रमुख विशेषता है, फिर भी जैनदार्शनिक पूर्वकृतकर्मवाद को ही एक मात्र कारण मानने का निरसन करते हैं तथा काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि की कारणता को भी महत्त्व देते हैं।

पुरुषवाद एवं पुरुषकार(पुरुषार्थ): जैनदर्शन में इनका स्थान

पंच कारणसमवाय में जैनदार्शनिक पंचम कारण के रूप में पुरुषार्थ/पुरुषक्रिया को महत्त्व देते हैं । वस्तुतः पुरुषार्थ/पुरुषक्रिया श्रमण परम्परा का प्रमुख वैशिष्ट्य है, जिसका जैनदर्शन में भी अप्रतिम स्थान है। जैनदर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है,

जिसमें जीव ही अपने कर्मफल के लिए उत्तरदायी होता है। वह ही अपने समस्त बंधनों से मुक्त होने का सामर्थ्य रखता है तथा वह ही अपने कार्यों से बंधन को सुदृढ़ बनाता है। अहिंसा, संयम एवं तप का निरूपण जैनदर्शन में जीव के स्वातन्त्र्य एवं पराक्रम का द्योतक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप त्रिरत्न जैनदर्शन में पुरुषकार/पुरुषार्थ के महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं।

जैनदर्शन जहाँ पुरुषकार/पुरुषार्थ को प्रमुख स्थान देता है वहाँ वह पुरुषवाद का निरसन करता है। पुरुषवाद के अनुसार जगदुत्पत्ति में एक पुरुष, ब्रह्म या ईश्वर ही कारण है। जैनदर्शन ऐसे पुरुषवाद को कतई स्वीकार नहीं करता । वह तो जगत् को अनादि एवं अनन्त मानता है।

सिद्धसेनसूरि ने काल, स्वभाव आदि पंचकारण समवाय का प्रतिपादन करते समय जो "**कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता**" आदि गाथा दी है उसमें 'पुरिसे' शब्द का प्रयोग किया है। 'पुरिसे' के दो अर्थ हो सकते हैं- एक वह परम पुरुष जो समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है तथा दूसरे अर्थ के अनुसार वह पुरुष जिसे चेतन या जीव कहा जाता है। जैनदर्शन के सन्दर्भ में द्वितीय अर्थ ग्राह्य है, प्रथम नहीं, क्योंकि जैनदर्शन प्रथम अर्थ जगत्स्रष्टा पुरुष का तो निरसन करता है। यही कारण है कि जैनदार्शनिक हरिभद्रसूरि ने 'पुरिसे' के स्थान पर बीजविंशिका में 'पुरिसकिरियाओ' शब्द का प्रयोग किया है।[71] पुरिसकिरियाओ का अर्थ है- पुरुष अर्थात् जीव की क्रिया । पुरुष या जीव की इस क्रिया को पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ भी कहा जा सकता है। जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय में पुरुषकार, पुरुषार्थ या पुरुषक्रिया शब्द का प्रयोग ही अभीष्ट है। उत्तरवर्ती कुछ आचार्यों ने यही अर्थ ग्रहण किया है।

पुरुषवाद कारण-कार्य व्यवस्था का एक सिद्धान्त रहा है, जिसकी चर्चा वेदों में भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद में इस पुरुष का वर्णन '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्**' (ऋग्वेद 10.4.90.1) आदि शब्दों में हुआ है, जिसका तात्पर्य है कि वह पुरुष सहस्र शिरों वाला, सहस्र नेत्रों वाला, सहस्र पैरों वाला है, वह भूमि को चारों ओर से घेरकर स्थित है। पुरुष की महिमा में कहा है-

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। -ऋग्वेद 10.4.90.2

अर्थात् जो कुछ विद्यमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो उत्पन्न होने वाला है तथा जो अमृतत्व का ईश है और अन्न से आविर्भाव को प्राप्त होता है वह पुरुष ही है। इस पुरुषवाद का वर्णन ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। वहाँ कहीं पुरुष एवं कहीं ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। छान्दोग्योनिषद् में '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'[72] वाक्य में उसे ब्रह्म कहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली, अनुवाक् 1 में कहा है- "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।**" जिससे ये प्राणी उत्पन्न होकर जिसके साथ जीते हैं तथा जिसमें मिल जाते हैं, उसे जानो, वह ब्रह्म है।"

इस प्रकार यह पुरुषवाद ही ब्रह्मवाद के रूप में वर्णित है। इस पुरुषवाद का ही ईश्वरवाद के रूप में भी विकास हुआ है। पुराण, महाभारत, रामायण एवं मनुस्मृति ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। यह विशेष बात है कि उस जगत्स्रष्टा पुरुषवाद का वर्णन पूर्वपक्ष के रूप में जैन ग्रन्थों में भी हुआ है। मल्लवादी क्षमाश्रमण (5वीं शती) के द्वादशारनयचक्र में उस पुरुष को सर्वात्मक एवं सर्वज्ञ प्रतिपादित करने के साथ उसकी चार अवस्थाएं बताई गई हैं, यथा- जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तूर्य।[73] इन चार अवस्थाओं का वर्णन माण्डूक्योपनिषद् में भी प्राप्त होता है। वहाँ जगत् के साथ पुरुष का ऐक्य स्वीकार किया गया है। जिनभद्रगणि (6-7वीं शती) ने विशेषावश्यकभाष्य[74] में एवं अभयदेवसूरि (10-11 वीं शती) ने सन्मतितर्कटीका में पुरुष के स्वरूप को उपस्थापित किया है। अभयदेवसूरि ने पुरुषवाद के अनुसार समस्त लोक की स्थिति, सर्ग और प्रलय का हेतु उस पुरुष को बताया है।[75]

मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि एवं अभयदेवसूरि ने अपनी कृतियों में पुरुषवाद का आमूल उत्पाटन किया है। मल्लवादी के अनुसार पुरुष की अद्वैतता, सर्वगतता एवं सर्वज्ञता सम्भव नहीं है। उन्होंने पुरुष की जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं का भी निरसन किया है।[76] अभयदेवसूरि ने विभिन्न तर्क देते हुए कहा

है कि बिना उद्देश्य के एवं अनुकम्पा से पुरुष के द्वारा सृष्टि की रचना करना उचित नहीं, क्योंकि तब दुःखी प्राणियों की रचना नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि वह न युगपत् जगत् का निर्माण कर सकता है, न ही क्रम से, क्योंकि दोनों में दोष आते हैं।[77]

ब्रह्मवाद का निरूपण एवं निरसन प्रभाचन्द्र (11वीं शती) ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में विस्तार से किया है। ब्रह्मवाद के अनुसार ब्रह्म ही समस्त जगत् के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि पदार्थों का उपादान कारण होता है। मायोपहित ब्रह्म ही जगत् का कारण है। प्रभाचन्द्र ने ब्रह्मवाद की अद्वैतता एवं जगत्कारणत्व का सबल खण्डन किया है।[78]

ईश्वरवाद मुख्यतः न्याय-वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त है। वेदान्त में भी इसे अज्ञान की समष्टि से आच्छन्न ब्रह्म के रूप में स्वीकृति दी गई है। ईश्वरवाद की सिद्धि में न्यायदार्शनिक उदयन ने न्यायकुसुमांजलि ग्रन्थ में विभिन्न हेतु दिए हैं, किन्तु उनका निरसन अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेणसूरि ने अपनी कृतियों में सबल रूप से किया है। मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में स्पष्टतः सिद्ध किया है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है, क्योंकि एक ईश्वर द्वारा जगत् का निर्माण सम्भव नहीं। वह न सर्वज्ञ है और न ही जगत् के कार्य में स्वतन्त्र।[79]

पुरुष का जीव अर्थ ग्रहण करके पुरुषकार, पुरुषक्रिया अथवा पुरुषार्थ की स्थापना को जैनदर्शन में पूर्ण स्वीकृति है, क्योंकि जैनदर्शन श्रमणसंस्कृति का दर्शन होने के कारण मूलतः पुरुषार्थवादी है। यहाँ उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पराक्रम आदि को महत्त्व दिया गया है।[80] जैनदर्शन का मन्तव्य है कि सुख-दुःख का कर्ता आत्मा स्वयं है। दुःख दूसरे के द्वारा नहीं, स्वयं के द्वारा उत्पन्न हैं- **अत्तकडे दुक्खे नो परकडे**'। पुरुषार्थ के चार प्रकारों की दृष्टि से कहें तो जैनदर्शन में धर्म पुरुषार्थ का सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि वही मोक्ष का साधन बनता है। अर्थ एवं काम पुरुषार्थ को यहाँ त्याज्य कहा गया है। यदि उनका सेवन भी किया जाए तो धर्म पुरुषार्थ पूर्वक सेवन किया जाना चाहिए। जैनदर्शन अहिंसा, संयम एवं तप में पराक्रम करने की शिक्षा देता है। संवर एवं निर्जरा की साधना को ही जैनदर्शन में महत्त्व दिया गया

है, वही मोक्ष में सहायक होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के रूप में इसे त्रिरत्न कहा जाता है। जैनदर्शन में समता की साधना हो या अप्रमत्तता की, अहिंसा का आचरण हो या अपरिग्रह का, परीषजय का प्रसंग हो या आभ्यन्तर तप के आराधन का, स्वाध्याय का क्रम हो या ध्यान का, सर्वत्र पुरुषकार या पुरुषार्थ की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

पुरुषार्थवादी दर्शन होकर भी इसमें काल, स्वभाव, नियति एवं पूर्वकृतकर्म की कारणता को भी महत्त्व दिया गया, इसलिए इसे एकान्त पुरुषार्थवादी भी नहीं कहा जा सकता है। हाँ, पुरुषार्थ की प्रधानता के साथ अन्य कारणों को भी यथोचित महत्त्व दिया जा सकता है। इसीलिए इसमें पंचकारणों के समवाय को अंगीकार किया गया है। काल, स्वभाव, नियति आदि पाँच कारणों में कभी कोई प्रधान होता है तो कभी कोई गौण। कभी जीव की प्रवृत्ति ही न हो तो अजीव से जन्य कार्योत्पत्ति में पुरुषार्थ एवं पूर्वकृत की कारणता का होना आवश्यक नहीं होता।

कालादि में भेद-व्यवस्था

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषार्थ में सूक्ष्मतया क्या भेद है, इसे समझना आवश्यक है। काल की कारणता में वस्तु के स्वभाव की कारणता का समावेश नहीं होता, इसलिए काल को स्वभाव से भिन्न मानना चाहिए। मूंग की फली जब खेत में पकती है तो उसमें काल भी कारण है एवं स्वभाव भी, किन्तु कालवादी मात्र काल को कारण कहेगा तथा स्वभाववादी मात्र स्वभाव को कारण कहेगा। स्वभाववादी मूंग को आंच पर पकाते समय कहेगा कि जो मूंग पकने के स्वभाव वाले हैं वे ही पकते हैं एवं कडु मूंग लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं पकते। नियति में काल एवं स्वभाव की अपेक्षा रहती है, किन्तु नियतिवाद के अनुसार नियति ही कारण है, काल एवं स्वभाव नहीं। नियतिवाद का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें समस्त कारण समाहित हैं। नियतिवाद जीव एवं अजीव के सब कार्यों एवं अवस्थाओं को नियतिजन्य मानता है । जो भी भवितव्य है वह सुनिश्चित है, वह होकर ही रहेगा। नियतिवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें काल, स्वभाव, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषार्थ सबका समावेश हो जाता है, यह हमारी समस्याओं का मनोवैज्ञानिक उत्तर तो हो सकता है, किन्तु इससे आत्म-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त

कुण्ठित होता है। पूर्वकृतकर्म का जो सिद्धान्त है उसके अनुसार जीव को अपने द्वारा कृत कर्मों की फलप्राप्ति होती है। इसे नियति से भिन्न समझना चाहिए। पूर्वकृतकर्म पुरुषार्थ से निर्मित वे कर्म हैं जिनका फल यथावसर प्राप्त होने वाला है। इन्हें दैव या भाग्य भी कहा गया है। नियति इससे भिन्न है, क्योंकि वह जीव एवं अजीव दोनों पर लागू होती है जबकि पूर्वकृतकर्म का सम्बन्ध जीव से ही है। पूर्वकृतकर्म जहाँ पुरुषार्थ पर आधृत है वहाँ नियति के सम्बन्ध में ऐसा निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें कर्मसिद्धान्त एवं पुरुषार्थ को महत्त्व नहीं दिया गया है। पुरुषवाद का सिद्धान्त सब कुछ जगत्स्रष्टा एवं संचालक परमपुरुष के अधीन मानता है। उससे ही जगत् उत्पन्न है तथा वही प्रत्येक कार्य को उत्पन्न करता है, उसी में सब विलीन होता है। यह पुरुषवाद ही ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद के रूप में विकसित हुआ। पुरुष का अर्थ जब जीव करते हैं तो जीव की क्रिया अथवा पुरुषकार/पुरुषार्थ का स्वरूप उभरकर आता है, जो कार्य की उत्पत्ति में एक महत्त्वपूर्ण कारण है । जैनदर्शन को इसकी कारणता अभीष्ट है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैनदर्शन के कारण-कार्य सिद्धान्त के ढांचे में पंचकारण-समवाय का सिद्धान्त सर्वथा उपयुक्त है। यह जैनदर्शन की अनेकान्तवादी, नयवादी एवं समन्वयवादी दृष्टि का परिचायक है । इस सिद्धान्त का प्रारम्भ जहाँ सिद्धसेनसूरि से हुआ है वहाँ हरिभद्रसूरि, मलयगिरि, शीलांकाचार्य अभयदेवसूरि, यशोविजय आदि दार्शनिकों ने इसे पुष्ट किया है। जैनदर्शन में पहले से स्वीकृत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव की कारणता से इस पंचकारणसमवाय का कोई विरोध नहीं है, अपितु इन पंच कारणों का द्रव्य, क्षेत्र आदि में समावेश किया जा सकता है। उदाहरणार्थ काल को काल में, स्वभाव एवं पूर्वकृत कर्म को भाव में, नियति को भव एवं क्षेत्र में, पुरुषार्थ को जीवद्रव्य एवं भाव (जीव के भाव) में समाहित किया जा सकता है।

सन्दर्भ :-

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 19, उद्देशक 9, प्रज्ञापनासूत्र पद 23, सूत्रकृतांगनिर्युक्ति 4, आदि के आधार पर कथन । कहीं भव के अलावा चार का ही कथन है तो कहीं भव के साथ पाँच करणों या कारणों का ।

2. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च । -तत्त्वार्थसूत्र, 2.1
3. छव्विधे भावे पण्णत्ते ओदइए, उपसमिते, खतिते, खाओवसमिते, परिणामिते, सन्निवाइए । -अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, सूत्र 233
4. तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ।- तत्त्वार्थसूत्र, 1.22
5. शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.19
6. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 13, उद्देशक 4
7. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 13, उद्देशक 4
8. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
   पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ ।।- समयसार, गाथा 80
9. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 8, उद्देशक 1
10. विशेषावश्यकभाष्य, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, द्वितीयभाग, पृ. 434
11. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2112-2118
12. (i) कार्यकारणभावश्चार्थक्रियासिद्धौ सिध्येत् ।- षड्दर्शनसमुच्चय, वृत्ति, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 389
    (ii) अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।
    क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा हि लक्षणतया मता ।- भट्ट अकलंक, लघीयस्त्रय, 4
13. (i) मल्लधारी हेमचन्द्र, विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति, गाथा 2103 एवं 2911
    (ii) स्याद्वादरत्नाकर, भारतीय बुक कार्पोरेशन दिल्ली, पृ. 803
14. जैनदर्शन में सांख्य के सत्कार्यवाद, न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कारणवाद एवं बौद्धों के असत्कारण का निरसन कर सदसत्कार्यवाद एवं सदसत्कारणवाद की सिद्धि की गई है ।
15. अष्टसहस्री, पृ. 210, बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, गाथा 21, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 217
16. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-1, पृ. 416-417
17. विस्तृत चर्चा हेतु, द्रष्टव्य, डॉ. श्वेता जैन, जैनदर्शन में कारण- कार्य व्यवस्थाः एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 2008, अध्याय सप्तम, पृ. 567-574
18. कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
    स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ।।- अथर्ववेद, काण्ड 19, अध्याय 6, सूक्त 43,मंत्र 10

19. कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् ।- प्रशस्तपादभाष्य, द्रव्यनिरूपण
20. दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसंगः ।- न्यायसूत्र 2.1.23
21. दिक्कालावकाशादिभ्यः ।- सांख्यप्रवचनभाष्य, द्वितीय अध्याय, सूत्र 12
22. योगभाष्य, योगसूत्र, 3.52 पर
23. नास्माकं वैशेषिकादिवदप्रत्यक्षः कालः किन्तु प्रत्यक्ष एव, अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इत्यनुभवात् ।- शास्त्रदीपिका, 5.1.5.5
24. अतीन्द्रियत्वेन कार्यानुमेयत्वेन च ।- प्रस्थानरत्नाकर, पृ. 202
25. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, कारिका 2 पर हेलाराजकृत प्रकाश व्याख्या ।
26. बौद्धानां मते क्षणपदेन घटादिरेव पदार्थो व्यवह्रियते, न तु तदितिरिक्तः कश्चित् क्षणो नाम कालोऽस्ति क्षणिकः पदार्थ इति व्यवहारस्तु भेदकल्पनया ।- ब्रह्मविद्याभरण, द्वितीय, 2.20
27. वर्तनापरिणामक्रियापरत्वात्वे च कालस्य ।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.22
28. तत्त्वार्थभाष्य, 5.22
29. तत्त्वार्थभाष्य, 5.22
30. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, 589 एवं द्रव्यसंग्रहवृत्ति, 22
31. द्रष्टव्य, अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 3, पृष्ठ 493
32. द्रष्टव्य, सन्मतितर्क 3.53 पर अभदेवसूरिकृत तत्त्वबोधविधायिनी टीका
33. स्वभावमेतं परिणाममेके प्राहुर्यदृच्छां नियतिं तथैके ।
    स्यात् पौरुषी प्रकृतिस्तदित्थं स्वभाववादस्य गतिश्चतुर्धा ।।- अपरवाद, मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, जोधपुर, लोकायतवाद अधिकरण, श्लोक 6, पृ. 2
34. शांकरभाष्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.2
35. हरिवंशपुराण, द्वितीयखण्ड, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली, पृ. 189, श्लोक 13
36. न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
    प्रकृतेरन्यथा भावो न कथंचिद् भविष्यति ।।- माण्डूक्यकारिका, 3.20
37. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय 232, श्लोक 19
38. कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ।
    स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ।।- बुद्धचरित, 9.62
39. यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः ।- हितोपदेश, विग्रह, श्लोक 60
40. केन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
    स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम् ।।- माठरवृत्ति, सांख्यकारिका, 61

41. न्यायसूत्र, अध्याय 4, सूत्र 22-24
42. वाक्यपदीय, वाक्यकाण्ड, कारिका, 149-150
43. तत्त्वसंग्रह, श्लोक 111-112
44. प्रश्नव्याकरण, मृषावाद प्रकरण, ज्ञानविमलसूरिटीका, शारदा मुद्रणालय, रतनपोल, अहमदाबाद, वि. संवत् 1993, अधर्मद्वारे, मृषावादिनः, सूत्र 7
45. (i) नन्दीसूत्र, मलयगिरिकृत, अवचूरि, पृ. 179
    (ii) षड्दर्शनसमुच्चय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ. 19-20 पर भी उद्धृत।
46. द्रष्टव्य, शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तबक, 2, श्लोक 60
47. पूर्वपूर्वोपादानपरिणामानामेवोत्तरोतरोपादेयपरिणामहेतुत्वात् ।- शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका, स्तबक 2, श्लोक 60
48. द्वादशारनयचक्र, भाग 1, पृ. 223-224
49. द्रष्टव्य, सूत्रकृतांग, 1.1.1 के श्लोक 12 की टीका।
50. द्वादशारनयचक्र, भाग 1, पृ. 233
51. धर्मसंग्रहणि, गाथा 549-552
52. हरिवंशपुराण, 61.77 एवं 62.44
53. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.14 एवं द्रष्टव्य 6.9 से पूर्व गद्य।
54. हितोपदेश, संधि, श्लोक 10
55. नियतिकृतनियमरहितां - काव्यप्रकाश, उल्लास 1, श्लोक 1
56. योगवासिष्ठ, 3.62.27
57. नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यमिति नियमनहेतुः ।- परमार्थसार की भूमिका, पृ. 17
58. दीघनिकाय, प्रथम भाग (विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी 1998) सामञ्ञफलसुत्तं, मक्खलिगोसालवाद का हिन्दी अभिप्राय।
59. द्रष्टव्य, सूत्रकृतांग, 2.1.665
60. सन्मतितर्क 3.53 पर अभयदेवकृत टीका।
61. तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
    सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ।।- अष्टशती में उद्धृत
62. एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो।
    नियंयानियं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ।।- सूत्रकृतांग 1.1.2.4.
63. सन्मतितर्क 3.53 पर अभयदेवकृत टीका

64. सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।- कठोपनिषद्, 1.1.6
65. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति ।- बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.2.13
66. संन्यासोपनिषद्, 2.98
67. ब्रह्मबन्दिूपनिषद्, 2
68. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग 15, श्लोक 23
69. दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
पूर्वजन्मकृतं कर्मेहार्जितं तद् द्विधाकृतम् ।।- शुक्रनीति, 1.49
70. योगसूत्र, 4.7-8
71. तह भव्वत्तं जं कालनियइपुव्वकयपुरिसकिरियाओ ।
तह भव्वत्तं जं कालनियइपुव्वकयपुरिसकिरियाओ ।
अक्खिवइ तह सहावं ता तदधीणं तयं पि भवे ।।- बीजविंशिका, 9
72. छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय 3, खण्ड 14, मन्त्र 1
73. द्वादशारनयचक्र, भाग 1, पृ. 179-182
74. विशेषावश्यकभाष्य एवं मल्लधारी हेमचन्द्र की वृत्ति, गाथा 1643
75. सन्मतितर्कटीका (तत्त्वबोधविधायिनी), पृ. 715
76. द्वादशारनयचक्र, भाग 1 पृ. 246-248
77. सन्मतितर्कटीका (तत्त्वबोधविधायिनी), पृ. 715
78. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम भाग, पृ. 175-190
79. स्याद्वादमंजरी, श्लोक 5 की टीका ।
80. उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे, तं चेव जाव अफासे पन्नत्ते ।
-व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 12, उद्देशक 5, सूत्र 11



अनेकान्तवाद का स्वरूप और उसके तार्किक आधार

भारतीय दर्शन में सत् एवं वस्तु पर्यायार्थक हैं। सभी दर्शन सत् का अपनी-अपनी दृष्टि से विवेचन करते हैं। स्वरूपतः सत् तो जैसा है, वैसा है। हमारे जानने की दृष्टि एवं कहने की प्रक्रिया में ही भेद है, इसलिए उस सत् या वस्तु की व्याख्या विभिन्न दर्शन भिन्न-भिन्न रीति से करते हैं। यह तथ्य वेद में "एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति" वाक्य से अभिव्यक्त हुआ है। अब किस दृष्टि को सम्यक् कहें एवं किसे मिथ्या? यह कठिन प्रश्न खड़ा होता है। अतः सभी दर्शन अपनी दृष्टि से किए गए विवेचन को सम्यक् एवं दूसरे दर्शन के विवेचन को दोषपूर्ण ठहराते हैं। वे यदि अनेकान्त की व्यापकदृष्टि को स्वीकार करें तो अन्य दर्शनों की विवेचना में भी किसी नय से सत्यता जानी जा सकती है। यह कार्य जैन दार्शनिकों ने किया है। वे किसी नय से अन्य दर्शनों में भी सत्यता की अन्वेषणा करते हैं तथा समग्रदृष्टि से जब विचार करते हैं तो उसमें रही हुई एकान्तदृष्टि की कमियों को भी उजागर करते हैं।

जैनदर्शन वस्तु को अनेकधर्मात्मक एवं अनन्तधर्मात्मक स्वीकार करता है। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक की दृष्टि से वह उसे त्रयात्मक भी मानता है। वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक स्वीकार करने के कारण वह उसमें नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, अभिलाप्य-अनभिलाप्य, भाव-अभाव आदि विरोधी धर्मों को भी अंगीकार करता है। विरोधी धर्मों के समन्वय के लिए जैन दार्शनिकों के पास द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों की दृष्टि है, जिससे दार्शनिक स्तर पर समाधान प्राप्त होता है तथा व्यवहार जगत् में भी कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। सत् को मात्र नित्य मानने वाले वेदान्तदर्शन तथा सत् को मात्र क्षणिक मानने वाले बौद्धदर्शन को संव्यवहार सत्य की विवेचना अलग से करनी पड़ती है, किन्तु अनेकान्तवाद में वस्तु को द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से नित्य एवं पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य मानने वाले जैन दर्शन को व्यावहारिक जगत् में कोई बाधा नहीं आती है। अनेकान्तवाद व्यवहार एवं परमार्थ दोनों की व्याख्या कर देता है। वह वस्तु की नित्यता एवं अनित्यता दोनों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विवेचित करता है।

वस्तु की अनेकधर्मात्मकता

वस्तु अनेकधर्मात्मक है- यह जैन दर्शन की मान्यता के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इसका अस्तित्व भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में उपलब्ध है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति को सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका अर्थात् त्रिगुणात्मिका कहा गया है। मीमांसादर्शन में **'तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्'** वाक्य के द्वारा वस्तु की त्रयात्मकता अंगीकार की गई है, जो जैनदार्शनिक समन्तभद्र के वाक्य **''तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्''** से पूरा मेल खाती है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में प्रतिपादित 'अपर सामान्य' में पृथिवीत्व, घटत्व आदि ऐसे उदाहरण हैं जिनमें सामान्य एवं विशेष (भेद) दोनों पाये जाते हैं। बौद्धदर्शन के द्वारा मान्य सत् में क्षणिकत्व, अर्थक्रियाकारित्व, प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म के लक्षण का प्रतिपादन करते हुए उसे सत्, चिद् एवं आनन्दमय प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म भी अनेक धर्मात्मक है।

इस प्रकार वस्तु की अनेकधर्मात्मकता प्रायः सभी दर्शनों को मान्य है। अनेकधर्मात्मकता ही अनेकान्तात्मकता है। 'अनेकान्त' में 'अन्त' शब्द धर्म का वाचक है। जो सिद्धान्त वस्तु में अनेक धर्मों को स्वीकार करता है वह अनेकान्तवाद है। इस दृष्टि से प्रायः सभी दर्शन अनेकान्तवादी हैं।

अनेकान्तवाद और अनैकान्तिक हेत्वाभास में भेद

अनेकान्तवाद में रहे 'अनेकान्त' का साम्य कुछ विद्वान् 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' शब्द से करने लगते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। अनैकान्तिक हेत्वाभास दो स्थितियों में होते हैं- 1. जब हेतु पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में रहे तो उसे साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है, जैसे शब्द नित्य है प्रमेय होने से, व्योम की तरह। यहाँ प्रमेयत्व हेतु सपक्ष नित्य एवं विपक्ष अनित्य दोनों में रहता है अतः साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। 2. जो सपक्ष एवं विपक्ष दोनों से व्यावृत्त होकर पक्ष में ही रहता है वह असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। उदाहरणार्थ-'पृथ्वी नित्य है, गन्धवती होने से। गन्धवत्व हेतु मात्र पृथ्वी में रहता है उसका कोई सपक्ष एवं विपक्ष नहीं है। यहां पर अवधारणीय है कि अनेकान्तवाद

कोई अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं है। यह वस्तु के स्वरूप का नियामक सिद्धान्त है। यह वस्तु में रही नित्यता एवं अनित्यता दोनों को द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों से स्पष्ट करता है। इसके अनुसार प्रमेयमात्र नित्यानित्य है। इसे समझने के लिए केवलान्वयी हेतु का प्रयोग किया जा सकता है, जिसमें विपक्ष होता ही नहीं है।

वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता एवं त्रयात्मकता

यहाँ ध्यातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने वस्तु में अनेकधर्मात्मकता ही नहीं अनन्तधर्मात्मकता भी स्वीकार की है। हेमचन्द्राचार्य अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में कहते हैं-

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।[2]

मल्लिषेणसूरि ने वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता त्रिकालविषयत्व के कारण स्वीकार की है-''**अनन्तास्त्रिकालविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः। त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम्**''[3] अर्थात् त्रिकाल को विषय करने के कारण सहभावी धर्म और क्रमभावी पर्याय वाली वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है।

आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने 'घटमौलिसुवर्णार्थी' एवं 'पयोव्रतो न दध्यत्ति' कारिकाओं के माध्यम से वस्तु को त्रयात्मक कहा(तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्) तो प्रश्न उठा कि वस्तु के त्रयात्मक होने पर उसमें अनन्तात्मकता कैसे सिद्ध होगी? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य विद्यानन्द ने इन कारिकाओं पर टीका करते हुए अष्टसहस्री में पररूप से व्यावृत्ति के आधार पर दिया है। वे कहते हैं-परपदार्थों के स्वरूप से व्यावृत्ति भी वस्तु का स्वभाव है। परपदार्थ अनन्त हैं, अतः वस्तु का स्वभाव अनन्तधर्मात्मक सिद्ध है-''**न चैवमनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येक-मुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमानविनश्यत्तिष्ठद्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्योऽर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोऽनन्तभेदोपपत्तेः पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावसाधनात्, तदवस्तुस्वभावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात्**'' अर्थात् वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में कोई विरोध नहीं आता। प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के कारण उत्पन्न होती हुई, विनाश को प्राप्त होती हुई एवं ध्रुव रहती हुई कालत्रय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न है, अतः विवक्षित वस्तु में परमार्थतः

अनन्तभेद उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि पररूप से व्यावृत्ति भी वस्तु के स्वभाव को सिद्ध करती है। यदि वस्तु का स्वभाव पर रूप से व्यावृत्ति को न माना जाए तो समस्त अर्थों के स्वरूप में संकरता का दोष आ जाएगा। तात्पर्य यह है कि उत्पद्यमान, विनश्यमान पर्याय वाली ध्रुव वस्तु में अन्य अनन्त पर वस्तुओं से व्यावृत्ति होती है। वह व्यावृत्ति भी उस वस्तु के स्वभाव को ही स्पष्ट करती है।

वस्तु की अनेकधर्मात्मकता और अनन्तधर्मात्मकता अनेकान्तवाद के आधार रहे हैं। अनेकान्तवाद कोई वाद नहीं, अपितु एक दर्शन है जो वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन करता है। आर्षवाक्य-'**उप्पनेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा**' के आधार पर वाचकमुख्य उमास्वाति ने वस्तु को उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक प्रतिपादित किया-**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**। इसी के आधार पर समन्तभद्र ने उसे त्रयात्मक सिद्ध किया -

''घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्।।''
पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात् वस्तु त्रयात्मकम्।।[5]

स्वर्ण के घट का, स्वर्ण के मुकुट का और केवल स्वर्ण का इच्छुक व्यक्ति क्रमशः स्वर्ण-घट का नाश होने पर शोक को, स्वर्ण मुकुट उत्पन्न होने पर हर्ष को और दोनों ही अवस्थाओं में स्वर्ण की स्थिति होने से माध्यस्थ्य भाव को प्राप्त होता है। यह सब सहेतुक होता है। इस उदाहरण से वस्तु की त्रयात्मकता सिद्ध होती है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण दिया गया- दूध सेवन करने का व्रतधारी दही नहीं खाता तथा दही सेवन का व्रतधारी दूध नहीं पीता। जो गोरस का त्यागी होता है वह दोनों का सेवन नहीं करता, इसलिए वस्तु त्रयात्मक है। त्रयात्मकता में उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य का सिद्धान्त समाहित है। स्वर्णघट का व्यय एवं स्वर्ण मुकुट का उत्पाद तथा स्वर्णद्रव्य का ध्रौव्य त्रयात्मकता को सिद्ध करता है तथा दूध का व्यय, दही का उत्पाद एवं गोरस की स्थिरता भी त्रयात्मकता को सिद्ध करती है।

द्रव्यपर्यायात्मकता

सिद्धसेन दिवाकर ने ध्रौव्य को द्रव्य एवं उत्पादव्यय को पर्याय मानकर वस्तु का

द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप से वर्णन किया है। वे पर्याय से रहित द्रव्य एवं द्रव्य से रहित पर्याय की संभावना का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं- **दव्वं पज्जयविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि।।**[6] अर्थात् पर्याय से रहित द्रव्य एवं द्रव्य से रहित पर्याय नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को ही प्रमाण का विषय प्रतिपादित किया है -

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु।[7]

द्रव्य की व्युत्पत्ति करते हुए प्रमाणमीमांसा 1.1.30 के उपर्युक्त सूत्र की स्वोपज्ञवृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है-**'द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौव्यलक्षणम्'।**[8] जो विभिन्न पर्यायों को प्राप्त करता रहता है, वह द्रव्य है । यह ध्रौव्यस्वरूप वाला है । यहाँ इसे वे ऊर्ध्वतासामान्य भी कहते हैं- **पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यमूर्ध्वतासामान्यमिति यावत्।।**[9] पूर्व पर्याय के नष्ट होने एवं उत्तर पर्याय के उत्पन्न होने पर भी, जिसके कारण उस वस्तु में एकाकार (अन्वय) की प्रतीति होती है उस द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहा गया है। पर्याय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है-**''परियन्त्युत्पादविनाशधर्म्माणो भवन्तीति पर्याया विवर्ताः''**[10] जो उत्पाद-विनाश धर्म वाले हैं वे पर्याय हैं।

विरोधी धर्मों का समन्वय

वस्तु के द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप के आधार पर ही उसे नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक, सामान्यविशेषात्मक आदि भी कहा गया है। द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु में नित्यता, एकता, अभेदता एवं सामान्य पाया जाता है तथा पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य, अनेक, भिन्न एवं विशेष होती है । इस प्रकार जैन दर्शन में वस्तु को विरोधी गुणों या धर्मों से भी युक्त स्वीकार किया गया है । अनेकान्तदृष्टि वस्तु में इन विरोधी गुणों को स्वीकार करके भी अपेक्षा विशेष के द्वारा विरोध का परिहार कर देती है, यह इस दृष्टि का वैशिष्ट्य है ।

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का सिद्धान्त

पूर्व चर्चा के अनुसार अनन्तधर्मात्मकता अन्य दर्शनों को भी मान्य है, किन्तु अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त बन गया । इसके अनेक कारण हो सकते हैं। पण्डित सुखलाल जी के शब्दों में ''सामान्य रूप से दार्शनिक क्षेत्र में यह

मान्यता रूढ़ है कि जैन दर्शन ही अनेकान्तवादी है, अतएव जैसे जैनेतर दार्शनिक अपने दर्शनों में लभ्य अनेकान्त विचार की ओर दृष्टि दिए बिना ही अनेकान्त को मात्र जैनवाद समझकर उसका खण्डन करते हैं वैसे ही जैनाचार्य भी उस वाद को सिर्फ अपना ही मानकर उस खण्डन का पूरे जोर से जवाब देते हुए अनेकान्त का विविध रूप से स्थापन करते आए हैं, जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य में नय, सप्तभंगी, निक्षेप, अनेकान्त आदि की समर्थक एक बड़ी स्वतन्त्र ग्रन्थराशि बन गई है।"[11] ऐसा प्रतीत होता है कि जब एकान्तवाद का प्राबल्य हुआ तब जैन दार्शनिकों द्वारा तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को आधार बनाकर अनेकान्तवाद की तार्किक रूप से प्रतिष्ठा की गई। अनेकान्तात्मकता को वस्तु की व्याख्या का आधार बनाने के कारण जैन दर्शन का यह प्रमुख सिद्धान्त बना तथा अन्य दर्शन अपने यहाँ किसी रूप में अनन्त धर्मात्मकता स्वीकृत होने पर भी जैनों का खण्डन करने लगे। धर्मकीर्ति[11], शंकराचार्य[12], शान्तरक्षित[13], अर्चट[14], आदि इसके उदाहरण हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में अनेकान्तवाद का निरसन करने का प्रयास किया है, जिसका उत्तर अकंलक, विद्यानन्द आदि जैनाचार्यों ने अपनी कृतियों में दिया है।

अनेकान्तवाद की स्थापना का आधार

जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद की स्थापना का आधार मूलतः जैन आगमों को ही बनाया है। लोक शाश्वत है या अशाश्वत? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा-लोक स्यात् शाश्वत है, स्यात् अशाश्वत है। त्रिकाल में एक भी समय ऐसा नहीं मिल सकता जब लोक न हो, अतः लोक शाश्वत है। परन्तु लोक सदा एक सा नहीं रहता, कालक्रम से उसमें उन्नति, अवनति होती रहती है, अतः वह अनित्य और परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत भी है।[15] इसी प्रकार लोक सान्त है या अनन्त? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने परिव्राजक स्कन्धक से कहा-द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है और सान्त है, क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असंख्यात कोटाकोटि योजन लम्बा-चौड़ा और असंख्यात कोटाकोटि योजन परिधि वाला है, अतः सान्त है। काल की दृष्टि से ऐसा कोई काल नहीं जब लोक न हो, अतः लोक अनन्त है। भाव से यह लोक अनन्त वर्ण-पर्याय वाला, अनन्त गन्धपर्याय वाला, अनन्त रस पर्यायवाला, अनन्त संस्थान पर्याय युक्त, अनन्त

गुरुलघुपर्याययुक्त एवं अनन्त अगुरुलघुपर्यायुक्त है । अतः भाव की दृष्टि से इसका कोई अन्त नहीं ।[16] इस प्रकार भगवान महावीर के अनुसार द्रव्य से एवं क्षेत्र से लोक सान्त है तथा काल एवं भाव से अनन्त है । इस तरह अनेकान्तदृष्टि से परिपूर्ण अनेक उदाहरण आगमों में उपलब्ध हैं।

अनेकान्तवाद का स्थापन

जैनाचार्य जन्म से ब्राह्मण पण्डित रहे, अतः अन्य दर्शनों का पाण्डित्य उन्हें प्राप्त था, फिर आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने अनेकान्तवाद की स्थापना में पूरी शक्ति लगायी । जैन दार्शनिकों ने एकान्त क्षणभंगवादी बौद्धों, एकान्तनित्यवादी वेदान्तियों एवं नित्य व अनित्य को स्वतन्त्र मानने वाले न्याय-वैशेषिकों का खण्डन करते हुए अनेकान्तवाद का सबल प्रतिष्ठापन किया ।

इस दृष्टि से जैन दार्शनिक सिद्धसेन (पांचवी शती), समन्तभद्र (पांचवी शती) मल्लवादी (पांचवीं शती) हरिभद्रसूरि (700-770 ई.) भट्ट अकलंक (720-780 ई) विद्यानन्द (775-440 ई), अभयदेव सूरि (10 वीं शती), प्रभाचन्द्र (980-1065 ई.) वादिदेवसूरि (1086-1169 ई.) हेमचन्द्र (1088-1173 ई.) यशोविजय (17 वीं शती) विमलदास आदि का योगदान उल्लेखनीय है।

हेमचन्द्राचार्य ने वस्तु में अनेकान्त के मुख्यतः चार प्रकार प्रतिपादित किए हैं-

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ।।[17]

चार प्रकार हैं-

1. स्यात् नित्य स्यात् अनित्य - नित्यानित्यात्मक
2. स्यात् सामान्य स्यात् विशेष - सामान्यविशेषात्मक
3. स्यात् वाच्य स्यात् अचाच्य - वाच्यावाच्यात्मक/अभिलाप्यानभिलाप्य
4. स्यात् सत् स्यात् असत् - सदसदात्मक

वे दीपक से लेकर आकाशपर्यन्त प्रत्येक वस्तु में अनेकान्तवाद को स्वीकार करते हुए कहते हैं -

आदीमाव्योम समस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ।।[18]

दीपक से लेकर आकाश तक सभी वस्तुएँ समान स्वभाववाली हैं। कोई भी वस्तु स्याद्वाद सिद्धान्त (अनेकान्तवाद) का उल्लंघन नहीं करती। उस वस्तु को कतिपय दार्शनिक मात्र नित्य अथवा मात्र अनित्य कहते हैं, जो उचित नहीं है । दीपक की लौ अनित्य है यह तो सर्वविदित है, किन्तु दीपक में प्रकाश के पुद्गल दीपक बुझने पर अन्धकार में परिणत हो जाते हैं, जो पुद्गल की अपेक्षा से नित्य कहलाते हैं । इसी प्रकार आकाश को सब नित्य मानते हैं, किन्तु आकाश में जिन द्रव्यों का अवगाहन होता है उनके स्थान परिवर्तन से आकाश की भी पर्याय बदल जाती है । इस दृष्टि से आकाश अनित्य भी सिद्ध होता है। दीपक से लेकर आकाश तक पदार्थों को नित्यानित्य कहने से संसार का कोई पदार्थ नहीं छूटा है,सबमें नित्यानित्यता सिद्ध हो जाती है ।

मल्लिषेणसूरि (13वीं शती) ने वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है- "**वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गल- कालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्।**"[19] जिसमें गुण एवं पर्याय रहते हैं वह वस्तु है। जैनदर्शन में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, काल एवं जीवास्तिकाय-इन छह द्रव्यों को वस्तु कहा गया है । इन छहों द्रव्यों में अपने-अपने गुण सहभावी रूप से रहते हैं तथा पर्याय क्रमभावी रूप से उत्पन्न एवं नष्ट होती रहती हैं । इस दृष्टि से सभी द्रव्य नित्यानित्यात्मक हैं, द्रव्यपर्यायात्मक हैं, सामान्य-विशेषात्मक हैं । द्रव्य में अभेद एवं पर्यायों में भेद होने से उसे भेदाभेदात्मक भी कहते हैं। द्रव्य वाच्य है, किन्तु उसकी प्रतिक्षण बदलने वाली पर्याय के लिए पृथक् पृथक् शब्दों का अभाव होने से उसको अवाच्य कहने से वस्तु को वाच्यावाच्यात्मक भी कह सकते हैं ।

अनेकान्तवाद की सिद्धि में प्रमुख तर्क

जैन आचार्यों के द्वारा अनेकान्तवाद के स्थापन एवं एकान्तवाद के खण्डन में प्रस्तुत कतिपय तर्क इस प्रकार हैं-

प्रथम तर्क- अनेकान्तात्मक वस्तु में ही अर्थक्रियाकारित्व सम्भव है, एकान्त नित्य एवं एकान्त क्षणिक वस्तु में अर्थक्रिया घटित नहीं होती। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक या

नित्यानित्यात्मक (अनेकान्तात्मक) वस्तु में अर्थक्रिया घटित हो जाती है और अर्थक्रिया ही वस्तु का लक्षण मानी गई है। भट्ट अकलंक ने इस प्रकार का तर्क अपने ग्रन्थ 'लघीयस्त्रय' में दिया है-

अर्थक्रिया न युज्येत, नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा हि लक्षणतया मता।।[20]

नित्य एवं क्षणिक पक्ष में न तो क्रम से अर्थक्रिया घटित हो सकती है और न अक्रम से। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व सर्वप्रथम बौद्धों ने दिया है । वे वस्तु को स्वलक्षण भी कहते हैं। दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने वस्तु का लक्षण देते हुए कहा है- **तत्र यदर्थक्रियासमर्थं तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति।**[21] धर्मकीर्ति ने कहा है- **अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः।**[22] अर्थक्रिया को वस्तु का लक्षण मानकर बौद्धों ने नित्यत्व का खण्डन किया है और अर्थक्रिया का घटित नहीं होना सिद्ध किया है । जयन्त भट्ट ने क्षणिक स्वलक्षण में अर्थक्रियाकारित्व का खण्डन किया है, किन्तु भट्ट अकलंक आदि दार्शनिकों ने नित्यवाद एवं क्षणिकवाद दोनों में ही वस्तु के अर्थक्रियाकारित्व का खण्डन करते हुए उसे अनेकान्तात्मक वस्तु में सिद्ध किया है। वस्तु को नित्य मानने पर उसमें न क्रम से अर्थक्रिया संभव है और न युगपद्, क्योंकि क्रम से अर्थक्रिया करने पर उसकी नित्यता भंग हो जाती है तथा युगपद् अर्थक्रिया करने पर अगले क्षण वह अकिञ्चित्कर हो जाती है । उसी प्रकार अर्थ को क्षणिक मानने पर उसमें क्रम से अर्थक्रिया संभव नहीं है, क्योंकि क्षणिक अर्थ में अनेक वस्तुओं को उत्पन्न करने के नाना स्वभाव नहीं हो सकते ।

'प्रमाणमीमांसा' में हेमचन्द्र ने द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को ही अर्थक्रिया में समर्थ स्वीकार करते हुए क्षणिक एवं नित्यपक्ष में अर्थक्रिया घटित न होने का विस्तार से निरूपण किया है। उन्होंने सामान्य एवं विशेष को पृथक् पदार्थ मानने वाले वैशेषिकों का भी प्रबलरूपेण तर्कपुरस्सर खण्डन किया है। जैन दर्शन में मान्य सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में अर्थक्रिया किस प्रकार घटित होती है, इस संबंध में माणिक्यनन्दि,[23] वादिदेवसूरि[24] एवं हेमचन्द्र[25] ने मार्ग प्रशस्त किया है । हेमचन्द्र कहते हैं-

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः।[26]

अर्थात् पूर्वपर्याय के परिहार, उत्तर पर्याय के स्वीकार तथा द्रव्य रूप में स्थिति आदि परिणामों से अर्थक्रिया की उपपत्ति हो जाती है।

द्वितीय तर्क- एकान्त नित्यवाद एवं एकान्त अनित्यवाद में कृतनाश एवं अकृत-अभ्यागम दोष आते हैं, जबकि नित्यानित्यवाद (परिणामिनित्यवाद) में व्यवस्था बन जाती है। अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में क्षणिकवाद का खण्डन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने उसमें कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, भवभंग, प्रमोक्षभंग और स्मृतिभंग दोष निरूपित किए हैं-

कृतप्रणाशाकृतकर्म-भोग-भव-प्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन्नहो! महासाहसिकः परस्ते।।[27]

बौद्ध दर्शन में वस्तु का प्रतिक्षण निरन्वय विनाश माना जाता है। अतः उसमें किए हुए का फल नहीं मिलने की स्थिति उत्पन्न होती है। बौद्धमत में जिस ज्ञान क्षण में अच्छा या बुरा कार्य किया जाता है उस क्षण का निरन्वय (पूर्ण) विनाश स्वीकार करने से उसके फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार नहीं किए गए या दूसरे के द्वारा किए गए कर्म के फल की प्राप्ति किसी दूसरे को होने की भी स्थिति बनती है। जब कर्मफल की परम्परा ही सम्यक् रूपेण नहीं चलेगी तो पुनर्जन्म एवं मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। उनके मत में आत्मा ही नहीं है तो किसका मोक्ष होगा ? क्षणिकवाद में स्मृति की व्यवस्था तो बन ही नहीं सकती, क्योंकि लोक में किसी अन्य के द्वारा देखा गया पदार्थ किसी दूसरे को याद नहीं होता, इसी प्रकार एक क्षण का सम्पूर्ण विनाश होने पर अन्य क्षण में स्मृति कैसे रहेगी ?

इसी प्रकार क्षणिकवाद में कर्ता एवं भोक्ता की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि ज्ञानक्षण सन्तान में सदैव भिन्नता के कारण कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कर्ता भिन्न एवं भोक्ता भिन्न होगा। एकान्त नित्यवाद में भी कर्त्ता एवं भोक्ता की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ कर्ता सदैव कर्त्ता ही रहेगा, भोक्ता नहीं हो सकता और भोक्ता सदैव भोक्ता ही रहेगा, कर्त्ता नहीं हो सकता।

द्रव्यपर्यायात्मक एवं नित्यानित्यात्मक आत्मा में ये दोष नहीं आते हैं। वहाँ पर द्रव्य की दृष्टि से एकत्व भी बना रहता है तथा पर्याय की दृष्टि से फलभोग आदि भी प्राप्त होते रहते हैं।

तृतीय तर्क- स्वरूपतः वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह हमें वैसी ही अनुभव में आती है। भट्ट अकलंक ने सिद्धिविनिश्चय में यह तर्क देते हुए कहा है-

न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम्।
जात्यन्तरं तु पश्यामः ततोऽनेकान्तहेतवः।।[28]

कहीं भी मात्र सामान्य एवं मात्र विशेष वस्तु दिखाई नहीं देती है, सर्वत्र जात्यन्तर सामान्यविशेषात्मक वस्तु दृष्टिगोचर होती है, इसलिए वस्तु अनेकान्तात्मक है।

हमें भेदाभेदात्मक रूप में ही किसी अर्थ का ज्ञान होता है, द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ का ही बुद्धि में प्रतिभास होता है-**द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात्।।**[29]

चतुर्थ तर्क- अनेकान्तात्मक वस्तु में ही प्रमाणप्रमेय व्यवहार सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता। अनेकान्तजयपताका में ऐसा हरिभद्रसूरि स्पष्टतः कथन करते हैं "**अतोऽनेकान्तात्मक एव वस्तुतत्त्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहार-सिद्धिरुक्तवत् सकलदोषविरहादिति।**"[30] हरिभद्रसूरि ने सभी एकान्तवादों का निरसन करने के पश्चात् यह कथन किया है।

हेमचन्द्रसूरि भी 'प्रमाणमीमांसा' में कहते हैं- **द्रव्यपर्यायात्मकः प्रमाणविषयः प्रमाणविषयत्वान्यथानुपपत्तेः। न हि प्रत्यक्षतः स्वलक्षणं पर्यायमात्रं सन्मात्रमिवोपलभामहे। नाप्यनुमानादेः सामान्यं द्रव्यमात्रं विशेषमात्रमिव प्रतिपद्येमहि सामान्य-विशेषात्मनो द्रव्यपर्यायात्मकस्य जात्यन्तरस्योपलब्धेः प्रवर्तमानस्य च तत्प्राप्तेः अन्यथाऽर्थक्रियानुपपत्तेः।**[31] प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु होती है, क्योंकि उससे भिन्न प्रमाण का विषय सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षतः स्वलक्षण या पर्यायमात्र वस्तु उपलब्ध नहीं होती है, अनुमानादि प्रमाणों से विशेष की भांति सामान्य या द्रव्यमात्र वस्तु का बोध नहीं होता है, क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक अथवा जात्यन्तर स्वरूप में ही उपलब्ध

होती है। प्रवर्तमान व्यक्ति को उसी की प्राप्ति होती है, अन्यथा स्वरूप वाली वस्तु अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है।

पंचम तर्क- समन्तभद्र सर्वथा एकान्त का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सर्वथा एकान्त का नियामक दृष्टान्त ही नहीं बनता है, दृष्टान्त बनने पर द्वैत या अनेकान्त की सिद्धि होती है-

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे, साध्यं प्रसिद्ध्यध्येन्न च तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामि दृष्टं, त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे।।[32]

यदि कोई ऐसी भी वस्तु मिल जाए जो दृष्टान्त बनकर सर्वथैकान्त के अस्तित्व को सिद्ध कर दे तो सर्वथैकान्त रूप साध्य की सिद्धि हो सकती है, किन्तु ऐसी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है, जो सर्वथैकान्त की नियामक हो अर्थात् जो दृष्टान्त बनकर सर्वथैकान्त की सिद्धि कर सके। अनेकान्तदृष्टि साध्य, साधन और दृष्टान्त सबमें अपना प्रभुत्व स्थापित करती है।

षष्ठ तर्क- क्रिया-कारकादि का व्यवहार अनेकान्तवाद में ही सम्भव है। समस्त क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों की सिद्धि अनेकान्तवाद में ही हो सकती है, अन्य मतों में नहीं-**यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः**[33] क्षणिकवाद एवं नित्यैकान्त में वस्तु की उत्पत्ति एवं कारकों का अन्वय सिद्ध नहीं होता।

सप्तम तर्क- कारणकार्य का सिद्धान्त भी अनेकान्तवाद में ही घटित हो सकता है, क्योंकि कारण एवं कार्य में न पूर्णतः एकता होती है और न ही पूर्णतः भिन्नता। प्रो. सातकडि मुकर्जी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है-

The cause and the effect are not entirely identical, but different also. If the effect were entirely identical with the material cause, there would be no occasion for the exercise of activity to bring it into existense. If it were different the manifestation would not relate to the effect.., The effect is partially identical with the cause and different in other respects. This is the position maintained by Jaina and it has been shown to be inescapable.[34]

अष्टम तर्क- एकान्तवाद में कर्म-फल-व्यवस्था नहीं बनती। एकान्त नित्यवाद एवं

एकान्त अनित्यवाद में सुख-दुःख के भोग, पुण्य-पाप और बन्ध मोक्ष की भी व्यवस्था नहीं बनती- **नैकान्तवादे सुख-दुःख भोगौ, न पुण्यपाये न च बन्धमोक्षौ ।**[35]

न्याय-वैशेषिक मत में '**अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्**' परिभाषा के अनुसार अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एकरूप वस्तु को नित्य माना गया है । नित्य आत्मा में सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती । नित्य आत्मा सुख का भोग या दुःख का उपभोग करने लगे तो अपने नित्य और एक स्वभाव को छोड़ने के कारण, आत्मा में स्वभावभेद होने से आत्मा को अनित्य मानना होगा । सुख पुण्य से एवं दुःख पाप से होते हैं, नित्य आत्मा में या तो पुण्य ही होगा या पाप ही । पुण्य-पाप से होने वाली अर्थक्रिया कूटस्थ नित्य आत्मा में नहीं हो सकती । बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी एकान्त नित्यवाद में नहीं बन सकती । एकान्त नित्य मानने पर उसके साथ कर्मों का बन्ध नहीं हो सकता । यदि उसमें अनादि बन्ध माना जाता है तो मोक्ष नहीं हो सकता, अन्यथा नित्यता भंग हो जाएगी ।

एकान्त अनित्यवाद में भी इसी प्रकार सुख-दुःख के भोग, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बनती। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा है-

पुण्यपापक्रिया न स्यात्, प्रेत्यभावः फलं कुतः ।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ।।
क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ।।[36]

आचार्य समन्तभद्र ने क्षणिकैकान्त एवं नित्यैकान्त पक्षों में परलोक-गमन भी असम्भव बताया है, क्योंकि नित्यैकान्त में पुण्य एवं पाप क्रिया ही सम्भव नहीं होती है परलोक में फल की प्राप्ति कहाँ से होगी ? उसमें बन्ध-मोक्ष भी सम्भव नहीं है । क्षणिकैकान्त पक्ष में भी प्रेत्यभाव आदि असम्भव है, उसमें प्रत्यभिज्ञा आदि का अभाव होने से कार्य का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता है तो फल प्राप्ति कैसे होगी?

नवम तर्क - अनेकान्तवाद से ही स्मृति आदि का व्यवहार सम्भव है । एकान्तवाद में स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य नहीं बनता और इनके अभाव में व्याप्ति का ग्रहण न होने से अनुमान प्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । नित्यानित्यात्मक या

सामान्यविशेषात्मक वस्तु में ही स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य शक्य है। इनके प्रामाण्य को संव्यवहार से स्वीकार किए बिना अनुमान का भी प्रामाण्य सम्भव नहीं। इसलिए वस्तु को अनेकान्तात्मक मानना आवश्यक है। वेदान्ती एवं बौद्ध दोनों ही अनुमान को संव्यवहार से प्रमाण मानते हैं, उनके यहाँ इसका इसीलिए पारमार्थिक प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है।

दशम तर्क- व्यवहार की निष्पत्ति अनेकान्तवाद से ही सम्भव है। सिद्धसेन दिवाकर ने अनेकान्तवाद एवं नयवाद की स्थापना में पुरुषार्थ किया। उनका कथन है कि अनेकान्त को स्वीकार किए बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।[37]

भुवन के एकमात्र गुरु उस अनेकान्त को नमस्कार है जिसके बिना लोक का व्यवहार भी नहीं चल सकता। विमलदास ने सप्तभंगीतरंगिणी में कहा है कि अनेकान्तवाद ही युक्ति तथा अनुभव रूप कसौटी पर खरा ठहरता है, अतः वही निर्विवाद रूप से स्थिर है तथा अनन्तधर्मात्मक वस्तु स्वयं प्रमाण से प्रतिपन्न है-
अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः स्वयं प्रमाणप्रतिपन्नत्वेनाभ्युपगमात्।।[38]

उपसंहार

जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद के स्थापन एवं एकान्तवाद के निरसन में जो तर्क दिए हैं, वे अनुभव एवं व्यवहार को केन्द्र में रखकर दिए हैं। उनकी दृष्टि में जगत् यथार्थ है एवं उसकी यथार्थता में अनेकान्तात्मकता ही मुख्य कारण है। जैनों की यह तत्त्वमीमांसीय अनेकान्तदृष्टि ही ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में भी आदृत हुई है। आज अनेकान्तदृष्टि को सम्यक् सोच का पर्याय समझा जा रहा हैं, जिससे कलह, तनाव आदि को दूर कर वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक समरसता का संचार किया जा सकता है। इस लेख में अनेकान्तवाद के कतिपय तार्किक आधारों का निरूपण किया गया है। अन्वेषण करने पर अन्य आधार भी सामने आ सकते हैं। इन आधारों को समझने पर तथा द्रव्य पर्याय दृष्टियों को समझने पर वस्तु में रहने वाली ध्रुवता एवं उत्पादव्ययता को ठीक से समझा जा

सकता है। फिर विरोध, संशय, व्यतिकर आदि दोषों की आपत्ति का स्वतः परिहार हो सकता है।

सन्दर्भ :-

1. मीमांसाश्लोकवार्तिक, वनवाद, 22, रत्ना पब्लिकेशन, कमच्छा, वाराणसी, 1978
2. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, 22, स्याद्वादमंजरी, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1979
3. स्याद्वादमंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 22 की टीका, पृष्ठ 200
4. अष्टसहस्री, द्रष्टव्य कारिका 59-60 की टीका, सम्पा, बंशीधर नाथारंग जी गांधी, अकलूज, सोलापुर, 1915
5. आप्तमीमांसा, 59-60, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया वाराणसी
6. (i) सन्मतितर्क अंग्रेजी संस्करण 1.12, लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर अहमदाबाद, पुनर्मुद्रित, 2000
   (ii) इसी प्रकार का एक अन्य श्लोक है-
   द्रव्यं पर्याय वियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
   कदा केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ।। - स्याद्वादमंजरी टीका, अगास, पृष्ठ 19
7. प्रमाणमीमांसा 1.1.30, श्री तिलोक रत्न जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदनगर, 1970
8. प्रमाणमीमांसा 1.1.30 की स्वोपज्ञवृत्ति
9. प्रमाणमीमांसा 1.1.30 की स्वोपज्ञवृत्ति
10. प्रमाणमीमांसा 1.1.30 की स्वोपज्ञवृत्ति
11. प्रमाणवार्तिक, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी 3.181-183
12. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, अध्याय 2, पाद 2, सूत्र 33
13. तत्त्वसंग्रह, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, श्लोक 1709-1784
14. द्रष्टव्य हेतुबिन्दुटीका, सम्पा. पं. सुखलाल संघवी एवं मुनि जिनविजय, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, 1949
15. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, शतक 9, उद्देशक 33
16. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 2, उद्देशक 1, स्कन्धक प्रकरण
17. अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, 25
18. अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, 5
19. स्याद्वादमंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक 23 की टीका

20. लघीयस्त्रय, 2.1, अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, 1939
21. प्रमाणसमुच्चय टीका, रंगास्वामी अयंगर, मैसूर, पृ. 6
22. न्यायबिन्दु 1.15 न्यायबिन्दुटीका सहित, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1975
23. परीक्षामुख 4.2, स्याद्वादमहाविद्यालय, काशी
24. स्याद्वादरत्नाकर, भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली 1988, पृ. 726
25. प्रमाणमीमांसा 1.1.33
26. प्रमाणमीमांसा 1.1.33
27. अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका 18
28. सिद्धिविनिश्चयटीका 2.12, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
29. लघीयस्त्रयवृत्ति 7, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. 3-4
30. अनेकान्तजयपताका, भाग 2, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, पृ. 236
31. प्रमाणमीमांसा, पृ. 65
32. स्वयम्भूस्तोत्र, 54
33. स्वयम्भूस्तोत्र, 21
34. The Jaina Philosophy of Non-absolutism, Motilal Banarasidass, Delhi, 1978, pp. 36-37
35. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, 27
36. आप्तमीमांसा, 40-41
37. सन्मतितर्क का प्रसिद्धश्लोक जो कुछ प्रतियों में उपलब्ध है।
38. सप्तभङ्गीतरंगिणी, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, पृ. 89



कर्म - साहित्य में तीर्थङ्कर प्रकृति

जैन परम्परा में 'तीर्थङ्कर' अत्यन्त आदर प्राप्त विशिष्ट पारिभाषिक पद है। ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मों का क्षय कर जो महापुरुष केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ/संघ की स्थापना करते हैं, उन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। सामान्य केवल ज्ञानियों एवं तीर्थंकरों में ज्ञान की दृष्टि से समानता है, किन्तु तीर्थ-प्रवर्तन अष्ट महाप्रातिहार्य आदि की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता है। तीर्थङ्कर के सम्बन्ध में आगम-साहित्य, पुराण साहित्य एवं चरित-साहित्य के साथ कर्म-साहित्य में भी चर्चा प्राप्त होती है। जैन परम्परा में 'तीर्थंकर' नामक एक कर्म प्रकृति स्वीकार की गई है, जो केवलज्ञान होते ही तीर्थंकर के उदय में आती है। प्रस्तुत आलेख में तीर्थंकर की महिमा का सामान्य परिचय प्रदान करने के अनन्तर कर्म-सिद्धान्त के आधार पर तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गई है। कर्म-साहित्य में संप्राप्त निरूपण से तीर्थङ्कर की अवधारणा पर विशेष प्रकाश प्राप्त होता है।

तीर्थङ्कर का वैशिष्ट्य

जिस जीव के नामकर्म की तीर्थंकर नामक प्रकृति का उदय रहता है, उसे तीर्थंकर कहा जाता है। तीर्थंकर का यह लक्षण कर्म-सिद्धान्त के अनुसार है। तीर्थंकर के गुणवर्णन में शक्रस्तव जैसे अनेक स्तुति-पाठ एवं स्तोत्र उपलब्ध हैं। आगम, पुराण, महाकाव्य, इतिहास, स्तोत्र-साहित्य आदि में तीर्थंकर के स्वरूप एवं महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। तीर्थंकर केवलज्ञानी होते हैं, किन्तु सामान्य केवली एवं तीर्थंकर में महद् अन्तर होता है। तीर्थंकर अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त होते हैं, किन्तु केवली उनसे युक्त नहीं होते । तीर्थंकर नामकर्म के विपाकोदय के पूर्व ही गर्भस्थ बालक की माता द्वारा 14 स्वप्न देखना, 64 इन्द्रों द्वारा पूजा-भक्ति करना आदि अनेक कारणों से तीर्थंकर की महिमा विशेष है। तीर्थंकर 1008 लक्षणों एवं 34 अतिशयों से सम्पन्न होते हैं।[1] उनकी वाणी में 35 विशिष्ट गुण[2] माने गए हैं, जबकि सामान्य केवली में इनका होना आवश्यक नहीं है। तीर्थंकर लोकहित की भावना से समस्त जीवों की रक्षा-दया के लिए प्रवचन फरमाते हैं।[3] तीर्थंकर की

मुख्य विशेषता है कि वे साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ के प्रणेता होते हैं। **भगवतीसूत्र** में अरिहन्त को तीर्थंकर कहा गया है।[4] तीर्थंकर के पंच कल्याणक मान्य हैं[5], सामान्य केवली के नहीं। तीर्थंकर प्रकृति का इतना प्रभाव होता है कि इसके उदय से पूर्व ही तीर्थंकर इन्द्रों के पूजनीय बन जाते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय एवं मोहनीय इन चार घाती कर्मों का क्षय करने की दृष्टि से तीर्थंकर एवं सामान्य केवली में कोई भेद नहीं होता, किन्तु दोनों के अतिशय में बड़ा भेद है और इसका कारण तीर्थंकर नाम प्रकृति है। दिगम्बर ग्रन्थ **धवला टीका** में कहा गया है- '**जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स तिलोगपूजा होदि तं तित्थयरं णाम।**'[6] अर्थात् जिस कर्म के उदय से जीव की त्रिलोक में पूजा होती है, वह तीर्थंकर नाम कर्म है। **सर्वार्थसिद्धि** में इसे आर्हन्त्य का कारण बताया गया है।[7] तीर्थ का एक अर्थ द्वादशांग गणिपिटक भी किया जाता है,[8] क्योंकि उसके आलम्बन से संसार -समुद्र को तैरा जा सकता है। **विशेषावश्यकभाष्य** में उल्लेख है कि तीर्थंकर भी तीर्थ को नमस्कार करते हैं- नमस्तीर्थाय।[9] इससे तीर्थ का महत्त्व उद्घाटित होता है। तीर्थ के महत्त्व से तीर्थंकर का महत्त्व स्वतः बढ़ता है। तीर्थ के अन्तर्गत श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्वर्णों की गणना होती है।[10]

तीर्थंकर की गणना 54 महापुरुषों में होती हैं। 54 महापुरुष हैं- 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव और 9 वासुदेव। इनमें 9 प्रतिवासुदेवों की संख्या मिलाने पर 63 शलाकापुरुष कहे गए हैं।[11] इनमें तीर्थंकर को छोड़कर अन्य किसी महापुरुष की ऐसी कर्म-प्रकृति का उल्लेख नहीं मिलता जिसके कारण उन्हें चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव या प्रतिवासुदेव कहा जा सके। मात्र तीर्थंकर ही ऐसे महापुरुष या शलाका-पुरुष हैं, जिनको तीर्थंकर नाम कर्म-प्रकृति का गौरव प्राप्त है।

इस तीर्थंकर नाम कर्म के आधार पर चिन्तन किया जाये, तो आगम एवं कर्मविषयक-साहित्य में तीर्थंकरों के सम्बन्ध में अनेक नये तथ्य उद्घाटित होते हैं। जब यह निश्चित है कि तीर्थंकर नामक एक कर्मप्रकृति का उदय होने पर ही कोई केवली तीर्थंकर बनता है, तो वह कर्म-प्रकृति किस प्रकार बँधती है? कौन से जीव

बाँधते हैं? उदय में कब आती है? उदीरणा कब होती है और सत्ता में कहाँ-कहाँ रहती है? एतद्विषयक चिन्तन आवश्यक है।

तीर्थङ्कर प्रकृति का उपार्जन

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में मल्लिनाथ के प्रकरण में तीर्थंकर नाम गोत्र के उपार्जन हेतु 20 बोलों का निरूपण हुआ है।[12] वे बीस बोल हैं-(1-7)अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी - इन सातों के प्रति प्रियता, भक्ति या वात्सल्य का होना (8) ज्ञान का बारम्बार उपयोग करना (9) दर्शन सम्यक्त्व की विशुद्धि होना (10) विनय होना (11) आवश्यक क्रियाएँ (सामायिक आदि) करना (12) शीलव्रतों का निरतिचार पालन करना (13) क्षण-लव प्रमाण काल में संवेग (तथा भावना एवं ध्यान) का सेवन करना (14) तप करना (15) त्याग - मुनियों को दान देना (16) अपूर्व अर्थात् नवीन ज्ञान ग्रहण करना (17) समाधि - गुरु आदि को साता उपजाना (18) वैयावृत्त्य करना (19) श्रुत की भक्ति करना और (20) प्रवचन की प्रभावना करना। ये सभी 20 बोल सम्यग्दर्शनी मनुष्य में सम्भव हैं। जब उसमें निर्मलता आती है तब इन 20 कारणों या इनमें से किसी के भी बार-बार आराधन से तीर्थंकर प्रकृति का उपार्जन हो सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र में तीर्थंकर नाम के उपार्जन हेतु 16 कारणों का ही निरूपण है।[13] वे 16 कारण हैं - (1) दर्शनविशुद्धि (मोक्षमार्ग में रुचि) (2) विनय सम्पन्नता (3) शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन (4) ज्ञान में सतत उपयोग (5) सतत संवेग (6) शक्ति के अनुसार तप (7) यथाशक्ति त्याग (8) साधुओं की समाधि में योगदान (9) वैयावृत्त्य (10) अरिहन्त भक्ति (11) आचार्य-भक्ति (12) बहुश्रुत भक्ति (13) प्रवचन भक्ति (14) आवश्यक क्रियाओं में संलग्नता (15) मोक्षमार्ग (16)प्रवचन वात्सल्य।

तत्त्वार्थसूत्र में निरूपित इन 16 कारणों को पृथक्-पृथक् रूपेण भी सम्यग्भावित किया जाये तो तीर्थंकर प्रकृति का उपार्जन सम्भव है। इन्हें तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का कारण कहा गया है।[14] **ज्ञाताधर्मकथा में तत्त्वार्थसूत्र** से चार कारण अधिक प्रतिपादित हैं, यथा-सिद्ध, स्थविर एवं तपस्वी की भक्ति तथा नये

ज्ञान का ग्रहण। इन चार कारणों के अतिरिक्त न्यूनाधिक रूप से दोनों ग्रन्थों में निरूपित कारणों में समानता है। **तत्त्वार्थसूत्र** में जहाँ आचार्य की भक्ति का उल्लेख है वहाँ **ज्ञाताधर्मकथा** में गुरु की भक्ति का उल्लेख है। दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित ये बोल भक्ति, श्रद्धा एवं मोक्षरुचि वाले सम्यग्दर्शनी मनुष्य को ही तीर्थंकर प्रकृति के अर्जन का पात्र मानते हैं। **आवश्यकनिर्युक्ति** में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्यगति का जीव शुभ लेश्या वाला होकर इन बीस बोलों में से किसी का भी सेवन करता है तो वह तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है।[15]

तीर्थंकर प्रकृति : सामान्य नियम

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार भी जो सम्यग्दर्शन की अवस्था वाला मनुष्य है, वही तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करता है। अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिबादर नामक आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तीर्थंकर प्रकृति (जिननाम) का बन्ध होता है।[16] इस प्रकृति का उदय तेरहवें सयोगी केवली एवं चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में होता है। केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ ही तीर्थंकर नामकर्म का उदय प्रारम्भ हो जाता है, जो चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। तीर्थंकर प्रकृति की उदीरणा होना भी सम्भव है। यह उदीरणा मात्र 13 वें गुणस्थान में होती है। सत्ता की दृष्टि से विचार किया जाये, तो इस प्रकृति की सत्ता प्रायः चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहती है,[17] किन्तु एक अपवाद के रूप में बद्धनरकायु की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त के लिए मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में भी तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता पायी जाती है।[18]

बन्ध-विषयक विचार

प्रश्न यह होता है कि तीर्थंकर प्रकृति किस प्रकार के सम्यग्दर्शन में बँधना प्रारम्भ होती है? सम्यग्दर्शन के मुख्यतः तीन प्रकार हैं- क्षायोपशमिक, क्षायिक एवं औपशमिक। कर्मसिद्धान्त के अनुसार इन तीनों ही प्रकार के सम्यक्त्व में तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्भव है। **गोम्मटसार** 'कर्मकाण्ड' में कहा गया है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व की अवस्था में अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर चार गुणस्थानों तक के मनुष्य तीर्थंकर

प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करते हैं। इसी प्रसंग में एक विशेष बात यह कही गई है कि तीर्थंकर केवली अथवा श्रुत केवली के निकट ही कोई तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध प्रारम्भ करता है।[19]

तीर्थंकर प्रकृति के बन्धने के सम्बन्ध में और भी अनेक तथ्य हैं, यथा-

1. यदि कोई मनुष्य एक बार तीर्थंकर प्रकृति को बांधना प्रारम्भ करता है, तो वह निरन्तर ही इसका बंधन करता रहता है।[20] यह बंधन उस जीव के देवगति या नरकगति में जाने पर भी जारी रहता है।[21] पुनः मनुष्यगति में आने पर वह केवलज्ञान प्रकट होने के अन्तर्मुहूर्त पूर्व तक इसका बंधन करता रहता है।[22] इसके निरन्तर बंधने के संबंध में दो अपवाद हैं।

(अ) पहले नरकायु बाँधने के पश्चात् क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि प्राप्त करके कोई जीव यदि तीर्थंकर नाम प्रकृति को बाँधना प्रारम्भ करता है, तो वह मनुष्य भव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व में चला जाता है।[23] मिथ्यात्व गुणस्थान में रहता हुआ वह तीसरी नरक तक में जन्म ले सकता है। वहाँ पर्याप्त अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् वह पुनः सम्यग्दर्शनी बन जाता है। मनुष्यगति से जाने एवं नरक में अपर्याप्त रहने का यह काल भी अन्तर्मुहूर्त परिमाण होता है। इतने काल के लिए तीर्थंकर प्रकृति का बँधना रुक जाता है। शेष सभी समय यह प्रकृति निरन्तर बँधती रहती है।

(ब) तीर्थंकर नामकर्म को बाँधता हुआ जीव उपशमश्रेणि में चढ़ता है, तो वह आठवें गुणस्थान के सातवें भाग से ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम श्रेणि के समय तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं करता है। यह अवस्था भी एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं होती।

इस तरह दो अपवादों को छोड़कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध एक बार प्रारम्भ होने के पश्चात् निरन्तर होता रहता है।

(2) तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध चौथे गुणस्थान में तब होता है, जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव मिथ्यात्व के अभिमुख हो। मिथ्यात्व के अभिमुख वह जीव होता है, जिसने पहले ही नरक का आयुष्य बाँध लिया हो। ऐसा जीव ही

तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट बंध करता है। किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश (कषायवृद्धि) से बंधती है। चाहे वह पुण्य प्रकृति हो या पाप प्रकृति। सभी प्रकृतियों की स्थिति कषाय से बँधती है। अतः तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का बंध उस अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के होता है, जो मिथ्यात्व के अभिमुख हो।[24] तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबंध आठवें गुणस्थान के छठे भाग में होता है, क्योंकि वह विशुद्ध अवस्था होती है।

(3) तीर्थंकर प्रकृति बंधने का नरकगति एवं तिर्यंच गतियों के बन्ध के साथ विरोध है।[25] अर्थात् तीर्थंकर प्रकृति बधंने के पश्चात् ये दोनों गतियाँ नहीं बँधती हैं। पहले ही किसी जीव ने नरकायु बाँध लिया हो, यह तो सम्भव है, किन्तु तीर्थंकर प्रकृति बँधने के पश्चात् नरकायु का बन्धन भी सम्भव नहीं है। नरक गति एवं तिर्यंच गति तो क्रमशः पहले एवं दूसरे गुणस्थान में ही बँधती है। तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वाले जीव के केवल देवगति बँधती है। यह उल्लेखनीय है कि देवी तीर्थंकर नहीं बनती है, अतः तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वाला देव ही बनता है, देवी नहीं।[26] वह तीन किल्विषिक को छोड़कर वैमानिक देव में जा सकता है।

(4) जिस जीव ने पहले मनुष्यायु एवं तिर्यंचायु का बन्ध कर लिया है, उसके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता है, किन्तु देवायु एवं नरकायु बाँधने के पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति का बन्धन हो सकता है। धवला टीका में एक प्रश्न उठाया गया कि तिर्यंचायु बाँधने वाले को सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति के बाँधने में क्या बाधा है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया कि जिस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ किया है, उससे तृतीय भव में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले जीवों के मोक्ष जाने का नियम है,[27] जो देव एवं नारकी बनने पर ही सम्भव हो सकता है। तृतीय भव में मोक्ष जाने का कथन श्वेताम्बर परम्परा में भी उपलब्ध है।[28]

(5) तीर्थंकर प्रकृति का सम्बन्ध लेश्याओं से भी है। तेजो, पद्म एवं शुक्ल नामक शुभ लेश्याओं में तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो ही सकता है, किन्तु अशुभ लेश्याओं में से एक मात्र कापोत लेश्या ही ऐसी है, जिसमें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है। यह तथ्य **महाबंध, धवला** आदि ग्रन्थों में स्पष्ट प्रतिपादित हुआ है कि

नरकगति वाला जीव नील एवं कृष्ण लेश्याओं में तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं करता है। तीसरी नरक में कापोतलेश्यी को ही आगामी भव में तीर्थंकर बनने का उल्लेख मिलता है। महाबन्ध के काल-प्ररूपणा-खण्ड में तीर्थंकर की आगति में वैमानिक से जो जीव आता है, उसमें तेजो, पद्म एवं शुक्ल लेश्याएं बतायी गई हैं तथा नरक से जो जीव आता है, उसमें एक मात्र कापोत लेश्या बतायी गई है।[29] श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकर की आगति में इन चार लेश्याओं के अतिरिक्त नील लेश्या का भी कथन किया जाता है,[30] जिसका पुष्ट कारण ध्यान में नहीं आता।

(6) नरक एवं देवलोक के असंख्यात जीव इस समय भी तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर रहे हैं। **महाबंध** में स्पष्ट कहा है - "**तित्थयराणं बंधगा असंखेज्जा,।**[31] अर्थात् तीर्थंकर के बंधक असंख्यात हैं।

(7) **गोम्मटसार** में कहा गया है कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक-तीनों वेदों में हो सकता है, किन्तु उदय केवल पुरुषवेद में ही होता है।[32] ध्यातव्य है कि स्त्री का तीर्थंकर होना श्वेताम्बरों ने ही मान्य किया है।[33] इसका उदाहरण मल्ली भगवती हैं।

उदय, उदीरणा एवं सत्ता विषयक विचार

उदय के सम्बन्ध में यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में होता है। अतः जन्म लेते ही कोई तीर्थंकर नहीं बन जाता है। चार घाती कर्मों का क्षय करने के साथ ही तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। यह बात अवश्य है कि इस प्रकृति का जिस भव में उदय होने वाला है, उसका गर्भ-प्रवेश के साथ ही प्रभाव प्रारम्भ हो जाता है। तीर्थंकर की माता के द्वारा चौदह या सोलह स्वप्न देखना इसी का प्रतीक है।

तीर्थंकर नामकर्म की उदीरणा भी सम्भव है, किन्तु यह उदीरणा मात्र तेरहवें गुणस्थान में ही होती है। चौदहवें गुणस्थान में जिन प्रकृतियों का उदय रहता है, उनकी उदीरणा तेरहवें गुणस्थान तक ही होने का नियम है। चौदहवें में उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता की दृष्टि से विचार किया जाये तो तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता प्रथम

गुणस्थान एवं चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक पायी जाती है।[34] प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में तो बद्धनरकायुष्क वाले जीव की अपेक्षा से सत्ता पायी जाती है, क्योंकि जिस जीव ने नरकायु का बंध करने के पश्चात् तीर्थंकर नामकर्म का बंध प्रारम्भ किया है, वह जीव नरक के भव में जाते समय एवं वहाँ अपर्याप्त समय तक मिथ्यात्वदशा में रहता है। चौथे से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तो तीर्थंकर नामकर्म का बंध होने के कारण इन गुणस्थानों में सत्ता रहती ही है, किन्तु उपशमश्रेणि करते समय भी आठवें गुणस्थान के छठे भाग से ग्यारहवें गुणस्थान तक तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहती है, क्योंकि यह काल मात्र अन्तर्मुहूर्त का होता है एवं पूर्वबद्ध तीर्थंकर प्रकृति तो उस काल में भी सत्ता में रहती ही है। इसी प्रकार बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान में भी इस प्रकृति की सत्ता पूर्वबद्ध की अपेक्षा से रहती है, क्योंकि सत्ता में रहने पर ही कोई कर्म उदय में आता है।

यह उल्लेखनीय है कि तिर्यंचगति के जीव में तीर्थंकर नाम कर्म की सत्ता नहीं पायी जाती है, क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म का बंध करने वाला जीव तिर्यंच गति में नहीं जाता है। इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर नामकर्म को बाँधने वाला जीव (पूर्व निर्दिष्ट दो अपवादों को छोड़कर) निरन्तर इस प्रकृति का बंध करता है एवं वह बद्धनरकायु के अपवाद को छोड़कर चौथे गुणस्थान से नीचे नहीं आता है। इसलिए तीर्थंकर नामकर्म को बाँधने वाला जीव तिर्यंच गति का बंध नहीं कर पाता। तिर्यंच गति का बंध प्रथम एवं द्वितीय गुणस्थान में ही होता है, उसके पश्चात् नहीं। दूसरी बात यह भी है कि तिर्यंचायु का बंध कर लेने वाला तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं करता। तीसरी एवं महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तीर्थंकर नामकर्म के बंध का प्रारम्भ मनुष्य गति में ही होता है, तिर्यंचादि अन्य गतियों में नहीं। मनुष्य से वह जीव नरक या देवगति में जाता है। इसलिए इन तीन गतियों में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहती है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों के अनुसार तीर्थंकर प्रकृति का अनिकाचित बन्ध करने वाला जीव तिर्यंचगति में भी जा सकता है[35] तथा इस प्रकृति की उद्वेलना भी हो सकती है।

तीर्थंकर नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोटाकोटि सागरोपम एवं

अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त बताया गया है।[36] अतः यह प्रकृति अपनी सजातीय प्रकृतियों में संक्रमित होकर भोगी जाती है। इसी प्रकार का उद्वर्तन एवं अपवर्तन भी स्वीकार किया गया है। **पंचम कर्मग्रन्थ, कम्मपयडी** एवं **पंचसंग्रह** के अनुसार तीर्थंकर प्रकृति अध्रुवबन्धिनी, अध्रुव सत्ताक, अघाती, पुण्य प्रकृति, अपरावर्तमान, जीव विपाकी, स्वानुदयबन्धिनी, क्रम व्यवच्छिद्यमान बंधोदया, निरन्तरबन्धिनी अनुदय-संक्रमोत्कृष्टा एवं उदयवती है।

उपर्युक्त चर्चा से विदित होता है कि अष्टविध कर्मों से मुक्त होने के लिए तीर्थंकर होना आवश्यक नहीं है । सामान्य केवलज्ञानी भी मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं । अष्ट महाप्रातिहार्य एवं तीर्थप्रवर्तन की योग्यता तीर्थंकर में विशिष्ट होती है, सम्भवतः इसीलिए तीर्थंकर नाम प्रकृति पृथक् से स्वीकार की गई है । जब कोई केवलज्ञानी उस पुण्य प्रकृति के उदय से युक्त होता है तो उसे तीर्थंकर कहा जाता है । तीर्थंकर नाम प्रकृति का एक बार बन्ध प्रारम्भ होने के पश्चात् कतिपय अपवादों को छोड़कर चौथे से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक निरन्तर बन्ध होता रहता है, किन्तु उदय तेरहवें सयोगी एवं चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में सतत रहता है। तीर्थंकर प्रकृति की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान में हो सकती है, जबकि सत्ता चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक रहती है । बद्ध नरकायुष्क जीव की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान में भी तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता अन्तर्मुहूर्त तक रह सकती है । यह उल्लेखनीय है कि तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध भी कषाय से होता है एवं वह उस अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के होता है जो मिथ्यात्व के अभिमुख हो। जघन्य स्थिति बंध आठवें गुणस्थान वाला जीव करता है।

सन्दर्भः-

1. 34 अतिशयों के लिए द्रष्टव्य-**समवायांगसूत्र**,आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर समवाय 34
2. **समवायांगसूत्र**, समवाय 35
3. इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं - **प्रश्नव्याकरणसूत्र**, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 1
4. गोयमा! अरहा ताव नियमं तित्थगरे।- **व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र**,शतक 20,उद्देशक 8
5. श्रमण भगवान् महावीर के पाँच कल्याणकों का उल्लेख **स्थानांगसूत्र** में हुआ है। द्रष्टव्य-**स्थानाङ्गसूत्र**, स्थान 5, उद्देशक 1

6. धवला, 6.1
7. आर्हन्त्यकारणं तीर्थङ्करत्वनाम।- **सर्वार्थसिद्धि,** भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1991, सूत्र 8.11, पृ. 306
8. **विशेषावश्यकभाष्य,** दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम संवत् 2039, पृ. 1
9. **विशेषावश्यकभाष्य,** मलधारी हेमचन्द्र वृत्ति, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, पृ. 1
10. तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णो समणसंघो, तंजहा-समणा समणीओ सावगा साविगाओ। **-व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र,** शतक 20, उद्देशक 8, सूत्र 14
11. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य-चउप्पन्नहापुरिसचरियं (शीलांकाचार्य रचित) एवं **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्** (आचार्य हेमचन्द्र विरचित)
12. अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसुं।
वच्छल्लया एएसिं, अभिक्खनाणोवओगे य।।1।।
दंसण-विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइआरो।
खणलव-तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य।।2।।
अप्पुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो।।3।।
-ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, अध्ययन 8, आवश्यकनिर्युक्ति गाथा, 179-181
13. दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसंघसाधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य। - **तत्त्वार्थसूत्र,** 6.23
14. तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भव्यमानानि व्यस्तानि च तीर्थंकर नाम- कर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि।- **सर्वार्थसिद्धि,** भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 6.24, पृ. 261
15. नियमा मणुयगईए, इत्थी पुरिसेयरो य सुहलेसो।
आसेवियबहुलेहिं, वीसाए अण्णयरएहिं।। - **आवश्यकनिर्युक्ति** 184, **निर्युक्तिसंग्रह,** हर्षपुष्पामृत ग्रन्थमाला, लाखा बावल
16. द्वितीय कर्मग्रन्थ, बन्ध-विवेचन, गाथा 6 एवं 9-10
17. द्वितीय कर्मग्रन्थ में उदय, उदीरणा एवं सत्ता का विवेचन द्रष्टव्य।
18. द्वितीय कर्मग्रन्थ, श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, परिशिष्ट पृ. 201-210
19. पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते। - गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 93
20. णिरंतरो बंधो, सगबंधकारणे संते अद्धाक्खएण बंधुवरमाभावादो। - धवला 8.3, 38.74.4
21. निकाचित तीर्थंकर प्रकृति वाला जीव तिर्यंचगति में नहीं जाता है, अनिकाचित तीर्थंकर प्रकृति वाले जीव के तिर्यंचगति में जाने का निषेध नहीं है, यथा - जमिह निकाइय तित्थं

तिरियभवे तं निसेहियं संतं। इयरंमि नत्थि दोसो उवट्टणवट्टणासज्झे।- **पंचसंग्रह** 5.44 विशेषणवती में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी कहा है- तं पि सुनिकाइस्सेव तइय भवभाविणो विणिछिट्ठं। अणिकाइयम्मि वच्चइ सव्वगईओ वि न विरोहो।- उद्धृत, पंचसंग्रह, भाग 5 पृ. 175

22. आठवें गुणस्थान का जीव अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक मान्य है।
23. तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट बंध निरूपित करने के प्रसंग में यह बात स्पष्ट होती है- तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मद्दिट्ठी पुव्वं नरगबद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही। - पंचसंग्रह, प्रथमभाग, मलयगिरि टीका, उद्धृत, पंचम कर्मग्रन्थ, (ब्यावर), पृ. 162
24. (अ) पंचम कर्मग्रन्थ, गाथा 42
    (आ) तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मद्दिट्ठी पुव्वं नरगबद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अंतिमे ठिईबंधे वट्टमाणो बंधइ, तब्बंधगेसु अइसंकिलिट्ठो त्ति काउं। - पंचसंग्रह, प्रथमभाग, मलयगिरि टीका
25. तित्थरबंधस्स णिरय-तिरिक्खगइबंधेहि सह विरोहादो। - धवला 8.3,38.74.5
26. कप्पित्थीसु ण तित्थं। - **गोम्मटसार** 'कर्मकाण्ड', गाथा 112
27. पारद्धतित्थयरबंधभवादो तदियभवे तित्थयरसंतकम्मियजीवाणं। मोक्खगमणणियमादो। - धवला 8.3, 38.74.8, 38.75.1
28. (अ) विशेषणवती, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, गाथा 78
    (आ) बज्झई तं तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताणं। - **आवश्यकनिर्युक्ति** 183
29. द्रष्टव्य - महाबन्ध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम भाग, कालप्ररूपणा - पृ. 63
30. कालमासे कालं किच्चा तच्चाए बालुयप्पभाए पुढवीरए उज्जलिए
    नरए नेरइयत्ताये उववज्जिहिसि।--- आगमेसाए उस्सप्पिणीए----बारसमे
    अममे णामं अरहा भविस्ससि। - **अंतगडदसासूत्र**, वर्ग 5 (उज्ज्वल नरक में नील लेश्या ही है)
31. महाबन्ध, प्रथम भाग, पृ. 177
32. स्त्रीषण्ढवेदयोरपि तीर्थाहारकबन्धो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदिषु नियमात्।- गोम्मटसार 'कर्मकाण्ड', जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा-119
33. आगम में इसे एक आश्चर्य माना गया है। द्रष्टव्य - **स्थानाङ्गसूत्र**, स्थान 10
34. द्रष्टव्य, दूसरा कर्मग्रन्थ, सत्ता-विचार।
35. द्रष्टव्य, उपर्युक्त 21 वाँ टिप्पण।
36. पंचम कर्मग्रन्थ, गाथा 33



श्रुतज्ञान का स्वरूप

प्रायः आगमज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है, किन्तु श्रुतज्ञान का यह लक्षण अपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि जिन जीवों को आगम ज्ञान नहीं होता है, उनमें भी मतिज्ञान के साथ श्रुतज्ञान आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया है। हाँ, वह श्रुतज्ञान सम्यग्दर्शन के अभाव में एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में श्रुतअज्ञान कहा जाता है। किन्तु जिन पंचेन्द्रिय जीवों में सम्यग्दर्शन होता है उनमें ही श्रुतज्ञान पाया जाता है। श्रुतज्ञान लब्ध्यक्षर के रूप में प्रत्येक जीव में नित्य उद्घाटित रहता है। इसका कभी पूर्णतः समापन नहीं होता है। विशेषावश्यकभाष्य में इसे भावश्रुत भी कहा गया है। यह भावश्रुत रूप या लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान (या श्रुत अज्ञान) सभी जीवों में होता है। इस श्रुतज्ञान का उपयोग मतिज्ञान के पश्चात् होता है, अतः इसे मतिपूर्वक कहा गया है। यह श्रुतज्ञान त्रैकालिक होता है तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है। मुक्ति के उपायों में जो सम्यग्ज्ञान परिगणित है, वह मुख्यतः श्रुतज्ञान का ही द्योतक है, क्योंकि आत्महित बोधक ज्ञान है। इसकी समानता केवलज्ञान के साथ करते हुए कहा जाता है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है तथा श्रुतज्ञान परोक्ष है।

श्रुतज्ञान एक महत्त्वपूर्ण ज्ञान है, क्योंकि यह दुःख से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। इसकी तुलना शुद्ध परिपूर्ण केवलज्ञान से की जाती है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान है। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार एवं प्रवचनसार में इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जो शुद्ध आत्मस्वरूप को श्रुतज्ञान के द्वारा जानता है, उसे लोक को प्रकाशित करने वाले ऋषियों ने श्रुतकेवली कहा है।[1] केवली भगवान समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को केवलज्ञान से साक्षात् जानते हैं, जबकि श्रुतज्ञानी उन्हें परोक्ष रूप में जानते हैं ।[2] कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो आत्मस्वरूप को जानता है वह श्रुतकेवली है। इस तरह आत्म-विकास में श्रुत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । श्रुत क्या है? इस पर विचार किया जाता है तो प्रायः आगमों को श्रुत कहा जाता है। ये आगम केवलियों की अर्थरूप वाणी हैं, किन्तु गणधरों एवं आचार्यों के द्वारा शब्द रूप में ग्रथित वाणी को भी श्रुत कहा जाता है । शब्द रूप आगम अर्थस्वरूप आगम को

समझने में सहायक हैं तथा ये आत्मस्वरूप को समझने में भी सहायक हैं, इसलिए ये श्रुत हैं। शब्द रूप आगम साधन हैं तथा अर्थरूप अनुभवात्मक ज्ञान साध्य है। विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि कहते हैं कि प्रत्येक शब्द ज्ञान श्रुतज्ञान नहीं होता, जो ज्ञान आप्तोपदेश या श्रुत से उत्पन्न होता है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है, अन्य शब्दज्ञान मतिज्ञान है। मतिज्ञान इन्द्रिय से, मन से अथवा दोनों से उत्पन्न होता है।

उमास्वाति तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन एवं जिनवचन को श्रुतज्ञान का पर्यायवाची प्रतिपादित करते हैं।[3] ये सभी पर्यायवाची शब्द इस तथ्य का स्थापन करते हैं कि राग-द्वेष के विजेता 'जिन' अथवा आप्त पुरुषों के उपदेश ही श्रुतज्ञान की श्रेणी में आते हैं। किन्तु यह श्रुत द्रव्यश्रुत है, और यह भावश्रुत को जन्म दे सकता है।

श्रुतज्ञान के दो पहलू हैं। पहला, जब यह किसी आप्त पुरुष के द्वारा बोला जाता है और दूसरा, जब वह किसी श्रोता के द्वारा आत्मज्ञान के लक्ष्य से समझा जाता है। ये दोनों ही ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। जब कोई आप्त वाक्य उच्चरित होता है अथवा लिखित होता है, तो उसको भी लोग श्रुतज्ञान कहते हैं, क्योंकि इस श्रुतज्ञान से आत्मा में वास्तविक श्रुतज्ञान प्रकट होता है।

वेद के अर्थ में प्रयुक्त 'श्रुति' शब्द से इस 'श्रुत' शब्द का साम्य है। इन दोनों में आप्तवचन होने की समानता है। मीमांसा दार्शनिकों के अनुसार श्रुति अथवा वेद का कोई रचयिता नहीं है, वह अपौरुषेय है, जबकि न्यायदार्शनिक मानते हैं कि वेद की रचना ईश्वर ने की है। जैन दर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि जब कोई केवली या तीर्थंकर समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए सत्य कथन करते हैं तो उसे श्रुत कहा जाता है और जब उसका तात्पर्य किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभव किया जाता है तो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान को आगम प्रमाण के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। वादिदेवसूरि कहते हैं कि वास्तव में तो आप्तवचनों को सुनकर जो अर्थ का संवेदन होता है वह आगम प्रमाण है, किन्तु उपचार से आप्तवचन को भी आगम प्रमाण कहा जा सकता है।[4] श्रुति एवं श्रुत में बड़ा अन्तर यह है कि श्रुति का प्रत्येक जीव में होना अनिवार्य नहीं माना गया है, जबकि जैन

दर्शन में श्रुतज्ञान को प्रत्येक जीव में आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया है। यह दूसरी बात है कि वह श्रुतज्ञान मिथ्यात्वी जीव में मिथ्यात्व के कारण श्रुतअज्ञान के रूप में उपलब्ध होता है।

यह मान्यता है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।[5] तत्त्वार्थसूत्र, उसकी टीकाओं तथा जिनभद्रगणि विरचित विशेषावश्यकभाष्य में यह प्रतिपादित किया गया है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में प्रभावी कारण होता है। पूज्यपाद देवनन्दी ने सर्वार्थसिद्धि में प्रश्न उठाया है कि यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो वह भी मति ही होना चाहिए, क्योंकि लोक में कारण के सदृश ही कार्य देखा जाता है। उत्तर में वे कहते हैं कि यह सदैव सच नहीं होता है कि कारण के सदृश ही कार्य उत्पन्न हो, क्योंकि घट की उत्पत्ति में दण्ड कारण होता है, किन्तु दण्ड कभी घड़े के रूप में परिणत नहीं होता है। इसी तरह मतिज्ञान श्रुतज्ञान में परिणत नहीं होता है, अपितु यह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में कारण बनता है। यह आवश्यक नहीं है कि मतिज्ञान के होने पर तत्सम्बद्ध श्रुतज्ञान हो ही। श्रुतज्ञान के प्रकटीकरण में श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम भी अनिवार्य है।[6]

विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि इस विचार का समर्थन करते हैं कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। वे भाष्य में कहते हैं- '**मइपुव्वं सुयं**'। वे 'पुव्व' शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि 'पूर्व' शब्द '**पॄ पालनपूरणयोः**' धातु से निष्पन्न है तथा इसका प्रयोग उत्पन्न करने, रक्षा करने, पालन करने एवं पोषण करने के अर्थ में भी होता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान का करण है तथा यह उसे पुष्ट करता है एवं संरक्षा करता है।[7] श्रुतज्ञान मतिपूर्वक प्राप्त किया जाता है तथा यह लौकिक आप्तों द्वारा मतिज्ञानपूर्वक दूसरों तक पहुँचाया जाता है। मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान की रक्षा नहीं हो सकती।

भट्ट अकलङ्क तत्त्वार्थवार्तिक में एक प्रश्न उठाते हैं कि यदि श्रुत मतिपूर्वक उत्पन्न होता है तो श्रुत का प्रारम्भ मानना होगा और जिसका प्रारम्भ होता है, उसका अन्त भी मानना होगा। इस तरह यह आगम मान्यता कि श्रुत का न आदि है और न अन्त, खण्डित हो जाती है। भट्ट अकलङ्क इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष अथवा अवस्था विशेष में श्रुतज्ञान का प्रारम्भ

माना जा सकता है, किन्तु सब जीवों की दृष्टि से वह सदैव विद्यमान रहता है ।[8]

यद्यपि श्रुतज्ञान को शब्दज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो शब्दों के माध्यम से मतिज्ञान के द्वारा गृहीत होता है, किन्तु यह शब्दज्ञान तक सीमित नहीं होता। आचार्य विद्यानन्द ने स्पष्ट किया है कि सभी इन्द्रियों एवं मन से होने वाला मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण होता है। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाला मतिज्ञान भी श्रुतज्ञान को जन्म देता है ।[9] उदाहरण के लिए चींटी घ्राणेन्द्रिय से चीनी, मिठाई आदि का ज्ञान कर उसकी हेयोपादेयता का बोध श्रुत अज्ञान से करती है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद की अवस्था है । मतिपूर्वक यद्यपि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान ज्ञान भी होते हैं, किन्तु इनका समावेश मतिज्ञान में ही होता है । अतः स्मरण आदि ज्ञान श्रुतज्ञान से भिन्न है।[10] आचार्य विद्यानन्द ने मतिज्ञान को श्रुतज्ञान का बहिरंग कारण स्वीकार किया है तथा अन्तरंग कारण वे श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम को मानते हैं । स्मृति, प्रत्यभिज्ञानादि में यह अन्तरंग कारण कार्य नहीं करता, अतः स्मृति आदि को श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता।[11]

एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि केवलज्ञानी जब कोई देशना फरमाते हैं तो वह द्रव्यश्रुत है और द्रव्यश्रुत बिना भावश्रुत के नहीं हो सकता, अतः केवलज्ञानी में भी श्रुतज्ञान मानने का प्रसंग उपस्थित होता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि केवलज्ञानी केवलज्ञान से अर्थ को जानकर उसमें जो प्रज्ञापना करने योग्य अर्थ होता है उसे कहते हैं, उनका इस प्रकार देशना देना वचन योग है तथा शेष जीवों के लिए यह श्रुतज्ञान है।[12]

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान में भेद

तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वाति मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान में भेद करते हुए कहते हैं- **उत्पन्नविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानन्तु त्रिकालविषयम् उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम् ।**[13] अर्थात् मतिज्ञान तो वर्तमान काल के उत्पन्न एवं विनष्ट होने वाले अर्थ को ग्रहण करता है, जबकि श्रुतज्ञान तीनों काल के उत्पन्न, विनष्ट एवं अनुत्पन्न अर्थों को जानता है । यहाँ प्रश्न उठता है कि स्मृति भी एक प्रकार का मतिज्ञान है एवं वह भूतकाल के विषयों को जानती है, तो यह कैसे कहा

जा सकता है कि मतिज्ञान के विषय मात्र वर्तमान काल के हैं। आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थवृत्ति में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि साम्प्रतकाल में गृहीत वस्तु की ही स्मृति होती है- **"स्मृतेरतीतविषयत्वान्न सर्वमेवम्विधमिति चेत्, न, साम्प्रतकाल-गृहीतारिक्तस्य कस्यचिदस्मरणात्।"**[14]

उमास्वाति ने श्रुतज्ञान की एक अन्य विशेषता का उल्लेख किया है कि यह मतिज्ञान की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है ।[15] हरिभद्र व्याख्या करते हैं कि श्रुतज्ञान से बाधित, दूरस्थ एवं सूक्ष्म विषयों का भी ज्ञान हो सकता है, इसलिए उसमें अधिक स्पष्टता है ।[16] जानने की इस योग्यता के कारण ही ज्ञाता को श्रुत केवली कहा जाता है।[17] तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार दोनों ज्ञानों में एक अन्य भेदक विशेषता यह है कि श्रुतज्ञान का विषय मतिज्ञान से अधिक व्यापक है। वे इसके समर्थन में दो तर्क देते हैं- 1. श्रुतज्ञान सर्वज्ञ के द्वारा कहा जाता है 2. यह अनन्त ज्ञेय को विषय करता है ।[18]

आगमिक विचारधारा के अनुसार प्रत्येक जीव में कम से कम दो ज्ञान होते हैं - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । सम्यक्त्व के अभाव में ये दोनों क्रमशः मति- अज्ञान और श्रुत-अज्ञान कहलाते हैं।[19] यदि हम श्रुतज्ञान को शाब्दिक अथवा आगमिक ज्ञान मानते हैं, तो ऐसा ज्ञान एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय जीवों में नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें श्रोत्रेन्द्रिय नहीं होने से शब्द ज्ञान नहीं हो सकता तथा आगमज्ञान तो अधिकांश पंचेन्द्रिय जीवों में भी नहीं होता, आगमस्वरूप श्रुतज्ञान तो मात्र कुछ मनुष्यों में ही प्राप्त होता है । विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि ने इस समस्या का समाधान करते हुए कहा है कि प्रत्येक जीव में भाव श्रुतज्ञान होता है । उन्होंने दो प्रकार के श्रुतज्ञानों का निरूपण किया है- 1. द्रव्यश्रुत ज्ञान, 2. भावश्रुत ज्ञान। द्रव्यश्रुत ज्ञान शाब्दिकज्ञान है तथा भावश्रुतज्ञान का उसके माध्यम से अनुभव होता है, किन्तु कहीं भावश्रुत ज्ञान का अनुभव बिना द्रव्य श्रुत के भी होता है, जैसे कि एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों में होता है। इसको लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान भी प्रतिपादित किया गया है। यह अक्षर श्रुतज्ञान प्रत्येक जीव की न्यूनतम योग्यता है, इसके बिना कोई जीव जीव नहीं हो सकता ।[20]

श्रुतज्ञान एवं श्रुतअज्ञान में भेद का प्रतिपादन करते हुए श्री कन्हैयालाल जी

लोढ़ा लिखते हैं कि मतिज्ञान से विषयों का ज्ञान होने के पश्चात् यदि व्यक्ति उनके भोग में ही सुख मानता है तो यह उसका श्रुत अज्ञान है तथा मतिज्ञान से विषयों को जानकर निर्णय करता है कि इन विषयों के भोग से जिस सुख की प्रतीति होती है, वह सुख क्षणिक है, सुखाभास है, वास्तविक सुख नहीं है। इस प्रकार का सम्यग्दर्शन युक्त ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानी जानता है कि विषयसुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है।[21]

आधुनिक विद्वानों में डॉ. नगीन जे. शाह एवं श्री कन्हैयालाल लोढा का चिन्तन विचारणीय है। नगीन जे. शाह का चिन्तन है कि पहले श्रवण होता है एवं फिर मनन होता है। श्रवण श्रुतज्ञान का तथा मनन मतिज्ञान का द्योतक है। वे अपने चिन्तन का आधार वैदिक मान्यता को बनाते हैं, जिसमें श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का क्रम है। उन्होंने अपने चिन्तन का आधार तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार सिद्धसेनगणि के कथन को भी बनाया है। सिद्धसेनगणि लिखते हैं- **मतिज्ञानी तावत् श्रुतज्ञानेनोपलब्धेषु अर्थेषु 'द्रव्याणि ध्यायति (मनुते) तदा मतिज्ञानविषयः सर्वद्रव्याणि न तु सर्वाः पर्यायाः' तथा श्रुतग्रन्थानुसारेण सर्वाणि धर्मादीनि जानाति, न तु तेषां सर्वपर्यायान्**। (टीका, सूत्र 1.27)। नगीन जे. शाह का निष्कर्ष है- यह स्पष्ट दिखाता है कि जिसे जैन मतिज्ञान कहते हैं वह मूलतः मनन है और प्रथम श्रवण (श्रुत) है और बाद में मति (मनन) है। श्रुत के आधार पर ही मनन (मति) चलता है।[22] डॉ. शाह का यह चिन्तन उन पर वैदिकधारा के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के क्रम का प्रभाव है, क्योंकि जैन परम्परा में तो यह तथ्य ही प्रबलता से उजागर हुआ है कि मतिपूर्वक श्रुत होता है। अतः इस तथ्य की उपेक्षा करना उचित नहीं है। दूसरी बात यह है कि मतिज्ञान का जो एक व्यापक स्वरूप है कि स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि प्रत्येक इन्द्रिय से एवं मन से मतिज्ञान होता है, वह भी धूमिल हो जाता है। अतः नगीन जे. शाह का चिन्तन जैन मत के अनुकूल नहीं है। श्री कन्हैयालाल लोढा श्रुतज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं- "श्रुतज्ञान है-देखे हुए, जाने हुए मतिज्ञान से अपने इष्ट और अनिष्ट का, हित-अहित का, हेय-उपादेय का ज्ञान करना। प्राणिमात्र का हित स्वभाव के अनुभव में है। अतः अपने स्वभाव का ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। यह स्वयं सिद्ध ज्ञान

है ।"[23] लोढा साहब का चिन्तन है कि यह श्रुतज्ञान सबको सहज रूप से प्राप्त है तथा यह ही मोक्ष का उपाय है ।

वस्तुतः मतिज्ञान से जो वस्तु आदि का ज्ञान होता है, उसमें आत्महित की दृष्टि से हेय, उपादेय आदि का बोध श्रुतज्ञान से होता है । यह आत्मा के द्वारा सुने जाने से श्रुत कहा गया है- "श्रूयते आत्मना तदिति श्रुतम्।"[24] मैंने अपने एक अंग्रेजी आलेख में श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में लिखा है- "Srutajñāna is the Knowledge which leads a person to decide distinction between the real needs and futile wants in life. It enables a person in attaining detachment from the worldly allurements and motivates him to proceed towards the salvation from sorrows. It is a big power for spiritual development of a soul. When it is obscured or perverted, a soul cannot decide the right path."[25]

श्रुतज्ञान का महत्त्व

मुक्ति के लिए श्रुतज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्ष-मार्ग के रूप में प्रतिपादित किया जाता है तो सम्यग्ज्ञान की भूमिका में श्रुतज्ञान की महत्ता सर्वाधिक है। यद्यपि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति एवं दुःखमुक्ति के लिए श्रुतज्ञान अधिक उपयोगी है। श्रुतज्ञान को आत्मज्ञान भी कहा जा सकता है। बाह्य विश्व को जानने में मतिज्ञान की सीमा है, किन्तु यह श्रुतज्ञान को प्रकट करने में सहायक हो सकता है। श्रुतज्ञान स्वयं को जानने में सहायक है। यह इन्द्रियों के माध्यम से प्रकट नहीं होता । तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- **श्रुतमनिन्द्रियस्य ।**[26] यहाँ 'अनिन्द्रिय' शब्द मन एवं आत्मा दोनों का वाचक है । इस तरह श्रुतज्ञान मन एवं आत्मा के द्वारा प्रकट होता है । यही एक मात्र ज्ञान है जो स्वयं को जीतने में उपयोगी है। यही हमें बताता है कि राग एवं द्वेष आत्मा के लिए अहितकर हैं। मूलाचार में सम्यग्ज्ञान का लक्षण करते हुए कहा गया है-

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।
जेण रागा विरजेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं नाणं जिणसासणे।[27]

जिससे तत्त्व का बोध हो, जिससे चित्त का निरोध हो, जिससे आत्मा विशुद्ध हो, जिनशासन में वह ज्ञान है। इसी प्रकार आगे कहा- जिससे राग से विरक्ति हो, जिससे श्रेय में अनुरक्ति हो, जिससे सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव हो वह जिनशासन में ज्ञान है। यह ज्ञान ही श्रुतज्ञान कहा जा सकता है। श्रुतज्ञान स्वयं का आन्तरिक प्रकाश है जो व्यक्ति को सही आचरण का मार्ग प्रशस्त करता है। आचारांगसूत्र में कहा है- "**जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।**"[28] जो आत्मा है वह विज्ञाता है तथा जो विज्ञाता है वह आत्मा है। ज्ञान वस्तुओं को एवं स्वयं को जानने की वह शक्ति है जो कभी नष्ट नहीं होती। श्रुतज्ञान पर कभी भी पूर्ण आवरण नहीं आता है। प्रत्येक जीव को यह किसी न किसी रूप में अनुभूत होता है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार यह स्वीकार किया गया है कि केवलज्ञान अथवा श्रुतज्ञान का अनन्तवाँ भाग सदैव उद्घाटित रहता है।

षट्खण्डागम की धवला टीका में सूक्ष्म निगोद के अपर्याप्तक जीव में जो जघन्य ज्ञान होता है उसे लब्ध्यक्षर कहा गया है। उस ज्ञान का विनाश नहीं होने से तथा एक स्वरूप में अवस्थान होने से उसकी अक्षर संज्ञा है। द्रव्यार्थिक नय से सूक्ष्म निगोद जीव में भी बने रहने से इस ज्ञान की अक्षर संज्ञा है। अतः कहा गया है- "**अक्खरस्साणंतिमभागो णिच्चुग्घाडिओ।**[29] धवलाटीका में यह केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग कहा गया है। गोम्मटसार में भी कहा गया है- **हवदि हु सव्वजहण्णं निच्चुग्घाडं निरावरणं।**[30] निरावरण केवलज्ञान जघन्य रूप में नित्य उद्घाटित रहता है। विशेषावश्यकभाष्य एवं उसकी हेमचन्द्रकृत बृहद्वृत्ति में भी यह चर्चा की गई है[31] तथा यह कहा गया है कि जिस प्रकार केवलज्ञान का अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित रहता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान का भी अनन्तवां भाग नित्य उद्घाटित रहता है। वहां पर यह भी संकेत किया गया है कि सर्वजीव शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है, क्योंकि केवलज्ञानियों के तो केवलज्ञान पूर्ण उद्घाटित रहता है, अतः उनको छोड़कर शेष जीवों के उसका अनन्तवां भाग उद्घाटित रहता है, ऐसा कहना चाहिए। इसी प्रकार श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में भी समस्त द्वादशांगी के वेत्ताओ को छोड़कर शेष जीवों के श्रुतज्ञान का अनन्तवां भाग नित्य उद्घाटित कहना चाहिए।[32] इसका तात्पर्य है कि न्यूनाधिकरूप में श्रुतज्ञान सब जीवों को प्राप्त है। इस श्रुतज्ञान

का महत्त्व समझकर जो इसका उपयोग करता है वह जीव आत्म-विकास करने में समर्थ होता है।

विशेषावश्यकभाष्य में श्रुतज्ञान को आत्मा कहा गया है- **सुयं तु परमत्थओ जीवो।**[33] तीर्थंकरों के मत में श्रुतज्ञान आत्मा का लक्षण है, जैसा कि मल्लवादी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति में कहते हैं- **आत्मनः परिणामश्च श्रुतज्ञानमिष्यते तीर्थंकरादिभिः।**[34] आत्मा के परिणाम को श्रुतज्ञान कहा जाता है।

बृहत्कल्पभाष्य में भी श्रुतज्ञान को नियमतः जीव कहा गया है। वहां कहा गया है कि या तो जीव श्रुतज्ञानी होता है या श्रुतअज्ञानी होता है अथवा केवलज्ञानी होता है।[35] श्रुतज्ञान के कारण अकेवली भी केवली के समान होता है। केवली तीन प्रकार का कहा गया है- 1. श्रुतकेवली 2. अवधिकेवली तथा 3. केवलकेवली।[36] श्रुतज्ञान को तृतीय नेत्र के रूप में प्रतिपादित करते हुए गुरु ने शिष्य से कहा- शिष्य! "तुम श्रुत के अग्रहण का दुराग्रह मत करो। श्रुत सूक्ष्म, व्यवहित आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए तृतीय चक्षु के समान है। तुम उसका अनुशीलन करो।"[37]

श्रुतज्ञान के लिए मनुष्य को जाग्रत एवं अप्रमत्त रहने की आवश्यकता है। कहा गया है-

जागरह नरा! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
सुवति सुवंतस्स सुतं, संकितं खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुतं, थिरं परिचितमप्पमत्तस्स।।

- बृहत्कल्पभाष्य,3382 एवं 3384

हे मनुष्यों! सदा जागृत रहो। जो जागता है अर्थात् अप्रमत्त रहता है, उसकी बुद्धि बढ़ती है। सोने वाले का श्रुत सो जाता है। जो प्रमत्त होता है उसके ज्ञान में शंका या स्खलना उत्पन्न हो जाती है। जो जागृत रहता है, अप्रमत्त है, उसका श्रुत स्थिर तथा परिचित हो जाता है।

निष्कर्षः-

1. श्रुतज्ञान प्रत्येक जीव का एक आवश्यक लक्षण है। सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में यह सम्यक् श्रुतज्ञान कहलाता है तथा मिथ्यादर्शन की उपस्थिति में श्रुत अज्ञान कहलाता है।

2. सामान्यतः श्रुतज्ञान को आगम प्रमाण के रूप में माना जाता है, जिसमें जिनवाणी, आगमग्रन्थ एवं आप्तोपदेश का समावेश होता है।
3. यह मतिज्ञानपूर्वक होता है । मतिज्ञान इन्द्रियों एवं मन के द्वारा प्रकट होता है तथा श्रुतज्ञान उसके पश्चात् प्रकट होता है। यह कथन ज्ञाता की अपेक्षा से किया गया है, वक्ता की अपेक्षा से नहीं। ज्ञाता मतिज्ञान से जानकर ही हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का विचार करता है तथा इस सम्बन्ध में लिया गया निर्णय ही श्रुतज्ञान का स्वरूप ग्रहण करता है। वक्ता यदि केवलज्ञानी है या आप्त पुरुष है तो उसके वचन भी श्रुतज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक होने से श्रुतज्ञान कहे जाते हैं।
4. श्रुतज्ञान के प्रकटीकरण के लिए श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होना अनिवार्य है स्वाध्याय से तथा ज्ञान का आदर अर्थात् आचरण करने से श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है।
5. श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जिसकी समानता केवलज्ञान से की जाती है तथा वह सर्व दुःखों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है एवं केवलज्ञान के प्रकटीकरण में सहायक है।
6. यदि श्रुतज्ञान को मात्र शाब्दिक अथवा आगमिक ज्ञान माना जाए, तो वह एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों में सम्भव नहीं हो सकता तथा कुछ पंचेन्द्रिय जीवों में भी नहीं हो सकता । इसलिए श्रुतज्ञान का स्वरूप आगमिक ज्ञान से भिन्न भी होना चाहिए । जिनभद्रगणी ने समाधान करते हुए कहा है कि एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों में भी भावश्रुत पाया जाता है, जो द्रव्यश्रुत के बिना भी हो सकता है।
7. श्रुतज्ञान व्यक्ति को सांसारिक आकर्षणों से दूर करता है तथा उसे मुक्ति के मार्ग हेतु प्रेरित करता है। यह आध्यात्मिक विकास हेतु बहुत बड़ी शक्ति है, जब यह रुक जाता है या भ्रान्त होता है तो जीव को सही पथ का ज्ञान नहीं होता है।

सन्दर्भः-

1. (1) जो हि सुदेणाहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।- समयसार, 1.9

(2) जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।-प्रवचनसार, 1.33

2. सुदकेवलं च नाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होन्ति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं नाणं।।- गोम्मटसार, जीवकाण्ड, 369
3. श्रुतमाप्तवचनमागम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायं प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्।- सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 1.20
4. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ।
उपचारादाप्तवचनं च ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक 4.1-2
5. (1) श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्।- तत्त्वार्थसूत्र, 1.20
(2) मइपुव्वं सुयमुत्तं - विशेषावश्यकभाष्य, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, गाथा 105
6. द्रष्टव्य, सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 15वां संस्करण, 2009, पृ.85
7. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 105 एवं 106
मइपुव्वं सुयमुत्तं न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं।
पुव्वं पूरण-पालणभावाओ जं मई तस्स,
पूरिज्जइ पाविज्जइ दिज्जइ वा जं मईए णामेण
पालिज्जइ य मईए गहियं इहरा पणसेज्जा।।
8. तत्त्वार्थवार्तिक, 1.20.7
9. मतिसामान्यनिर्देशान्न श्रोत्रं मतिपूर्वकम्।
श्रुतं नियम्यते अशेषमतिपूर्वस्य वीक्षणात्।। - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.20.10
10. न स्मृत्यादि मतिज्ञानं श्रुतमेवं प्रसज्यते ।
मतिपूर्वत्वनियमात्तस्यास्य तु मतित्वतः ।। - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.20.12
11. मतिर्हि बहिरंगं श्रुतस्य कारणं अन्तरंग तु श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः ।
स च स्मृत्यादेर्मतिविशेषस्य नास्तीति न श्रुतत्वम्।- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.20.13 की वृत्ति
12. (i) केवलणाणेणत्थे, णाउं जे तत्थ पण्णवणजोग्गे ।
ते भासइ तित्थयरो, वयजोगं सुयं हवइ सेसं। - आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 78
(ii) जिनभद्रगणि ने भी इसकी चर्चा की है ।- द्रष्टव्य, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 829
13. तत्त्वार्थभाष्य, 1.20
14. हारिभद्रीया, तत्त्वार्थवृत्ति, 1.20 पृ.99
15. श्रुतज्ञानन्तु त्रिकालविषयं विशुद्धतरं चेति। - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 1.20
16. व्यवहितविप्रकृष्टानेकसूक्ष्मार्थग्राहित्वाद्विशुद्धतरमुच्यते।- हारिभद्रीया तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञभाष्यनुसारि श्री हरिभद्रवृत्ति-समन्वित, श्री हर्षपुष्पामृत जैन

ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क-369, लाखाबावल, सौराष्ट्र, सन् 2000, सूत्र 1.20 पृ. 103
17. णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ।- समयसार, गाथा 10
18. सर्वज्ञप्रणीतत्वादानन्त्याच्च ज्ञेयस्य श्रुतज्ञानं मतिज्ञानान्महाविषयम्।
- सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 1.20
19. सम्यग्दर्शनपरिगृहीतं मत्यादि ज्ञानं भवत्यन्यथाऽज्ञानमेवेति। - तत्त्वार्थभाष्य 1.32
20. द्रष्टव्य, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 110 से 117
21. बन्ध तत्त्व, पूर्वोक्त, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2010, पृ. 9-10, भावार्थ द्रष्टव्य ।
22. जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), मतिज्ञान और केवलज्ञान की विभावना, संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला 8, अहमदाबाद, 2003 पृ. 37
23. बन्ध तत्त्व, पूर्वोक्त, पृ. 16
24. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 81 पर हेमचन्द्र वृत्ति ।
25. Jinvani, Samyag Jñāna Pracharak Mandal, Jaipur, ISSN 2249-2011, July 2013, p. 49
26. तत्त्वार्थसूत्र, 2.22
27. समणसुत्तं, गाथा 252 से 253
28. आचारांगसूत्र 1.5.5 सूत्र 177
29. षट्खण्डागम, धवलाटीका, पुस्तक 13, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर सूत्र 5.5.48 पृ. 262
30. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 320
31. सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियओ- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 458 की बृहद्वृत्ति एवं गाथा 492 की बृहद्वृत्ति ।
32. द्रष्टव्य- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 492 की बृहद्वृत्ति ।
33. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 99 का अन्तिम पाद
34. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 98 पर वृहद्वृत्ति
35. नियमा सुयं तु जीवो, जीवे भयणा उ तीसु ठाणेसु ।
सुयनाणी सुय अन्नाणी, केवलनाणी व सो होज्जा ।।- बृहत्कल्पभाष्य, गाथा 139
36. गीयत्थो---अकेवली वि केवलीव भवति । अहवा केवली तिविधो---सुयकेवली अवधिकेवली केवलिकेवली ।- निशीथ भाष्य 4820 की चूर्णि
37. मा एवमसग्गाहं गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं -- सूक्ष्मव्यवहितादिष्वतीन्द्रियार्थेषु तृतीयचक्षुः । - बृहत्कल्पभाष्य 1154 की वृत्ति

सम्यग्दर्शन

आचारांग का एक वाक्य है- **जहा अंतो तहा बाहिं**। अर्थात् व्यक्ति जैसा भीतर में होता है वैसा ही बाहर होता है। जैसी उसकी आन्तरिक दृष्टि होती है वैसा ही उसका जीवन होता है। भीतर में यदि उसका सोच संकीर्ण है तो व्यवहार में भी संकीर्णता आ ही जाएगी। भीतर में जैसा दृष्टिकोण होता है, जैसी मान्यता होती है, जैसी श्रद्धा या विश्वास होता है, व्यक्ति का जीवन वैसा ही बनता है। व्यक्ति चाहे तो अपनी दृष्टि बदल कर जीवन बदल सकता है। दुःख से मुक्त होने के लिए यह दृष्टि का परिवर्तन ही प्रथम आधार है। यह यदि सम्यक् हो जाए तो उसे सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शन कहा जाता है। दर्शन सम्यक् होते ही व्यक्ति का ज्ञान स्वतः सम्यक् हो जाता है तथा इन दोनों के सम्यक् होने पर आचरण सम्यक् हो जाता है। जब ये तीनों सम्यक् हों तो मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग पूर्णता को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन को मापने का बाहरी पैमाना है- शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य का होना। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति में क्रोधादि कषायों का शान्त होना शम कहलाता है, दुःख से मुक्ति की तीव्र अभिलाषा संवेग है, विषय-भोगों से विरक्ति निर्वेद है, दुःखी प्राणियों के दुःख का संवेदन होना अनुकम्पा है तथा सभी जीवों के अस्तित्व एवं दुःखमुक्ति को स्वीकार करना आस्तिक्य है। दुःख से मुक्त हुए अरिहन्तों एवं सिद्धों, दुःखमुक्ति के मार्ग के उपदेष्टा गुरुओं तथा दुःखमुक्ति के आचरण स्वरूप धर्म पर श्रद्धा होना भी सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्वीकार किया गया है।

जीवन, जगत्, सुख-दुःख आदि के सम्बन्ध में प्रत्येक जीव कोई न कोई व्यक्त या अव्यक्त मान्यता, श्रद्धा, विश्वास या धारणा लिए हुए है। यह मान्यता, विश्वास, श्रद्धा या धारणा ही उसकी दृष्टि है। इस दृष्टि के अनुसार प्रत्येक जीव एक ही घटना के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखता है तथा भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। कोई एक घटना में सुख का अनुभव करता है तो दूसरा उसी घटना में दुःख का अनुभव करता है। एक उसे त्याज्य समझता है तो दूसरा उसे ग्राह्य मानता है। एक की दृष्टि मोह की प्रगाढता से दूषित रहती है तो दूसरे की दृष्टि निर्मल एवं निरासक्त होती है। एक धन-सम्पत्ति, भूमि-भवन आदि को प्राप्त कर उन्हें पकड़े रखने में हित मानता है तो दूसरा उनकी तुच्छता समझकर उन्हें त्याग देने में हित समझता है। इस प्रकार यह दृष्टि जीव की जीवन शैली का निर्धारण करती है।

आगम में दृष्टि तीन प्रकार की कही गई है-1. सम्यग्दृष्टि 2. मिथ्यादृष्टि और 3. मिश्रदृष्टि। ये तीनों दृष्टियाँ जीव की आन्तरिक जीवन-दृष्टि की परिचायक हैं। वैसे तो प्रत्येक जीव की दृष्टि एक दूसरे से भिन्न ही होती है, इसलिए दृष्टि के अनन्त भेद भी हो सकते हैं, किन्तु उन अनन्त दृष्टियों का समावेश स्थानांगसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगमों में उपर्युक्त तीन दृष्टियों में किया गया है। तदनुसार लोक में कुछ जीव सम्यग्दृष्टियुक्त होते हैं, कुछ जीव मिथ्यादृष्टि युक्त होते हैं तथा शेष कुछ जीव मिश्रदृष्टि वाले होते हैं।

प्रश्न यह होता है कि किसे सम्यग्दृष्टि कहा जाये, किसे मिथ्यादृष्टि एवं किसे मिश्रदृष्टि? स्थूलदृष्टि से कहा जाये तो जो जीव पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर वैसा श्रद्धान नहीं करते हैं, विषय भोगों में रमण करना अच्छा समझते हैं या मूढ बने हुए हैं वे मिथ्या दृष्टि होते हैं। इसके विपरीत जो जीव-जीवादि पदार्थों को यथाभूत रूप में जानकर उन पर वैसा श्रद्धान करते हैं, वैषयिक सुखों से विरक्त होकर विकार-विजय के मार्ग की ओर उन्मुख होने में अपना हित समझते हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हैं। जब कोई जीव सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि न हों तो वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि कहे गए हैं। मिश्रदृष्टि का काल अन्तर्मुहूर्त जितना होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि अनन्तकाल तक रह सकती है। सम्यग्दृष्टि में प्रत्येक का काल भिन्न-भिन्न है।

सम्यग्दर्शन के त्रिविध स्वरूप

1. तत्त्वार्थश्रद्धान- उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। वहाँ सम्यग्दर्शन का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है-

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तु वियाहियं।

-उत्तराध्ययनसूत्र, 28.15

जो जीव, अजीव आदि पदार्थ जैसे हैं उनके वैसे होने का स्वतः अथवा उपदेश से भावपूर्वक श्रद्धान होना सम्यक्त्व कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार में जीवादि पदार्थों पर श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन कहा है।[1] जो जीवादि

तत्त्व जैसे हैं उन पर वैसा ही श्रद्धान करना अथवा उनको वैसा ही मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का ऐसा ही लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में भी प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है- **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** (तत्त्वार्थसूत्र 1.2) अर्थात् तत्त्वार्थ पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थ शब्द का आशय है- जीव, अजीव आदि तत्त्व। इन्हें ही अर्थ या पदार्थ कहा गया है। आगम में इन तत्त्वों की संख्या नौ है- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य एवं पाप के अतिरिक्त सात तत्त्व प्रतिपादित हैं। इन तत्त्वों के यथाभूत स्वरूप पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इन तत्त्वों के स्वरूप बोध से बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रिया का बोध होता है, इसलिए इन तत्त्वों का ज्ञान एवं उन पर श्रद्धान आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भूतार्थ (यथाभूत अर्थ) का आश्रय लेने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा है[2] तथा भूतार्थ में वे जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों का ग्रहण करते हैं।[3]

2. देव, गुरु एवं धर्म (तत्त्व) पर श्रद्धान - सम्यग्दर्शन का एक व्यावहारिक लक्षण है- सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर आस्था। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इसी प्रकार का लक्षण प्रदान करते हुए कहा है-

या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते।। -योगशास्त्र, 2.2

वीतराग देव को देव समझना, सद्गुरु को गुरु मानना तथा जिनप्रज्ञप्त धर्म में धर्मबुद्धि होना सम्यक् श्रद्धान है अथवा सम्यग्दर्शन है। योगशास्त्र के इस कथन का आधार सम्भव है आवश्यक सूत्र की निम्नांकित गाथा रही हो।

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं।।

अरिहन्त मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं तथा जिनप्रज्ञप्त तत्त्व (धर्म) है, यह सम्यक्त्व मेरे द्वारा जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण किया गया है। हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन समुच्चय (श्लोक 46) में भी जिनेन्द्र को देवता कहा गया है- **जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः।राजशेखरसूरि** (13 वीं शती) ने गुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है-

महाव्रतधरो धीरः सर्वागमरहस्यवित्।
क्रोधमानादिविजयी निर्ग्रंथो गुरुरुच्यते।।[4]

पंच महाव्रतधारी, समस्त आगमों के रहस्यों के ज्ञाता, क्रोध-मान आदि कषाय विजयी, धीर एवं निर्ग्रंथ गुरु कहे गए हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षपाहुड में भी कथन है कि हिंसा रहित धर्म, अज्ञानादि अठारह दोषों से रहित देव तथा निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा होना सम्यक्त्व है।[5] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गुरु पद का भी समावेश करते हुए कहा गया है-

णिज्जियदोसं देवं सव्वजिणाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी।।[6]

दोषविजेता वीतराग को जो 'देव', उत्कृष्ट दया को 'धर्म' तथा निर्ग्रंथ को 'गुरु' मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

सम्प्रति वीतराग अरिहन्त-सिद्ध को देव, पंच महाव्रतधारी को गुरु एवं जिनप्रज्ञप्त तत्त्व को धर्म मानने रूप सम्यग्दर्शन के स्वरूप का अधिक प्रचलन है। किन्तु अंग एवं उपांग आगमों में प्रायः निर्ग्रन्थ प्रवचन या जिनवचन पर श्रद्धा करने का ही उल्लेख मिलता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है-'**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं**'[7] अर्थात् वही सत्य निश्शंक है जो जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है। आचारांग के इस वचन में मात्र महावीर का नहीं, समस्त जिनेन्द्रों का कथन है। जिनेन्द्रों के द्वारा प्ररूपित वचन श्रद्धेय हैं। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक भगवान महावीर की धर्मदेशना सुनने के पश्चात् कहता है-**सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं पत्तियामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते! 'निग्गंथ पावयणं, एवमेय भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते!**[8] अर्थात् 'हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ, निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे रुचिकर है। वह ऐसा ही है, तथ्य है, सत्य है। निर्ग्रन्थ प्रवचन या जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित तत्त्व श्रद्धेय है।' जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित धर्म जब श्रद्धेय है तो जिनेन्द्र देव तो स्वतः ही श्रद्धेय हो गए। इसी प्रकार निर्ग्रन्थ-प्रवचन श्रद्धेय होने से उसके उपदेष्टा निर्ग्रन्थ गुरु भी श्रद्धेय हो गए। इस दृष्टि से देव, गुरु एवं धर्म (जिन प्ररूपित) तीनों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन सिद्ध होता है।

3. आत्म-अनात्म विवेक- तत्त्वार्थश्रद्धान एवं जिनागम पर श्रद्धान का फल होता है- आत्मा का पर पदार्थों से भिन्नता का अनुभव। पर से आत्म-तत्त्व की भिन्नता निश्चय सम्यग्दर्शन है। पण्डित चैनसुखदास ने जैन दर्शनसार में सम्यग्दर्शन का इसी प्रकार का लक्षण दिया है- **सम्यग्दर्शनं हि आत्मेतरविवेकरूपम्।**[9] आत्मा एवं पर पदार्थों में पृथकूता का बोध सम्यग्दर्शन है। इस कथन का आधार आचार्य जयसेन का यह वाक्य रहा होगा-"**अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वम्।**"[10] भूतार्थ से ज्ञात पदार्थों की शुद्धात्मा से भिन्नता का सम्यक् अनुभव करना या जानना निश्चय सम्यक्त्व है। ऐसा सम्यक्त्व होने पर शुद्धात्मा की उपादेयता के प्रति श्रद्धान होता है। सम्यग्दर्शन से युक्त जीव आत्मा में लीन रहता है, जैसा कि कुन्दकुन्द कहते हैं- **अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।(भावपाहुड 31)** आत्मस्वरूप में लीन जीव सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दर्शन के इस स्वरूप को आत्मविनिश्चय, ग्रन्थिभेद आदि शब्दों से भी व्यक्त किया जाता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन निश्चय एवं व्यवहार दोनों प्रकार का हो सकता है। जब तक तत्त्वार्थों के स्वरूप का आत्मिक स्तर पर अनुभव नहीं हुआ है तब तक उन पर हुई श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है तथा आत्म-अनात्म विवेक निश्चय सम्यग्दर्शन का रूप है। देव, गुरु एवं धर्म पर सही श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के लिए मात्र 'सम्यक्त्व (सम्मत्तं) शब्द का प्रयोग भी आगम में बहुशः हुआ है। वैसे सम्यक्त्व शब्द सम्यक्पने या यथार्थता का द्योतक है जिसका दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र तीनों के साथ प्रयोग होता है, यथा- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। तत्त्वार्थसूत्र में '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**'[11] सूत्र में स्थित 'सम्यक्' पद का दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र तीनों के साथ अन्वय हुआ है। फिर भी सम्यक्त्व शब्द सम्यग्दर्शन के अर्थ में ही रूढ है, क्योंकि तीनों में सम्यग्दर्शन की प्रधानता है । दर्शन सम्यक् होने पर ही ज्ञान सम्यक् होगा और ज्ञान सम्यक् होने पर ही चारित्र सम्यक् होगा।

दृष्टि का महत्त्व एवं सम्यग्दर्शन

जैसी दृष्टि होती है, प्रायः सृष्टि वैसी ही प्रतीत होती है । नेत्रों पर यदि हरे

ग्लास का चश्मा चढ़ा लिया जाये तो बाहर सब कुछ हरा ही दिखाई देता है तथा व्यवहार भी फिर उसी के अनुसार किया जाता है। जब बाह्य नेत्रदृष्टि का भी इतना प्रभाव परिलक्षित होता है तो अन्तःदृष्टि की तो बात ही क्या? भीतर में दृष्टि भोग की है तो सबकुछ भोग्य ही नजर आता है, भीतर में भोगों को त्याज्य समझ लिया है, तो सारे भोग तुच्छ एवं त्याज्य नजर आते हैं। दृष्टि की निर्मलता को सम्यग्दृष्टि कहा गया है। जब दृष्टि सम्यक् से पुनः मलिन होने लगे, किन्तु पूर्णतः मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हो, ऐसी मिश्रित अवस्था को मिश्रदृष्टि कहा जाता है। चूँकि मिश्रदृष्टि में जीव अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहता, इसलिए हम प्रायः मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि अवस्था में ही जीते हैं। इनमें भी दृष्टि नैर्मल्य के आधार पर आकलन किया जाये तो मिथ्यादृष्टि जीव ही अधिक हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव तो प्रायः मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, किन्तु पंचेन्द्रियों में मनुष्यों की चर्चा की जाये तो वे भी अधिकतर मिथ्यादृष्टि ही हैं।

'दृष्टि' का अपर नाम 'दर्शन' भी है। संस्कृत में ये दोनों शब्द 'दृश्' (देखना) धातु से निष्पन्न हुए हैं। 'दृश्' धातु से जब 'क्तिन्' प्रत्यय किया जाता है तो 'दृष्टि' शब्द निष्पन्न होता है तथा जब 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय किया जाता है तो 'दर्शन' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'दृष्टि' एवं 'दर्शन' शब्द एक ही 'दृश्' धातु से निष्पन्न हैं। दृश् का अर्थ है- देखना, किन्तु सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में दर्शन का 'श्रद्धान' अर्थ स्वीकार किया है।[12]

दर्शन शब्द का प्रयोग जैनदर्शन में दो प्रकार से हुआ है- एक तो दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम के लिए तथा दूसरा जीव के द्वारा दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के लिए। यहाँ पर 'सम्यग्दर्शन' का अभिप्राय दर्शनमोह कर्म के क्षयादि से प्रकट 'दर्शन' से है।

सम्यग्दर्शन के दो उपाय

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु तत्त्वार्थसूत्र (1.2) में दो उपाय प्रतिपादित हैं- "**तन्निसर्गादधिगमाद्वा**" वह सम्यग्दर्शन स्वतः एवं अधिगम अर्थात् गुरु आदि के उपदेश से होता है। परिवार में किसी की मृत्यु देखकर किसी को यह बोध हो सकता है कि संसार अनित्य है, जीवन भी नश्वर है, इसमें मोह ममता करना दुःख का

कारण है। इस प्रकार यथार्थ का बोध एवं उस पर श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन निसर्ग से अर्थात् स्वतः होने वाला सम्यग्दर्शन है। कभी गुरु आदि के उपदेश से एवं शास्त्र से भी संसार की अनित्यता, अशरणता, दुःखशीलता आदि का बोध एवं श्रद्धान होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। आगम में ऐसे अनेक वाक्य प्राप्त होते हैं, जो व्यक्ति को संसार से विरक्त करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है-

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं दुक्खकेसाण भायणं।।[13]

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है तथा अशुचि में उत्पन्न है। यह अशाश्वत है तथा दुःख एवं क्लेशों का भाजन है। इस प्रकार का यह आगम वाक्य शरीर के प्रति आसक्ति को तोड़ने के लिए प्रेरित करता है। शरीर से आसक्ति टूटेगी तो दृष्टि का सम्यक् होना सम्भव है। अथवा कहें कि दृष्टि सम्यक् हो जाएगी तो आसक्ति का टूटना शक्य है।

इसी प्रकार महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक का वचन है-

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।[14]

ज्ञानदर्शनमय एक शाश्वत आत्मा ही मेरी है, शेष सब पदार्थ बाहरी है एवं संयोग लक्षण वाले हैं। यह कथन आत्मा एवं उससे इतर पदार्थों में भेदज्ञान कराने के लिए अधिगम का कार्य करता है।

श्रीमद् राजचन्द्र का कथन 'मेरा सो जावे नहीं, जावे सो मेरा नहीं।' भी जीवन को एक दृष्टि प्रदान करता है कि जो नश्वर है वह वस्तु जाएगी ही, उसके प्रति मोह ममत्व करना उचित नहीं। वह मेरे लाख चाहने एवं प्रयत्न करने पर भी छूट जाएगी, अतः उसके जाने से दुःखी होना उचित नहीं। इस तरह यह वाक्य आत्मा एवं आत्मेतर पदार्थों में भेदज्ञान करने का सूत्र प्रदान करता है।

जो सम्यग्दृष्टि होना चाहता है, उसके लिए प्राथमिक उपाय यही है कि वह जिनेन्द्रों के द्वारा प्ररूपित तत्त्व को निश्शंकतापूर्वक स्वीकार करे। जिन्होंने सम्यग्दर्शन के माध्यम से सम्यक् पथ को अपनाया है तथा समस्त राग-द्वेषादि शत्रुओं को जीतकर केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति की है, उनके वचनों पर

विश्वास करना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु समुचित कदम है । यह विश्वास या यह श्रद्धा भी सम्यग्दर्शन ही है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर व्यक्ति उन्मार्ग से सन्मार्ग पर आ जाता है एवं आत्मा का इतर पदार्थों से भेदज्ञान करने में समर्थ होता है । वह भेदज्ञान ही सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन का प्रकटीकरण एवं उसकी प्रक्रिया

दृष्टि की सम्यक्ता एवं इसके मिथ्यात्व के मापदण्ड का आधार जैन-ग्रंथों में मोह की कमी या आधिक्य को स्वीकार किया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव वे हैं जिन्होंने प्रगाढ़ मोह को शिथिल कर दिया है। पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो सम्यग्दृष्टि का प्रकटीकरण तब होता है, जब दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों (सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय एवं मिश्रमोहनीय) का तथा चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबन्धीचतुष्क (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ) का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर दिया जाता है। चारित्रमोहनीय मोह का आचरण सम्बन्धी रूप है जो क्रोधादि के माध्यम से प्रकट होता है। दर्शनमोहनीय मोह का दृष्टिगत या विश्वासगत रूप है, जो अधिक भयंकर है। दृष्टि ही मलिन हो तो स्वच्छता नजर नहीं आ सकती। अन्तःदृष्टि में मलिनता को ही मिथ्यात्व कहा गया है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य एवं करण इन पाँच लब्धियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पूर्व बद्ध कर्मों के अनुभाग अथवा रस की तीव्रता जब कम होती है तथा विशुद्धि के कारण अनुभाग के स्पर्धक अनन्तगुण हीन होते हुए उदीर्ण होते हैं तो उसे **क्षयोपशम लब्धि** कहते हैं।[15] क्षयोपशम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय- इन चार घाती कर्मों का ही होता है। विशेषतः मोह में कमी ही क्षयोपशम लब्धि की द्योतक होती है, जिसमें जीव अपने ज्ञान का उपयोग तत्त्वबोध में करता है। प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन क्रम से अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ साता वेदनीय आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है उसकी प्राप्ति **विशुद्धि लब्धि** है।[16] तीर्थंकर, गुरु आदि का उपदेश श्रवण कर उसके अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारण की शक्ति को **देशना लब्धि** कहते हैं। देशनालब्धि कदाचित् मिथ्यात्वी के निमित्त से भी प्राप्त हो सकती है। मिथ्यादृष्टि

मुनियों के उपदेश से अनेक भव्य जीवों को सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ है। चौथी लब्धि **प्रायोग्य लब्धि** है। दिगम्बर ग्रन्थ लब्धिसार के अनुसार इसके अन्तर्गत जीव आयु कर्म के अतिरिक्त शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोटा कोटि सागरोपम कर लेता है। इसमें कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एवं उत्कृष्ट अनुभाग का घात होता है तथा अशुभ कर्मों का अनुभाग द्वि स्थानिक बंधता है तथा शुभ कर्मों का प्रतिसमय अनन्तगुणा बढ़ता चतुःस्थानिक अनुभाग बंधता है। अशुभ कर्मों का द्विस्थानिक उदय तथा शुभ कर्मों का चतुःस्थानिक रस उदित होता है।[17] लब्धिसार के अनुसार क्षयोपशम आदि चार लब्धियाँ अभव्य जीवों को भी हो सकती हैं, किन्तु करण लब्धि भव्य जीव को ही होती है।[18] सम्यक्त्व प्राप्ति के अनुकूल विशेष प्रशस्त परिणाम ही करण लब्धि हैं। इसकी प्राप्ति संज्ञी, पर्याप्तक, निर्मल परिणाम वाले, ज्ञानोपयोगवान्, जाग्रत और शुभ लेश्या वाले भवी जीव को होती है।

करण लब्धि के तीन स्तर हैं- 1. यथाप्रवृत्तिकरण (अधःप्रवृत्तिकरण), 2. अपूर्वकरण एवं 3. अनिवृत्तिकरण।[19] प्रायोग्य लब्धि के अन्तर्गत जब सात कर्मों की स्थिति अंतः कोटाकोटि सागरोपम रहती है, उसको यथाप्रवृत्तिकरण में और परिमित कर दिया जाता है। यथाप्रवृत्त करण में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती रहती है जो अपूर्व करण में और अधिक बढ़ती जाती है। इसका उल्लेख पंचसंग्रह भाग 9 की गाथा 7 में हुआ है, यथा- '**पइसमयमणन्तगुणा सोही उड्ढामुही तिरिच्छा उ।**' **यथाप्रवृत्तिकरण** करने वाला जीव राग-द्वेष की ग्रन्थि तक पहुँचता है, किन्तु उसे भेद नहीं पाता है। **अपूर्वकरण** में जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ने में सफल हो जाता है, यह उसके लिए एक नवीन उपलब्धि होती है, इसलिए इसे अपूर्वकरण कहा गया है। कर्मग्रन्थों की मान्यता के अनुसार यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों में भी अनन्त बार हो सकता है, किन्तु वे उससे आगे नहीं बढ़ पाते हैं। भव्य जीव ही अपूर्वकरण करने में समर्थ हो पाते हैं। अपूर्वकरण के द्वारा जीव के परिणाम जब अधिक शुद्ध होते हैं तब **अनिवृत्तिकरण** होता है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अनिवृत्ति करण में जीव का वीर्य समुल्लास इतना बढ़ जाता है कि वह अन्तर्मुहूर्त स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की क्रिया करता हुआ मिथ्यात्व मोहनीय के कर्म दलिकों को उपशांत करने में समर्थ होता है। इस करण के

पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व मोहनीय का कोई दलिक उदय में नहीं रहता है। फलतः **औपशमिक सम्यक्त्व** प्रकट हो जाता है। औपशमिक सम्यक्त्व में जीव शान्ति, स्थिरता और पूर्ण आनन्द का अनुभव करता है। इसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहा जाता है।

यथाप्रवृत्तिकरण आदि त्रिविध करण औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जीव मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है- शुद्ध, अर्द्ध शुद्ध और अशुद्ध। औपशमिक सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होने पर जीव की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। परिणामों की शुद्धता रहने पर शुद्ध पुंज उदय में आता है, जिससे सम्यक्त्व का घात नहीं होता है एवं जो सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** कहा जाता है। जीव के परिणाम अर्द्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुंज का उदय रहता है, तब जीव मिश्र दृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुंज का उदय होता है, फलतः पुनः जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

सम्यक्त्व के प्रकार

सम्यग्दर्शन कैसा एवं कितने काल के लिए हुआ है, इसका भी बड़ा महत्त्व है। यदि **सम्यग्दर्शन क्षायिक** हुआ है तो वह एक बार होने के पश्चात् कभी समाप्त नहीं होता। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त मनुष्य ने यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व अगले भव का आयुष्य नहीं बांधा है तो वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यदि आयुष्य बांध लिया है तो तीन या चार भवों में अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन अत्यन्त निर्मल होता है तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों का क्षय होने पर प्रकट होता है।

औपशमिक सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियों का उपशम होने पर प्रकट होता है। औपशमिक में भी क्षायिक सम्यग्दर्शन की भांति निर्मलता रहती है, किन्तु इसमें अनन्तानुबन्धी आदि सातों प्रकृतियाँ सत्ता में बनी रहती हैं, जो पुनः प्रकट हो जाती हैं, जबकि क्षायिक सम्यग्दर्शन में इनका पूर्णतः क्षय हो जाता है। इन दोनों के भेद को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। एक गिलास में पानी मिट्टी से गंदला हो तथा फिटकरी आदि का प्रयोग करने पर

मिट्टी नीचे बैठ जाए तो पानी निर्मल दिखाई देता है, किन्तु गिलास के हिलने पर पानी में मिट्टी के पुनः मिलने से पानी गंदला होने की सम्भावना रहती है। यही स्थिति औपशमिक सम्यग्दर्शन की है, जो सत्ता में स्थित अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं दर्शनमोह की प्रकृतियों के उदय में आने पर समाप्त हो सकता है। यदि गिलास की मिट्टी को हटा कर पानी को पूर्णतः निर्मल कर लिया जाए तो हम उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन को समझने का उदाहरण मान सकते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन के पुनः अशुद्ध होने या समाप्त होने की गुंजाइश नहीं होती। **औपशमिक सम्यग्दर्शन** एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट दो बार तथा अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार एवं उत्कृष्ट पाँच बार प्राप्त हो सकता है। **औपशमिक** सम्यग्दर्शन हुआ है तो वह एक बार अवश्य ही समाप्त होता है, क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व का काल जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। ऐसे जीव की भी अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में तो मुक्ति निश्चित ही है।

सम्यक्त्व का तृतीय प्रकार है **क्षायोपशमिक**। इस सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन छह प्रकृतियों का क्षयोपशम (उदय के अभाव रूप क्षय और सत्ता में उपशम) हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय का वेदन रहता है। यह सम्यक्त्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट 66 सागरोपम से अधिक काल तक रहता है। यह सम्यक्त्व एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट पृथक्त्व हजार बार तथा अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार तथा उत्कृष्ट असंख्यात बार प्राप्त हो सकता है।

सम्यक्त्व के कुछ अन्य प्रकार भी हैं, जिनमें उपशम सम्यक्त्व से गिरता हुआ जीव जब मिथ्यात्व को प्राप्त करने की ओर अग्रसर होता है तो जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट छह आवलिका तक वह **सास्वादन सम्यक्त्व** का आस्वादन करता है। सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन होना **वेदक सम्यक्त्व है**। अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि अन्य छह प्रकृतियों का तब उपशम या क्षय होता है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

सम्यग्दर्शन अध्यात्म साधना का मूल आधार है। इसके होने पर आत्मा में एक नवीन आलोक का अनुभव होता है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है-

सद्दर्शनं महारत्नं विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्तकल्याण- दानदक्षं प्रकीर्त्तितम्।।

-ज्ञानार्णव 6.53

सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है, आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण प्रदान करने वाला है। एक आचार्य ने सम्यक्त्व की महिमा में कहा है-

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं, सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः, सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः।।

सम्यक्त्व रूपी रत्न से बढ़कर दूसरा कोई रत्न नहीं हैं। सम्यक्त्व रूपी मित्र से बढ़कर अन्य कोई मित्र नहीं है, सम्यक्त्व रूपी बन्धु से बढ़कर अन्य कोई बन्धु नहीं है तथा सम्यक्त्व रूपी लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। सम्यक्त्व होने पर की गई तप आदि की साधना तीव्रता से कर्म-निर्जरा का साधन बनती है। इसलिए भगवती आराधना में कहा गया है कि सम्यक्त्व का प्राप्त होना त्रैलोक्य की प्राप्ति से भी श्रेष्ठ है।[20]

नन्दीसूत्र में कहा गया है कि जो सम्यग्दृष्टि होता है, उसका श्रुत श्रुतज्ञान होता है तथा मिथ्यादृष्टि का श्रुत श्रुत अज्ञान होता है।[21] इसका तात्पर्य है कि सम्यग्दर्शन एक महत्त्वपूर्ण आन्तरिक दृष्टि है, जिसके कारण अज्ञान ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। कर्मक्षय एवं दुःख-विमुक्ति का जो उपाय बताया गया है, उसमें सम्यग्दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता तथा ज्ञान सम्यक् हुए बिना चारित्र सम्यक् नहीं होता।[22] आचारांग निर्युक्ति में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के ही तप, ज्ञान, चारित्र आदि सफल होते हैं।[23] आचारांग सूत्र में एक वाक्य प्राप्त होता है- **सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।** (आचारांग 1.3.2) इस वाक्य के दो अर्थ किए जाते हैं- (1) सम्यक्त्वदर्शी साधक पाप नहीं करता। (2) समत्वदर्शी साधक पाप नहीं करता। इनमें प्रथम अर्थ तभी सम्भव है जब मूल पाठ में 'सम्मत्तदंसी' पद हो तथा दूसरा अर्थ तब सम्भव है जब मूलपाठ में 'समत्तदंसी' पद हो। दोनों अर्थ अपना महत्त्व रखते हैं। सम्यग्दृष्टि होने पर पाप की प्रवृत्ति न्यून हो जाती है। इसकी पुष्टि समयसार के इस वाक्य से भी होती है- "**जं कुणदि**

सम्मादिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं'' (समयसार, गाथा 193) सम्यग्दृष्टि जो कुछ करता है, वह सब कर्म की निर्जरा के लिए करता है। कर्म की सकाम निर्जरा तभी सम्भव है जब पाप की प्रवृत्ति पूर्वापेक्षया कम होती जाए। दूसरा समत्वदर्शी अर्थ भी उपयुक्त है, क्योंकि समत्वदर्शी वही व्यक्ति होता है जो वीतरागता का पथिक हो अथवा यों कहें कि वीतरागता की साधना के लिए समत्वभावपूर्वक द्रष्टा बनना आवश्यक है। जो समभावपूर्वक द्रष्टा होता है, वह राग-द्वेष आदि पापों पर विजय सहज ही प्राप्त करने में सक्षम होता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति समभाव के मार्ग पर सही रीति से चल सकता है, अतः सम्यग्दर्शन समत्वभाव में भी सहायक है।

सम्यग्दर्शन से दृष्टि की निर्मलता होती है। दृष्टि की निर्मलता में संकीर्ण स्वार्थ नहीं रहता और न ही अपना एवं दूसरों का अहित करने की बुद्धि होती है। निर्मलदृष्टि मनुष्य सत्-असत् को जानता है एवं उसे वैसा स्वीकार भी करता है। उसका जीवन स्व-पर कल्याण की ओर केन्द्रित होता है । वह पौद्गलिक वस्तुओं की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता नहीं मानता। उसे इनकी क्षणभंगुरता एवं विनश्वरता का बोध रहता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण साफ होता है। अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में वह सम रहता है। भोगों से उसका आकर्षण छूट जाता है। अज्ञानियों एवं तज्जन्य दुःखों से ग्रस्त जनों पर उसके हृदय में अनुकम्पा होती है। अपने पर उसका विश्वास होता है, जिसे आत्मविश्वास तथा आत्मश्रद्धान कह सकते हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ आचार या अंगों का उल्लेख भगवती सूत्र (शतक 1, उद्दे. 3), उत्तराध्ययन सूत्र (28.31), चारित्र पाहुड (गाथा 7) आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। आठ अंग या आचार हैं- 1. निःशंकित, 2. निष्कांक्षित, 3. निर्विचिकित्सा, 4. अमूढ़दृष्टि, 5. उपबृंहण, 6. स्थिरीकरण, 7. वात्सल्य, 8. प्रभावना। सम्यग्दर्शन की साधना करने पर तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति पर ये सभी अंग विकसित होते हैं। ऐसे व्यक्ति को जिनेन्द्रों के द्वारा प्ररूपित वचनों पर किसी प्रकार की शंका नहीं रहती तथा सत्-असत्, आत्म-अनात्म के विवेक में भी वह शंकारहित होता है, अतः वह **निःशंकित** कहा गया है। भौतिक या ऐन्द्रियक सुख के प्रति कांक्षा या अभिलाषा

नहीं होने के कारण उसमें **निष्कांक्षता** का आविर्भाव होता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति में **निर्विचिकित्सा** गुण भी सम्प्राप्त होता है। वह उत्पन्न परिस्थिति हेतु चिकित्सा या परिवर्तन की अभिलाषा न रखकर समभाव की साधना करता है। उसकी दृष्टि में मूढ़ता या अज्ञान नहीं रहता। पं. आशाधर ने अनगार धर्मामृत में मूढ़ता के तीन प्रकार बताये हैं- देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और समयमूढ़ता। अरिहन्त एवं सिद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य राग-द्वेष युक्त को देव मानना देवमूढ़ता है। लोक प्रवाह और लोक रूढ़ियों का अन्धानुकरण लोकमूढ़ता है। सिद्धान्त और शास्त्र के सम्बन्ध में ज्ञान का अभाव समयमूढ़ता है। सम्यग्दर्शनी इन तीनों मूढ़ताओं से रहित होने के कारण **अमूढ़दृष्टि** कहा गया है। सम्यक् आचरण से युक्त साधकों की प्रशंसा करना और उन्हें इस दिशा में आगे बढ़ाना **उपबृंहण** है। मूलाचार एवं चारित्र पाहुड में उपबृंहण के स्थान पर उपगूहन शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका तात्पर्य है दूसरे के दोषों को प्रकट न करना। स्वयं सदाचरण से शिथिल हो जाए अथवा धर्ममार्ग से कोई पतित हो जाए तो स्वयं को एवं उसे धर्ममार्ग पर आरूढ़ करना **स्थिरीकरण** है। धार्मिकजनों के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार **वात्सल्य** है। ज्ञानी पुरुषों के प्रति अत्यन्त बहुमान एवं प्रीति रखना उनके प्रति हर्षित होना भी वात्सल्य गुण का द्योतक है। धर्म तीर्थ धर्म के सही स्वरूप को स्थापित करना, प्रचारित करना प्रभावना है। स्वयं के आचरण से एवं विचारों से यह **प्रभावना** सम्भव होती है।

सम्यक्त्व एवं साम्प्रदायिकता

देव, गुरु एवं तत्त्व का निरूपण प्रत्येक धर्म-दर्शन में भिन्न-भिन्न रहा है। इसलिए देव, गुरु एवं धर्म पर श्रद्धान करने का स्थूल तात्पर्य है उस धर्म का अनुयायी होना। जब भी एक धर्म से दूसरे धर्म में धर्मान्तरण किया जाता है या धर्म में दीक्षित किया जाता है तो देव, गुरु एवं धर्म का स्वरूप समझाकर सम्यक्त्व ग्रहण कराई जाती है। उदाहरणतः बौद्धधर्म में बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण में जाने का उल्लेख हुआ है, इसी प्रकार जैनधर्म में '**अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।**'[24] पाठानुसार अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवलिप्रज्ञप्त धर्म की शरण को ग्रहण करने का कथन है। इनकी शरण में जाना तभी संभव है जब इन पर श्रद्धा हो। श्रद्धा के बिना

शरण में जाना शक्य नहीं है। इनकी शरण ग्रहण करना या श्रद्धा करना सन्मार्ग को स्वीकार करना है।

विश्व में अनेक धर्म हैं। सभी धर्मों के अनुयायी उस धर्म के अनुयायियों को आस्तिक या सम्यक्त्वी समझते हैं तथा अन्य धर्मावलम्बियों को पाखण्डी, मिथ्यात्वी एवं नास्तिक मानते हैं। यही नहीं दूसरे धर्मावलम्बियों को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपने धर्म की बुराइयों को भी अच्छाई समझते हैं तथा अन्य धर्मों की अच्छाइयों को भी बुराई के रूप में देखते हैं । एक धर्मानुयायी की अन्य धर्मानुयायियों के प्रति इस प्रकार की पक्षपातपूर्ण दृष्टि साम्प्रदायिकता कही जाती है। सम्प्रदाय का होना बुरा नहीं, क्योंकि वह एक व्यवस्था है, किन्तु सम्प्रदायाभिनिवेश या साम्प्रदायिकता का होना बुरा है। यह सम्प्रदायाभिनिवेश मनुष्य को संकीर्ण बनाता है। सम्प्रदाय जहाँ अधिगमज सम्यग्दर्शन का निमित्त बनती है वहाँ साम्प्रदायिकता सम्यग्दर्शन पर आवरण डाल देती है।

साम्प्रदायिकता का दोष विश्व के अन्य धर्मों की भांति जैनों में भी दिखाई देता है। जैनों में जैनेतर धर्मों के प्रति घृणा एवं हीनता का भाव प्रायः कम है, किन्तु जैनों की जो उपसम्प्रदायें हैं, वे एक दूसरे के अनुयायियों को मिथ्यात्व के कलंक से दूषित करती हैं। यह दोष तभी सम्भव है जब सम्यग्दर्शन के आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण नहीं हुआ है, मात्र सम्प्रदाय का व्यामोह है। सम्यग्दर्शन होने पर सच्चाई का बोध तो होता है, किन्तु सद्भाव समाप्त नहीं होता। एक-दूसरे पर छींटाकशी सद्भाव को समाप्त करती है। गलत प्ररूपणा एवं असद् आचरण का समर्थन करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु द्वेषभाव उत्पन्न किए बिना हेय एवं उपादेय का बोध कराना चाहिए तथा तत्त्व के प्रति रुचि उत्पन्न करनी चाहिए।

मिथ्यात्व की त्याज्यता

सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान तो सम्यक् होता ही है, किन्तु आचरण भी सम्यक् हो जाता है। जब तक आचरण सम्यक् नहीं होता तब तक वह मुक्ति का साधन नहीं बनता। सम्यग्दर्शन (निश्चय) के अभाव में बाह्य तप-त्याग भी कोई उल्लेखनीय महत्त्व नहीं रखते। आचारांगसूत्र की निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है-

कुणमाणो वि निवित्तिं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए।
दिंतो वि दुहस्स उरं, मिच्छादिट्ठी न सिज्झई।।[25]

अर्थात् मिथ्यादृष्टि प्राणी संसार से निवृत्ति लेता हुआ भी, स्वजन, धन एवं भोगों का त्याग करता हुआ भी तथा दुःखियों की सहायता करता हुआ भी सिद्ध नहीं होता। मुक्ति या सिद्धि प्राप्त करने के लिए मिथ्यादर्शन का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करना अनिवार्य है, तभी सम्यग्दर्शन का प्रकटीकरण होगा एवं मुक्ति की ओर चरण बढेंगे।

मिथ्यादर्शन को शल्य की उपमा दी गई है। मिथ्यादर्शन एक ऐसा कण्टक (शल्य) है, जो मनुष्य को पीड़ित एवं दुःखी करने में निमित्त तो बनता है, किन्तु इस शल्य का मनुष्य को प्रायः भान नहीं होता। मिथ्यात्व का भान होने पर ही सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। मिथ्यात्व को तोड़ना तब संभव है जब आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति अन्तः कोटाकोटि सागरोपम रह जाती है। मिथ्यात्व की स्थिति भी 70 कोटाकोटि सागरोपम से घटकर एक कोटाकोटि सागरोपम से भी न्यून रह जाती है। अर्थात् मिथ्यात्व की सघनता जब अत्यन्त कमजोर पड़ जाती है तो सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है।

आज हम प्रायः मिथ्यात्वदशा में ही जी रहे हैं। विषय-भोग हमें प्यारे लगते हैं। इन्द्रिय-जय एवं मनोजय में हमारी रुचि नहीं है, हमारी रुचि है इन्हें उत्तरोत्तर भोगों में लगाने में। पर से सुख मिलेगा, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। सूक्ष्मता से कहें तो भोगों में जीवनबुद्धि होना मिथ्यात्व है। भोगों के बिना जीवन नहीं चलेगा एवं भोगों के लिए ही जीवन मिला है, इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है। इस मान्यता के कारण ही मनुष्य अधिकाधिक भोग-साधन जुटाने में लगा हुआ है।

मिथ्यात्व के शास्त्रों में पांच, दस एवं पच्चीस प्रकारों का निरूपण है, किन्तु आधुनिक भाषा में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का कथन किया जाये तो अग्राङ्कित बिन्दु भी मिथ्यात्व को ही व्यक्त करते हैं- 1. भोग में रुचि होना एवं योग-समाधि में अरुचि होना 2.भोगों में ही जीवनबुद्धि स्वीकार करना 3. भय एवं प्रलोभन से धर्माचरण करना 4. भोगों की प्राप्ति हेतु धर्म-क्रियाएँ करना 5. आर्थिक उन्नति को ही सब समझकर शरीर, मन एवं आत्मिक-स्वास्थ्य की उपेक्षा करना

6. आत्म-विशुद्धि से अधिक महत्त्व धन को देना आदि ।

मिथ्यात्वी व्यक्ति सांसारिक सुखों की पूर्ति हेतु धर्म-क्रिया का अवलम्बन लेता है। वह धार्मिक प्रवृत्तियों को सांसारिक सुखों की पूर्ति का माध्यम समझता है। मिथ्यात्वी का आचरण बाह्य रूप से तप-त्याग का होते हुए भी आन्तरिक रूप से संसार की अभिलाषा से ही जुड़ा रहता है।

विभिन्न देवी-देवताओं को पूजना, उनसे लौकिक कामनाओं की पूर्ति हेतु याचना करना भी मिथ्यात्व का ही एक रूप है जो आज जैनों में भी प्रचलित है, किन्तु यह तो मिथ्यात्व का स्थूल रूप है, इसके मूल में तो मिथ्यात्व का सूक्ष्म, किन्तु भयंकर रूप छिपा हुआ है और वह है आत्मेतर पदार्थों की प्राप्ति में सुख मानना। आत्मेतर पदार्थ हैं-आत्मा से भिन्न पदार्थ, यथा-शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, भवन, वाहन आदि। इन पर-पदार्थों में सुख मानना मिथ्यात्व है। मनुष्य इन पर-पदार्थों से सुख प्राप्त करने की मान्यता का इतना आदी है कि उसे यह भी ज्ञात नहीं कि सुख का स्रोत बाहर नहीं भीतर है। सुख की तलाश बाहर करना एवं उसे अन्य पदार्थों में मानना मिथ्यात्व ही है। भगवान् महावीर ने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं आत्मा को माना है, इसलिए अन्य से सुख-दुःख चाहना उनकी दृष्टि में मिथ्यात्व है।

सम्यग्दर्शन : भारतीय परम्परा के परिप्रेक्ष्य में

सम्यग्दर्शन का जैनदर्शन में कर्मप्रकृतियों के आधार पर जितना सूक्ष्म विवेचन हुआ है, वैसा अन्य दर्शनों में प्राप्त नहीं होता है। किन्तु न्यूनाधिक रूप में सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि दर्शनों में सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि का कहीं साक्षात् तो कहीं प्रकारान्तर से विवेचन प्राप्त होता है। सांख्यदर्शन में चेतन पुरुष एवं जड़ प्रकृति में भेद-विज्ञान के अभिप्राय से युक्त 'विवेक ख्याति' शब्द का प्रयोग हुआ है।[26] पुरुष जब अपने को प्रकृति से भिन्न अनुभव कर लेता है तो वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। वेदान्तदर्शन में अधिकारी का निरूपण करते हुए उसे साधनचतुष्टय से सम्पन्न स्वीकार किया गया है।[27] साधनचतुष्टय के अन्तर्गत नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व की गणना की गई है।[28] नित्य एवं अनित्य पदार्थों में भेदबुद्धि को नित्यानित्य-वस्तुविवेक कहा गया है। इस लोक एवं परलोक में प्राप्त होने वाले फल-भोग के प्रति विरक्ति होना इहामुत्रार्थ-

फलभोगविराग है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान- इन छह सम्पत्तियों से युक्त प्रमाता वेदान्त का अधिकारी होता है।[29] इन षट्कसम्पत्ति का समावेश जैनदर्शन में प्रतिपादित शम, निर्वेद एवं आस्तिक्य में किया जा सकता है। मोक्ष की इच्छा होना 'मुमुक्षुत्व' है। जैनदर्शन में प्रतिपादित संवेग में इस योग्यता का अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस प्रकार वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित साधनचतुष्टय का स्वरूप सम्यग्दृष्टि व्यक्ति से पूर्णतः मेल खाता है। भगवद्गीता में समदर्शन अथवा समत्वयोग का जो प्रतिपादन हुआ है वह सम्यग्दर्शन का ही सूचक है। इसमें सम्यग्ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्तभूतों में एक अवयवभाव अर्थात् आत्मवस्तु को देखता है तथा अलग-अलग शरीरों में अविभक्त आत्मतत्त्व को देखता है, वही सात्त्विकज्ञान-सम्यग्ज्ञान है।[30] आचार्य शंकर ने भगवद्गीता के अट्ठारहवें अध्याय के 20वें श्लोक पर भाष्य करते हुए लिखा है- "**तज्ज्ञानम् अद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सम्यग्दर्शनं विद्धि।**" यहाँ आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त के अनुसार समस्त भूतों में एकत्व के दर्शन को सम्यग्दर्शन स्वीकार किया है। जैन दर्शन में समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवद्भाव स्थापित करने के लिए '**आयतुले पयासु**' जैसे वाक्यों का प्रयोग हुआ है तथा सब प्राणियों को अपने समान समझने पर ही सम्यग्दर्शन का लक्षण 'अनुकम्पा भाव' घटित होता है।

बौद्धदर्शन में निर्वाण-प्राप्ति के लिए प्रतिपादित आष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत 'सम्यक् दृष्टि' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति दुःख, दुःख के कारण, दुःख-निरोध एवं दुःख-निरोध के उपाय- इन चार आर्य सत्यों को सम्यक् रूपेण जानता है। उस पर उसकी श्रद्धा भी होती है। इस तरह बौद्धधर्म में भी दुःख-मुक्ति के उपाय में सम्यक् दृष्टि का महत्त्व अंगीकार किया गया है। न्याय आदि दर्शनों में तत्त्वज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान को महत्त्व दिया गया है, वे सम्यग्दर्शन की विशेष चर्चा नहीं करते। जैनदर्शन में इस बात पर बल दिया गया है कि ज्ञान की सम्यक्ता दृष्टि की सम्यक्ता पर निर्भर करती है। इसे जैनदर्शन का वैशिष्ट्य भी कहा जा सकता है।

यहाँ यह कथन समीचीन नहीं होगा कि जैनदर्शन या जैनधर्म का अनुयायी ही

सम्यग्दृष्टि होता है तथा वही मोक्ष में जाने की योग्यता रखता है। जैनधर्म में अन्यलिंगी को भी सिद्ध माना गया है। सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप आन्तरिक रूप से मोहकर्म के भेदन की प्रक्रिया से प्रारम्भ होता है। जो मोहकर्म को तोड़ता हुआ कर्मास्रव को रोककर संवर एवं निर्जरा की साधना करता है, वह सम्यग्दर्शन सहित रत्नत्रय की साधना करता हुआ मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। जैन दर्शन ने सम्यग्दर्शन की प्रक्रिया को पाँच लब्धियों, त्रिविध करण आदि के माध्यम से जो स्पष्टता प्रदान की है वह मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी है तथा जैन दर्शन की विशेषता को इंगित करती है। फिर भी यत्किंचित् बाह्य भेदों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि मात्र जैन धर्म के अनुयायी ही मुक्तिपथ के अधिकारी हैं, अन्य नहीं।

सम्यग्दर्शन होने पर जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है तथा जीवन दृष्टि में ऐसा परिवर्तन घटित होता है जो जीवन की दिशा ही बदल देता है। जीवन में फिर शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य की स्वतः अभिव्यक्ति हो जाती है।

सन्दर्भः-

1. जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं।- समयसार, गाथा 155
2. भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।-समयसार, गाथा 11
3. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं चं।
   आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।। समयसार, गाथा 13
4. राजशेखर कृत षड्दर्शनसमुत्चय, श्लोक 9
5. हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
   निग्गंथपव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।-मोक्ष पाहुड, गाथा 90
6 कार्तिकयानुप्रेक्षा, गाथा 317
7. आचारांगसूत्र, 1.5.5 सूत्र 168
8 उपासकदशांगसूत्र, आनन्द श्रावक प्रकरण
9. जैनदर्शनसार, हंसा प्रकाशन, जयपुर, पृ. 12
10. समयसार, गाथा 155 पर तात्पर्यवृत्ति, अगास संस्करण, पृ. 220
11. तत्त्वार्थसूत्र, 1.1
12 सर्वार्थसिद्धि, 1.2.11 धातूनामनेकार्थत्वाददोषः।
13. उत्तराध्ययनसूत्र, 19.13
14. (i) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 16

(ii) नियमसार, गाथा 99 में भी किंचित् पाठ भिन्नता के साथ उपलब्ध।

15. लब्धिसार, गाथा 4
16. लब्धिसार, गाथा 5
17. लब्धिसार, गाथा 7-9
18. लब्धिसार, गाथा 3 पर टीका
19. द्रष्टव्य- जिनवाणी, सम्यग्दर्शन विशेषांक आदि ग्रन्थ
20. सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो।- भगवती आराधना, गाथा 742
21. समद्दिट्ठिस्स सुयं सुयणाणं, मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुय अन्नाणं।-नन्दीसूत्र 44
22. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा।- उत्तराध्ययन सूत्र, 28.30
23. दंसणवओ हि सफलाणि, हुंति तवनाणचरणाइं।- आचारांगनिर्युक्ति, 2.21
24. आवश्यकसूत्र में प्रदत्त पाठ का अंश
25. आचारांगनिर्युक्ति, 220
26. सांख्यकारिका में इसे विवेकज्ञान भी कहा गया है तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी में 'सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति' शब्द से भी अभिहित किया गया है। द्रष्टव्य, सांख्यकारिका, 21 पर तत्त्वकौमुदी।
27. नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।- वेदान्तसार, अधिकारी लक्षण
28. साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। -वेदान्तसार, अधिकारी वर्णन
29. द्रष्टव्य, सदानन्दकृत वेदान्तसार, अधिकारी वर्णन
30. सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
    अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।-भगवद् गीता, 18.20



जैन न्याय में प्रमाण-विवेचन

भारतीय दर्शन-परम्परा का एक आयाम है- प्रमाणविद्या । वस्तुओं को एवं अपने को सम्यक् रूप से जानने की विद्या ही प्रमाण विद्या है। इस विद्या को पाश्चात्य दार्शनिक 'एपिस्टिमोलॉजी' कहते हैं। इस विद्या के अन्तर्गत इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान भी समाहित है तो अनुमान, आप्त पुरुषों के वचन आदि से होने वाला ज्ञान भी सम्मिलित है । यह ज्ञान ही हमारे जीवन-व्यवहार में उपयोगी होता है। इसलिए प्रमाणविद्या दैनिक जीवन-व्यवहार से जुड़ी हुई विद्या है। इस विद्या का प्रयोग जीवन में प्राचीन काल से अथवा कहें तो अनादि से होता आया है, फिर भी इस पर अनेक भारतीय दार्शनिकों ने विचार कर इस विद्या को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है। जैनदर्शन में भी प्रमाणविद्या पर गहन विचार हुआ है। इसमें आगमों में प्रतिपादित मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान के आधार पर प्रमाण-विद्या का व्यवस्थापन किया गया है । जैन दर्शन में स्व एवं पर के निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित कर उसके दो प्रकार प्रतिपादित किए गए हैं- 1. प्रत्यक्ष एवं 2. परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्रकार ने मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण में तथा अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत रखा है। आगे चलकर जिनभद्रगणि एवं भट्ट अकलङ्क ने इन्द्रिय एवं मन से होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह कर उसे भी प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में रख दिया। अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान को तब मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष नाम दिया गया। भट्ट अकलङ्क ने मतिज्ञान के ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान को प्रमाण की कोटि में रखकर उन्हें परोक्ष प्रमाण कहा तथा श्रुतज्ञान को भी आगम प्रमाण के नाम से परोक्ष प्रमाण में ही सम्मिलित किया। इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाणविद्या का विकास होता रहा। अन्य भारतीय दार्शनिक चिन्तकों के साथ भी जैन दार्शनिकों का संवाद हुआ, जिससे यह विद्या निरन्तर विकसित होती रही।

प्रमाणविद्या में सम्यक्तया जानने योग्य पदार्थ को 'प्रमेय', जानने के साधन को 'प्रमाण', जानने वाले को 'प्रमाता' तथा प्रमेय के ज्ञान को 'प्रमा' अथवा 'प्रमिति' कहा जाता है। प्रमाणों के द्वारा प्रमेय पदार्थ की परीक्षा करने को 'न्याय' कहते हैं।[1] न्यायालयों में किए जाने वाले न्याय में भी प्रमाणों (साक्षी, प्रूफ आदि) के आधार पर

परीक्षा की जाती है। प्रमाणों से प्रमेय अर्थ को जाना भी जाता है तथा ज्ञात अर्थ को सम्यक्तया जाना है या नहीं, - इसकी परीक्षा भी की जाती है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में प्रमाणों का विचार न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, चार्वाक एवं जैन ये सभी भारतीय दर्शन करते हैं, किन्तु 'न्याय' का विकास मुख्यतया अग्रांकित तीन परम्पराओं में हुआ है- (1) महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन, (2) बौद्धदर्शन तथा (3) जैनदर्शन। गौतम (पंचम शती ई. पूर्व) प्रणीत न्यायदर्शन का विकास वात्स्यायन (400 ई.) उद्द्योतकर (छठी शती), वाचस्पतिमिश्र (841 ई.), जयन्तभट्ट (850-910 ई.), भासर्वज्ञ (930 ई.) आदि नैयायिकों ने किया, जिसकी अन्तिम परिणति गंगेश (12 वीं शती) से प्रारम्भ नव्यन्याय के रूप में हुई, जिसका प्रभाव पन्द्रहवीं शती के पश्चात् रचित जैनन्याय की कृतियों पर भी दृष्टिगोचर होता है। बौद्धन्याय का व्यवस्थित प्रारम्भ दिङ्नाग (470-530 ई.) से हुआ जो धर्मकीर्ति (620-690 ई.) धर्मोत्तर (700 ई.), प्रज्ञाकरगुप्त (8 वीं शती), शान्तरक्षित (8 वीं शती), कमलशील (8 वीं शती) आदि दार्शनिकों की कृतियों में विकसित होता रहा।

जैनन्याय का मूल हमें आगम-साहित्य में दृग्गोचर होता है। 'अनुयोगद्वार सूत्र' में प्रमाण का विस्तृत निरूपण,'भगवती सूत्र' एवं 'स्थानांग सूत्र' में प्रमाण-भेदों का उल्लेख इसका निदर्शन है। वैसे जैनदर्शन में सम्यक्-ज्ञान को प्रमाण कहा है, अतः पंचविध ज्ञान का वर्णन करने वाले 'नन्दीसूत्र', 'षट्खण्डागम' आदि ग्रन्थ भी प्रमाण-विद्या अथवा न्याय-विद्या से सम्बद्ध कहे जा सकते हैं, किन्तु न्याय के व्यवस्थित विकास में सिद्धसेन (पाँचवीं शती) विरचित 'न्यायावतार' प्रथम कृति के रूप में उपलब्ध होती है, जिसमें मात्र 32 श्लोकों में प्रमाण-व्यवस्था किंवा जैन न्याय का संक्षिप्त निरूपण हुआ है। सिद्धसेन के पश्चात् भट्ट अकलंक (720-780 ई.) जैन न्याय के व्यवस्थापक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, तत्त्वार्थवार्तिक एवं अष्टशती की रचना की। इनके पूर्व सुमति (7 वीं शती), पात्रस्वामी (7 वीं शती) आदि दार्शनिकों के ग्रन्थ चर्चित रहे, किन्तु वे अभी अनुपलब्ध हैं। चौथी-पाँचवी शती में एक महान् जैन नैयायिक मल्लवादी क्षमाश्रमण हुए जिन्होंने 'द्वादशारनयचक्र' में तत्कालीन

अन्य दार्शनिक मान्यताओं का 12 अध्यायों में खण्डन करते समय बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के प्रमाण-चिन्तन का भी खण्डन किया है, किन्तु उन्होंने जैनदर्शन की ओर से प्रमाण-व्यवस्था प्रस्तुत नहीं की। सिद्धसेन, समन्तभद्र (पाँचवी शती), हरिभद्र सूरि (700-770 ई.) आदि की अधिकतर रचनाएँ मुख्यतः अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठापक रहीं।

भट्ट अकलंक के अनन्तर विद्यानन्दि (775-840 ई.) की आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा एवं सत्यशासन-परीक्षा को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। उनकी अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक टीकाओं में भी प्रमाण-विषयक चर्चा सम्प्राप्त होती है । सिद्धर्षिगणि (9वीं शती) की न्यायावतारविवृति, अनन्तवीर्य (950-990 ई.) की सिद्धिविनिश्चय टीका, माणिक्यनन्दी (993-1053 ई.) के परीक्षामुख, वादिराज (1025 ई.) के न्यायविनिश्चयविवरण एवं प्रमाणनिर्णय, अभयदेवसूरि (10 वीं शती) कृत तत्त्वबोधविधायिनी टीका (सन्मतितर्कटीका), प्रभाचन्द्र (980-1065 ई.) विरचित न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड, वादिदेवसूरि (1086-1169 ई.) विरचित प्रमाणनयतत्त्वालोक एवं उस पर टीकाग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकर, हेमचन्द्र (1088-1173 ई.) कृत प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जिनेश्वरसूरि (10वीं-11वीं शती) के प्रमालक्ष्म, चन्द्रसेनसूरि (11वीं- 12वीं शती) रचित उत्पादादिसिद्धि, अनन्तवीर्य (11वीं-12वीं शती) विरचित टीकाग्रन्थ प्रमेयरत्नमाला, विमलदास रचित सप्तभंगीतरंगिणी, यशोविजय (17वीं शती) कृत जैनतर्कभाषा आदि ग्रन्थों को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है, जिनमें प्रमाणों के द्वारा प्रमेय पदार्थ की परीक्षा की गयी। इनके पश्चात् भी जैन न्यायविषयक ग्रन्थों का लेखन चलता रहा ।

जैन न्याय अत्यन्त समृद्ध है । जैनदर्शनानुसारी प्रमाणविषयक ग्रन्थों का समावेश तो जैनन्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों में होता ही है, किन्तु जैनेतर प्रमेय - पदार्थों के खण्डन तथा जैन दर्शन में मान्य तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी प्रमाणों का उपयोग होने से तत्सम्बद्ध ग्रन्थ भी जैन न्याय के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इस प्रकार जैनन्याय का फलक विस्तृत है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में प्रमेय पदार्थ को जानने के लिए प्रमाण को साधन अंगीकार किया गया है ।'**प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि**','**मानाधीना मेयसिद्धिः**', '**प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः**' वाक्य इसी की पुष्टि करते हैं, किन्तु जैन दर्शन में प्रमाण के साथ नय को भी प्रमेय के अधिगम में साधन अंगीकार किया गया है,-'**प्रमाणनयैरधिगमः**' प्रमाण एवं नय दोनों प्रमेय को जानने में सहायक हैं, तथा इन दोनों के द्वारा अर्थ की परीक्षा की जा सकती है। इसलिए जैनन्याय में प्रमाण एवं नय दोनों न्याय के विवेच्य विषय हैं, किन्तु प्रस्तुत अध्याय की सीमा होने के कारण इसमें प्रमाण-विषयक निरूपण किया जा रहा है, नय-विवेचन के लिए पृथक् अध्याय है ।

प्रमाण - लक्षण

साधारणतः प्रमेय पदार्थ को जानने का साधकतम कारण या करण प्रमाण है। प्रमाण से प्रमेय या ज्ञेय पदार्थ को सम्यक्तया जाना जाता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रायः स्व एवं पर पदार्थ का निश्चयात्मक अथवा व्यवसायात्मक-ज्ञान प्रमाण कहलाता है। यह सम्यग्ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान, अविसंवादक-ज्ञान, स्वार्थव्यवसायात्मक-ज्ञान, स्वपर-व्यवसायि ज्ञान आदि के रूप में भी परिभाषित किया गया है, यथा-

1. **सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम्।** - (विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा, पृ.1 एवं 5) सम्यगज्ञान को प्रमाण कहा गया है। जो स्व एवं अर्थ का व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है।
2. **तत्त्वज्ञानं प्रमाणं।**- समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, कारिका 101
   तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं संशयादि मत्याद्याभासं व्यवच्छिद्यते। - (विद्यानन्द अष्टसहस्री, श्री महावीर जी, पृ. 343) तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहा गया है। तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहने पर संशय आदि मिथ्याज्ञान एवं मति आदि ज्ञानों के आभास का व्यच्छेद होता है।
3. **अविसंवादकं प्रमाणम्।**- भट्ट अकलङ्क, लघीयस्त्रयवृत्ति 22 , अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. 8.10
   अविसंवादकं च निर्णयायत्तम्। तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात्।- (लघीयस्त्रयवृत्ति 60),अविसंवादक ज्ञान प्रमाण होता है। अविसंवादकता निर्णयात्मकता के आधीन होती है। निश्चयात्मकता नहीं होने पर ज्ञान अविसंवादक नहीं होता है तथा निश्चयात्मकता होने पर ज्ञान संवादक होता है।

4. **स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्**।- वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1.2

स्व एवं पर का व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण होता है।

प्रमाण के उपर्युक्त लक्षणों से विदित होता है कि जो ज्ञान संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रहित होता है तथा स्व एवं पर का निश्चायक होता है वह प्रमाण कहलाता है।

'प्रमाण' शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'माङ् माने' धातु से 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। साधारणतः '**प्रमीयतेऽनेन इति**' निरुक्ति के अनुसार जिससे प्रमेय पदार्थ का ज्ञान किया जाय, उसे प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण प्रमेयज्ञान के लिए साधकतम कारण किं वा करण है। इसीलिए प्रमाण को परिभाषित करने वाले दार्शनिक '**प्रमाकरणं प्रमाणम्**' शब्दावली का भी प्रयोग करते हैं। प्रमा एवं प्रमिति प्रमेयज्ञान के ही पर्यायार्थक-शब्द हैं। प्रमाण को प्रमेयज्ञान का करण मानकर ही न्यायदर्शन में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष, सांख्यदर्शन में इन्द्रियवृत्ति और मीमांसादर्शन में ज्ञातृव्यापार को प्रमाण कहा गया है। जैनमत में प्रमाण ज्ञानात्मक होता है, इसलिए जैनदार्शनिक इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानने का खण्डन करते हैं। जैनदार्शनिकों के अनुसार प्रमाण हमें हेय पदार्थ को छोड़ने, उपादेय पदार्थ को ग्रहण करने एवं उपेक्षणीय पदार्थ की उपेक्षा करने का ज्ञान कराता है, इसलिए वह ज्ञानात्मक ही हो सकता है[2], अचेतनात्मक इन्द्रियादि नहीं।

बौद्धदर्शन भी प्रमाण को ज्ञानात्मक मानता है, किन्तु वह निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण अंगीकार करता है जो जैनदर्शन को अभीष्ट नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक नहीं । निर्विकल्पक ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होने से प्रमाण नहीं हो सकता । जैनदर्शन में ज्ञान की पूर्वावस्था के रूप में 'दर्शन' को स्वीकार किया गया है, जो भी चेतन आत्मा का ही एक गुण है, किन्तु उसे निर्विकल्पक होने के कारण प्रमाणकोटि से बाहर रखा गया है। जैन दार्शनिक ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रमाण अंगीकार करते हैं, जो संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित हो।[3]

प्रमाण एवं ज्ञान को सूर्य की भांति स्व-पर प्रकाशक मानना जैनदर्शन का वैशिष्ट्य है।[4] जिस प्रकार सूर्य स्वयं को भी प्रकाशित करता है एवं जगत् को भी

उसी प्रकार प्रमाण स्व एवं पर दोनों का निश्चायक होता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि जो ज्ञान स्वयं को नहीं जानता, उसमें बाह्य-पदार्थ को जानने का भी सामर्थ्य नहीं हो सकता। वही ज्ञान बाह्य-अर्थ का प्रकाशक होता है, जो स्व-प्रकाशक भी हो। स्व का अर्थ यहाँ ज्ञान अथवा ज्ञान-लक्षण जीव है और इनसे भिन्न जितने पदार्थ हैं, वे पर हैं। प्रमाण इन दोनों का व्यवसायात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञान कराता है।

ग्यारहवीं शती के प्रमुख श्वेताम्बर जैनदार्शनिक वादिदेवसूरि ने इसे '**स्व-पर-व्यवसायि-ज्ञानं प्रमाणम्**' (प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1.2) सूत्र से परिभाषित कर 'स्व' एवं 'पर' पदार्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। व्यवसायात्मक का अर्थ यहाँ निश्चयात्मक है। प्रमाण का यही लक्षण वादिदेवसूरि के पूर्व दार्शनिकों में भी प्रतिष्ठित रहा है। उल्लेखनीय है कि अकलंक ने अष्टशती में एवं माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख में बौद्ध एवं मीमांसा दर्शनों के प्रमाण-लक्षणों से प्रभावित होकर स्व एवं अपूर्व या अनधिगत पदार्थ के व्यवसायात्मक-ज्ञान को प्रमाण कहा है[6], किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त अपूर्व या अनधिगत विशेषण को श्वेताम्बर जैन दार्शनिकों ने अनावश्यक समझकर नहीं अपनाया है, क्योंकि जैनमत में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञात-अर्थ का ज्ञान कराने वाले ज्ञान भी प्रमाण माने गये हैं। दिगम्बर दार्शनिक विद्यानन्दि ने भी अपूर्व या अनधिगत विशेषण को व्यर्थ बतलाकर स्व एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[6] स्वयं अकलंक ने भी लघीयस्त्रय में अनधिगत या अपूर्व पद का प्रयोग किये बिना आत्मा एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण का मुख्य लक्षण निरूपित किया है।[7] प्रमाणलक्षण में अपूर्व या अनधिगत विशेषण जोड़ने की आवश्यकता इसलिए भी नहीं है, क्योंकि एक ही प्रमेय पदार्थ का निरन्तर ज्ञान कराने वाला धारावाहिक ज्ञान भी जैन दर्शन में अप्रमाण नहीं है। वह भी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान कराने के कारण प्रमाण है। इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि द्रव्य की अपेक्षा से गृहीतग्राहित्व का निषेध किया जाता है या पर्याय की अपेक्षा से? पर्याय की अपेक्षा से तो धारावाही ज्ञानों में भी गृहीतग्राहिता सम्भव नहीं है, क्योंकि पर्याय तो प्रतिक्षण बदलती रहती है। इसलिए उसका निषेध करने के लिए अपूर्व या अनधिगत विशेषण का औचित्य

नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा से यदि गृहीतग्राहिता का निषेध किया जाए तो भी उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्य तो नित्य होता है, उसकी गृहीतग्राही एवं ग्रहीष्यमाण ग्राही अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं होता। अतः गृहीतग्राही ज्ञान भी ग्रहीष्यमाण ग्राही की भांति प्रमाण ही है।[8] किसी वस्तु को एक बार जान लेने पर पुनः जानना गृहीतग्राही ज्ञान होता है तथा भविष्य में किसी वस्तु के होने वाले ज्ञान को ग्रहीष्यमाण ग्राही कहते हैं। ग्रहीष्यमाण का यदि वर्तमान में ज्ञान किया जाए तो वह जिस प्रकार प्रमाण कहलाता है, उसी प्रकार गृहीतग्राही ज्ञान भी प्रमाण ही होता है।

भट्ट अकलंक ने बौद्धप्रभाव से प्रमाण को अविसंवादक-ज्ञान भी कहा है, किन्तु वे प्रमाण की अविसंवादकता को निश्चयात्मकता में ही पर्यवसित करते हैं।[9]

प्रश्न यह होता है कि जैनदर्शन में जब प्रमाण को ज्ञान-रूप में निरूपित किया गया है, तो ज्ञान एवं प्रमाण में कोई अन्तर है या नहीं ? जैन दार्शनिक इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ज्ञान संशयात्मक एवं विपर्ययात्मक भी हो सकता है, किन्तु प्रमाण संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित होता है। संशय से आशय सन्देहात्मक ज्ञान से है। विपर्यय विपरीत या भ्रान्त ज्ञान को कहते हैं तथा अनध्यवसाय अवग्रह से पूर्व का आलोचन मात्र अनिश्चयात्मक ज्ञान है। संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को जैन दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान भी कहा है। इस अर्थ में सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। यहाँ सम्यग्ज्ञान से आशय आगम में वर्णित उस ज्ञान से नहीं है- जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती या उसके पश्चात्वर्ती-जीव को सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है । तार्किक युग में जैन दार्शनिकों ने सम्यग्दर्शन को आधार नहीं बनाकर व्यावहारिक दृष्टि से संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रहित ज्ञान को प्रमाण कहा है।

संक्षेप में प्रमाण की निम्नांकित विशेषताएँ कही जा सकती हैं-

1. प्रमाण के द्वारा प्रमेय पदार्थ को जाना जाता है
2. प्रमाण ज्ञानात्मक होता है, अर्थात् ज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है।
3. ऐसे ज्ञान को प्रमाण कहा गया है जो वस्तु का एवं स्वयं का निश्चायक हो । संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय (अनिश्चय) से रहित हो।
4. निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं होता। जैनदर्शन में प्रतिपादित ज्ञान के पूर्ववर्ती

'दर्शन' भी निर्विकल्पक होने से प्रमाण की कोटि में नहीं आता है।

5. यह प्रमाण जीवन-व्यवहार के लिए उपयोगी है। इसका लक्षण सम्यग्ज्ञान एवं तत्त्वज्ञान के रूप में भी दिया जाता है, किन्तु यह संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित एवं वस्तु का यथाभूत ज्ञान होने से सम्यग्ज्ञान या तत्त्वज्ञान है। इसके लिए सम्यग्दर्शन होना आवश्यक नहीं है। सम्यग्दर्शन युक्त ज्ञान तो प्रमाण होता ही है, किन्तु व्यवहार में सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान भी प्रमाण हो जाता है। जैसे- यह पानी स्वच्छ, निर्दोष और पेय है- कोई यह जानकर पानी को पीता है, उसका ज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना भी प्रमाण है।
6. प्रमाण जीवन-व्यवहार में हेय, उपादेय एवं उपेक्षणीय का ज्ञान कराता है
7. यह स्व-पर प्रकाशक होता है।
8. जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ज्ञान कराने के कारण प्रमाण को अविसंवादक कहा जाता है। यह अविसंवादकता भी प्रमाण को निश्चयात्मक ज्ञान सिद्ध करती है।
9. मीमांसा एवं बौद्ध दार्शनिक अज्ञात या अनधिगत पदार्थ के ग्राही ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, किन्तु जैन दार्शनिक अधिगत या ज्ञात पदार्थ के पुनः होने वाले ज्ञान को भी प्रमाण की कोटि में रखते हैं।
10. इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि भी ज्ञान में सहायक होते हैं, किन्तु जैनदर्शन में इन्हें प्रमाण नहीं माना गया, क्योंकि ये ज्ञानात्मक नही हैं, अचेतन हैं।
11. स्व-पर व्यवसायात्मकता स्वरूप प्रमाण का लक्षण प्रमाण के सभी भेदों में घटित होता है।

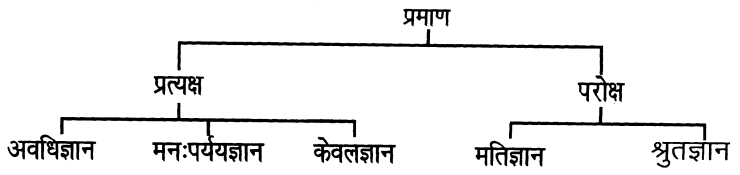
प्रमाण-भेद

भारतीय दर्शनों में प्रमाणों की संख्या को लेकर मतभेद है। चार्वाकदर्शन में मात्र एक प्रत्यक्ष प्रमाण मान्य है। वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्यदर्शन इनमें आगम (आप्तवचन) को मिलाकर प्रमाणों की संख्या तीन स्वीकारता है। न्यायदर्शन में उपमान प्रमाण सहित चार प्रमाण स्वीकृत हैं। प्रभाकर मीमांसक अर्थापत्ति प्रमाण सहित पाँच तथा भाट्ट मीमांसक इन पाँच में अनुपलब्धि (अभाव) सहित छह प्रमाण मानते हैं। वेदान्त दार्शनिक भी ये छहों प्रमाण व्यवहार से स्वीकार करते हैं।

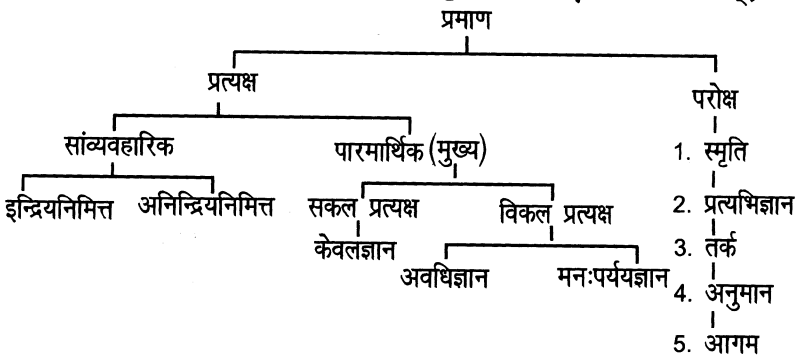
जैनदर्शन में प्रमाण के दो प्रकार हैं- 1. प्रत्यक्ष एवं 2. परोक्ष। इन दो भेदों का सर्वप्रथम उल्लेख उमास्वाति/उमास्वामी के तत्त्वार्थ-सूत्र में हुआ है। इससे पूर्व

'अनुयोगद्वारसूत्र' एवं 'भगवतीसूत्र' में प्रमाण के चार भेद प्रतिपादित हैं - 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान, एवं 4. आगम। यह प्रमाण-विभाजन 'न्याय-सूत्र' एवं 'चरक संहिता' से प्रभावित है। 'नन्दी-सूत्र' में ज्ञान के दो भेद हैं - प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। ज्ञान के ये दो भेद ही जैन नैयायिकों ने प्रमाण के दो भेदों के रूप में प्रतिष्ठित किये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के पुनः दो भेद हैं- सांव्यवहारिक एवं पारमार्थिक (मुख्य)। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं- इन्द्रिय निमित्त एवं अनिन्द्रिय निमित्त। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं- अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें अवधि एवं मनः पर्यय ज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। सिद्धसेन ने न्यायावतार में परोक्ष-प्रमाण के अनुमान एवं आगम- ये दो भेद ही निरूपित किए हैं। वादिराज ने न्यायविनिश्चय-विवरण में इसका अनुसरण किया है, किन्तु वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को अनुमान-प्रमाण के गौणभेदों में स्थान देते हैं। संक्षेप में प्रमाण-भेदों को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है-

तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त प्रमाण-भेद



उत्तरकालीन विभाजन (भट्ट अकलंक एवं उनके पश्चात्)



नोटः सकल एवं विकल-प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग वादिदेवसूरि ने किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

विशद या स्पष्ट निश्चयात्मक ज्ञान को जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है।[10] यह प्रत्यक्ष-प्रमाण अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा विशेष प्रकाशक होता है । प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमेय-अर्थ का ज्ञान करते समय अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, जबकि स्मृति, अनुमान आदि परोक्ष-प्रमाण प्रत्यक्ष-प्रमाण के आश्रित होते हैं। प्रत्यक्ष की एक अन्य विशेषता और है, वह है प्रमेय का इदन्तया (यह पुस्तक है आदि) प्रतिभास होना ।[11] इदन्तया प्रतिभास एक प्रकार से पदार्थ का साक्षात् ज्ञान है।

आगमसरणि के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी टीकाओं में इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। तदनुसार आगम-वर्णित पाँच ज्ञानों में से अवधि, मनः पर्यय एवं केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष की कोटि में आते हैं, मति एवं श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान की श्रेणी में समाविष्ट होते हैं।[12] प्रमाण-मीमांसीय रचनाओं के युग में जैन दार्शनिकों ने न्याय, मीमांसा, बौद्ध आदि दर्शनों के साथ प्रमाण-चर्चा में भाग लेने के लिए इन्द्रियज्ञान को भी प्रत्यक्ष की कोटि में लेना आवश्यक समझा। अतः जिनभद्र एवं अकलंक ने सम्भवतः 'नन्दीसूत्र' में उल्लिखित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भेदों के आधार पर इन्द्रिय एवं मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया[13] और उन्हें प्रत्यक्ष-प्रमाण की कोटि में प्रतिष्ठित कर दिया। पारमार्थिक-प्रत्यक्ष के भेदों का आगम से कोई विरोध नहीं है। अब पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दोनों भेदों पर विचार किया जा रहा है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

1. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष- श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों के निमित्त से होने वाले बाह्य पदार्थों के स्पष्ट ज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष जब संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित एवं निश्चयात्मक होता है, तभी प्रमाण कहा जाता है, अन्यथा वह प्रत्यक्षाभास कहलाता है । जैनदर्शन की यह मान्यता है कि श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन, - ये चार इन्द्रियाँ पदार्थ को प्राप्त कर अर्थात् पदार्थ का संयोग प्राप्त कर पदार्थ का ज्ञान कराती हैं । इसलिए ये चारों प्राप्यकारी हैं, किन्तु चक्षु इन्द्रिय

एवं मन पदार्थ से स्पृष्ट हुए बिना पदार्थ से दूर रहकर उसका ज्ञान कराने में समर्थ हैं, अतः ये दोनों अप्राप्यकारी हैं।

2. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष- मन को जैनदर्शन में अनिन्द्रिय कहते हैं। अतः मन के द्वारा होने वाले बाह्य घट, पट आदि या भीतरी सुख-दुःख आदि पदार्थों के स्पष्ट एवं निश्चयात्मक ज्ञान को अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहा जाता है। न्यायदर्शन में जहाँ मन आत्मा से संयुक्त होता है एवं इन्द्रियाँ मन से संयुक्त होती हैं, तभी बाह्यार्थ का ज्ञान होता है, वहाँ जैनदर्शन में आत्मा को मात्र मन के द्वारा भी बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान करने वाला माना गया है। हेमचन्द्रसूरि ने स्पष्ट कहा है- सर्वार्थग्रहणं मनः (प्रमाणमीमांसा,1.1.24)। यह प्रत्यक्ष 'मनः पर्यय ज्ञान' रूप प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान सीधा आत्मा द्वारा होता है, उसमें मन करण नहीं बनता, जबकि अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष मन के माध्यम से होता है। इसमें इन्द्रियाँ सहयोगी नहीं होती हैं।

इन्द्रिय एवं मन के माध्यम से होने वाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की चार अवस्थाएँ हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा। अवग्रह के भी दो प्रकार हैं- व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह। पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर व्यंजनावग्रह होता है। अर्थावग्रह में पदार्थ का ग्रहण होता है कि यह कुछ है। चक्षु-इन्द्रिय एवं मन पदार्थ से दूर रहकर, असम्बद्ध रहकर अथवा अप्राप्यकारी होकर पदार्थ को जानते हैं, अतः उनमें व्यंजनावग्रह नहीं होता, मात्र अर्थावग्रह होता है। शेष इन्द्रियों के प्रत्यक्ष में दोनों प्रकार के अवग्रह होते हैं। अवगृहीत अर्थ के विषय में विशेष जानने की चेष्टा या आकांक्षा ईहा है।[14] ईहा-ज्ञान संशयपूर्वक होते हुए भी संशय-रूप नहीं होता, क्योंकि यह संशय की भाँति दो पलड़ों में नहीं झूलता।[15] एक ओर झुका रहता है, यथा- ये शब्द पुरुष के होने चाहिए- यह ईहा-ज्ञान है। ईहित पदार्थ का निर्णय अवाय है।[16] ये शब्द पुरुष के ही हैं - इस प्रकार का निश्चयात्मक - ज्ञान अवाय है। अवायरूप में निर्णीत ज्ञान के संस्कार को धारणा कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का निश्चित क्रम है, किन्तु ये इतनी शीघ्रता से होते हैं कि प्रमाता को इनके क्रम का भान ही नहीं रहता। जानने की इस प्रक्रिया का प्रतिपादन शिक्षण-विधि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब जानने की प्रक्रिया अवग्रह से

ईहा, अवाय एवं धारणा तक पहुँचती है, तो छात्र को पढ़ा हुआ अच्छी तरह स्थिर हो जाता है। जैनदर्शन की इस ज्ञान-विधि का शिक्षा-मनोविज्ञान में विवेचन अपेक्षित है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

पारमार्थिक प्रत्यक्ष ही जैनदर्शन में मुख्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह सीधे आत्मा के द्वारा होता है।[17] यह मात्र आत्मसापेक्ष एवं निश्चयात्मक प्रत्यक्ष-ज्ञान है। इसमें किसी इन्द्रिय, मन आदि की सहायता नहीं रहती। यह पूर्णतः एवं आंशिक रूप से हो सकता है। जब पूर्णतः सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, तो उसे सर्व-प्रत्यक्ष या सकल-प्रत्यक्ष तथा आंशिक रूप से पदार्थों एवं उनकी पर्यायों के प्रत्यक्ष को देश-प्रत्यक्ष या विकल-प्रत्यक्ष के नाम से जाना जाता है। सर्व प्रत्यक्ष का एक ही भेद है- केवलज्ञान और विकल प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान।

1. **केवलज्ञान**- जिस ज्ञान में विश्व के समस्त चराचर पदार्थों एवं उनकी त्रैकालिक समस्त पर्यायों का हस्तामलकवत् स्पष्ट एवं निश्चयात्मक बोध होता है, वह केवलज्ञान है।[18] जैनदर्शन में केवलज्ञान ही सर्वाधिक प्रमुख प्रत्यक्ष है। यह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह एवं अन्तराय कर्मों का क्षय होने पर प्रकट होता है। समस्त पदार्थों एवं उनकी पर्यायों को जानने के कारण केवलज्ञान-प्राप्त जीव को सर्वज्ञ कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है कि केवली भगवान् सब पदार्थों को व्यवहार-नय से जानते-देखते हैं तथा निश्चयनय से केवल आत्मा को जानते-देखते हैं।[19]

2. **मनःपर्यय ज्ञान***- मनःपर्ययज्ञान-रूप प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा परकीय मनोगत पर्याय को जाना जाता है। मनःपर्यय ज्ञान तब प्रकट होता है, जब संयम-विशुद्धि से मनः पर्ययज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है।[20] यह ऋजुमति एवं विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। इनमें ऋजुमति से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अधिक विशुद्ध एवं अप्रतिपाती होता है। जो ज्ञान केवलज्ञान होने तक बना रहता है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं।

3. **अवधिज्ञान**- यह अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है तथा इसके द्वारा रूपी-पदार्थों एवं उनकी पर्यायों का ज्ञान होता है। यह भी इन्द्रिय एवं

मन की सहायता के बिना सीधा आत्मा से होता है, किन्तु मात्र रूपी पदार्थों का ज्ञान कराने के कारण यह सीमित अर्थात् अवधिज्ञान है। यह नारकी एवं देवों में जन्म से प्राप्त होता है, अतः भवप्रत्यय कहलाता है तथा मनुष्य एंव तिर्यंच में पुरुषार्थ से प्रकट होता है, अतः गुण-प्रत्यय कहा जाता है। इस प्रकार अवधिज्ञान भवप्रत्यय एवं गुणप्रत्यय के रूप में दो प्रकार का है।[21]

प्रत्यक्ष प्रमाण के उपर्युक्त समस्त भेद आगम में प्रतिपादित ज्ञान के पाँच भेदों से सामंजस्य रखते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष ये दो भेद हैं, वे मतिज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं, क्योंकि मन एवं इन्द्रियों के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान ही है। अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष तो आगम से ज्यों के त्यों गृहीत हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के इन सभी भेदों में प्रमाण का सामान्य लक्षण घटित होता है। अतः ये भी स्व-पर व्यवसायी होते हैं।

परोक्ष-प्रमाण

यह प्रमाण अविशद या अस्पष्ट होता है। प्रत्यक्ष की भाँति इसमें विशदता नहीं रहती, किन्तु यह भी स्व एवं पर पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान कराता है, इसलिए प्रमाण की कोटि में आता है। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमें आगम-प्रमाण श्रुतज्ञान रूप है तथा शेष चारों प्रमाण मतिज्ञान के ही अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में उमास्वामी/उमास्वाति ने मतिज्ञान के पर्याय शब्दों में स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध की गणना की है।[22] भट्ट अकलंक ने आठवीं शती में इनका आश्रय लेकर क्रमशः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान प्रमाण को प्रतिष्ठित किया है। इनमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की प्रमाण रूप में प्रतिष्ठा का श्रेय अकलंक को जाता है, जिसे उत्तरवर्ती श्वेताम्बर एव दिगम्बर सभी जैन दार्शनिकों ने अपनाया है। यह उल्लेखनीय है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की प्रतिष्ठा करना जैन दार्शनिकों का प्रमाण के क्षेत्र में भारतीय न्याय को महत्त्वपूर्ण अवदान है।

---

* इसके लिए मनःपर्यायज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान शब्द भी प्रचलित हैं।

1. स्मृति-प्रमाण

धारणा या संस्कार से उद्भूत एवं तत् (वह) आकार वाला ज्ञान स्मृति-प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत पूर्व ज्ञान को विषय बनाता है ।[23] तदनुसार 'वह पुस्तक है','वह मोहन है' आदि के रूप में पूर्व ज्ञात विषय का 'वह' आकार में ग्रहण करने वाला ज्ञान स्मृति प्रमाण कहा जाता है । सभी स्मृतियाँ प्रमाण नहीं होती हैं, किन्तु जो स्मृति पूर्व अनुभूत विषय का यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान कराती है, वही स्मृति प्रमाण कही जाती है । स्मृति का प्रामाण्य हमारे लेन-देन के व्यवहार एवं भाषा के प्रयोग से भी पुष्ट होता है । बिना स्मृति के कोई व्यक्ति किसी कार्य के लिए निश्चित समय पर एवं निश्चित प्रयोजन से प्रवृत्त नहीं हो सकता है । वस्तुतः स्मृति हमें हेय, उपादेय एवं उपेक्षणीय का भी बोध कराती रहती है, इसलिए स्मृति को प्रमाण मानना सर्वथा व्यवहार्य है । स्मृति को प्रमाण मानकर जैन दार्शनिकों ने जैन प्रमाण-मीमांसा को सांव्यवहारिकता या लोकोपयोगिता की ओर बढ़ाया है ।

2. प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण

यह स्मृति एवं प्रत्यक्ष का संकलनात्मक ज्ञान होता है। व्यवहार में इसे हम 'पहचानना' शब्द से जानते हैं । पूर्व अनुभव की स्मृति एवं वर्तमान में प्रत्यक्ष, ये दोनों मिलकर ही प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप बनते हैं। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है । मुख्य रूप से इसके चार प्रकार प्रतिपादित हैं- एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैलक्षण्य (वैसादृश्य) प्रत्यभिज्ञान और प्रातियौगिक प्रत्यभिज्ञान ।[24] एकत्व प्रत्यभिज्ञान में पूर्व ज्ञात अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर 'यह वही है' इस प्रकार एकता का ज्ञान होता है, जैसे- पूर्व दृष्ट देवदत्त का पुनः प्रत्यक्ष होने पर 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में पूर्वदृष्ट के सदृश अन्य अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर 'यह उसके सदृश है' इस प्रकार सादृश्य ज्ञान होता है । यथा- पूर्वदृष्ट गाय के पश्चात् तत्सदृश गवय का प्रत्यक्ष होने पर 'यह (गवय) गाय के सदृश है' रूप में सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान होता है । वैलक्षण्य या वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान पूर्व-दृष्ट से वर्तमान में प्रत्यक्ष हो रहे पदार्थ की असमानता (विसदृशता) बतलाता है; उदाहरणार्थ पहले गाय का प्रत्यक्ष

किया था, उसकी स्मृति अभी कार्यशील है और वर्तमान में उससे भिन्न भैंस का प्रत्यक्ष हो रहा है, तो 'यह भैंस गाय से विलक्षण (भिन्न) है' रूप में वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। पूर्व-दृष्ट पदार्थ से वर्तमान में प्रत्यक्ष हो रहे पदार्थ की दूरी या निकटता का ज्ञान प्रातियौगिक प्रत्यभिज्ञान से होता है, यथा- 'यह उससे दूर है' आदि। प्रत्यभिज्ञान के इन समस्त भेदों में प्रमाण का सामान्य लक्षण घटित होता है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान के ये सभी भेद प्रमाण हैं।

न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों में प्रतिपादित 'उपमान प्रमाण' का अन्तर्भाव जैन दार्शनिकों ने सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में किया है। 'प्रत्यभिज्ञा' अथवा 'प्रत्यभिज्ञान' शब्द का प्रयोग कश्मीर शैवदर्शन में भी हुआ है, किन्तु वहाँ इस शब्द का प्रयोग आत्म-साक्षात्कार या आत्म-प्रत्यभिज्ञान के अर्थ में हुआ है।

3. तर्क-प्रमाण

अनुमान-प्रमाण में हेतु एवं साध्य की व्याप्ति का बड़ा महत्त्व है। जैन दार्शनिकों ने तर्क को उस व्याप्ति का ग्राहक ज्ञान मानकर उसे भी प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। जब किसी साध्य का हेतु के द्वारा अनुमान किया जाता है, तो हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति होना अनिवार्य होता है। यदि हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति (अविनाभाव नियम) नहीं है तो हेतु से साध्य-अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे पर्वत में स्थित 'अग्नि' साध्य है और 'धूम' उसका हेतु है। धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति है, क्योंकि जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि अवश्य होती है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता। धूम और अग्नि की व्याप्ति को जानने के लिए नव्य न्याय-दार्शनिकों ने अलौकिक सन्निकर्ष का प्रतिपादन किया है, किन्तु जैन दार्शनिक उस व्याप्ति का ज्ञान तर्क-प्रमाण के द्वारा कर लेते हैं। जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है,- इस व्याप्ति का ग्रहण तर्क-प्रमाण से शक्य है।

आचार्य विद्यानन्दि ने प्रतिपादित किया है कि जितना भी कोई धूम है, वह-सब अग्नि से उत्पन्न होता है और अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं होती है, इस प्रकार सकल देश एवं काल की व्याप्ति से साध्य एवं साधन के सम्बन्ध का जो ऊहापोहात्मक ज्ञान होता है, वह तर्क है[25] तर्क का ही दूसरा नाम ऊह भी है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भ से उत्पन्न व्याप्ति-ज्ञान को तर्क

कहा है।[26] उपलम्भ का अर्थ है साध्य के होने पर साधन का होना तथा अनुपलम्भ का अर्थ है साध्य के नहीं होने पर साधन का नहीं होना । तर्क-प्रमाण के द्वारा साध्य एवं साधन की त्रैकालिक व्याप्ति का ज्ञान होता है, जो तर्क को प्रमाण माने बिना सम्भव नहीं है । तर्क एक प्रकार का निश्चयात्मक एवं परस्पर अविरोधी ज्ञान है, इसलिए वह प्रमाण है ।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को प्रमाण रूप में प्रतिपादित कर जैन दार्शनिकों ने प्रमाण-जगत् को महान् योगदान किया है, क्योंकि प्रमाण का प्रयोजन हेयोपादेय अर्थ का ज्ञान कराना है, ताकि प्रमाता हेय वस्तु का त्याग एवं उपादेय का उपादान कर सके। स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान इस कार्य में समर्थ हैं, अतः ये दोनों प्रमाण रूप लोक-व्यवहार के लिए उपयोगी हैं। तर्क को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने व्याप्ति के ग्राहक तत्त्व की समस्या का स्थायी समाधान खोज लिया है। तर्क-प्रमाण के बिना जैन दार्शनिक अनुमान-प्रमाण की प्रवृत्ति स्वीकार नहीं करते हैं। जैनदर्शन में स्मृति-प्रमाण का फल प्रत्यभिज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान का फल तर्कप्रमाण है और तर्क-प्रमाण का फल अनुमान-प्रमाण है । स्मृति-प्रमाण धारणा (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद) का फल है।

4. अनुमान-प्रमाण

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त समस्त भारतीय दर्शन अनुमान-प्रमाण को अंगीकार करते हैं । अनुमान-प्रमाण का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व है। हमारी अनेक दैनिक गतिविधियाँ अनुमान-प्रमाण से संचालित हैं । जैन दार्शनिकों ने अनुमान-प्रमाण को परोक्ष-प्रमाण माना है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष के सदृश विशदात्मक या स्पष्ट नहीं होता और इसमें हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान किया जाता है । हेतु या साधन के द्वारा साध्य के ज्ञान को ही जैनदर्शन में अनुमान-प्रमाण कहा गया है[27]; जैसे- धूम हेतु के द्वारा पर्वत में स्थित अग्नि साध्य का ज्ञान करना अनुमान है एवं 'कृतकत्व' हेतु के द्वारा शब्द में 'अनित्यता' साध्य को सिद्ध करना भी अनुमान है ।

अनुमान के दो भेद प्रसिद्ध हैं- स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। यद्यपि 'अनुयोगद्वार सूत्र' में अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् एवं दृष्टसाधर्म्यवत् नामक तीन भेद प्रतिपादित हैं,[28] किन्तु जैन प्रमाण-मीमांसा में स्वार्थ एवं परार्थ भेद प्रतिष्ठित

होने के पश्चात् इन तीन भेदों को महत्त्व नहीं मिला। स्वयं प्रमाता के लिए हेतु से साध्य का ज्ञान **स्वार्थानुमान** है तथा जब प्रमाता स्वार्थानुमान होने के पश्चात् किसी अन्य को हेतु आदि का कथन करके साध्य का ज्ञान कराता है, तो उसे **परार्थानुमान** कहा जाता है।

स्वार्थानुमान में **हेतु** एवं **साध्य** दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं। तीसरा घटक इनका पारस्परिक अविनाभाव सम्बन्ध अथवा **व्याप्ति सम्बन्ध** है, जिसके कारण हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान होता है। अब प्रश्न होता है कि **हेतु** का जैन दर्शन में क्या स्वरूप है ? जैन दार्शनिकों ने अपनी प्रमाण-मीमांसा के द्वारा भारतीय दर्शन को जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, उसमें हेतु-लक्षण का विशिष्ट स्थान है। वे हेतु का एक ही लक्षण प्रतिपादित करते हैं और वह है उसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव ।[29] अविनाभाव का अर्थ है- उसके बिना इसका न रहना। साध्य के बिना हेतु नहीं रहता, यही उसका लक्षण है । हेतु के बिना साध्य तो रह सकता है। धूम के बिना अग्नि रह सकती है, किन्तु अग्नि के बिना धूम नहीं रह सकता अर्थात् अविच्छिन्न धूम तभी होता है, जब अग्नि हो । हेतु तभी होता है, जब साध्य हो । साध्य के न होने या अभाव होने पर हेतु का भी अभाव रहता है । हेतु का लक्षण यही है कि उसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव सम्बन्ध रहता है । अविनाभाव के अर्थ में अन्यथानुपपन्न एवं अन्यथानुपपत्ति शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । इसलिए कुछ दार्शनिक हेतु का लक्षण प्रतिपादित करते हुए हेतु की साध्य के साथ निश्चित अन्यथानुपपत्ति बतलाते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि पात्रस्वामी, भट्ट अकलंक, विद्यानन्दि आदि सभी जैन दार्शनिकों ने बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित हेतु के त्रिलक्षण (पक्षधर्मत्व, सपक्षत्त्व एवं विपक्षासत्त्व) का तथा न्यायदार्शनिकों द्वारा मान्य हेतु के पंचलक्षण (उपर्युक्त तीन+असत्प्रपिपक्षत्व और अबाधितविषयत्व) का निरसन कर साध्याविनाभाविता स्वरूप एक हेतु-लक्षण को प्रतिपादित किया है । पात्रस्वामी के त्रिलक्षणकदर्थन ग्रन्थ का निम्नांकित श्लोक अकलङ्क, विद्यानन्द आदि अनेक जैन दार्शनिक उद्धृत करते हैं-

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

जहाँ हेतु का अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण है, वहाँ सपक्षसत्व आदि तीन लक्षणों का क्या औचित्य है? जहाँ अन्यथानुपपत्व लक्षण नहीं है, वहाँ भी तीन लक्षणों का कोई औचित्य नहीं।

साध्य किसे कहा जाय? साधारण रूप से हम जिसे सिद्ध करना चाहते हैं, उसे साध्य कहते हैं, किन्तु प्रमाण-चिन्तक जैन दार्शनिक उसकी तीन विशेषताओं का उल्लेख करते हैं- 1. वह असिद्ध या अज्ञात होना चाहिए, ज्ञात हो जाने अर्थात् सिद्ध हो जाने पर उसे साध्य नहीं कहा जा सकता; 2. प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वह बाधित नहीं होना चाहिए, जैसे अग्नि में शीतलता सिद्ध करना प्रत्यक्ष से बाधित है, अतः शीतलता साध्य नहीं हो सकती; 3. प्रमाता का उसे सिद्ध करना अभीष्ट होना चाहिए- इन तीन विशेषताओं से युक्त साध्य को ही हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाता है।

तीसरा जो महत्त्वपूर्ण घटक है, वह है साध्य एवं हेतु में **व्याप्ति-सम्बन्ध**। न्यायदार्शनिक हेतु एवं साध्य के साहचर्य नियम को अथवा हेतु एवं साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।[30] जैन दार्शनिकों ने अविनाभाव नियम को व्याप्ति कहा है। सिद्धसेन, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि दार्शनिकों के हेतु लक्षण का अध्ययन करने से विदित होता है कि वे साध्य एवं हेतु के अविनाभाव नियम को ही व्याप्ति मानते हैं।[31] " यह इसके होने पर ही होता है, इसके नहीं होने पर नहीं होता।" इस प्रकार साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथा साध्याभाव में हेतु का न होना ही व्याप्ति है, ऐसा लक्षण माणिक्यनन्दि ने दिया है।[32] वादिदेवसूरि ने साध्य एवं साधन के त्रैकालिक सम्बन्ध को व्याप्ति माना है।[33] जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है- यह व्याप्ति का एक रूप है तथा जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धूम नहीं होता, यह व्याप्ति का दूसरा रूप है। इन दोनों को अविनाभावनियम रूप व्याप्ति से फलित किया जाता है। जैन दर्शन के हेतु-लक्षण में भी इस अविनाभाव को स्वीकार किया गया है, क्योंकि हेतु के लक्षण में उसकी साध्य के साथ व्याप्ति को स्थापित करना आवश्यक है। व्याप्ति को जैन दर्शनिकों ने अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति के भेद से दो प्रकार का बतलाया है। जिस पक्ष (साध्यदेश) में हेतु से साध्य को सिद्ध किया जाय और हेतु की उस साध्य से व्याप्ति

उस पक्ष (साध्यस्थल) में ही घटित हो, उसके बाहर नहीं, तो उसे अन्तर्व्याप्ति कहा जाता है ।[34] जैसे वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह सत् है, इस हेतु के साथ जो व्याप्ति बनती है, वह समस्त वस्तुओं रूपी पक्ष में विद्यमान रहती है, उससे बाहर नहीं जाती, अतः अन्तर्व्याप्ति कहलाती है । जो व्याप्ति पक्ष (साध्य-स्थल) से बाहर भी घटित होती है, उसे बहिर्व्याप्ति कहा जाता है, जैसे धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति पक्ष (साध्यदेश) के बाहर रसोईघर आदि में भी होने से वह बहिर्व्याप्ति है।

परार्थानुमान में दूसरों को साध्य का ज्ञान कराया जाता है। दूसरों को साध्य का ज्ञान कराने के लिए केवल हेतु का कथन पर्याप्त नहीं होता। हेतु के अतिरिक्त पक्ष-वचन भी आवश्यक होता है । न्याय दर्शन में परार्थानुमान के लिए पाँच अवयवों का कथन आवश्यक माना गया है । वे **पाँच अवयव** हैं - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैन दर्शन में पक्ष एवं हेतु - ये दो अवयव अधिक मान्य रहे हैं । इसलिए परार्थानुमान का लक्षण देते समय वादिदेवसूरि ने पक्ष एवं हेतु के कथन को परार्थानुमान कहा है।[35] परार्थानुमान यद्यपि वचनात्मक (कथनात्मक) होता है, तथापि अनुमान की प्रतिपत्ति का निमित्त होने से इसे उपचार से परार्थानुमान कह दिया गया है । परार्थानुमान के दो अवयव स्वीकार करने में जैन दार्शनिक एकान्तवादी नहीं हैं । उनके मत में प्रतिपाद्य पुरुष की योग्यता के अनुसार अवयवों की संख्या निर्धारित हो सकती है । अत्यधिक व्युत्पन्न पुरुष को साध्य का ज्ञान कराने के लिए मात्र 'हेतु' कथन भी पर्याप्त है और मन्दगति पुरुषों को ज्ञान कराने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु आदि न्यायदर्शन में प्रतिपादित पाँचों अवयव आवश्यक हैं। जैनाचार्य भद्रबाहु की 'दशवैकालिक निर्युक्ति' में दश अवयवों का भी उल्लेख हुआ है,[36] किन्तु उन्हें उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने नहीं अपनाया है।

जैन दार्शनिकों ने अनुमान-प्रमाण को व्यापक बनाने के लिए **हेतु के अनेक भेद** प्रतिपादित किए हैं। माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख' में हेतु के 22 भेदों एवं वादिदेवसूरि के 'प्रमाणनयत्तत्त्वालोक' में 25 भेदों का वर्णन है । मुख्य रूप से जो हेतु हैं, उनमें स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं का नाम लिया जा सकता है । स्वभाव हेतु स्वभाव रूप होता है, यथा-समस्त वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, क्योंकि उनमें अनेक गुण-धर्म हैं । यहाँ पर अनेक गुणधर्मों की

उपस्थिति रूप हेतु वस्तु में अनेकान्तात्मकता साध्य को सिद्ध करने के लिए स्वभाव हेतु है। कार्य हेतु में हेतु कार्य रूप होता है एवं साध्य कारण रूप, यथा- पर्वत में वह्नि है, क्योंकि धूम उपलब्ध है। यहाँ धूम वह्नि का कार्य है। कार्य से कारण का अनुमान लगभग प्रत्येक भारतीय दर्शन में स्वीकृत है, कारण हेतु में कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, जैसे-बरसने वाले बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान, दूध में चीनी मिलने से मिठास का अनुमान आदि।

पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं का स्थापन जैन दार्शनिकों की नई सूझ है। पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं में जैन दार्शनिकों ने साध्य के साथ क्रमभावी अविनाभाव स्वीकार किया है। सहचर हेतु में वे सहभावी अविनाभाव का प्रतिपादन करते हैं। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि दो वस्तुओं या घटनाओं का जब कोई निश्चित क्रम हो, तो उनमें पूर्वभावी वस्तु या घटना के द्वारा पश्चाद्भावी वस्तु या घटना का अनुमान पूर्वचर हेतु से तथा पश्चाद्भावी वस्तु या घटना के द्वारा पूर्वभावी का अनुमान उत्तरचर हेतु से सम्पन्न होता है। यथा- पूर्वभावी कृत्तिका नक्षत्र के उदय से जब पश्चाद्भावी शकट नक्षत्र के उदय का अनुमान किया जाता है, तो कृत्तिका नक्षत्र पूर्वचर हेतु है, क्योंकि वह शकट (रोहिणी) नक्षत्र के ठीक पहले उदित होता है। जब शकट (रोहिणी) नक्षत्र को देखकर कृत्तिका नक्षत्र के एक मुहूर्त पूर्व उदय हो चुकने का अनुमान किया जाय, तो शकट उत्तरचर हेतु होगा, क्योंकि वह कृत्तिका का पश्चाद्भावी है। सहचर हेतु में साथ-साथ रहने वाले दो तत्त्वों में से एक के द्वारा दूसरे का अनुमान किया जाता है, यथा- आम्र फल को खाते समय रस का अनुभव कर उसमें रूप का अनुमान। रस और रूप साथ-साथ रहते हैं। जहाँ रस है, वहाँ रूप अवश्य होगा। अतः रस, रूप के अनुमान में सहचर हेतु है।

5. आगम-प्रमाण

आगम-प्रमाण को अन्य दर्शनों में शब्द-प्रमाण के नाम से भी जाना जाता है, किन्तु जैन दर्शन में 'आगम' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध है। आप्त पुरुष के वचनों अथवा उनसे होने वाले प्रमेय अर्थ के ज्ञान को जैन दार्शनिक आगम-प्रमाण कहते हैं। आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वादिदेवसूरि कहते हैं कि जो पुरुष

अभिधेय वस्तु को यथावस्थित (जो जैसी है, उसे वैसे ही) रूप से जानता है तथा जैसा जानता है, उसे वैसा कहता है- वह आप्त है।[37] आप्त पुरुष लौकिक भी हो सकता है और लोकोत्तर भी। माता-पिता, गुरुजन, सन्त आदि लौकिक आप्त पुरुष हैं तथा तीर्थंकर, अर्हन्त आदि लोकोत्तर आप्त हैं । आप्त पुरुष के वचनों से वस्तु का यथार्थ ज्ञान या सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उनके वचनों को उपचार से प्रमाण माना गया है । जैनागम प्रमाण हैं, क्योंकि वे अर्हन्त प्रभु (आप्त) की वाणी हैं। आगम-प्रमाण श्रुतज्ञान है ।

यहाँ पर कहना होगा कि जैनदर्शन में मतिज्ञान के आधार पर जहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान-प्रमाण का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ श्रुतज्ञान के आधार पर मात्र आगम-प्रमाण का निरूपण हुआ है।

प्रमेय

'प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्' अर्थात् जो जानने योग्य है अथवा सिद्ध करने योग्य है, वह प्रमेय है। 'प्र+माङ्+यत्' पूर्वक प्रमेय शब्द निष्पन्न हुआ है जो ज्ञेय का अर्थ भी देता है, किन्तु खास बात यह है कि प्रमेय ज्ञेय होकर भी हेय एवं उपादेय हो सकता है।

संसार की प्रत्येक वस्तु प्रमेय है, और वे वस्तुएँ संख्या में अनन्त हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त-गुण धर्म हैं, जिनके कारण जैन दार्शनिकों ने समस्त प्रमेयों को अनेकान्तात्मक कहा है । वह अनेकान्तात्मक प्रमेय सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक आदि रूपों में जाना जाता है । जैन दर्शन में प्रत्येक वस्तु द्रव्य एवं पर्याय से युक्त मानी गयी है। द्रव्य सदा बना रहता है एवं उसकी पर्याय निरन्तर बदलती रहती है । पर्याय का उत्पाद एवं व्यय होता रहता है, द्रव्य ध्रुव रहता है । इस तरह वस्तु को जैन दर्शन उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त भी कहता है । द्रव्य से नित्य बने रहने एवं पर्याय के बदलते रहने के कारण वस्तु को नित्यानित्यात्मक भी स्वीकार किया गया है । जैन दार्शनिक वस्तु की सदृशता एवं भिन्नता के आधार पर उसे सामान्य-विशेषात्मक भी प्रतिपादित करते हैं । एक वस्तु के जो धर्म अन्य वस्तुओं से अथवा उसी वस्तु की पूर्व एवं उत्तर पर्याय से सादृश्य रखते हैं, वे सामान्य तथा जो धर्म अन्य वस्तुओं से अथवा उस

वस्तु की अन्य पर्यायों से भिन्नता बतलाते हैं, वे विशेष कहे गये हैं। प्रत्येक वस्तु में सामान्य एवं विशेष धर्म विद्यमान रहते हैं। वैशेषिक दर्शन में सामान्य एवं विशेष दो भिन्न पदार्थ हैं, जबकि जैनदर्शन में प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई सामान्य विशेष से रहित नहीं होता एवं कोई विशेष सामान्य से रहित नहीं होता।

प्रमाण-फल

जैन दार्शनिक प्रमाण के फल को दो प्रकार का निरूपित करते हैं-1. साक्षात् फल एवं 2. परम्परा फल। प्रत्यक्ष, स्मृति आदि समस्त प्रमाणों का साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है। परम्परा-फल दो प्रकार का है। केवलज्ञान का परम्परा-फल उपेक्षा बुद्धि तथा अन्य समस्त प्रमाणों का परम्परा-फल हान (त्यागना), उपादान (ग्रहण करना) एवं उपेक्षाबुद्धि है।[38]

किसी प्रमेय का ज्ञान होने का अर्थ है- उस प्रमेय के सम्बन्ध में अज्ञान की निवृत्ति। यही प्रमाण का साक्षात् फल है। प्रमाण एवं उसका फल दोनों ज्ञानात्मक होते हैं। दोनों के ज्ञानात्मक होने के कारण वे परस्पर कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न माने गये हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति स्व-पर-व्यवसायी प्रमाण से अभिन्न प्रतीत होता है, तथापि प्रमाण साधन एवं अज्ञाननिवृत्ति साध्य है। इन दोनों में साध्य-साधन की प्रतीति होने से ये दोनों कथंचित् भिन्न हैं। हान, उपादान एवं उपेक्षाबुद्धि रूप परम्परा-फल भी प्रमाण से कथंचिद् भिन्न एवं कथंचिद् अभिन्न है। वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न प्रतीत होता हुआ भी एक ही प्रमाता द्वारा दोनों का अनुभव होने से वे दोनों कथंचित् अभिन्न भी हैं। यदि प्रमाण एवं फल कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न न हों, तो प्रमाण एवं फल की व्यवस्था नहीं बन सकती।[39]

प्रमाण का प्रामाण्य

प्रमाण के द्वारा प्रमेय पदार्थ का दोषरहित ज्ञान होना उसका प्रामाण्य है। अब प्रश्न यह होता है कि प्रमाण की प्रमाणता का ज्ञान कैसे हो कि यह प्रमाण वस्तुतः प्रमाण है। जैन दार्शनिकों ने इसके लिए प्रतिपादित किया है कि प्रमाण की प्रमाणता (प्रामाण्य) का ज्ञान अभ्यास-दशा में स्वतः होता है तथा अनभ्यास-दशा में परतः

होता है । जबकि प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है । तथापि उनका अभ्यासदशा में ज्ञान स्वतः तथा अनभ्यासदशा में परतः होता है । इन्द्रियादि में दोष होने के कारण प्रमाण में जो अप्रामाण्य आता है, वह परतः उत्पन्न कहा जाता है । परतः अप्रामाण्य उत्पन्न न हो, तो संशयादि के अभाव में प्रामाण्य ही रहता है । प्रामाण्य को जानने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता न हो, तो उसे स्वतः प्रामाण्य कहा जाता है । अभ्यास-दशा में प्रमेय का दोष रहित ज्ञान ही उसका स्वतः प्रामाण्य है । जब प्रमाण के प्रामाण्य को जानने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता होती है, तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जाता है । अनभ्यास दशा में या संशयादि की स्थिति में परतः प्रामाण्य होता है, यथा-अनुमान से जाने गये प्रमेय-ज्ञान का प्रत्यक्ष से प्रामाण्य जानना परतः प्रामाण्य है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जैन प्रमाण-मीमांसा का तार्किक जगत् में पूर्ण व्यवस्थापन भले ही विलम्ब से हुआ हो, तथापि उसका भारतीय दर्शन में विशिष्ट महत्त्व है। ज्ञान को प्रमाण-रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने जहाँ आगम-सरणि को सुरक्षित रखा है, वहाँ उन्होंने प्रमाण को लौकिक जगत् के लिए उपादेय भी बनाया है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि को प्रमाण-रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को महान् योगदान किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित प्रमाण-लक्षण, हेतु-लक्षण एवं पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओं का स्थापन भी भारतीय न्याय को महत्त्वपूर्ण अवदान है।

सन्दर्भ :-

1. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। - वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र 1.1.1
2. (1) हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। - परीक्षामुख, 1.2
   (2) अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम्, अतो ज्ञानमेवेदम्। - वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक, श्री तिलोकरत्न जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदनगर, 1.3
3. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं प्रमायां साधकतमम्।- प्रभाचन्द्र, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग - 1, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई, 1938, पृ. 48.10 एवं हेमचन्द्रकृत प्रमाणमीमांसा 1.1.1
4. (1) स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्। - समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, 63
   (2) प्रमाणं स्वपराभासि-ज्ञानं बाधविवर्जितम्। - सिद्धसेन, न्यायावतार , 1

5. (1) प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। -अष्टशती, अष्टसहस्री, सोलापुर, 1915, पृ. 175
   (2) स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। - परीक्षामुख, 1.1
6. तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
   लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्।। - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.10.77
7. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।
   ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते।। - लघीयस्त्रय, 60, अकलंकग्रन्थत्रयम्, सिंघी जैन ग्रन्थमाला 12, अहमदाबाद, कलकत्ता, 1939
8. ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहीणोऽपि नाप्रामाण्यम्।-प्रमाणमीमांसा,1.1.4 एवं इसकी वृत्ति
9. अविसंवादकत्वं च निर्णयायत्तम्। तदभावेऽभावात्। तद्भावे च भावात् । - लघीयस्त्रयवृत्ति, 60
10. विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्। - विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा, वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, 1977, पृ. 37
11. प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्। - प्रमाणमीमांसा, 1.1.14
12. आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। - तत्त्वार्थसूत्र, 1.11-12
13. (1) इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 95
   (2) तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। - लघीयस्त्रयवृत्ति, 4
14. अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक 2.8
15. संशयपूर्वकत्वादीहायाः संशयाद् भेदः ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 2.11
16. ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक 2.9
17. पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 2.18
18. निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 2.23
19. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
   केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। - नियमसार , 158
20. संयमविशुद्धिनिबन्धनाद् विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं, मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 2.22
21. अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम् । - प्रमाणनयतत्त्वालोक, 2.21
22. मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। - तत्त्वार्थसूत्र, 1.13
23. तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3.3
24. द्रष्टव्य, प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3.5-6

25. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, 1977, पृ. 44-45
26. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः। - परीक्षामुख 3.7
27. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।- न्यायविनिश्चय, 170
28. से किं तं अणुमाणे? से तिविहे पण्णत्ते, तंजहा- पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं ।- अनुयोगद्वारसूत्र,
    अनुमानप्रमाणद्वार ।
29. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः। - परीक्षामुख, 3.11
30. (1) यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। - केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1977
    (2) स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः। - तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण
31. द्रष्टव्य, डॉ. धर्मचन्द जैन, बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1995, पृ. 260
32. परीक्षामुख 3.8-9
33. प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3.7
34. पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3.38
35. पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3.23
36. दश अवयवों के नाम दो प्रकार से उल्लिखित हैं। प्रथम प्रकार में - 1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञाविशुद्धि, 3. हेतु, 4. हेतुविशुद्धि, 5. दृष्टान्त, 6. दृष्टान्तविशुद्धि, 7. उपसहांर, 8. उपसंहारविशुद्धि, 9. निगमन एवं 10. निगमनविशुद्धि का उल्लेख है।
    द्वितीय प्रकार में- 1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञाविभक्ति, 3. हेतु, 4. हेतुविभक्ति, 5. विपक्ष, 6. विपक्षप्रतिषेध, 7. दृष्टान्त, 8. आशंका, 9. आशंकाप्रतिषेध एवं 10. निगमन का निरूपण है। वात्स्यायन के 'न्यायभाष्य' में भी दश अवयवों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास की गणना की गयी है। - द्रष्टव्य, न्यायभाष्य 1.1.32
37. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 4.4
38. द्रष्टव्य, प्रमाणनयतत्त्वालोक 6.2-5
39. तत्प्रमाणतः स्याद्भिन्नमभिन्नं च, प्रमाणफलत्वान्यथानुपपत्तेः।- प्रमाणनयतत्त्वालोक 6.6



जैन प्रमाणशास्त्र में अवग्रह का स्थान

जैनदर्शन में स्व एवं पर पदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा गया है । प्रमाण की विशेषता होती है कि यह जीवन-व्यवहार में त्याज्य, ग्राह्य एवं उपेक्षणीय पदार्थ का बोध कराता है । ऐसा बोध हमें निश्चयात्मक ज्ञान से ही होता है । वह निश्चयात्मक ज्ञान संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान) एवं अनध्यवसाय (अनिश्चयात्मक) ज्ञान से भिन्न/रहित होता है । जैनदर्शन में पाँच प्रकार के ज्ञान प्रतिपादित हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान । इस सबका समावेश प्रमाण-भेदों में किया गया है । मतिज्ञान की प्रक्रिया में अवग्रह (सामान्यग्राही), ईहा (अवग्रह से अधिक ग्राही), अवाय (निर्णयात्मक ज्ञान) एवं धारणा (अवाय ज्ञान की दृढ़ता, जो स्मृति में कारण होती है) का प्रतिपादन हुआ है । अवग्रहादि इन चार ज्ञानों में अवाय एवं धारणा ज्ञान तो निश्चयात्मक होने से प्रमाण होते ही हैं, किन्तु अवग्रह एवं ईहा को प्रमाण किस आधार पर माना जाए, यह प्रश्न खड़ा होता है। प्रस्तुत आलेख में अवग्रह की प्रमाणता पर चर्चा की गई है । अवग्रह के भी दो प्रकार हैं- व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह। इनमें अर्थावग्रह को प्रमाण मानने के सम्बन्ध में कुछ आधार प्राप्त होते हैं, जिनका विचार करते हुए उसे प्रमाणकोटि में रखा गया है, किन्तु व्यंजनावग्रह प्रमाणकोटि में नहीं आता है । अर्थावग्रह को प्रमाण मानने पर ईहा ज्ञान को प्रमाण स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ।

जैन प्रमाण-शास्त्रों में आगम-निरूपित ज्ञान ही प्रमाणरूप में प्रतिष्ठित है। ज्ञान की प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा बौद्धदार्शनिकों के द्वारा भी स्वीकृत है, किन्तु वे निर्विकल्पक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। जैन दार्शनिक इस सम्बन्ध में मतभेद रखते हैं। न्यायदर्शन में प्रमा का करण होने से इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को, मीमांसा दर्शन में ज्ञातृव्यापार को और सांख्यदर्शन में इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण माना गया है। इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि जड़ होने के कारण हान, उपादान और उपेक्षा का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं, इसलिए जैन दार्शनिक ज्ञान से भिन्न इन्द्रिय आदि को प्रमाण स्वीकार नहीं करते हैं।[1] वे स्व एवं पर के निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान को ही हान, उपादान और उपेक्षा का ज्ञान कराने में समर्थ मानते हैं, अतः वे इसी को प्रमाण स्वीकार करके निर्विकल्पक ज्ञान की प्रमाणता का खण्डन करते हैं।

ज्ञान और प्रमाण में कथंचिद् भिन्नता

प्रमाण कथञ्चिद् ज्ञान से भिन्न है। संशयज्ञान और विपर्ययज्ञान ज्ञान होकर भी प्रमाण नहीं हैं, यह निर्विवाद है, किन्तु आगम में जो सम्यग्ज्ञान मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक माना जाता है उसका स्वरूप प्रमाणशास्त्र में निरूपित सम्यग्ज्ञान से भिन्न है। **विद्यानन्द** (775-840 ई.) **प्रमाणपरीक्षा** में '**सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति**' प्रमाण-लक्षण की रचना करते हुए संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान बतलाते हैं।[2] **हेमचन्द्र** (1088-1173 ई.) भी **प्रमाणमीमांसा** में इसी प्रकार का निरूपण करते हैं।[3] आगम में जो सम्यग्ज्ञान निरूपित है वह प्रमाणलक्षण से भिन्न है। आगम के अनुसार मिथ्यात्वी जब सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तभी उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यक्त्व की यह प्राप्ति जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से होती है। अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क में प्रगाढ क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों का तथा दर्शनमोहत्रिक में सम्यक्त्वमोह, मिथ्यात्वमोह और मिश्रमोह प्रकृतियों का समावेश होता है। प्रमाण के लिए मोह कर्म (की इन प्रकृतियों) के चतुष्क और त्रिक के क्षय आदि की अपेक्षा नहीं रहती है। वहाँ तो मिथ्यात्वी का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान भी प्रमाण ही होता है। इस प्रकार प्रमाणशास्त्रीय सम्यग्ज्ञान आगमनिरूपित सम्यग्ज्ञान से भिन्न है।

प्रमाण का अन्य वैशिष्ट्य है उसकी स्वपर-व्यवसायात्मकता। स्व का और अर्थ (पदार्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान ही जैनदर्शन में प्रमाण माना गया है।[4] जो ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता उसका प्रमाण जैनदार्शनिकों को अभीष्ट नहीं है। जैनदर्शन में स्वपर- प्रकाशकता प्रसिद्ध है। आचार्य **कुन्दकुन्द** के नियमसार ग्रन्थ में ज्ञान की स्वपर-प्रकाशकता की प्रबल रूप में स्थापना की गई है।[5] आचार्य **सिद्धसेन** (5वींशती) और **समन्तभद्र** (षष्ठ शती) ने प्रमाण को स्व एवं पर का अवभासक निरूपित किया है।[6] **अकलङ्क**(720-780 ई.), **विद्यानन्द, अभयदेवसूरि** (10वीं शती), **प्रभाचन्द्र**(980-1065 ई.), **देवसूरि** (1086-1196 ई.), **हेमचन्द्र** आदि समस्त दार्शनिक ज्ञानात्मक होने के कारण प्रमाण में स्वपर-प्रकाशकता स्वीकार करते हैं।

आगमनिरूपित ज्ञान का प्रमाण-भेदों में समावेश

आगमों में ज्ञान का जो निरूपण उपलब्ध होता है वह सब प्रमाण-विवेचन में भी समाविष्ट हो गया । आगमों में ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान नामक पांच भेद प्राप्त होते हैं । मतिज्ञान का उल्लेख आभिनिबोधिक शब्द से भी हुआ है । **तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति** (द्वितीय शती) ने ज्ञान के इन पांच भेदों का समावेश प्रमाण के दो भेदों में किया है । प्रमाण के दो भेद हैं- 1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष । '**आद्ये परोक्षम्**' तथा '**प्रत्यक्षमन्यद्**' इन दो सूत्रों से उमास्वाति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अन्तर्भाव परोक्षप्रमाण में करते हैं तथा अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञानों का समावेश प्रत्यक्ष प्रमाण में करते हैं ।[7] प्रत्यक्ष और परोक्ष के इस विभाजन में आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा शेष अन्य ज्ञानों को परोक्ष कहा गया है ।

जिनभद्र (षष्ठ-सप्तम शती) **अकलङ्क** आदि जैनाचार्यों ने उत्तरकाल में प्रमाणमीमांसा का व्यवस्थित विस्तार किया । प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किए गए- 1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और 2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष । परोक्षप्रमाण के पांच भेद किए गए- 1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान और 5. आगम । सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद प्रतिपादित किए गए- 1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष और 2. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष । ये दोनों भेद अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा रूप होते हैं । पारमार्थिक प्रत्यक्ष के पुनः तीन भेद किए गए- 1. अवधिज्ञान, 2. मनःपर्यायज्ञान और 3. केवलज्ञान

नन्दी सूत्र, षट्खण्डागम आदि श्वेताम्बर और दिगम्बर आगमों में आभिनिबोधिक अर्थात् मतिज्ञान के श्रुतिनिश्रित रूप में चार भेद प्रतिपादित हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय (अपाय) और धारणा ।[8] मतिज्ञान के आगमनिरूपित इन चार भेदों का समावेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष-प्रमाण के भेदों में हुआ है । स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान नामक परोक्षप्रमाण मतिज्ञान के ही पर्याय हैं । यह बात उमास्वाति के '**मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्**' सूत्र से सिद्ध होती है ।[9] श्रुतज्ञान का समावेश आगम प्रमाण में होता है ।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का संक्षिप्त स्वरूप

नन्दीसूत्र के **निर्युक्तिकार** ने अवग्रह आदि का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है-

अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह वियालणं ईहं ।
ववसायं च अवायं धरणं पुण धारणं बेंति ।।[10]

अर्थात् अर्थों को ग्रहण करना अवग्रह है, उसका (अवगृहीत अर्थ का) विचार करना ईहा है, ईहित का निश्चय करना अवाय है तथा उस निर्णय को धारण करना धारणा है । **जिनदासगणि महत्तर** ने **नन्दीसूत्र** की **चूर्णि** में प्राकृत भाषा में इनका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है- ''रूपादि विशेष से निरपेक्ष अनिर्देश्य सामान्य का ग्रहण अवग्रह है । उसका (अवगृहीत अर्थ का) विशेष विचार या अन्वेषण ईहा है । उस (ईहित) विशेषण विशिष्ट अर्थ का निर्णय होना अवाय है । उस विशेष रूप से ज्ञात अर्थ का धारण करना, उसकी अविच्युति होना धारणा कहा जाता है ।[11] **विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** इनके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं-

सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो भेयमग्गणमहेहा ।
तस्सावगमोऽवाओ अविच्चुई धारणा तस्स ।।[12]

''सामान्य अर्थ का ग्रहण अवग्रह है, उसकी भेदमार्गणा (या विशेष अन्वेषण) ईहा है, उसका निर्णयात्मक बोध अवाय है, उसकी अविच्युति (कुछ काल तक टिकना) धारणा है ।''

पूज्यपाद देवनन्दी (5वीं शती), **अकलङ्क** आदि दिगम्बर दार्शनिक भी अवग्रह को छोड़कर ईहा आदि का इसी प्रकार विवेचन करते हैं। वे अवग्रह के पहले 'दर्शन' का होना अङ्गीकार करते हैं। उनके मत में विषय तथा विषयी (इन्द्रिय) का सन्निपात (सन्निकर्ष) होने पर दर्शन होता है, उसके पश्चात् अर्थ का ग्रहण अवग्रह कहलाता है। अवगृहीत अर्थ में उससे विशेष जानने की आकांक्षा ईहा है। विशेष को जान लेने पर यथास्वरूप का ज्ञान अवाय कहलाता है तथा अवाय द्वारा जाने गए अर्थ को कालान्तर में भी न भूलना धारणा है ।[13]

अवायज्ञान और धारणाज्ञान में इस प्रकार निश्चयात्मकता निर्विवाद है, किन्तु अवग्रह एवं ईहा ज्ञान की निश्चयात्मकता विवाद का विषय है। श्वेताम्बर आगम-परम्परा के अनुयायी **जिनभद्र** आदि दार्शनिक अवग्रह और ईहाज्ञान में निश्चयात्मकता अङ्गीकार नहीं करते हैं, किन्तु प्रमाणशास्त्र के अनुयायी **अकलङ्क** आदि दिगम्बर दार्शनिक तथा **वादी देवसूरि** आदि कुछ श्वेताम्बर दार्शनिक अवग्रह और ईहा ज्ञान को प्रमाण बतलाने के लिए उनमें निश्चयात्मकता स्वीकार करते हैं।

प्रस्तुत शोध लेख में अवग्रह के स्वरूप का विवेचन कर यह विचार किया जाएगा कि अवग्रह में प्रमाण-लक्षण घटित होता है या नहीं। अवग्रह के साथ दर्शन का भी प्रश्न जुड़ा हुआ है। ईहा ज्ञान की चर्चा यहाँ अधिक नहीं की जाएगी, क्योंकि ईहाज्ञान तो अवग्रह के आश्रित है। यदि अवग्रह में प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है तो ईहा में तो स्वतः सिद्ध हो जाएगा।

अवग्रह के दो भेद : व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह

आगमों में अवग्रह के दो भेद निरूपित हैं- व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने के कारण व्यंजनावग्रह चार प्रकार का होता है। चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है, क्योंकि ये दोनों इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं। जो इन्द्रियाँ विषय से संयुक्त या स्पृष्ट होकर ज्ञान की साधन बनती हैं वे प्राप्यकारी कहलाती हैं। स्पर्शन आदि पूर्वोक्त चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। अर्थावग्रह छह प्रकार का वर्णित है, क्योंकि यह सभी इन्द्रियों (पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन) से होता है। अप्राप्यकारी चक्षु एवं मन से भी अर्थावग्रह होता है, यह तात्पर्य है। व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह के सम्बन्ध में यह मत निर्विवाद है कि व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है तथा अर्थावग्रह सभी इन्द्रियों से होता है, किन्तु इन दोनों के स्वरूप को लेकर अनेक मतभेद हैं।

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के स्वरूप में मतभेद

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के स्वरूप को लेकर जैनदर्शन में प्रमुख रूप से तीन मत हैं-

1. **पूज्यपाद देवनन्दी** और **अकलङ्क** के मत में अव्यक्त ग्रहण व्यंजनावग्रह होता है तथा व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह होता है। जिस प्रकार नया सकोरा जल की दो तीन सूक्ष्म बूँदों से छींटे जाने पर गीला नहीं होता है, किन्तु वही सकोरा बार-बार छींटे जाने पर धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार शब्दादि विषयों के अव्यक्त ग्रहण को व्यंजनावग्रह एवं व्यक्त ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं।[14] **आचार्य विद्यानन्द** भी इसी मत का समर्थन करते हुए व्यंजनावग्रह को अस्पष्ट तथा अर्थावग्रह को स्पष्ट ग्रहण के रूप में प्रतिपादित करते हैं।[15]

2. द्वितीय मत में **वीरसेनाचार्य** (9-10 वीं शती) **षट्खण्डागम** की **धवला** टीका में अप्राप्त अर्थ ग्रहण को अर्थावग्रह और प्राप्त अर्थ ग्रहण को व्यंजनावग्रह बतलाते हैं। वे **अकलङ्क** के द्वारा दी गई परिभाषा का खण्डन करते हुए कहते हैं- ''स्पष्ट ग्रहण अर्थावग्रह नहीं है, क्योंकि फिर अस्पष्ट ग्रहण को व्यंजनावग्रह मानना पड़ेगा। यदि ऐसा हो भी जाये तो चक्षु में भी अस्पष्ट ग्रहण होता दिखाई देता है, इसलिए उसमें भी व्यंजनावग्रह मानने का प्रसंग आता है और आगम में चक्षु एवं मन से व्यंजनावग्रह स्वीकार नहीं किया गया है।[16]

धवलाटीका की नवमी पुस्तक में **वीरसेनाचार्य** ने शङ्का उठाई है कि अवग्रह निर्णय रूप होता है या अनिर्णय रूप ? यदि वह निर्णय रूप होता है तो उसका अवाय में अन्तर्भाव होना चाहिए और यदि वह अनिर्णय रूप होता है तो प्रमाण नहीं हो सकता। इस शङ्का के समाधान में **वीरसेन स्वामी** ने अवग्रह के दो नये भेद किए हैं- 1. विशद अवग्रह और 2. अविशद अवग्रह। उनमें से विशद अवग्रह निर्णयात्मक होता हुआ ईहा, अवाय एवं धारणा ज्ञान की उत्पत्ति में कारण बनता है। वह अवग्रह निर्णय रूप होता हुआ भी ईहा, अवाय आदि निर्णयात्मक ज्ञानों से पृथक् होता है। (किसी पुरुष की) भाषा, आयुष्य, रूप आदि विशेषों का ग्रहण किए बिना पुरुष मात्र (सामान्य) का ग्रहण करना अविशद अवग्रह होता है।

3. तीसरा मत **जिनभद्र क्षमाश्रमण** (छठी शताब्दी) ने युक्तिपुरस्सर उपस्थापित किया है। आगमपरम्परा के व्याख्याकार आचार्य **जिनदासगणिमहत्तर, सिद्धसेन-गणि, यशोविजय** (17वीं शती) आदि इसके समर्थक हैं। जिनभद्र के मत में

व्यंजनावग्रह से पूर्व विषय एवं विषयी के सन्निपात से उत्पन्न दर्शन नहीं होता है। व्यंजनावग्रह के स्वरूप का निर्देश करते हुए वे **विशेषावश्यक भाष्य** में कहते हैं-

वंजिज्जइ जेणत्थो घडो व्व दीवेण वंजणं तं च ।
उवगरणिंदियसद्दाइपरिणयद्दव्वसंबंधो ।।[17]

अर्थात् जिस प्रकार दीपक के द्वारा घट प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार जिससे अर्थ प्रकट किया जाये उसे व्यंजन कहते हैं । वह व्यंजन है- उपकरणेन्द्रिय एवं शब्दादि पुद्गल पर्याय का सम्बन्ध । जब श्रोत्र आदि उपकरण इन्द्रियों का अर्थ (पदार्थ) के साथ सम्बन्ध होता है तब व्यंजनावग्रह होता है । अतः इन्द्रिय-लक्षण व्यंजन से शब्दादि परिणत द्रव्य के सम्बन्ध स्वरूप व्यंजन का अवग्रह व्यंजनावग्रह कहलाता है । इस प्रकार व्यंजन तीन प्रकार का होता है- 1. इन्द्रिय 2. शब्दादिपरिणत द्रव्य और 3. उन दोनों का सम्बन्ध । यद्यपि व्यंजनावग्रह में ज्ञान का अनुभव नहीं होता है फिर भी ज्ञान का कारण होने से यह ज्ञान कहलाता है । अग्नि के एक कण में अग्नि की भांति व्यंजनावग्रह में अतीव अल्प ज्ञान स्वीकार किया जाता है ।[18]

व्यंजनावग्रह के चरम समय में अर्थावग्रह होता है । जिनभद्र गणि ने अर्थावग्रह का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है- **सामन्नमणिद्देसं सरूवनामाइकप्पणारहियं।**[19] (यह अर्थावग्रह) सामान्य, अनिर्देश्य एवं स्वरूप, नाम आदि की कल्पना से रहित होता है । अर्थात् अर्थावग्रह में वस्तु का सामान्य ग्रहण होता है । वह सामान्य ग्रहण अनिर्देश्य होता है (उसका कथन नहीं किया जा सकता) तथा स्वरूप एवं नामादि की कल्पना से रहित होता है । सामान्य अर्थ निर्देश्य भी होता है, किन्तु उसका व्यवच्छेद करने के लिए अनिर्देश्य पद ग्रहण किया गया है, ऐसा वृत्तिकार **मलधारी हेमचन्द्र** ने स्पष्ट किया है । स्वरूप, नामादि की कल्पना से रहित में आदि शब्द से जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य का ग्रहण होता है । अर्थावग्रह इन सबसे रहित होता है । अर्थावग्रह का काल जैनागमों में एक समय ही माना गया है ।[20] समय काल का सबसे छोटा अविभाज्य अंश होता है । एक समय में नामादि की कल्पना होना संभव भी नहीं है । स्वरूप का निर्देश भी नहीं किया जा

सकता है । आचार्य **यशोविजय** ने **जैनतर्कभाषा** में अर्थावग्रह का यही स्वरूप स्पष्ट किया है, यथा-"स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य की कल्पना से रहित सामान्यग्रहण अर्थावग्रह है ।"[21]

आचार्य **जिनभद्र** इस प्रसंग में कुछ अन्य मतावलम्बी दार्शनिकों के दो मतों का उल्लेख कर उनका खण्डन करते हैं । संक्षेप में यहाँ यह चर्चा प्रस्तुत है-

1. प्रथम मत में संकेतादि विकल्प से रहित, सद्योजात बालक को सामान्य ग्रहण होता है । जो विषयों (पदार्थों) से परिचित हैं उन्हें तो प्रथम समय में ही विशेष ज्ञान हो जाता है । इस मत का खण्डन करते हुए जिनभद्र कहते हैं कि इस प्रकार तो विषय से अधिक परिचित व्यक्ति को प्रथम समय में ही 'यह शंख का शब्द है' इत्यादि अवाय ज्ञान भी हो जाएगा । पुरुष की शक्तियों में तारतम्य विशेष दिखाई देते हैं, किन्तु एक समय में अनेक उपयोग नहीं होते । इस प्रकार यदि हो तो सारा मतिज्ञान अवाय मात्र हो जाये अथवा अवग्रह मात्र रह जाये । यदि प्रथम समय में विशेष ज्ञान का होना माना जाये तो अर्थावग्रह के एक समय तक होने की बात खण्डित हो जाती है, जो आगमविरुद्ध है । इसलिए परिचित विषयों का ज्ञान होने में भी प्रथम समय में सामान्य ग्रहण स्वीकार करना चाहिए ।[22] जिनभद्र अवग्रह आदि के क्रम को लेकर दृढ़ हैं । उनके मत में अवग्रह के बिना ईहा, ईहा के बिना अवाय और अवाय के बिना धारणा नहीं होती है ।

2. दूसरे मत में अर्थावग्रह आलोचनापूर्वक होता है, ऐसा कहा गया है । आलोचन को सामान्यग्राही माना गया है और अर्थावग्रह काल में शब्द रूपादि से भिन्न ज्ञात होता है । आलोचना ज्ञान का उल्लेख कुमारिलभट्ट ने भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए किया है, यथा-

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ।।

- श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, 112

"पहले निर्विकल्पक आलोचना ज्ञान होता है । वह बालक एवं मूक के ज्ञान के समान निर्विकल्पक तथा शुद्ध वस्तु से उत्पन्न होता है ।"

इस आलोचना ज्ञान का आचार्य जिनभद्र ने खण्डन किया है । इसके खण्डन

के लिए वे प्रश्न करते हैं कि आलोचना ज्ञान व्यंजनावग्रह से पूर्व होता है, पश्चात् होता है या वह व्यंजनावग्रह ही होता है ? इनमें से प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि तब अर्थ एवं व्यंजन (इन्द्रिय) के सम्बन्ध का ही अभाव रहता है । बाद में भी आलोचना ज्ञान होना संभव नही है, क्योंकि व्यंजनावग्रह के चरम समय में अर्थावग्रह होता है। यदि व्यंजनावग्रह ही आलोचनाज्ञान है तो यह नामान्तरकरण ही हुआ। दूसरी बात यह है कि व्यंजनावग्रह अर्थशून्य (अर्थज्ञान से रहित) होता है, इसलिए अर्थ का आलोचनज्ञान तब भी होना उचित नहीं है ।[23]

बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष किस प्रकार का है, इसका जिनभद्र ने विचार नहीं किया है, किन्तु जिनभद्र के मत में जो अर्थावग्रह है वह ही बौद्धों का निर्विकल्पक इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो, ऐसा प्रतीत होता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के जो स्वसंवेदन और योगी प्रत्यक्ष नामक दो भेद हैं,* वे इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं करते, अतः वे दोनों इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न हैं । मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियप्रत्यक्ष के आश्रित होता है। बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जैनों द्वारा प्रतिपादित इन्द्रिय-प्रत्यक्षस्वरूप अर्थावग्रह कथञ्चिद् भिन्न भी है। बौद्ध मत में इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण माना गया है और जैन मत में अर्थावग्रह का विषय सामान्य ग्रहण को स्वीकार किया गया है ।

दर्शन और अवग्रह में भेदाभेदता

जैनदर्शन में 'ज्ञान के पूर्व दर्शन होता है' यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। दर्शन के अनन्तर ही ज्ञान होता है, यह सुनिश्चित क्रम है। अवग्रह मतिज्ञान का भेद होने के कारण ज्ञानात्मक होता है, अतः उससे पूर्व दर्शन होना चाहिए, किन्तु दर्शन और अवग्रह के स्वरूप का जब दार्शनिकों के द्वारा विवेचन किया जाता है तब इन दोनों की पृथक्ता बतलाना कठिन हो जाता है। संक्षेप में यहाँ इसकी चर्चा की जा रही है।

आचार्य **सिद्धसेन** सन्मतितर्क ग्रन्थ में सामान्य-ग्रहण दर्शन है तथा विशेष का ग्रहण ज्ञान है, ऐसी परिभाषा करते हैं। द्रव्यार्थिकनय से दर्शन सामान्यग्राही तथा पर्यायार्थिकनय से ज्ञान विशेषग्राही होता है। उनके मत में दर्शन और ज्ञान में

* बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण के चार भेद हैं- 1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, 2. मानस प्रत्यक्ष, 3. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और 4. योगिप्रत्यक्ष

ऐकान्तिक भेद नहीं है ।[24] 'जीव का लक्षण उपयोग है' यह जैन परम्परा में सर्वमान्य है। वह उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है। जब हमारे द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण होता है तो दर्शनोपयोग होता है तथा जब विशेष ग्रहण होता है तो ज्ञानोपयोग कहा जाता है। (मान्यता है कि एक समय में एक ही उपयोग होता है एवं ये दोनों क्रम से होते रहते हैं। अन्तर्मुहूर्त में ये बदलते रहते हैं ।)

यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि आचार्य **जिनभद्र** अर्थावग्रह को सामान्यग्राही मानते हैं और सिद्धसेन दर्शन को सामान्यग्राही मानते हैं तब दर्शन और अर्थावग्रह के स्वरूप में कोई भेद है या नहीं ? आचार्य **सिद्धसेन** इसका समाधान करते हैं कि अवग्रह ज्ञान दर्शन से भिन्न है । यदि अवग्रह ज्ञान को दर्शन माना जाये तो सम्पूर्ण मतिज्ञान को दर्शन मानना होगा । तब फिर दर्शन और ज्ञान के मध्य भेद सिद्ध नहीं किया जा सकेगा । अतः मतिज्ञान से अस्पृष्ट एवं अविषयभूत अर्थ में दर्शन प्रवृत्त होता है। मतिज्ञान में चक्षु एवं मन से व्यंजनावग्रह स्वीकार नहीं किया जाता, तब इन दोनों (चक्षु एवं मन) से दर्शन होता है। उसको क्रमशः चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन कहते हैं। इस प्रकार अवग्रह ज्ञान से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन भिन्न हैं। अचक्षु शब्द से प्रायः चक्षु से भिन्न सारी इन्द्रियों का ग्रहण होता है, किन्तु सिद्धसेन के मत में अचक्षु शब्द से मात्र मन ही गृहीत होता है ।[25]

जिनभद्र क्षमाश्रमण विशेषावश्यकभाष्य में दर्शन का विशद विवेचन नहीं करते हैं, किन्तु एक स्थान पर उन्होंने अवग्रह और ईहा को दर्शन रूप में स्वीकार करने का संकेत किया है, यथा-अवाय और धारणा ज्ञान हैं तथा अवग्रह एवं ईहा का दर्शन होना इष्ट है।[26] यहां आचार्य ने अपना मत प्रस्तुत नहीं किया, अपितु परम्परा का ही उल्लेख किया है। यदि इस मत को स्वीकार करके विचार करें तो अवायज्ञान एवं धारणाज्ञान का ही समावेश ज्ञान के भेदों में होता है, उसके पूर्व होने वाले अवग्रह और ईहाज्ञान सामान्यग्राही होने के कारण दर्शन के ही अङ्ग सिद्ध होते हैं ।

दर्शन और ज्ञान के मध्य प्रायः साकार और निराकार के आधार पर भेद किया जाता है। दर्शन निराकार और निर्विकल्पक होता है, ज्ञान साकार और सविकल्पक होता है। अवग्रह में विशेषतः अर्थावग्रह में निर्विकल्पकता और निराकारता प्राप्त होती है, अतः जिनभद्र के मत में किसी अपेक्षा से अवग्रह भी दर्शन हो सकता है।

धवला टीकाकार **वीरसेनाचार्य** दर्शन और ज्ञान के स्वरूप का विचार करते हुए दर्शन को आत्मप्रकाशक और ज्ञान को परप्रकाशक मानते हैं,[27] किन्तु यह मत भी आगम परम्परा के अनुकूल नहीं है, क्योंकि तब चक्षुदर्शन आदि दर्शन के भेद घटित नहीं हो सकते। चक्षुदर्शन आदि परप्रकाशक दिखाई देते हैं। दिगम्बर आगमों की मान्यता है कि स्वरूप का ग्रहण दर्शन है, किन्तु आचार्य **विद्यानन्द** ने इस मान्यता का खण्डन किया है, यथा-आत्मग्रहण भी दर्शन नहीं है, क्योंकि चक्षु, अवधि और केवलदर्शन के अभाव का प्रसंग आता है।[28] कुछ दिगम्बर दार्शनिक न्यायशास्त्र की अपेक्षा से सामान्य ग्रहण को दर्शन तथा सिद्धान्त की अपेक्षा से स्वरूपग्रहण को दर्शन प्रतिपादित करते हैं।[29]

प्रमाणशास्त्रीय चिन्तक **पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्द** आदि दिगम्बर दार्शनिक और हेमचन्द्र, देवसूरि आदि श्वेताम्बर दार्शनिक 'दर्शन सामान्यग्राही होता है' ऐसा मानते हुए उसका सत्तामात्र विषय अङ्गीकार करते हैं। सत्तामात्र के ग्राहक उस दर्शन को वे अवग्रह से पूर्व रखते हैं। उनके मत में विषय और विषयी के सन्निपात (सन्निकर्ष) के होने पर दर्शन होता है तथा उसके पश्चात् अवग्रह होता है। इस प्रकार प्रमाणशास्त्रीय सन्दर्भ में क्रमभेद से दर्शन और अवग्रह में भेद स्वीकार किया गया है।

अवग्रह ज्ञान प्रमाण है या नहीं ?

अब यह विचार किया जा रहा है कि अवग्रह ज्ञान प्रमाण है या नहीं ? यदि प्रमाण है तो प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण उसमें अन्वित होता है या नहीं ? इस सम्बन्ध में दो परम्पराएं प्राप्त होती हैं। एक आगमिक परम्परा और दूसरी प्रमाणमीमांसीय परम्परा। आगमिक परम्परा में अवग्रह का प्रमाण होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु प्रमाणमीमांसीय परम्परा में इसकी सिद्धि के लिए समुचित प्रयास किया गया है।[30]

प्रमाण के जैन दर्शन में अनेक लक्षण दिए गए हैं, यथा-

(i) **प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्**।- सिद्धसेन, न्यायावतार, 1
स्व एवं पर का आभासी (व्यवसायक) एवं बाधारहित ज्ञान प्रमाण है।

(ii) **स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्**।-समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, 63
स्व एवं पर का अवभासक (व्यवसायात्मक/प्रकाशक) ज्ञान प्रमाण है।

(iii) **व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।**
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ।।- अकलङ्क, लघीयस्त्रय, 60

व्यवसायात्मक ज्ञान स्व एवं अर्थ का ग्राहक माना गया है, इसलिए व्यवसायात्मक अथवा निर्णयात्मक ज्ञान ही मुख्य प्रमाण है।

(iv) **तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।**-
विद्यानन्द,तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक 1.10.78
स्व एवं अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है।

(v) **स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।**- माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 1.1
स्व एवं अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है।

(vi) **प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानमिति।**-अभयदेवसूरि,तत्त्वबोधविधायनी,पृ. 518
स्व एवं अर्थ की निर्णीतिस्वभाव वाला ज्ञान प्रमाण है।

(vii) **स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।**- वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1.2
स्व एवं पर का व्यवसायक ज्ञान प्रमाण है।

(viii) **सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।**- हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा 1.1.3
अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है।

प्रमाण के इन लक्षणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में वही ज्ञान प्रमाण होता है जो स्व एवं पर का निश्चायक होता है। जो ज्ञान स्व एवं पर (अर्थ) का निश्चायक नहीं होता, वह प्रमाण नहीं माना जाता है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण कोटि में नहीं आता है, क्योंकि वह सम्यक् नहीं होता है। स्व का एवं अर्थ (पदार्थ, वस्तु) का सम्यक् निर्णय ही प्रमाण होता है, यह सभी जैन दार्शनिकों के द्वारा स्वीकृत है। इस लक्षण में हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि का प्रयोजन ही प्रमुख है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय हान, उपादान एवं उपेक्षा बुद्धि में असमर्थ होने के कारण प्रमाणलक्षण से बहिर्भूत हैं। निर्विकल्पक दर्शन भी इस कारण से प्रमाणकोटि में समाविष्ट नहीं किया गया है।

आगम-परम्परा के **जिनभद्र क्षमाश्रमण** आदि श्वेताम्बर दार्शनिकों के मत में अवाय ज्ञान ही निश्चयात्मक होता है, उससे पूर्व होने वाले अवग्रह एवं ईहाज्ञान निर्णयात्मक नहीं होते हैं। दिगम्बर-परम्परा में अवग्रह ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है,

क्योंकि स्व-प्रकाशकता दर्शन का विषय है, ज्ञान का नहीं । निर्णयात्मकता भी अवायज्ञान में ही मानी गई है, अवग्रह और ईहा में नहीं मानी गई ।

अकलङ्क आदि जो प्रमाणमीमांसीय परम्परा के आचार्य हैं, वे अवग्रह ज्ञान में प्रामाण्य स्थापित करने हेतु उसमें निर्णयात्मकता भी स्वीकार करते हैं। **तत्त्वार्थवार्तिक** में **अकलङ्क** ने अवग्रह एवं ईहाज्ञान में निर्णयात्मकता इस प्रकार सिद्ध की है- 'स्थाणु, पुरुष आदि अनेक अर्थों के आलम्बन रूप सन्निधान से संशय अनेकार्थात्मक होता है, जबकि अवग्रह एक पुरुष आदि के अन्यतमात्मक ज्ञानस्वरूप होता है। संशय निर्णय विरोधी होता है, किन्तु अवग्रह नहीं, क्योंकि उसमें निर्णय होता दिखाई देता है।[31] तात्पर्य यह है कि अवग्रह ज्ञान संशय ज्ञान से भिन्न है। संशय अनेक अर्थों का आलम्बी एवं निर्णयविरोधी होता है, किन्तु अवग्रह में ऐसे दोष नहीं हैं। वह तो एकात्मक और निर्णयात्मक होता है इसलिए प्रमाण ही है। **अकलङ्क** ने ईहा को अवगृहीत अर्थ का आदान करने से निर्णयात्मक माना है, इसलिए ईहा भी प्रमाण है।

यह उल्लेखनीय है कि आचार्य **सिद्धसेन** के टीकाकार **अभयदेवसूरि** साकार ज्ञान की भांति निराकार दर्शन को भी प्रमाण स्वीकार करते हैं । वे ही अकेले जैनाचार्य हैं जिन्होंने सामान्यग्राही दर्शन को भी विशेषग्राही ज्ञान की भांति प्रमाण माना है । उन्होंने कहा है- 'निराकार और साकार उपयोग तो अपने से भिन्न आकार को गौण करके अपने विषय के अवभासक रूप में प्रवृत्त होने से प्रमाण हैं, इतर आकार से रहित होकर नहीं ।"[32] यहाँ **अभयदेवसूरि** ने अनेकान्तदृष्टि को अपनाकर ज्ञान एवं दर्शन की सापेक्ष प्रमाणता स्वीकार की है, ऐसा प्रतीत होता है ।

अवग्रह के दो भेद हैं- व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह । अवग्रह के प्रामाण्य का निर्धारण करने हेतु इन दोनों का पृथक् रूप से विचार किया जाएगा ।

व्यंजनावग्रह प्रमाण नहीं है

व्यंजनावग्रह का जो स्वरूप जैनाचार्यों ने बतलाया है वह तो किसी भी प्रकार प्रमाणकोटि में, विशेषतः प्रत्यक्षप्रमाण की कोटि में समाविष्ट नहीं हो सकता । **जिनभद्र** आदि के मत में व्यंजनावग्रह इन्द्रिय एवं अर्थ के सम्बन्ध रूप होता है,

अतः वह तो न्यायदर्शन में वर्णित इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अत्यन्त भिन्न नहीं है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को जैनदर्शन में प्रमाण नहीं माना गया। उसे प्रमाण मानने का जैनदर्शन में अनेक बार खण्डन किया गया है। **पूज्यपाद, अकलङ्क** आदि जो जैनदार्शनिक व्यंजनावग्रह को अव्यक्तग्रहण के रूप में मानते हैं वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में नहीं आता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण तो विशदतालक्षण वाला होता है। 'स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष होता है' यह प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण जैन दर्शन में सर्वस्वीकृत है। व्यंजनावग्रह में अस्पष्टता होती है, इसलिए उसका समावेश प्रत्यक्षप्रमाण में किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में "प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह है एवं अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है" यह जो कहा है वह भी उचित नहीं है, क्योंकि व्यंजनावग्रह के पश्चात् अर्थावग्रह होने का क्रम निश्चित है। व्यंजनावग्रह में जब प्राप्त अर्थ का ग्रहण होता है तब अर्थावग्रह में वह अप्राप्त अर्थ का ग्रहण कैसे हो सकता है ? जो पूर्व में प्राप्त (सन्निकर्ष युक्त) है वह अनन्तरकाल में अप्राप्त नहीं हो सकता। चक्षु एवं मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता, इसलिए उनसे प्रारम्भ में ही अर्थावग्रह होता है, किन्तु अन्य इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह के पश्चात् अर्थावग्रह होता है, यह नियम है। अतः **वीरसेनाचार्य** द्वारा निरूपित लक्षण व्यंजनावग्रह में प्रमाणता सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। व्यंजनावग्रह यदि अविशद अवग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है तो विशदता के अभाव में उसका प्रत्यक्षप्रमाण होना सिद्ध नहीं होता।

अर्थावग्रह प्रमाण कैसे ?

अब अर्थावग्रह के प्रमाण होने की चर्चा की जा रही है। **जिनभद्र** आदि के द्वारा वर्णित स्वरूप, नामादि की कल्पना से रहित एवं अनिर्देश्य अर्थावग्रह में स्व-पर निश्चयात्मकता का अभाव होने के कारण प्रमाणता सिद्ध नहीं है। स्व-पर की निश्चयात्मकता के लक्षण के बिना वह अर्थावग्रह प्रमाण नहीं होता, किन्तु आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य में अर्थावग्रह के दो भेद किए हैं - 1. नैश्चयिक अर्थावग्रह और 2. व्यावहारिक अर्थावग्रह। नैश्चयिक अर्थावग्रह एक समय का, अनिर्देश्य एवं स्वरूप, नामादि की कल्पना से रहित होता है। व्यावहारिक अर्थावग्रह उपचरित अर्थावग्रह होता है। छद्मस्थ व्यवहारी प्रायः इस उपचरित

अर्थावग्रह का ही व्यवहार करते हैं। नैश्चयिक अर्थावग्रह के पश्चात् ईहा द्वारा ज्ञात वस्तु-विशेष का जो अपाय ज्ञान होता है वह पुनः होने वाली ईहा एवं अपाय की अपेक्षा से उपचरित अर्थावग्रह कहलाता है। अपाय ज्ञान भी विशेष का आकांक्षी होता है। विशेष के ज्ञान की आकांक्षा के कारण वह अपायज्ञान सामान्य को ग्रहण करता है। सामान्य को ग्रहण करने के कारण यह (अपाय) अर्थावग्रह माना जाता है।[33] सामान्य एवं विशेष का व्यवहार तब सापेक्षिक होता है। अवान्तर विशेष की अपेक्षा से पूर्व अपायज्ञान भी इस प्रकार सामान्यग्राही होने के कारण अर्थावग्रह होता है। यह उपचरित अर्थावग्रह कहलाता है। यह उपचरित अर्थावग्रह निर्णयात्मक एवं विशद होता है, इसमें संदेह को अवकाश नहीं है। स्व एवं पर का निर्णयात्मक होने के कारण यह प्रमाण एवं विशद होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है। इस उपचरित अर्थावग्रह में अर्थावग्रह के बहु, बहुविध आदि 12 भेद भी घटित हो सकते हैं।[34]

अकलङ्क आदि दार्शनिकों के मत में जो अर्थावग्रह है वह तो निर्णयात्मक होने के कारण प्रमाण माना ही जाता है, किन्तु वहाँ पर अर्थावग्रह का काल एक समय का है, यह आगम-मान्यता खण्डित हो जाती है। क्योंकि एक समय में निर्णयात्मक ज्ञान का होना शक्य नहीं है। फिर भी **विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, देवसूरि** आदि दार्शनिकों ने अवग्रह को प्रमाण माना ही है। आचार्य **विद्यानन्द** अवग्रह को संवादक होने के कारण भी प्रमाण सिद्ध करते हैं। अवग्रह में प्रमाणता सिद्ध करने के लिए वे तर्क देते हैं- अवग्रह प्रमाण है, क्योंकि वह संवादक है, साधकतम है, अनिश्चित अर्थ का निश्चायक है और प्रतिपत्ता को उसकी अपेक्षा रहती है । अवग्रह को प्रमाण मानने का साक्षात् फल है स्व एवं अर्थ का व्यवसाय । इसका परम्पराफल तो ईहा एवं हानादि बुद्धि का होना है ।[35] इस प्रकार आचार्य **विद्यानन्द** ने अवग्रह में प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनेक हेतु उपस्थित किए हैं । ये हेतु अवग्रह के निश्चयात्मक रूप को प्रस्तुत करते हैं । निश्चयात्मकता के साथ उन्होंने स्पष्टता भी अङ्गीकार की है । यथा **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** में -

तन्निर्णयात्मकः सिद्धोऽवग्रहो वस्तुगोचरः ।
स्पष्टाभोऽक्षबलोद्भूतोऽस्पष्टो व्यंजनगोचरः ।।[36]

"वह अर्थावग्रह इन्द्रियबल से उत्पन्न होता है, स्पष्ट रूप से प्रकाशक होता है, वस्तु का ज्ञान कराता है, इसलिए वह निर्णयात्मक रूप में सिद्ध है। व्यंजन को विषय करने वाला व्यंजनावग्रह अस्पष्ट होता है।"

यहां विद्यानन्द के मत में अर्थावग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है, क्योंकि वह निश्चयात्मक होता है तथा विशद होता है। विद्यानन्द प्रत्यक्ष प्रमाण में निश्चयात्मकता को अङ्गीकार करके भी शब्द योजना को आवश्यक नहीं मानते हैं। शब्द योजना से रहित होने की अपेक्षा वे प्रत्यक्ष को कथञ्चिद् निर्विकल्पक भी मानते हैं।[37] **तत्त्वबोधविधायिनी** के रचयिता **अभयदेव सूरि** भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष में निर्विकल्पकता को (कथञ्चिद्) स्वीकार करते हैं।

धवलाकार **वीरसेन स्वामी** मानते हैं कि यदि अवग्रह निर्णयात्मक होता है तो उसका अन्तर्भाव अवाय में होना चाहिए और यदि वह अनिर्णय रूप होता है तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। इस समस्या का समाधान करने के लिए **वीरसेनाचार्य** ने अवग्रह के विशदावग्रह एवं अविशदावग्रह ये दो भेद बतलाकर विशदावग्रह को निर्णयात्मक तथा अविशदावग्रह को अनिर्णयात्मक प्रतिपादित किया है।[38] यहां व्यंजनावग्रह को अविशदावग्रह के रूप में तथा अर्थावग्रह को विशदावग्रह के रूप में विविक्त किया जा सकता है। इस प्रकार विशदावग्रह स्वरूप अर्थावग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में सिद्ध होता है।

इस प्रकार जिनभद्र के मत में **उपचरित अर्थावग्रह**, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि के मत में वर्णित **अर्थावग्रह** और वीरसेनाचार्य के मत में **विशदावग्रह** स्वरूप जो अर्थावग्रह है, वह **प्रत्यक्ष-प्रमाण सिद्ध होता है**।

उपसंहार

जैनदर्शन में स्व एवं अर्थ के व्यवसायात्मक अथवा स्व एवं पर के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। वह प्रमाण संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होता है तथा संवादक होता है। जब यह प्रमाण विशदता के लक्षण से युक्त होने के कारण प्रमाणान्तर से निरपेक्ष एवं इदन्तया प्रतिभास से युक्त होता है[39] तब वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

आगमनिरूपित मतिज्ञान का जब प्रमाण के सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष भेदों में विचार किया गया तब मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा भेदों का उनमें समावेश कर लिया गया। इनमें से अवाय और धारणात्मक ज्ञान तो स्व एवं अर्थ के व्यवसायात्मक होने के कारण एवं वैशद्य लक्षण वाले होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु अवग्रह एवं ईहा ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण में समावेश तब संदेहास्पद बना जब अवाय ज्ञान के पहले जैनाचार्यों ने निर्णयात्मकता स्वीकार नहीं की।

इस शोध लेख में अवग्रह के स्वरूप की परीक्षा करके हम कह सकते हैं कि व्यंजनावग्रह निर्णयात्मक नहीं होने के कारण किंवा अनध्यवसायात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं होता है। यह विशदता का अभाव होने के कारण प्रत्यक्ष भी नहीं होता। अर्थावग्रह तो प्रमाण है, क्योंकि वह व्यवसायात्मक है, संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित है तथा संवादक है। वह प्रत्यक्ष भी है, क्योंकि वह विशद है और उसमें इदन्तया प्रतिभास होता है।

वैशद्य के स्तर की अपेक्षा से अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा ज्ञानों में भेद है, फिर भी वे सब परोक्ष प्रमाण की अपेक्षा अधिक विशद होते हैं, इसलिए वे सब प्रत्यक्ष प्रमाण ही हैं। इन सबमें इदन्तया प्रतिभास होता ही है। अवग्रह ज्ञान अन्य ज्ञानों से निरपेक्ष होने के कारण अधिक विशद होता है। ईहा ज्ञान अवग्रह ज्ञान के आश्रित है, अतः उसमें विशदता अवग्रह से न्यून सिद्ध होती है, किन्तु ईहा आदि ज्ञान अवग्रह की अपेक्षा विशेष को जानते हैं, इसलिए उनमें विशदता फिर भी रहती ही है।

अर्थावग्रह सामान्यग्राही होता है, यह जिनभद्र आदि दार्शनिकों का मत है। जैन दर्शन में समस्त प्रमेय वस्तुएँ सामान्यविशेषात्मक मानी गई हैं।[40] अवग्रह ज्ञान जब सामान्यग्राही होता है, तब क्या वह 'सामान्य' विशेष निरपेक्ष होता है, यह प्रश्न खड़ा होता है। यहाँ यह समाधान लगता है कि वह सामान्य विशेष निरपेक्ष नहीं है। सामान्य की प्रधानता के कारण वह सामान्य ग्रहण कहलाता है। विशेष की प्रधानता से विशेष-ग्रहण माना जाता है। मनुष्य, पुरुष, ब्राह्मण आदि शब्द कभी सामान्य की

प्रधानता से सामान्य तथा विशेष की प्रधानता से विशेष माने जाते हैं।(मनुष्य की अपेक्षा पुरुष विशेष है तथा पुरुष की अपेक्षा मनुष्य सामान्य है। इसी प्रकार ब्राह्मण की अपेक्षा पुरुष सामान्य है और पुरुष की अपेक्षा ब्राह्मण विशेष है।)

बौद्धदार्शनिकों ने जो प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ कहा है[41] वह अर्थावग्रह प्रत्यक्ष से कथञ्चिद् भिन्न है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण निरूपित किया गया है, जबकि जैनदर्शन में अर्थावग्रह सामान्यग्राही माना गया है। श्वेताम्बर आचार्य जिनभद्र ने उस सामान्य ग्रहण को स्वरूप से अनिर्देश्य एवं नामादि की कल्पना से रहित कहा है। वह बौद्ध प्रणीत कल्पनापोढ प्रत्यक्ष के सदृश प्रतीत होता है, किन्तु बौद्ध दर्शन में कल्पना के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य **धर्मकीर्ति** ने कहा है- अभिलाप के संसर्ग योग्य प्रतिभास की प्रतीति कल्पना है ।[42] किन्तु कल्पना का यह स्वरूप जैनों द्वारा स्वीकृत नहीं है । वे उस प्रकार के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अनेक बार खण्डन करते हैं । अर्थावग्रह में स्वरूप एवं नामादि की योजना नहीं होती है, किन्तु नाम आदि की योजना के संसर्ग की योग्यता तो होती ही है । स्वरूप, नाम आदि की योजना की योग्यता का परिहार जैन दार्शनिक अर्थावग्रह में प्रतिपादित नहीं करते हैं । अतः बौद्ध प्रणीत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से जैनों का अर्थावग्रह भिन्न है ।

अर्थावग्रह में ज्ञानान्तर से निरपेक्षता, इदन्तयाप्रतिभासत्व (साक्षात्कारित्व), परोक्षप्रमाण की अपेक्षा अधिक प्रकाशन रूप वैशद्य है ही, इसलिए यह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है । विशेषतः अवसाय रूप व्यवसाय तो यद्यपि अवायज्ञान में प्राप्त होता है, किन्तु अवग्रह में भी उसका अंश है ही, अतः अर्थावग्रह ज्ञान को प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं है ।

सन्दर्भ :-

1. (अ) हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् । -परीक्षामुख, 1.2
   (आ) सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत् । -लघीयस्त्रवृत्ति, 1.3
2. प्रमाणपरीक्षा, वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, पृ. 5
3. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् । तत्र निर्णयः संशयानध्यवसायाविकल्पत्वरहितं ज्ञानम् । -प्रमाणमीमांसा,1.1.2

4. स्वपरव्यसायि ज्ञानं प्रमाणम् । -प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1.1
5. द्रष्टव्य, नियमसार, 161-171
6. न्यायावतार, 1, स्वयम्भूस्तोत्र, 63
7. तत्त्वार्थसूत्र 1, 9-12
8. सुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णतं, तं जहा-उग्गहे ईहा अवाओ धारणा ।- नन्दिसूत्र, 27
9. तत्त्वार्थसूत्र, 1.12
10. नन्दिसूत्र, 67
11. इह सामण्णस्स रूवादिअत्थस्स य विसेसनिरवेक्खस्स अणिद्देसस्स अवग्रहणमवग्रहः। तस्सेवऽत्थस्स विचारणविसेससण्णेसणमीहा। तस्स विसेसणविसिट्ठस्सऽत्थस्स ववसातोऽवायः, तव्विसेसावगतमित्यर्थः। तव्विसेसावगतऽत्थस्स धरणं अविच्चुती धारणा इत्यर्थः।- नन्दिसूत्र (चूर्णियुत) प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी 1966, पृ. 34
12. विशेषावश्यकभाष्य, दिव्यदर्शनट्रस्ट, मुम्बई, गाथा 180
13. तत्त्वार्थवार्त्तिक 1.15
14. सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवार्त्तिक 1.18
15. स्पष्टाभोऽक्षबलोद्भूतोऽस्पष्टो व्यंजनगोचरः । -तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.1.15.43
16. न स्पष्टग्रहणमर्थावग्रहः अस्पष्टग्रहणस्य व्यंजनावग्रहप्रसङ्गात्। भवतु चेत् न चक्षुष्यप्यस्पष्टग्रहणदर्शनतो व्यंजनावग्रहस्य सत्त्वप्रसङ्गात्। आगमे च चक्षुर्मनोभ्यां व्यंजनावग्रहो न स्वीकृतः ।- धवलाटीका पुस्तक 13, सूत्र 5.5.24
17. विशेषावश्यकभाष्य, 194
18. मलधारिहेमचन्द्रवृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, 194-196
19. विशेषावश्यकभाष्य, 252
20. उग्गहे इक्कसमइए-नंदिसूत्र, 35
21. स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणमर्थावग्रहः।- जैनतर्कभाषा, अहमदनगर, पृ10
22. विशेषावश्यकभाष्य, 268-272
23. विशेषावश्यकभाष्य, 273-277
24. जं सामण्णगहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं ।
दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ । -सन्मतिप्रकरण, 2.1
25. सन्मतिप्रकरण, 2.23-25
26. नाणमवायधिईओ दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ ।- विशेषाश्यकभाष्य, 536
27. धवलापुस्तक, 1.7.13

28. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकवृत्ति, 1.15.15
29. जैनन्याय, भाग 1(पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री), भारतीय ज्ञानपीठ, 1966, पृ. 147
30. डॉ. नथमल टाटिया - The Agamika Conception of the avagraha as indeterminate cognition was not upheld by the Jaina Logicians in view of its indefiniteness and lack of pragmatic value - Studies in Jaina Philosophy,p. 40
31. स्थाणुपुरुषाद्यनेकार्थालम्बनसन्निधानादनेकार्थात्मकः संशयः, एकपुरुषाद्यन्यतमात्मको ऽवग्रहः। संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहो, निर्णयदर्शनात् ।- तत्त्वार्थवार्त्तिक,1.15
32. निराकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रर्वनमानौ प्रमाणं न तु निरस्तेतराकारौ ।- तत्त्वबोधविधायिनी (सन्मतितर्कटीका) पृ. 458
33. विशेषावश्यकभाष्य, 282-284
34. वही, 288 द्वादशभेदों के लिए द्रष्टव्य, तत्त्वार्थसूत्र 1.16
35. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, 1.15
36. वही, 1.15.43
37. वही, 1.12.26-27
38. धवलापुस्तक, 9
39. विशदः प्रत्यक्षम्। प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।-प्रमाणमीमांसा 1.1.13-14
40. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।-परीक्षामुख, 4.1
41. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् ।- न्यायबिन्दु,1.4
42. न्यायबिन्दु, 1.5



नय एवं निक्षेप

प्रमाण की भाँति नय को भी वस्तु के ज्ञान का साधन माना गया है । तत्त्वार्थसूत्र (1.6) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रमाण और नय से अधिगम होता है - **'प्रमाणनयैरधिगमः ।''** प्रमाण से नय का यह भेद है कि प्रमाण में जहाँ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इन पाँचों ज्ञानों का समावेश होता है वहाँ नय मात्र श्रुतज्ञान से सम्बद्ध है । इसका प्रमुख कारण है कि नय ज्ञान वाक्यों से होता है। वाक्य शब्दात्मक होते हैं, शब्दात्मक होने से इन्हें श्रुतज्ञान से सम्बद्ध माना गया है। नय के द्वारा वाक्यों का अर्थ या अभिप्राय ग्रहण किया जाता है। उसी तरह निक्षेप या न्यास का प्रयोग शब्दों का सही अर्थ ग्रहण करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार नय एवं निक्षेप दोनों पारिभाषिक शब्द भाषात्मक प्रयोग से सम्बन्ध रखते हैं।

प्रमाण के द्वारा जहाँ वस्तु को नित्यानित्यात्मक स्वरूप में जाना जाता है वहाँ नय के द्वारा उसे द्रव्य की दृष्टि से नित्य एवं पर्याय की दृष्टि से अनित्य माना जाता है। इस तरह नय एक दृष्टिकोण से वस्तु का बोध कराता है । वस्तु के एक अंश या कतिपय धर्मों को ग्रहण करने वाला नय वस्तु के अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता, विवक्षा के अनुसार वह एक अंश को प्रधान तथा दूसरे अंश को गौण रूप में प्रतिपादित करता है । वस्तु को कौन, किस प्रकार जानता है इसमें ज्ञाता का अभिप्राय ही मुख्य होता है और ज्ञाता के इस ज्ञान को नय कहते हैं । वक्ता का अभिप्राय भी नय है, क्योंकि वह किस प्रकार के वाक्य का प्रयोग करता है, उसके पीछे कोई नय दृष्टि रहती है। नय का सम्पूर्ण लक्षण इस प्रकार हो सकता है- अनेकान्तात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला , किन्तु अन्य अंशों का निषेध न करने वाला ज्ञाता एवं वक्ता का अभिप्राय विशेष नय है ।

नय का स्वरूप

जैन परम्परा में नय का प्रतिपादन प्रमाण के निरूपण से भी प्राचीन है। प्रमाण का समावेश जैनदर्शन में न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों के प्रभाव से हुआ है, किन्तु नय का निरूपण जैनदर्शन का मौलिक वैशिष्ट्य है। 'नय' के कतिपय लक्षण इस प्रकार हैं-

1. **नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः अभिरिति नीतयो नयाः।**

-अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 28 पर स्याद्वादमंजरी टीका

जिनके द्वारा वस्तु के एक अंश का ज्ञान किया जाता है वे नय हैं।

2. **नयो ज्ञातुरभिप्रायो।**

-अकलंकग्रन्थत्रय, लघीयस्त्रय, कारिका 30 की वृत्ति एवं प्रमाणसंग्रह, कारिका 86

ज्ञाता का अभिप्राय नय है।

3. **जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया**-सन्मतितर्कप्रकरण, 3-47

जितने वचनमार्ग हैं उतने नयवाद होते हैं।

4. **नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।**

-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक 20

श्रुतज्ञान के द्वारा जाने गए पदार्थ का अंश जिसके द्वारा जाना जाता है, वह नय है।

5. **अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।**-प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 676

प्रतिपक्ष का निराकरण न करने वाला तथा वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला, ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है।

6. **प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शी नयः।**-स्याद्वादमंजरी,श्लोक 28 की टीका, पृ. 242

प्रमाण के द्वारा ज्ञात अर्थ के एक अंश को जानने वाला ज्ञान नय है।

7. **प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः।**- जैन तर्कभाषा, नय परिच्छेद

प्रमाण के द्वारा ज्ञात अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाले तथा उसके अन्य अंशों का प्रतिक्षेप नहीं करने वाले अध्यवसाय (ज्ञान) विशेष को नय कहा गया है।

8. **निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।**-आप्तमीमांसा, कारिका 108

निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं तथा सापेक्ष नय वास्तविक होते हैं, क्योंकि वे अर्थ क्रियाकारी होते हैं।

नय के उपर्युक्त लक्षणों से नय की अग्रांकित विशेषताओं का बोध होता है-

1. प्रमाण की भांति नय भी ज्ञानात्मक होता है, क्योंकि अभिप्रायविशेष को नय

कहा गया है। अभिप्राय का अर्थ यहाँ अध्यवसाय है' या निर्णय है, जो ज्ञानात्मक होता है। आचार्य विद्यानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है- नय को ज्ञानात्मक स्वीकार किया गया है, अतः वह प्रमाण का एक देश है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।[2]

2. ज्ञाता का अभिप्राय विशेष जिस प्रकार नय है, उसी प्रकार वक्ता का अभिप्राय विशेष भी नय है। वक्ता के अभिप्राय को नय मानने का आधार सन्मतितर्क का वह वाक्य है जिसमें कहा गया है कि जितने वचन मार्ग होते हैं उतने नयवाद होते हैं। मल्लिषेणसूरि ने सन्मतितर्क के इस वाक्य से यही अर्थ फलित किया है, यथा- वक्तुरभिप्रायाणां च नयत्वात्। -स्याद्वादमंजरी, श्लोक 28 की टीका, पृ. 243
3. नय के ज्ञानात्मक होते हुए भी वाक्यों को नयात्मक वाक्य कहना उपचार से सम्भव है, क्योंकि वाक्यों के माध्यम से अर्थ का बोध होता है।
4. नय के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक अंश का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए वस्तु को द्रव्य की दृष्टि से नित्य जानना एवं पर्याय की दृष्टि से अनित्य जानना नय ज्ञान है। प्रमाण के द्वारा वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक रूप में नित्यानित्यात्मक जाना जाता है।
5. नय का विषय श्रुतज्ञान से ज्ञात वस्तु होती है। नय को आगम-वाक्यों का अभिप्राय समझने में साधन होने से श्रुतज्ञान का अंश स्वीकार किया गया है।
6. नय के द्वारा वस्तु के जिस अंश का ज्ञान होता है, उससे भिन्न अंशों का निषेध या अपलाप नहीं किया जाता है। यही नय का वैशिष्ट्य है।
7. नय ज्ञान भी निर्णयात्मक ज्ञान होता है, जिसे अभिप्राय या अध्यवसाय शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है।
8. नय ज्ञान सापेक्ष ज्ञान है, जिसमें कोई न कोई दृष्टिकोण या अपेक्षा निहित रहती है। उदाहरण के लिए किसी वस्तु को नित्य कहने पर द्रव्यदृष्टि की प्रधानता रहती है तथा उसे अनित्य कहने पर पर्यायदृष्टि की प्रधानता होती है।

जैन आगमों में तीर्थंकरों की वाणी नय समन्विता है। वे विभिन्न नयों के आधार पर तत्त्वज्ञान का निरूपण करते हैं। अतः नय सिद्धान्त का प्रयोग

आगम-वाक्यों का अर्थ समझने की दृष्टि से होता रहा है। आगमों में तीर्थंकरों, गणधरों एवं आचार्यों के द्वारा जो सूत्र या वाक्य कहे गये हैं वे किसी न किसी नय से कहे गये हैं। अतः उन वाक्यों का उसी दृष्टिकोण से अर्थ समझने पर वस्तु तत्त्व का बोध होता है। इस दृष्टि से नय की अवधारणा जैन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है।

नय सिद्धान्त के विकास का आधार

नय सिद्धान्त का विकास कैसे हुआ, यह जानना आवश्यक है। मानव की जानने एवं कथन करने की शक्ति सीमित है । अतः वह किसी विशेष दृष्टिकोण से ही जानता है तथा कथन करता है । सर्वज्ञ केवलज्ञान से सम्पूर्ण रूप से समस्त वस्तुओं का ज्ञान भले ही कर लें, किन्तु कथन वे भी अपेक्षा विशेष से करते हैं । इसीलिए जैनागमों में कथन करते समय विभिन्न अपेक्षाओं या दृष्टिकोणों का प्रयोग किया गया है । व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में प्रभु महावीर से प्रश्न किया गया कि लोक सान्त है या अनन्त? उन्होंने चार अपेक्षाओं से इस कथन का उत्तर देते हुए कहा है कि द्रव्य की दृष्टि से लोक सान्त है, क्योंकि द्रव्य से वह एक है । वह क्षेत्र की दृष्टि से भी सान्त है, क्योंकि वह असंख्यात योजन कोटाकोटि विस्तार वाला है । काल एवं भाव की दृष्टि से वह अनन्त है । काल से वह पहले भी था, अब भी है एवं भविष्य में भी रहेगा, वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय एवं अवस्थित है, उसका अन्त नहीं है। भाव अर्थात् उसकी पर्याय या अवस्था विशेष अनन्त है, अतः लोक अनन्त है।[3] यह एक दृष्टि है कथन करने की एवं वस्तुओं को ठीक से समझने एवं समझाने की। साधारण व्यक्ति इस प्रश्न का उत्तर हाँ या नहीं में देने की कोशिश करता है, वह या तो उसे अन्तयुक्त बताता है या अन्तहीन। किन्तु यह नय सिद्धान्त का प्रभाव है कि सान्तता एवं अनन्तता का ठीक-ठीक कथन किया जा सका। इसी प्रकार जयन्ती श्राविका द्वारा प्रश्न किया गया कि मनुष्य का सोना अच्छा है या जागना ? प्रभु महावीर ने उत्तर दिया कि जो व्यक्ति पापी है, अधर्मिष्ठ है, असत् आचरण करता है उसका सोना अच्छा है तथा जो सदाचारी है, धर्मिष्ठ है उसका जागना अच्छा है।[4] इस प्रकार के अनेक प्रश्नों के उत्तर हम अपेक्षा विशेष को समझने की दृष्टि से देतें हैं। एक अन्य प्रश्न किया गया कि जीव शाश्वत है या

अशाश्वत? तो उन्होंने कहा कि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव शाश्वत है, क्योंकि अनेक जन्मों में भी जीव के जीवत्व का नाश नहीं होता। पर्यायार्थिक नय से वह अशाश्वत है, क्योंकि नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदि योनियाँ बदलती रहती हैं। किसी एक योनि में उस जीव को शाश्वत नहीं कहा जा सकता।[5] इस तरह जैनागमों में दृष्टिकोण विशेष अथवा अपेक्षा विशेष का प्रयोग मिलता है, जो नय सिद्धान्त के विकास का आधार बना है।

एक ही वस्तु की व्याख्या विभिन्न प्रकार से करना भी नयदृष्टि है। उदाहरण के लिए व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में कहा गया है- मैं द्रव्यरूप से एक हूँ, ज्ञान एवं दर्शन की दृष्टि से दो प्रकार का हूँ। आत्मप्रदेशों की अपेक्षा से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ तथा उपयोग की दृष्टि से मैं अनेक भूत, वर्तमान और भविष्य के विविध परिणामों के योग्य भी हूँ।[6] इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से विवेचन प्राप्त होता है। आगमों में जीव का विवेचन करते हुए उसके एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, चौदह एवं 563 भेद प्राप्त होते हैं। जीवों को समझाने के लिए विभिन्न दृष्टियों का प्रयोग किया गया है। जिसमें जीव के एक प्रकार को संग्रह नय से तथा दो से लेकर समस्त भेदों को व्यवहार नय से समझा जा सकता है। स्थानांग सूत्र में **'एगे आया"** (आत्मा एक है) कथन संग्रह नय से किया गया है। व्यवहार की दृष्टि से जीव संख्या में अनन्त स्वीकार किए गए हैं। व्यवहारनय से ही संसारी एवं सिद्ध भेदों के आधार पर जीव के दो प्रकार किए गए हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति एवं देवगति से संसारी जीव चार प्रकार के हैं तथा इनमें सिद्ध गति मिलाने पर पाँच प्रकार के हो जाते हैं। इसी प्रकार पाँच इन्द्रियों के आधार पर जीवों के पाँच प्रकार, पृथ्वीकायिक-अप्कायिक- तेजस्कायिक- वायुकायिक वनस्पतिकायिक- त्रसकायिक के आधार पर जीवों के छः प्रकार सम्भव हैं । चौदह गुणस्थानों के आधार पर तथा बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेदों से जीव के चौदह प्रकार होते हैं । जीव के 563 भेदों का कथन करते समय नारक के 14, तिर्यञ्च के 48, मनुष्य के 303 एवं देवों के 198 भेद गिने जाते हैं।

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं नयवाद में भेद

अनेकान्तवाद एवं नयवाद में अन्तर है। वस्तु अनेकधर्मात्मक या अनन्तधर्मात्मक है यह मान्यता अनेकान्तवाद है तथा उस वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से ज्ञान करना नय है। अनेकान्त की मान्यता नय सिद्धान्त पर टिकी है- **णयमूले अणेयन्तो** (नयचक्र, माइल्लधवल, गाथा, 175)। 'स्याद्वाद' कथन की शैली है। वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का स्यात्पूर्वक कथन करना स्याद्वाद कहलाता है। आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद से प्रविभवत अर्थ-विशेष के अभिव्यंजक को नय कहा है।[8] अतः अनेकान्तवाद, नयवाद एवं स्याद्वाद तीनों सिद्धान्त सूक्ष्मभेद के साथ परस्पर सम्बद्ध हैं।

नय की उपयोगिता

तीर्थंकरों के द्वारा कही गई वाणी हमारे लिए श्रुतज्ञान का साधन है। अतः उनके द्वारा कथित, गणधरों एवं आचार्यों द्वारा प्रस्तुत कथनों या वाक्यों को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहा जाता है। ये वाक्य किसी नय से कहे गए हैं, अतः इन वाक्यों का सही अर्थ समझने के लिए नय सिद्धान्त की उपयोगिता है। जिनभद्रगणि कहते हैं कि आगम का एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नहीं है जो नयशून्य हो।[9] माइल्लधवल ने नय का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है-

जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धी।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति।।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 181

जो नय दृष्टिविहीन हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का बोध नहीं हो सकता और जिन्हें वस्तुस्वरूप का बोध नहीं है, वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? इसका तात्पर्य है कि नयदृष्टि की भूमिका पर ही वस्तु स्वरूप का बोध होता है एवं वस्तु स्वरूप का बोध सम्यक्त्व की प्राप्ति कराता है।

इससे ज्ञात होता है कि नय का प्ररूपण मूलतः आगम-वाक्यों का सही अर्थ समझने के लिए हुआ, किन्तु उत्तरकालीन आचार्यों एवं दार्शनिकों के द्वारा साधारण लोगों की भाषा में प्रयुक्त वाक्यों में भी नयदृष्टि का प्रयोग दिखाया जाने लगा। नैगमादि नयों के लिए प्रदत्त उदाहरण इस तथ्य की सिद्धि करते हैं, जिनका

निरूपण आगे किया गया है।

व्यापकरूप में सोचें तो नयदृष्टि में आग्रह नहीं होता, बिना आग्रह के सत्य को समझने की दृष्टि नयदृष्टि है। यह सामान्य जीवन में भी उपयोगी है, दार्शनिक क्षेत्र में भी इसकी उपयोगिता है तो आध्यात्मिक क्षेत्र में भी नयदृष्टि का महत्त्व है। सामान्य जीवन में एक के द्वारा दूसरे व्यक्ति के कथनों का सही परिप्रेक्ष्य में सही दृष्टि से अर्थ समझना आवश्यक होता है। यदि दोनों की दृष्टि भिन्न हो एवं दोनों एक-दूसरे की दृष्टि का ठीक से बोध न रखते हों तथा अपने दृष्टिकोण का आग्रह हो तो उनमें टकराव उत्पन्न हो जाता है। दार्शनिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार नयदृष्टि से एक-दूसरे के दृष्टिकोण को या प्रतिपादन को न समझने के कारण विरोध या विवाद उत्पन्न होते हैं। विभिन्न दार्शनिक मतों का अपने-अपने दृष्टिकोण से इसीलिए खण्डन भी किया गया है। आचार्य शंकर के द्वारा जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त का खण्डन इसका एक उदाहरण है। यदि इस सिद्धान्त को उन्होंने सही रूप में समझा होता तो उन्हें अपने तर्क निर्बल नज़र आते। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी धर्माराधन की बाह्य क्रियाओं एवं राग-द्वेष निवारण की अन्तः साधना को लेकर कई बार मतभेद उत्पन्न होते हैं। कोई बाह्य क्रियाओं को अधिक महत्त्व देता है तो कोई आन्तरिक साधना के समक्ष इनकी नगण्यता मानता है, किन्तु निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि का समन्वय किया जाए तो इन दोनों का समन्वय उपस्थित हो जाता है। बाह्य क्रियाएँ यदि अन्तःसाधना का साधन बनती हैं तो उनकी अपनी उपयोगिता है। धर्म-क्रियाएँ साधन हैं तथा आन्तरिक विकारों की शुद्धि साध्य है। साधन को साध्य की सिद्धि के अनुकूल बनाने की आवश्यकता है।

नय सिद्धान्त की व्यावहारिकता

वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होती है। प्रमाण के द्वारा वस्तु के द्रव्य एवं पर्याय इन दोनों स्वरूपों का ज्ञान किया जाता है, जबकि नय में कभी पर्यायों का तो कभी द्रव्य का ज्ञान होता है। इसीलिए कहा जाता है के नय के द्वारा वस्तु के एक अंश को जाना जाता है। वस्तु के एक अंश का ज्ञान वाक्यों के द्वारा तो होता ही है, किन्तु जीवन-व्यवहार में भी इस प्रकार का ज्ञान देखा जाता है। व्यक्ति कई बार पर्याय को प्रधान बनाकर वस्तु का ज्ञान करता है, तो अनेक बार द्रव्य को प्रधान बनाकर वस्तु

का ज्ञान करता है। वह एक प्रकार से नयदृष्टि का ही प्रयोग है। वस्तुतः हम किसी एक वस्तु को एक साथ पूरी तरह नहीं जान पाते हैं। उसके कुछ अंशों या पर्यायों को जानकर ही हम समझते हैं कि हमने उस वस्तु का ज्ञान कर लिया है । उदाहरण के लिए कोई ताजमहल को देखकर उसके निर्माण में प्रयुक्त संगमरमर के बारे में जानता है, कोई उसकी कलाकृति के बारे में जानता है, कोई उसमें की गई मीनाकारी को जानता है, कोई उसमें बने गुम्बजों, खम्भों और आकारों के बारे में जानता है, तो कोई जानता है कि ताजमहल यमुना के किनारे पर स्थित है। एक व्यक्ति भी अलग-अलग क्षणों में एवंविध जानकारी कर सकता है। हम इनमें से किसी भी जानकारी को मिथ्या नहीं कह सकते । सभी जानकारियों का अपना महत्त्व है। विभिन्न दृष्टिकोणों या अपेक्षाओं से सभी जानकारियाँ सही हैं। इन दृष्टिकोणों को पर्याय प्रधान होने से जैनदर्शन में नय कहा जा सकता है।

यहाँ यह आवश्यक है कि वस्तु में जो गुणधर्म या वैशिष्ट्य है, उसका सही सही ज्ञान होना चाहिए। वस्तु में जो गुणधर्म नहीं है, उसका ज्ञान मिथ्या कहा जाएगा । उदाहरण के लिए ताजमहल में सीमेण्ट एवं लोहे का प्रयोग नहीं हुआ, उसको भी जानने का दावा करें तो हमारा यह ज्ञान मिथ्या होगा । दूसरी बात यह है कि एक नय (View Point) से वस्तु के जिस गुण धर्म का ज्ञान होता है, उससे भिन्न गुणधर्मों का उसके द्वारा अपलाप या निषेध नहीं किया जाता है । यही नय सिद्धान्त का वैशिष्ट्य है ।

दूसरे उदाहरण से समझने का प्रयास करें । कोई फोटोग्राफर किसी भवन का किसी एक कोण से फोटों खींचता है, फिर दूसरे कोण से फोटो खींचता है, इसी प्रकार वह विभिन्न दिशाओं एवं कोणों से अनेक फोटोग्राफ लेता है। वे सभी फोटो एक ही भवन के हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि कोई फोटो उस भवन का नहीं है। सबमें भेद है तथापि सभी फोटो अपनी जगह सही हैं। ये विभिन्न दृष्टिकोण भी नय सिद्धान्त को ही व्याख्यायित करते हैं।

जानने के साथ अभिव्यक्ति भी विभिन्न दृष्टिकोणों से की जाती है। उन दृष्टिकोणों को भी नय कहा गया है। इसीलिए वक्ता जिस अभिप्राय से कथन करता है, उसका वह अभिप्राय-विशेष नय कहलाता है। व्यवहार में इस अभिप्राय- विशेष

को समझकर जब कोई श्रोता प्रत्युत्तर देता है तो संवाद चल पाता है। यदि वक्ता के अभिप्राय को समझे बिना प्रत्युत्तर दिया जाए तो संवाद नहीं चल पाता, विवाद अवश्य खड़ा हो सकता है।

जगत् का एवं उसमें विद्यमान किसी भी वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान किसी अपेक्षा विशेष से ही होता है । यह अपेक्षा विशेष ही नय है । एक साथ हम किसी व्यक्ति के बारे में सभी अपेक्षाओं से ज्ञान नहीं कर सकते । यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि नय सिद्धान्त में किसी एक नय से ज्ञान करने पर अन्य नयों की उपेक्षा नहीं की जाती अथवा उन नयों का प्रतिकार नहीं किया जाता । जिस प्रकार एक नय सही है उसी प्रकार किसी अपेक्षा से अन्य नय भी सही हो सकते हैं । यहाँ प्रसंग या विवक्षा का महत्त्व होता है कि हम किस प्रसंग में किस नय को प्राथमिकता देते हैं अथवा किस नय को प्रधान एवं अन्य नयों को गौण बनाना चाहते हैं ।

प्रमाण एवं नय में भेद

प्रमाण भी जानने का साधन है तथा नय भी, किन्तु प्रमाण का क्षेत्र नय के क्षेत्र की अपेक्षा व्यापक है । प्रमाण में मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यव एवं केवल इन पांचों ज्ञानों का समावेश होता है अर्थात् इनमें से कोई भी ज्ञान प्रमाण हो सकता है, किन्तु नय को जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान के विषय तक सीमित रखा है, जैसा कि नय की निम्नांकित परिभाषा एवं कथन से ज्ञात होता है-

1. **नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः** । -प्रमाणनयतत्त्वालोक 7.1

श्रुतज्ञान नामक प्रमाण के द्वारा विषय किए गए पदार्थ के अंश का उसके अन्य अंशों के प्रति उदासीन रहकर जिसके द्वारा ज्ञान कराया जाता है, प्रतिपत्ता का वह अभिप्राय विशेष नय कहलाता है ।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि क्या नय-ज्ञान के पूर्व प्रमाण ज्ञान का होना आवश्यक है? यदि पहले प्रमाण द्वारा जान लिया गया है तो नय से जानने की जिज्ञासा कहाँ शेष रहेगी? क्योंकि यह माना गया है कि नय के द्वारा वस्तु के एक अंश को जाना जाता है तथा प्रमाण के द्वारा वस्तु के सम्पूर्ण अंश को जाना जाता

है। जब सम्पूर्ण अंश को जान लिया गया तो एक अंश को जानने की बात महत्त्व नहीं रखती । इसलिए नय को प्रमाण से स्वतन्त्र ज्ञान का साधना मानना चाहिए। प्रमाण से भी जाना जाता है और नय से भी। किन्तु नय में यह वैशिष्ट्य होता है कि वह एक दृष्टि से जानकर अन्य दृष्टियों के प्रति उदासीन रहता है ।

2. **श्रुतमूला नया सिद्धाः वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत्**- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.6.27
नय श्रुतज्ञानमूलक होते हैं तथा उनकी प्रामाणिकता प्रमाणवत् है ।

उपर्युक्त वाक्यों से विदित होता है कि नय का प्रयोग श्रुतज्ञान के द्वारा जाने गए विषय में होता है।श्रुतज्ञान से जिस विषय को जाना गया है, उसके एक अंश का ज्ञान नय है। आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण एवं नय में भेद प्रतिपादित करते हुए कहा है कि धर्म और धर्मी के समूह का नाम वस्तु है। जो ज्ञान धर्म या केवल धर्मी को ही मुख्य रूप से जानता है वह नय है और जो दोनों को ही मुख्य रूप से जानता है वह प्रमाण है।[10] प्रमाण एवं नय में एक प्रमुख भेद यह है कि प्रमाण के द्वारा जहाँ वस्तु के द्रव्य एवं पर्याय इन दोनों स्वरूपों को समानरूप से जाना जाता है वहाँ नय के द्वारा द्रव्य एवं पर्याय में से किसी एक को प्रधानता से जाना जाता है। इसीलिए उसे वस्त्वंशग्राही कहा गया है। भट्ट अकलंक ने नय एवं प्रमाण में भेद का निरूपण करते हुए कहा है कि सम्यग् अनेकान्त प्रमाण है तथा सम्यग् एकान्त नय है।[11] अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक होता है। उसमें जो एकान्त है वह जब सापेक्ष होता है तो सम्यक् कहलाता है एवं वह नयरूप होता है तथा जो अनेकान्त प्रमाणरूप होता है वह भी सम्यक् होता है। अतः नय को सम्यग् एकान्त तथा प्रमाण को सम्यक् अनेकान्त कहा गया है। धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य ने भी प्रमाण एवं नय में भेद स्पष्ट करते हुए कहा है- किं च न प्रमाणं नयः, तस्यानेकान्तविषयत्वात्। न नयः प्रमाणं, तस्यैकान्तविषयत्वात्। (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ. 516) प्रमाण नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय अनेकान्त है तथा नय प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय एकान्त है।

नय को न तो प्रमाण माना गया है, न ही अप्रमाण। जिस प्रकार समुद्र का अंश न तो समुद्र कहा जा सकता है और न असमुद्र। वह समुद्र का अंश होते हुए भी समुद्र नहीं है उसी प्रकार वस्तु के एक अंश का ज्ञान करने वाले नय को प्रमाण नहीं

माना गया।[12] अनुयोगद्वारसूत्र में चार अनुयोगद्वारों का निरूपण हुआ है- उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। इनमें नय का उल्लेख नय की महत्ता का प्रतिपादन करता है। स्याद्वादमंजरीकार ने मुख्यवृत्ति से प्रमाण का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए भी नयों की प्रमाण के तुल्य प्रामाणिकता स्वीकार की है।[13]

प्रमाण, नय एवं दुर्नय में भेद करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है- ''**सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः**''[14] किसी वस्तु को सत् ही है, ऐसा कहना दुर्नय है, सत् है ऐसा कहना नय है तथा कथञ्चित् (स्यात्) सत् है, ऐसा कहना प्रमाण है। प्रमाण एवं नय एक भेद यह है कि प्रमाण सकलादेशी होता है तथा नय विकलादेशी होता है।[15] द्रव्य एवं पर्याय दोनों का ग्रहण करने से प्रमाण को सकलादेशी तथा इन दोनों में से एक का ग्रहण करने के कारण नय को विकलादेशी कहा गया है।

नयों की संख्या

जानने एवं कहने के जितने मार्ग हो सकते हैं, वे सभी नय हैं। आचार्य सिद्धसेन कहते हैं-

''**जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया** ।''- सन्मतितर्क, 3.47

अर्थात् जितने वचन मार्ग होते हैं, उतने नय होते हैं। इस तरह नयों की संख्या असीमित होती है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है, अतः नय अनन्त भी हो सकते हैं[16], किन्तु व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के आधार पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो नय प्रमुख हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में स्पष्ट रूप से सात नयों का उल्लेख हुआ है।- **सत्त मूलणया पण्णत्ता । तं जहा-णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरुढे एवंभूते।** (अनुयोगद्वारसूत्र, आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, सूत्र 606) सात मूल नय हैं- 1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार, 4. ऋजुसूत्र, 5. शब्द, 6. समभिरूढ तथा 7. एवम्भूत । तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर पाठ में नय पांच कहे गये हैं- नैगमसंग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। (तत्त्वार्थसूत्र 1.34) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र एवं शब्द ये पांच नय होते हैं। किन्तु इस सूत्र के पश्चात् प्रदत्त सूत्र में नैगम नय के दो तथा शब्द नय के तीन भेदों का प्रतिपादन हुआ है- **आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ** (तत्त्वार्थसूत्र 1.35)। नैगम नय के दो प्रकार हैं- देश परिक्षेपी एवं सर्व

परिक्षेपी । शब्द नय के तीन प्रकार हैं- शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत नय । दिगम्बर परम्परा में मान्य तत्त्वार्थसूत्र के पाठ में एक साथ सात नयों का उल्लेख हुआ है, यथा- नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र- शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः (सर्वार्थसिद्धि 1.33)। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों पाठों का समन्वय करके कहा जा सकता है कि आचार्य उमास्वाति को सात नय मान्य थे। सन्मतितर्क नामक ग्रन्थ में सिद्धसेन सूरि ने नैगम को छोड़कर अन्य छह नयों का कथन किया है। उन्होंने नैगमनय की सामान्यग्राहिता को संग्रहनय में तथा विशेष- ग्राहिता को व्यवहारनय में समाविष्ट कर लिया है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में निश्चय नय एवं व्यवहार नय शब्दों का प्रयोग हुआ है । वहाँ पर भ्रमर में व्यवहार नय से कृष्ण वर्ण तथा निश्चय नय से कृष्ण, नील, पीत, रक्त एवं श्वेत ये पांचों वर्ण स्वीकार किये गये हैं।[17] आगे चलकर आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इन दोनों नयों का आत्म-विवेचन की दृष्टि से भरपूर प्रयोग हुआ है। वे कहते हैं कि गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह और संस्थान आदि जीव में व्यवहारनय से हैं, निश्चयनय से नहीं।[18]

नयों का आश्रय लेकर ईस्वीय 5 वीं शती में मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वारा एक महत्त्वपूर्णग्रन्थ द्वादशारनयचक्र की रचना की गई। इस ग्रन्थ में उस समय प्रचलित विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं को बारह अरों से युक्त नयचक्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मल्लवादी ने नय विचार को एकचक्र का स्वरूप प्रदान किया है। उन्होंने सात नयों के स्थान पर 12 नयों की कल्पना की है तथा उन्हें इस रूप में प्रस्तुत किया है कि प्रथम नय से प्रतिपादित दार्शनिक विचारधाराओं का द्वितीय नय से निरसन हो जाता है। इस प्रकार हर नयचक्र में यह क्रम चलता रहता है। अन्त में 12 वें अर का प्रथम अर के द्वारा खण्डन होता है। जिस प्रकार चक्र के अरे एक केन्द्र में संलग्न होते हैं उसी प्रकार ये सभी नय स्याद्वाद या अनेकान्त रूप केन्द्र से संलग्न हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित द्वादश नय इस प्रकार हैं- 1. विधि, 2. विधि-विधि, 3. विध्युभय, 4. विधि का नियम, 5. विधि और नियम, 6. विधिनियमविधि, 7. उभयोभय, 8. उभयनियम, 9. नियम, 10. नियमविधि, 11. नियमोभय, 12. नियम-नियम। ये बारह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों से किस प्रकार सम्बद्ध हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य मल्लवादी कहते हैं कि

विधि आदि प्रथम छह नय द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत तथा शेष छह पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों के साथ भी इन बारह नयों का सम्बन्ध बतलाया है, तननुसार प्रथम नय व्यवहार नय में, दूसरे से चौथे तक के नय संग्रहनय में, पाँचवाँ और छठा नय नैगम नय में, सातवां नय ऋजुसूत्रनय में, आठवां एवं नवमां नय शब्दनय में, दसवां नय समभिरूढ़ नय में तथा ग्याहरवां व बारहवां एवंभूतनय में समाविष्ट होता है।

माइल्लधवल कृत द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र तथा देवसेनकृत आलापपद्धति एवं श्रुतभवन-दीपक-नयचक्र में अनेकविध नयों का वर्णन हुआ है। डा. हुकमचन्द भारिल्ल ने प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका आदि के आधार पर 'परमभाव-प्रकाशक नयचक्र' नामक पुस्तक में 47 नयों का विवेचन किया है। उनके द्वारा विवेचित नयों के नाम इस प्रकार हैं- 1. द्रव्यनय 2. पर्यायनय 3. अस्तित्व नय 4. नास्तित्व नय 5. अस्तित्व नास्तित्व नय 6. अवक्तव्य नय 7. अस्तित्व अवक्तव्य नय 8. नास्तित्व अवक्तव्य नय 9. अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य नय 10. विकल्प नय 11. अविकल्प नय 12. नामनय 13. स्थापना नय 14. द्रव्यनय 15. भावनय 16. सामान्य नय 17. विशेषनय 18. नित्यनय 19. अनित्यनय 20. सर्वगतनय 21. असर्वगतनय 22. शून्य नय 23. अशून्य नय 24. ज्ञानज्ञेय अद्वैतनय 25. ज्ञानज्ञेय द्वैतनय 26. नियतिनय 27. अनियतिनय 28. स्वभावनय 29. अस्वभावनय 30. कालनय 31. अकालनय 32. पुरुषकारनय 33. दैवनय 34. ईश्वर नय 35. अनीश्वरनय 36. गुणीनय 37. अगुणीनय 38. कर्तृनय 39. अकर्तृनय 40. भोक्तृनय 41. अभोक्तृनय 42. क्रियानय 43. ज्ञाननय 44. व्यवहारनय 45. निश्चयनय 46. अशुद्धनय और 47. शुद्धनय।[19]

द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय

जैनदर्शन में प्रमुखतः दो प्रकार के नय हैं- 1. द्रव्यार्थिक नय 2. पर्यायार्थिक नय। द्रव्य को प्रधान बनाकर जब ज्ञान या कथन किया जाता है तो उसे द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है तथा जब पर्याय को प्रधान बनाकर ज्ञान या कथन किया जाता है तो उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में इन दो नयों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से विभक्त कर विभज्यवादपूर्वक समाधान

करने की जो शैली रही है उसे भी द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों में वर्गीकृत किया जा सकता है। द्रव्य का द्रव्यार्थिक नय में तथा क्षेत्र, काल एवं भाव का समावेश पर्यायार्थिक नय में हो सकता है।[20]

वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन द्रव्यार्थिकनय से किया जाता है तथा अनित्यता का प्रतिपादन पर्यायार्थिकनय से किया जाता है। द्रव्यार्थिक नय अभेदगामी है तथा पर्यायार्थिक नय भेदगामी है। दूसरे शब्दों में द्रव्यार्थिक नय एकत्वगामी तथा पर्यायार्थिक नय अनेकत्वगामी है। एक ही वस्तु का इन दोनों दृष्टियों से विवेचन करने में विरोधी धर्मों नित्यता एवं अनित्यता का, भेद-अभेद का, एकत्व-अनेकत्व का समन्वय हो जाता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्द ने प्रश्न उठाया है कि द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय के साथ गुणार्थिक नय का पृथक् कथन क्यों नहीं किया गया? इसके उत्तर में उनका कथन है कि गुणों का समावेश भी यहाँ पर्यायों में हो जाता है,[21] इसलिए गुणार्थिक नय का पृथक् कथन करने की आवश्यकता नहीं है।

द्रव्यार्थिक (द्रव्यास्तिक) एवं पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) नय ही प्रमुख नय हैं। नैगम आदि सात नयों में से नैगम, संग्रह एवं व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवम्भूत को पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत विभक्त किया जाता है।

सप्तविध नय

नय के प्रसिद्ध सात प्रकारों का स्वरूप यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत है-

1. नैगम नय

'नैगम' शब्द 'निगम' शब्द से बना है । 'निगम' का अर्थ है वसति (बस्ती)। अनुयोगद्वार सूत्र में वसति के दृष्टान्त से नैगम नय को समझाया गया है तथा इसके तीन भेद किए गए हैं- 1. अशुद्ध नैगम नय 2. विशुद्ध नैगम नय 3. विशुद्धतर नैगम नय । कोई पुरुष पूछता है- आप कहाँ रहते हो? उत्तर दाता कहता है- लोक में रहता हूँ। यह अशुद्ध नैगम नय है। यद्यपि उत्तरदाता लोक में ही रहता है, किन्तु प्रश्न कर्ता के अभिप्राय को यह उत्तर सत्य होते हुए भी संतुष्ट नहीं करता है। फिर वह कहता है मैं तिर्यक् लोक में रहता हूँ। यह उत्तर वास्तविक वसति से कुछ निकट

है इसलिए विशुद्ध नैगम का उदाहरण है। जब वह कहता है कि मैं जम्बूद्वीप में रहता हूँ तो यह पूर्व अपेक्षा विशुद्धतर दृष्टिकोण है। इस प्रकार क्रमशः उत्तर देते हुए भारत वर्ष, दक्षिणार्द्ध भारतवर्ष, पाटलिपुत्र, देवदत्त के घर और गर्भगृह में रहने का उत्तर देता है तो इससे नैगम की विशुद्धतरता बढ़ती जाती है।

प्रस्थक के दृष्टान्त से भी नैगम नय का निरूपण किया गया है। प्राचीनकाल में अनाज मापने के एक विशिष्ट पात्र को प्रस्थक कहा जाता था। कोई व्यक्ति जंगल में कुल्हाड़ी लेकर जा रहा था, उससे किसी ने पूछा- तुम जंगल में क्यों जा रहे हो? उसने उत्तर दिया- मैं प्रस्थक के लिए जा रहा हूँ। यह अविशुद्ध नैगम नय का उदाहरण है। जब वह लकड़ी काट रहा था तब किसी ने पूछा - तुम क्या काट रहे हो ? तब उस पुरुष ने उत्तर दिया मैं प्रस्थक काट रहा हूँ। यह विशुद्ध नैगम नय का उदाहरण है। क्योंकि पूर्वापेक्षा प्रस्थक बनाने की प्रक्रिया में निकट पहुँच रहा है। काष्ठ को तराशने, उकेरने तथा छीलने आदि क्रियाओं को देखकर पूछता है तो वह पुनः उत्तर देता है मैं प्रस्थक बना रहा हूँ। यह उत्तर विशुद्धतर नैगमनय का उदाहरण है ।

अनुयोग द्वार सूत्र में जो प्रस्थक का दृष्टान्त दिया गया है। उसके आधार पर आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में नैगम नय का लक्षण देते हुए कहा है कि अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगम नय है।[22] जब तक कार्य पूर्ण न हो तब तक उसे अनिष्पन्न या अनभिनिर्वृत्त कहा जाता है। दिगम्बर परम्परा के आचार्य अकलंक विद्यानन्द, देवसेन, प्रभाचन्द्र आदि ने इस लक्षण का समर्थन किया है तथा अधिकांश आचार्यों ने प्रस्थ के संकल्प का उदाहरण लेकर इस लक्षण को समझाया है।[23]

संकल्प को निगम कहा गया है तथा उस संकल्प से या प्रयोजन से होने वाली क्रियाओं को नैगमनय से समझा जाता है।[24] नैगम नय का यह स्वरूप आज हमारे जीवन में पर्याप्त रूप से प्रयुक्त होता है। कोई विद्यार्थी कपड़े पहन रहा हो और उससे पूछा जाए कि तुम क्या कर रहे हो? तो वह उत्तर देता है कि मैं महाविद्यालय जा रहा हूँ। उसके कपड़े पहनने का उद्देश्य, संकल्प या प्रयोजन विद्यालय जाना है। इसलिए इस प्रक्रिया में कपड़े पहनना, जूते पहनना, वाहन चलाना अथवा वाहन में

बैठने के लिए टिकट खरीदना आदि सम्बन्धित क्रियाओं का महाविद्यालय जाने का अंग होने से नैगम नय के अन्तर्गत समावेश होता है। इसी प्रकार कोई महिला सब्जी साफ कर रही हो, उससे पूछा जाए तुम क्या कर रही हो तो वह उत्तर देती है कि मैं भोजन बना रही हूँ। भोजन बनाने की क्रिया का अंग होने से उसका सब्जी साफ करना नैगम का उदाहरण होता है। इस तरह भोजन बनाने के अंगरूप सभी क्रियाएं नैगम नय के द्वारा कही जा सकती हैं। भगवती सूत्र में 'कडेमाणे कडे', 'चलमाणे चले' आदि वाक्य[25] नैगम नय के उदाहरण कहे जा सकते हैं। किसी अतिथि के घर आने पर उसे हम कहते हैं- भोजन बन गया आप भोजन करके जाए। यद्यपि रसोई में भोजन बनाने की प्रक्रिया चल रही है और भोजन पूरा बना भी नहीं, तब भी ऐसा प्रयोग नैगम नय से किया जा सकता है।

नैक गमः नैगमः के रूप में नैगम शब्द की निरुक्ति की जाती है, अर्थात् जिसमें अनेक प्रकार से वस्तु के स्वरूप को जाना जाता है तथा अनेक भावों से वस्तु का निर्णय किया जाता है उसे नैगम नय कहते है। अनुयोगद्वार सूत्र में नैगम नय की यही निरुक्ति दी गई है।[26] इस प्रकार नैगम नय का स्वरूप व्यापक है, विविधता लिए हुए है।

लघीयस्त्रय ग्रन्थ में भट्ट अकलंक ने नैगम नय का लक्षण करते हुए कहा है कि एक द्रव्य में दो धर्मों को गौणता और मुख्यता से कहने की जो विवक्षा है अथवा जो भेद और अभेद में से परस्पर एक को गौण और एक को प्रधान करके कहता है, वह नैगम नय है।[27]

नैगम नय में सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार के धर्मों का समावेश हो जाता है। इसका समर्थन वीरसेनाचार्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि आदि आचार्यों ने किया है। वादिदेव सूरि ने नैगम नय का लक्षण करते हुए कहा है- दो धर्मों की दो धर्मियों की अथवा धर्म-धर्मी की प्रधान तथा गौण रूप से विवक्षा करना, इस प्रकार अनेक मार्गों से वस्तु का बोध कराने वाला नय नैगम नय कहलाता है।[28] दो धर्मों के प्रधान गौण भाव का उदाहरण है- आत्मा में सत्त्व से युक्त चैतन्य है।[29] दो धर्मियों के प्रधान गौण भाव का उदाहरण है- पर्याय वाला द्रव्य वस्तु कहलाता है।[30] धर्म

धर्मियों में से एक को गौण एवं दूसरे को प्रधान बनाने का उदाहरण है- विषयासक्त जीव क्षणभर सुखी होता है।[31] उपर्युक्त उदाहरणों में दो धर्मों के अन्तर्गत चैतन्य को प्रधान एवं सत्त्व गुण को गौण बनाया गया है । दो धर्मियों के अन्तर्गत द्रव्य को गौण और वस्तु को प्रधान विवक्षित किया गया है । धर्म-धर्मी के अन्तर्गत जीव धर्मी को प्रधान तथा सुखी विशेषण (धर्म) को गौण बताया गया है। निष्कर्ष रूप में कहा जाए तो नैगम नय अत्यन्त व्यापक नय है जिसमें विविध प्रकार से ज्ञान कराने की क्षमता है । मुख्य कार्य के अंगों को भी जिस प्रकार नैगम नय से कह दिया जाता है उसी प्रकार जिसमें सामान्य-विशेष का गौण प्रधान भाव से समावेश होता है वह नैगम नय है ।

2. संग्रह नय

सामान्य या अभेद को ग्रहण करने वाला नय 'संग्रह नय' है । संग्रह नय की दृष्टि से आत्मा एक है । संग्रह नय दो प्रकार का होता है- 1. पर संग्रह नय, 2. अपर संग्रह नय । सत्ता के रूप में समस्त पदार्थों का समावेश करने वाले सामान्य को ग्रहण करने वाला नय 'पर संग्रह नय' है।[32] जैसे- विश्व एक है । यह कथन 'पर संग्रह नय' का द्योतक है । द्रव्यत्व, पर्यायत्व आदि अवान्तर सामान्यों का ग्रहण करने वाला नय 'अपर संग्रह नय' है । जैसे- धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्यत्व की दृष्टि से एक हैं।[33]

3. व्यवहार नय

भेद को ग्रहण करने वाले नय को 'व्यवहार नय' कहते हैं । जैसे-सत् या वस्तु को द्रव्य और पर्याय के रूप में अथवा जीव और अजीव के रूप में जानना 'व्यवहार नय' है । भेदपरक जितना भी ज्ञान है वह सब 'व्यवहार नय' ही है । जीव के संसारी और सिद्ध भेद, संसारी जीवों के त्रस और स्थावर भेद या नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आदि भेद 'व्यवहार नय' से ही किए जाते हैं । 'संग्रह नय' जहाँ अनेकता में एकता का बोध कराता है, वहाँ 'व्यवहार नय' एक में अनेक का बोध कराता है । 'संग्रह नय' से आत्मा को एक तथा 'व्यवहार नय' से आत्मा को अनन्त कहा जाता है, क्योंकि संख्या में आत्माएँ अनन्त हैं, जबकि मूल स्वरूप की दृष्टि से वे एक हैं ।

4. ऋजुसूत्र नय

वर्तमान काल की पर्याय को ग्रहण करने वाला नय 'ऋजुसूत्र नय' कहलाता है। वर्तमान काल में यदि कोई अध्ययनशील है तो स्वाध्यायी या विद्यार्थी कहा जाएगा। भूतकाल या भविष्यत् काल के आधार पर कथन करना, ऋजुसूत्र नय का विषय नहीं है, वह मात्र वर्तमान को विषय करता है। जैसे- वर्तमान में कोई सुख से जी रहा है, तो उसे 'ऋजुसूत्र नय' से सुखी कह सकते हैं।

5. शब्द नय

काल, संख्या, लिंग, कारक आदि के भेद से शब्द के अर्थ में भेद का प्रतिपादन करने वाला नय 'शब्द नय' है। जैसे- वाराणसी नगरी थी, वाराणसी नगरी है और वाराणसी नगरी होगी। इन तीनों वाक्यों में काल के कारण जो भेद है उसे शब्द नय स्पष्ट करता है। संख्या भेद के आधार पर भेद का उदाहरण- "एक पुरुष जा रहा है। अनेक पुरुष जा रहे हैं।" इनमें प्रथम वाक्य एक पुरुष का बोधक है, जबकि दूसरा वाक्य अनेक पुरुषों का बोधक है। लिंग के आधार पर अर्थ भेद कभी होता है एवं कभी नहीं। 'बालिका जाती है' कहने पर बालिका (स्त्री) का बोध होता है, 'बालक जाता है' कहने पर बालक (पुरुष) का बोध होता है, किन्तु संस्कृत में तटः, तटी, तटम् तीनों का एक अर्थ है। कारक के प्रयोग के आधार पर अर्थभेद होता है। उदाहरण के लिए 'राम पुस्तक पढ़ता है' वाक्य में राम कर्ता है। 'राम को पुस्तक देता है' वाक्य में राम सम्प्रदान है।

6. समभिरूढ़ नय

पर्यायवाची शब्दों में निरुक्ति (शब्द-निर्माण, प्रक्रिया) के भेद से अर्थ का भेद बताने वाला नय 'समभिरूढ़ नय' है। जैसे- इन्द्र के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं- इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, देवराज, शचीपति आदि। इन सभी शब्दों की निरुक्ति भिन्न-भिन्न है। जो इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यशाली होता है, वह इन्द्र। जो शकन अर्थात् शक्तिशाली होता है, वह शक्र। जो पुर अर्थात् शत्रु-नगर का दारण करने या विनाश करने वाला होता है उसे पुरन्दर, देवों के राजा को देवराज और शची के पति को शचीपति कहते हैं। निरुक्ति या व्युत्पत्ति के आधार पर इन सब अर्थों में

भिन्नता है। वैसे ये सब पर्यायवाची भी हैं। इन पर्यायवाची शब्दों में निरुक्ति भेद से अर्थभेद कराने वाला नय ही समभिरूढ़ नय है।

7. एवम्भूत नय

शब्द के अर्थ के अनुसार क्रिया में प्रवृत्त होने पर उस शब्द का प्रयोग करना 'एवंभूत नय' है। जैसे- कोई सेवा कर रहा हो तभी सेवक कहना, प्रजा का पालन करने वाले को प्रजापति कहना, ऐश्वर्यशील को इन्द्र कहना, शची के साथ बैठे होने पर इन्द्र को शचीपति कहना आदि एवंभूत नय के उदाहरण हैं। समभिरूढ़ नय जहाँ निरुक्ति भेद से अर्थ भेद का ही प्रतिपादन करता है, वहाँ एवंभूत नय उस अर्थ के अनुसार क्रिया में परिणत पदार्थ का बोध कराता है।

नैगम आदि सात नयों का प्रतिपादन वाक्यों का सही-सही अर्थ ग्रहण करने की दृष्टि से ही किया गया है। द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों का प्रतिपादन जहाँ आगम वाक्यों को ठीक से समझने में उपयोगी है, वहाँ उससे वस्तु या पदार्थों के स्वरूप को जानने में भी सरलता का अनुभव होता है। शब्दों या वाक्यों के माध्यम से होने वाला यह ज्ञान वस्तु को जानने में भी सहयोगी होता है। इस तरह श्रुतज्ञान से सम्बद्ध होते हुए भी नय सिद्धान्त का क्षेत्र श्रुतनिश्रित मतिज्ञान से जुड़ जाता है। यही नहीं, नयों का प्रयोग जीवन व्यवहार के साधारण वाक्यों में भी दिखाई देता है तथा हमारे जानने की प्रक्रिया में भी अलग-अलग प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं जो एक प्रकार से नयों का ही प्रयोग है। नय प्रयोग में कभी धर्म, गुण या पर्याय की प्रधानता होती है, कभी द्रव्य अथवा वस्तु की प्रधानता होती है, कभी दो धर्मों, दो धर्मियों अथवा धर्म-धर्मी में गौण-प्रधान भाव का प्रयोग होता है। कभी वर्तमान पर्याय या धर्म की प्रधानता होती है तो कभी शब्दों के प्रयोग की भिन्नता से भी अर्थ में भेद का ज्ञान होता है। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही नैगमादि सात नयों का प्रतिपादन किया गया है।

अर्थनय एवं शब्दनय

उपर्युक्त सातों नयों में से प्रथम चार नय अर्थ प्रधान (वस्तु प्रधान) होने के कारण 'अर्थ नय' कहलाते हैं तथा शेष तीन नय शब्द प्रधान होने के कारण 'शब्द नय' कहे गए हैं।

नय के विषय की न्यूनाधिकता

सात नयों में नैगम नय सामान्य और विशेष दोनों को विषय करता है। अतः उसका विषय सबसे अधिक है। संग्रह नय केवल सामान्य को विषय करता है। अतः उसका विषय नैगम नय से अल्प है। व्यवहार नय विशेष या भेदों का निरूपण करता है। अतः उसका विषय संग्रह नय की अपेक्षा कम है। ऋजुसूत्र नय मात्र वर्तमान की पर्याय का ग्रहण करता है। इसलिए उसका विषय व्यवहार नय की अपेक्षा न्यून है। शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत में भी पूर्ववर्ती नय अधिक विषय वाला एवं उत्तरवर्ती नय न्यून विषय वाला है।

निश्चय नय एवं व्यवहार नय

नय के एक प्रसिद्ध विभाजन के अनुसार नय दो प्रकार के हैं- 1. निश्चय नय 2. व्यवहार नय। निश्चय नय को पारमार्थिक नय भी कहा जाता है। तात्त्विक अर्थ का प्रतिपादन करने वाला नय 'निश्चय नय' है। जैसे- निश्चय नय की अपेक्षा भ्रमर पाँच प्रकार के वर्ण वाला है। लोक प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाला नय 'व्यवहार नय' है। जैसे- भ्रमर में पाँच वर्ण होते हुए भी उसे व्यवहार नय से काले रंग का कहा जाता है। निश्चय नय का अधिक विचार दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि ग्रन्थों में हुआ है। निश्चय नय से वे आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि से पृथक् बतलाते हैं, जबकि व्यवहार नय से वे प्राण, इन्द्रिय आदि से युक्त चेतना को जीव कहते हैं। जीवन में निश्चय एवं व्यवहार दोनों नयों का महत्त्व है। निश्चय नय लक्ष्य का बोध कराता है और व्यवहार नय उसकी ओर प्रवृत्त करता है।

द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों का ही आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चयनय एवं व्यवहारनय में विकास हुआ है। समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने यह स्पष्ट किया है कि निश्चय नय द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित हैं।[34] आलापपद्धति में कहा गया है कि सब नयों में निश्चय नय और व्यवहारनय ये दो मूलभूत भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन अर्थात् व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिक नय है।[35] निश्चय नय और व्यवहार नय में एक यह भिन्नता प्रतिपादित की गई है कि निश्चयनय द्रव्यार्थिक नय की भांति अभेद को विषय

करता है तथा व्यवहार नय पर्यायार्थिक नय की भांति भेद को विषय करता है।[36] आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय को आत्माश्रित तथा व्यवहार नय को पराश्रित प्रतिपादित किया गया है- "आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहार नयः।"[37]

नय सिद्धान्त एवं शब्दशक्तियाँ

नय सिद्धान्त में नय के द्वारा कथन का अभिप्राय समझा जाता है। कथन के अभिप्राय हेतु संस्कृत साहित्य में अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का प्रतिपादन हुआ है। जैन दर्शन में इन शक्तियों का कार्य नय सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा सम्भव है। अभिधा वृत्ति के द्वारा वाक्य का जो मुख्य वाच्यार्थ है वही गृहीत होता है। दूसरे शब्दों में वाक्य का जो सीधा अर्थ है वही अभिधा शक्ति के द्वारा अभिधेय या वाच्य होता है। जैनदर्शन में ऋजुसूत्र नय के द्वारा इस अर्थ का ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के लिए 'यहाँ संत विराज रहे हैं', यह वाक्य ऋजुसूत्र नय से सन्तों के यहाँ विराजने की सूचना मात्र दे रहा है। यही अर्थ अभिधा शक्ति से प्रकट होता है। लक्षणा शक्ति का प्रयोग तब होता है जब मुख्य अर्थ का बाध हो एवं कुछ शब्द जोड़ कर समीचीन अर्थ निकलता हो, उदाहरण के लिए 'गंगायां घोष':- इस वाक्य का मुख्यार्थ है गंगा में अहीरों की बस्ती है। किन्तु यह अर्थ बाधित होता है, क्योंकि गंगा के प्रवाह में बस्ती नहीं हो सकती। लक्षणा शक्ति से गंगा का अर्थ गंगा तट लेकर अर्थ की संगति बिठाई जाती है। व्यवहार नय में भी इस प्रकार की संगति होती है। व्यवहार नय में 'गंगायां घोषः' वही अर्थ देगा जो लक्षणा शक्ति के प्रयोग से घटित होता है। ऋजुसूत्र नय के उदाहरण में प्रयुक्त वाक्य "यहाँ सन्त विराज रहे हैं" वाक्य में 'यहाँ' का तात्पर्य तब स्पष्ट होगा जब इसमें ग्राम, नगर, स्थानक, मन्दिर आदि का अर्थ बोध होगा। व्यंजना शक्ति के द्वारा अभिधेय अर्थ से पूर्णतः भिन्न अर्थ प्रकट होता है। उदाहरण के लिए 'यहाँ सन्त विराज रहे हैं' इस वाक्य का व्यंजना शक्ति से अर्थ होगा- हमें दर्शन करने, चर्चा-वार्ता करने जाना चाहिए। यह अर्थ नैगम नय से सिद्ध हो सकता है। नैगम नय में ही यह शक्ति है कि वह विविध प्रकार के अर्थों को घटित कर देता है। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से भी अर्थ घटित करने में नय सिद्धान्त का महत्त्व है।

नय सिद्धान्त द्वारा विभिन्न दर्शनों में समन्वय

जैन दर्शन की दृष्टि उदार है। नय सिद्धान्त का प्रयोग न केवल आगम वाक्यों को समझने की दृष्टि से किया गया है, अपितु इसके द्वारा अन्य भारतीय दर्शनों की विचारधारा को भी समझने का प्रयत्न किया गया है। जैन दार्शनिकों के अनुसार विभिन्न दर्शन यदि अपनी विरोधी मान्यता का अपलाप न करें तो उनकी विचारधारा एक नय का रूप ले लेती है, किन्तु ऐकान्तिक प्रतिपादन के कारण उनकी विचारधारा नय न होकर नयाभास हो जाती है। सिद्धसेनसूरि (5वीं शती) ने प्रसिद्ध भारतीय दर्शनों की तुलना विभिन्न नयों से की। उनके पश्चात् भट्ट अकलंक (8 वीं शती) ने उन दर्शनों का नयाभासों में निरूपण कर एक नये चिन्तन को जन्म दिया। किस दर्शन को किस नयाभास में रखा जाए, इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में किंचित् मतभेद रहा। 12 वीं शती में वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक में नयाभासों में न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों की मान्यताओं के उदाहरण दिए हैं। 15 वीं शती में मल्लिषेणसूरि स्याद्वादमंजरी टीका में कहते हैं कि नैयायिक एवं वैशेषिक नैगमनय का अनुसरण करते हैं, सभी अद्वैतवादी दर्शन तथा सांख्यदर्शन संग्रह नय के अभिप्राय से प्रवृत्त हुए हैं। चार्वाक दार्शनिक व्यवहारनय का अनुसरण करते हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने ऋजुसूत्र नय को अपनाया है तथा वैयाकरणों ने शब्दादि नयों का अवलम्बन लिया है।[38] उपाध्याय यशोविजय (17वीं-18वीं शती) ने अध्यात्मसार में विभिन्न दर्शनों का इन नयों में समावेश करते हुए लिखा है-

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् यौगश्च वैशेषिकः।।
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता।
जैनी दृष्टिरिति सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते।।

-अध्यात्मसार, श्लोक 879

यशोविजय ने बौद्धमत को ऋजुसूत्र नय से, वेदान्त एवं सांख्य मत को संग्रह नय से, न्याय और वैशेषिक मत को नैगम नय से, शब्द ब्रह्मवादियों को शब्दनय से गुम्फित माना है। किन्तु ये दर्शन एकान्त रूप से अपने ही मत को सत्य

मानने एवं अन्य मतों को पूर्णतः तिरस्कृत करने पर नयाभास की कोटि में आते हैं।

सप्तभंगी नय

नयों के द्वारा वाक्य का सही-सही अर्थ समझा जाता है तथा ज्ञात तथ्यों को वाक्यों के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि वे वाक्य किसी एक दृष्टि से उचित होते हैं, किन्तु अन्य दृष्टियों का अपलाप नहीं करते। नय वाक्यों का कथन करने के लिए तथा उनकी सापेक्षता या किसी दृष्टिकोण को इंगित करने के लिए 'स्यात्' निपात का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन में ऐसे वाक्य सात प्रकार से कहे जा सकते हैं, इसलिए उन्हें सप्तभंगी नय के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है। वे सात नय हैं- 1. स्यात् अस्ति, 2. स्यात् नास्ति, 3. स्यात् अस्ति नास्ति, 4. स्यात् अवक्तव्य, 5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य, 6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य, 7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

ये सातों भंग किसी दृष्टिकोण या नय विशेष से कहे गये हैं। प्रथम भंग विधि कल्पना से, द्वितीय भंग निषेध कल्पना से, तृतीय भंग विधि-निषेध कल्पना से कहे गये हैं। तृतीय भंग में जहाँ क्रम से विधि-निषेध का आधार रहा है वहाँ चतुर्थ भंग में युगपद् विधि-निषेध कल्पना का प्रयोग होने के कारण अवक्तव्य भंग बनता है। पंचम भंग में विधिकल्पना एवं युगपद् विधि-निषेध कल्पना का आधार रहा है। षष्ठ भंग में निषेध कल्पना तथा युगपद् विधि-निषेध कल्पना का दृष्टिकोण है तो सप्तम भंग में क्रम से विधि-निषेध कल्पना एवं युगपद् विधि-निषेध कल्पना दोनों का प्रयोग हुआ है।[39]

सप्तभंगी दो प्रकार की होती है- प्रमाण सप्तभंगी एवं नय सप्तभंगी। जो सकल आदेश युक्त होती है वह प्रमाण सप्तभंगी और जो विकलादेश युक्त होती है उसे नय सप्तभंगी कहते हैं। मल्लिषेण विरचित स्याद्वादमंजरी के अनुसार काल, आत्मरूप, (स्वभाव), अर्थ (आधार), सम्बद्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द इन आठ के द्वारा अभेद वृत्ति की प्रधानता से जो कथन किया जाता है, वह प्रमाण सप्तभंगी के अन्तर्गत आता है तथा इन कालादि के द्वारा जब भेद की प्रधानता से कथन किया जाता है तो उसे विकलादेश कहा जाता है।[40]

निक्षेप

शब्द का समुचित अर्थ खोजने का कार्य जिस विधि से हो, उसे निक्षेप कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में इसे न्यास भी कहा गया है। निक्षेप के चार प्रकार हैं- 1. नाम निक्षेप, 2. स्थापना निक्षेप, 3. द्रव्य निक्षेप और 4. भाव निक्षेप।

1. **नाम निक्षेप** :- शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ के बिना ही किसी व्यक्ति, वस्तु आदि का नामकरण करना 'नाम निक्षेप' है। जैसे- किसी अन्धी महिला का नाम सुनयना है। 'सुनयना' शब्द का अर्थ होता है- अच्छे नेत्रों वाली, किन्तु यह अर्थ अन्धी महिला के सन्दर्भ में घटित नहीं होता है। सुनयना केवल उसका नाम है। अर्थ से इसका कोई लेना-देना नहीं है। इस प्रकार संसार में बहुत-सी वस्तुओं को जानने हेतु संकेत रूप में नाम रखा जाता है। इसलिए किसी डरपोक का नाम भी 'नाम निक्षेप ' से 'महावीर' हो सकता है।
2. **स्थापना निक्षेप** :- मूल या वास्तविक वस्तु न हो, किन्तु उसकी मूर्ति, चित्र, प्रतिकृति आदि में उसका आरोप किया गया हो, तो उसे 'स्थापना निक्षेप' कहते हैं। जैसे- रामचन्द्र जी की मूर्ति को राम समझना, हनुमान के चित्र को हनुमान समझना, फिल्म, नाटक आदि में अभिनेता को वास्तविक नायक समझना आदि स्थापना निक्षेप के उदाहरण हैं। स्थापना निक्षेप के दो प्रकार हैं- 1. सद्भाव स्थापना, 2. असद्भाव स्थापना। जब कोई चित्र, प्रतिकृति आदि मुख्य आकार के समान हो तो उसे सद्भाव स्थापना निक्षेप कहते हैं। जैसे- कबूतर का चित्र, कबूतर को ही बतलाता है। महात्मा गाँधी की ऐनक युक्त मूर्ति उनके वास्तविक आकार का बोध कराती है। जब कोई मूर्ति आदि वास्तविक वस्तु के आकार से रहित होती है, तो उसे असद्भाव स्थापना निक्षेप कहते हैं, जैसे- किसी पत्थर को देवता मान लेना आदि।
3. **द्रव्य निक्षेप** :- भूत या भावी अवस्था के कारण वस्तु, व्यक्ति आदि में वर्तमान में भी वैसा प्रयोग करना 'द्रव्य निक्षेप' है। यह द्रव्य निक्षेप भाव निक्षेप का पूर्व रूप या उत्तर रूप होता है। जैसे- मेडिकल कॉलेज में पढ़ने वाले छात्र को भविष्य में डॉक्टर बनने के आधार पर वर्तमान में ही डॉक्टर कहना। इसी प्रकार तहसीलदार या पटवारी आदि पदों से सेवानिवृत्त व्यक्ति को भूतकाल के

आधार पर तहसीलदार, पटवारी आदि कहना 'द्रव्य निक्षेप' के उदाहरण हैं। उपयोग रहित क्रिया को द्रव्य कहना भी द्रव्य निक्षेप का उदाहरण है।

4. **भाव निक्षेप :-** जब शब्द के अर्थ के अनुरूप ही क्रिया घटित हो रही हो, तो उसे 'भाव निक्षेप' से जाना जाता है । जैसे- अध्यापन क्रिया में संलग्न व्यक्ति को अध्यापक कहना, सेवा कार्य में संलग्न व्यक्ति को सेवक कहना आदि भाव निक्षेप के उदाहरण हैं । कोई सुन्दर नयनों वाली हो तो उसे सुनयना कहना चाहिए।

शास्त्र में प्रयुक्त शब्द का समीचीन अर्थ खोजने के लिए निक्षेप का प्रयोग किया जाता है । दैनिक व्यवहार में भी यह निक्षेप प्रयोग में आता है ।

सन्दर्भ:-

1. अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थः? प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायः अभिप्रायः।
   -धवला टीका, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-2, पृ. 513
2. नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।
   स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ।। - वही
3. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उद्देशक 1, परिव्राजक स्कन्धक का प्रकरण
4. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 12, उद्देशक 2
5. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 7, उद्देशक 2
6. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भगवतीसूत्र) - 18.10
7. स्थानांगसूत्र, स्थान 1
8. स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः।-आप्तमीमांसा, कारिका 106
9. नत्थि नएहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 762
10. धर्मधर्मिसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः ।
    प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ।। - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नय विवरण, श्लोक
11. सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्।
    नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणोत्वात्- तत्त्वार्थवार्तिक, 1.6
12. (i) यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न वा अप्रमाणमिति।- जैनतर्कभाषा, नयपरिच्छेद।

(ii) नाप्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः।।-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,नयविवरण, श्लोक 16

13. स्याद्वादमंजरी, श्लोक 28 की टीका, पृ.242
14. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 28
15. सकलादेशः प्रमाणाधीनो, विकलादेशो नयाधीनः। -सर्वार्थसिद्धि 1.6.24
16. नयाश्चानन्ताः, अनन्तधर्मत्वात् वस्तुनः। -स्याद्वादमंजरी, अगास, पृ. 243
17. द्रष्टव्य, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 18, उद्देशक 6
18. गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।। समयसार, गाथा 60
19. द्रष्टव्य, परमभावप्रकाशक नयचक्र, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 2001
20. पं. दलसुख मालवणिया लिखते हैं - काल और क्षेत्र, पर्यायों के कारण होने से, यदि पर्यायों में समाविष्ट कर लिए जाएं तब तो मूलतः दो ही दृष्टियाँ रह जाती हैं-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। - आगमयुग का जैनदर्शन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पृ. 117
21. गुणः पर्याय एवात्र सहभावो विभावितः।
इति तद्गोचरो नान्यस्तृतीयोऽस्ति गुणार्थिकः।।-तत्त्वार्थश्लोककार्तिक, नय विवरण, भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित माइल्लधवलकृत नयचक्र में प्रदत्त परिशिष्ट 2, श्लोक 22
22. अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। - सर्वार्थसिद्धि, 1.33, पृ. 100
23. डॉ. अनेकांत कुमार जैन, दार्शनिक समन्वयय की जैन दृष्टि (नयवाद), प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, सन् 2011, पृ. 98
24. संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजनः।
तथा प्रस्थादिसंकल्पः तदभिप्राय इष्यतं।।-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नय विवरण, श्लोक 32
25. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 1
26. णेगेहिं माणेहिं मिणइ त्ति णेगमस्स य निरुत्ती।- अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र 606
27. गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि। विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः।
अपि च अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदा प्ररूपणात्। नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते।
- अकलंककृत, लघीयस्त्रय, तृतीय प्रवचन प्रवेश, षष्ठप्रवचन परिच्छेद, कारिका 66
28. धर्मयोधर्मिणोधर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपर्सजनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः।
- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7.7
29. सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः।-प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7.8

30. वस्तु पर्यायवद् द्रव्यमिति धर्मिणोः।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7.9
31. क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः।-प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7.10
32. अशेषविशेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः। -प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7.15
33. द्रष्टव्य, प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7.19-20
34. व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्.....। निश्चयनस्तु द्रव्याश्रितत्वात्.....।।-समयसार गाथा, 56 की टीका
35. णिच्छयववहारणया मूलमभेदा णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह।।
- आलापपद्धति, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, पुष्प संख्या 36, गाथा 4
36. तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः।-आलापपद्धति, 216
37. समयसार, गाथा 272 पर आत्मख्याति टीका
38. तथाहि नैगमनयदर्शनानुसारिणौ नैयायिकवैशेषिकौ। संग्रहाभिप्रायप्रवृत्ताः सर्वेऽप्यद्वैतवादाः सांख्यदर्शनं च। व्यवहारनयानुपाति प्रायश्चार्वाकदर्शनम्। ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्त-बुद्धयस्ताथागताः शब्दादिनयावलम्बिनो वैयाकरणादयः।-अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 28 पर स्याद्वादमंजरी टीका, अगास, पृ. 248
39. द्रष्टव्य- प्रमाणनयतत्त्वालोक, सूत्र 4.15 से 4.21
40. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, स्याद्वादमंजरी, श्लोक 23 की टीका, पृ. 213-220



'इसिभासियाइं' का दार्शनिक विवेचन

'इसिभासियाइं' (ऋषिभाषितानि) भारतीय आध्यात्मिक एवं दार्शनिक परम्परा का एक अद्भुत महनीय ग्रन्थ है, जिसमें जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों परम्पराओं के अर्हत् ऋषियों के मूल्यवान् विचार संगृहीत हैं। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय की एक अमूल्य निधि है, जो जैनाचार्यों की वैचारिक उदारता एवं धार्मिक सहिष्णुता को प्रतिबिम्बित करती है। इसमें नारद, असितदेवल, अंबड, तारायण, याज्ञवल्क्य, मंखलि गोशालक आदि ऋषियों के वचन संगृहीत हैं। प्रायः इस ग्रन्थ में उन आध्यात्मिक विचारों का संकलन है, जो साधक की साधना में सहायक हैं, वीतरागता का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं। कुछ स्थानों पर दार्शनिक विचार हैं, जो प्रायः जैनधर्म के अनुकूल हैं। जो कुछ अनुकूल प्रतीत नहीं होते हैं, उन्हें भी यथावत् प्रस्तुत किया गया है, जो जैनाचार्यों की वैचारिक उदारता का ही परिचय देता है।

इसिभासियाइं : एक परिचय

इसिभासियाइं श्वेताम्बर परम्परा के अंग बाह्य आगमों में परिगणित है। अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में रचित यह आगम भाषा एवं विषय वस्तु की प्रस्तुति की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन है। डॉ. सागरमल जैन इसे आचारांग सूत्र के पश्चात् तृतीय-चतुर्थ शती ईसवीय पूर्व की रचना मानते हैं।[1] डॉ. वाल्थर शूब्रिंग इसे तीर्थंकर पार्श्व की परम्परा से निर्मित ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।[2] डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा लिखती हैं कि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस ग्रंथ-रचना का सही समय निर्धारित करना सम्भव नहीं है, लेकिन भाषा शैली, रचना तथा अन्य आगम एवं व्याख्या-साहित्य में इसके उल्लेख से यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ काफी प्राचीन है।[3] 'इसिभासियाइं' का उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य में प्रदत्त अंग बाह्य आगमों की सूची में हुआ है। नन्दीसूत्र में इसे कालिकसूत्रों की सूची में रखा गया है तथा स्थानांगसूत्र में उल्लिखित प्रश्नव्याकरणदशा नामक आगम के दश अध्ययनों में इसे स्थान दिया गया है। समवायांग सूत्र में इसके 45 में से 44 अध्ययनों का नामोल्लेख है। इस प्रकार आगम-साहित्य में उल्लिखित 'इसिभासियाइं' की सम्प्रति प्रकीर्णक आगमों में गणना की जाती है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन दस आगमों पर

निर्युक्ति लिखने का संकल्प किया है, उनमें इसिभासियाइं भी एक है, किन्तु इस पर एवं सूर्यप्रज्ञप्ति पर सम्प्रति उनकी कोई निर्युक्ति प्राप्त नहीं होती।

यह भारत का सौभाग्य है कि जैन परम्परा में इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण आगम सुरक्षित है। वाल्थर शूब्रिंग जैसे जर्मन विद्वान् ने इसिभासियाइं का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण अपनी व्याख्या के साथ तैयार किया जो सन् 1974 में लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से अज्ञातकर्तृक टीका के साथ प्रकाशित हुआ।[4] अन्य कोई टीका इस आगम पर उपलब्ध नहीं है। इसिभासियाइं में 45 अध्ययन हैं। सभी अध्ययन अलग-अलग ऋषियों के नाम से ग्रथित हैं। मात्र बीसवें उक्कल अध्ययन में किसी ऋषि का नाम नहीं है। इसिभासियाइं में प्रायः ऋषियों के नाम पर ही अध्ययनों के नाम रखे गए हैं। क्रम से ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं- 1. नारद, 2. वज्जियपुत्त, 3. देविल, 4. अंगरिसी, 5. पुप्पशाल पुत्र, 6. वक्कलचीरी, 7. कुम्मापुत्त, 8. केतलिपुत्र, 9. महाकाश्यप, 10. तेतलिपुत्र, 11. मंखलि पुत्र, 12. याज्ञवल्क्य, 13. मेतार्यभयालि, 14. बाहुक, 15. मधुरायण, 16. शौर्यायण, 17. विदु, 18. वर्षपकृष्ण, 19. आर्यायण, 20. उत्कट (उक्कल) अध्ययन (ऋषि का नाम नहीं), 21. गाथापति पुत्र, 22. दकभाल, 23. रामपुत्र, 24. हरिगिरि, 25. अंबड, 26. मातंग, 27. वारत्रक, 28. आर्द्रक, 29. वर्द्धमान, 30. वायु, 31. पार्श्व, 32. पिंग, 33. अरुण, 34. ऋषिगिरि, 35. उद्दालक, 36. तारायण, 37. श्री गिरि, 38. साइपुत्त (साचिपुत्र, स्वातिपुत्र), 39. संजय, 40. द्वीपायन, 41. इन्द्रनाग, 42. सोम, 43. यम, 44. वरुण, 45. वैश्रमण।

ग्रंथ की प्रथम संग्रहणी गाथा में इन ऋषियों में 20 को तीर्थंकर अरिष्टनेमि, 15 को तीर्थंकर पार्श्व एवं 10 को तीर्थंकर महावीर के काल का कहा गया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौनसे ऋषि किस तीर्थंकर के काल में हुए। समणी कुसुमप्रज्ञा जी ने अपनी मति से 12 ऋषियों को महावीर कालीन, 14 ऋषियों को पार्श्वनाथ कालीन तथा 10 ऋषियों को अरिष्टनेमिकालीन अंगीकार किया है।[5] बीसवें उक्कल अध्ययन में ऋषि का नाम नहीं है। उनके द्वारा प्रदत्त सूची इस प्रकार है-

महावीर कालीन- अम्बड, आर्द्रक, इन्द्रनाग, पुष्पशालपुत्र, मंखलिगोशालक, महाकाश्यप, मेतार्य भयालि, वर्द्धमान, वल्कलचीरी, वारत्रक,वृजिक पुत्र (वज्जियपुत्त), साचिपुत्र= 12 ऋषि

पार्श्वकालीन- अंगर्षि, कूर्मापुत्र, केतलिपुत्र, गर्दभाल (दकभाल), गाथापति पुत्र तरुण, तेतलिपुत्र, पार्श्व, पिंग, बाहुक, मधुरायण, मातङ्ग, विदु, संजय, हरिगिरि= 14 ऋषि

अरिष्टनेमिकालीन- असित देवल, आर्यायण, उद्दालक, ऋषिगिरि, तारायण, द्वैपायन, नारद, महाशालपुत्र अरुण, यम, याज्ञवल्क्य, रामपुत्र, वरुण, वर्षपकृष्ण, वायु, वैश्रमण, शौर्यायण, श्रीगिरि, सोम= 18 ऋषि

इन ऋषियों में कौन किस परम्परा से सम्बद्ध है, इसका निश्चित निर्धारण करना कठिन है। इसका एक कारण है सार्वभौम आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन। डॉ. शूब्रिंग के अनुसार याज्ञवल्क्य, बाहुक, महाशालपुत्र अरुण, उद्दालक, असित देवल, अंगरिसि और विदु स्पष्टतया औपनिषदिक परम्परा के ऋषि हैं।[6] पिंग, ऋषिगिरि और श्री गिरि को ब्राह्मण-परिव्राजक तथा अम्बड को परिव्राजक कहा गया है, अतः ये वैदिक ऋषि होने चाहिए। भारद्वाज गोत्र से सम्बद्ध होने के कारण अंगरिसि ब्राह्मण परम्परा से सम्बद्ध थे, किन्तु आवश्यक निर्युक्ति, उसकी चूर्णि तथा ऋषिमण्डल आदि ग्रन्थों में अंगरिसि (अंगर्षि) का वर्णन आने से ये जैन साहित्य में भी प्रतिष्ठित रहे। सूत्रकृतांग के अनुसार असित देवल, रामपुत्र, तारायण, बाहुक एवं द्वैपायन वैदिक परम्परा के ऋषि थे।[7] नारद को ब्राह्मण परम्परा का ऋषि माना जाता है। डॉ. शूब्रिंग ने साचिपुत्र, वज्जियपुत्त और महाकाश्यप को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध माना है। मंखलि गोशालक आजीवक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। आर्द्रक, कूर्मापुत्र, केतलिपुत्र आदि ऋषियों को निर्ग्रंथ परम्परा से जोड़ा जाता है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इसिभासियाइं के अध्ययन क्रमांक 4, 20, 25, 32, 34, 37 एवं 38 को छोड़कर शेष 38 अध्ययनों में ऋषियों के नाम के साथ '**अरहता इसिणा बुइतं**' वाक्यांश प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय है कि ये ऋषि अर्हत् थे। ऋषिमण्डल ग्रन्थ के अनुसार सभी 45 ऋषि मोक्ष को प्राप्त हुए तथा वे सभी

प्रत्येकबुद्ध थे।[8] इन ऋषियों के साथ अर्हत् विशेषण लगाना निश्चित रूप से जैन परम्परा की अत्यन्त उदार दृष्टि है। चौथे अंगरिसी (अंगर्षि) के साथ 'भारद्वाज अरहता इसिणा बुइतं' वाक्यांश के माध्यम से भारद्वाज विशेषण उनके वैदिक होने का संकेत करता है। अध्याय पच्चीस के अंबड अध्ययन में अंबड के साथ मात्र 'परिव्राजक' विशेषण लगाया गया है, अर्हत् विशेषण का प्रयोग नहीं है। इसका अर्थ है कि अंबड अर्हत् नहीं था। 32वें पिंग अध्ययन, 34वें ऋषिगिरि अध्ययन एवं 37 वें श्रीगिरि अध्ययन में 'माहण परिव्वायगेणं अरहता इसिणा बुइतं' वाक्यांश द्वारा सम्बद्ध ऋषियों को ब्राह्मण परिव्राजक अर्हत् स्वीकार किया गया है। अर्थात् ये ऋषि वैदिक हैं। 38 वें साचिपुत्र अध्ययन में साचिपुत्र को 'बुद्ध अर्हत्' कहा गया है। इससे उनके बौद्ध होने की सूचना मिलती है। यह समस्त कथन अध्ययनों में प्रयुक्त ऋषियों के विशेषणों के आधार पर है। विद्वानों ने इनके अतिरिक्त भी आधार मानकर इन्हें तत्तत् परम्पराओं में रखा है।

दार्शनिक विवेचन

यद्यपि इसिभासियाइं अध्यात्मप्रधान ग्रंथ है, तथापि इसमें हमें कुछ दार्शनिक सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं। विशेषतः चार्वाक दर्शन के पंचभूतवाद तथा देहात्मवाद सिद्धान्त का एवं आत्मा के अकर्तृत्व का उल्लेख सम्प्राप्त है।

चार्वाक सम्मत पंचभूतवाद तथा देहात्मवाद

बीसवें उक्कल अध्ययन में चार्वाक मत की प्रस्तुति हुई है। इस अध्ययन में समझाया गया है कि जैसे दण्ड का आदि, मध्य और अन्त मिलकर दण्ड संज्ञा प्राप्त करता है वैसे ही शरीर से भिन्न आत्मा नामक तत्त्व नहीं है। शरीर का नाश होने पर संसार का नाश हो जाता है। आगे कहा गया है कि जीव पांच महाभूतों के स्कन्धों का समुदाय मात्र है। महाभूतों का नाश होने पर संसार की परम्परा का नाश हो जाता है। सम्पूर्ण त्वचा पर्यन्त तक जीव है। यह शरीर जीता है तब तक प्राणी जीता है, यह उसका जीवन है। जैसे दग्ध बीजों में पुनः अंकुरों की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर उत्पन्न नहीं होता, इसलिए जो अभी मिला है, वही जीवन है।[9] चार्वाक मत के ही सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए उक्कल अध्ययन में कहा गया है कि परलोक नहीं है, सुकृत और दुष्कृत कर्मों

के फल की प्राप्ति नहीं है। जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है। पुण्य और पाप आत्मा का स्पर्श नहीं करते। पुण्य और पाप निष्फल हैं।[10]

आत्मा के अकर्तृत्व का उल्लेख

जैनदर्शन में आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व अंगीकार किया गया है, किन्तु बीसवें उक्कल अध्ययन में दण्ड उत्कट आदि पाँच प्रकार के उत्कटों (उत्कलों) के अन्तर्गत देश उत्कट का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि इसके अनुसार जीव या आत्मा का स्वरूप तो अंगीकार किया जाता है, किन्तु उसका कर्तृत्व अंगीकार नहीं किया जाता। सांख्यदर्शन इसी प्रकार की मान्यता रखता है, अतः प्रतीत होता है कि यह सांख्यदर्शन की मान्यता है, किन्तु पूरणकाश्यप और पकुध कात्यायन का मत अक्रियावादी था, अतः सम्भव है यह मान्यता इन दार्शनिकों की भी रही हो।

सृष्टिविषयक मत: पुरुषवाद एवं जल से सृष्टि की उत्पत्ति

चूंकि इसिभासियाइं में अनेक ऋषियों के वचन उपलब्ध हैं, अतः इसमें लोक या सृष्टि के सम्बन्ध में जैन दृष्टि से भिन्न मत भी प्राप्त होते हैं। दकभाल अध्ययन में पुरुषवाद के अनुसार पुरुष किं वा ईश्वर ही प्रधान एवं ज्येष्ठ है, वह ही जगत् का कर्ता है। पुरुष ही सब धर्मों (पदार्थों) का आदि कारण है।[11] ऋग्वेद में भी यह कथन प्राप्त होता है कि पहले यह सब पुरुष ही था एवं आगे भी पुरुष ही होगा वह अमृतत्व का ईश है, किन्तु अन्न से अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है।[12] श्री गिरि अध्ययन में वैदिक मान्यतानुसार कथन है कि पहले यहाँ सब ओर जल था। फिर यहाँ अंडा संतप्त हुआ, उससे लोक उत्पन्न हुआ।[13] यहाँ उसने श्वास लिया अर्थात् सृष्टि उत्पन्न हुई। यह वरुण-विधान है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में कहा गया है कि पहले हिरण्य मार्ग ही था जो समस्त प्राणियों का स्वामी था।[14] श्री गिरिऋषि विश्व को मायारूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यह संसार अतीत में मायारूप नहीं था, ऐसा नहीं है, वर्तमान में मायारूप नहीं है, ऐसा नहीं है और भविष्य में मायारूप नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है।[15]

लोक एवं पंचास्तिकाय की शाश्वतता

जैनदर्शन सृष्टि को अनादि अनन्त स्वीकार करता है। वह यह नहीं मानता कि

सृष्टि का कभी प्रारम्भ हुआ था। इसिभासियाइं के पार्श्व अध्ययन में भी कहा गया है कि यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, यह लोक कभी नहीं है, ऐसा नहीं है, यह लोक कभी नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। यह लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। यह लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय और नित्य है।[16] व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भी लोक एवं अलोक को शाश्वत भाव के रूप में निरूपित किया गया है।[17] लोक का स्वरूप षड्द्रव्यात्मक है। षड्द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा काल द्रव्य की गणना होती है। इनमें से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय के नाम से जाने जाते हैं। पंचास्तिकाय की अवधारणा प्राचीन है, इसकी पुष्टि इसिभासियाइं में प्राप्त उल्लेख से होती है। इसमें षड्द्रव्यों का उल्लेख न होकर पंचास्तिकाय का उल्लेख हुआ है। पंचास्तिकाय के लिए भी लोक की भांति कहा गया है कि पंच अस्तिकाय कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है, कभी नहीं हैं, ऐसा नहीं है तथा ये कभी नहीं होंगे, ऐसा भी नहीं है। ये ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित हैं।[18] षड् द्रव्यों में जीवास्तिकाय जीव है एवं शेष पाँच द्रव्य अजीव हैं।

पार्श्व अध्ययन में लोक चार प्रकार का कहा गया है- 1. द्रव्यलोक, 2. क्षेत्रलोक, 3. काललोक और 4. भावलोक। लोक आत्मस्वरूप में अवस्थित है। स्वामित्व की अपेक्षा से यह जीवों का लोक है, रचना की अपेक्षा से जीव और अजीव दोनों का लोक है। लोक का अस्तित्व अनादि अनन्त और पारिणामिक है।[19]

दुःख के कारण एवं उनसे मुक्ति

भारतीय चिन्तन परम्परा में दुःख से मुक्ति प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। वस्तुतः दुःख से आत्यन्तिक मुक्ति ही मोक्ष है। प्रश्न यह है कि हमें दुःख क्यों होता है? इसिभासियाइं में दुःख के कारणों पर गहन विचार हुआ है। सामान्यतः अज्ञान को दुःख का मूल माना जाता है। ऋषि गाथापतिपुत्र तरुण अज्ञान को ही परम दुःख के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं।।[20]

अज्ञान परम दुःख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है। समस्त प्राणियों के लिए संसार-परम्परा का कारण अज्ञान ही है।

जैनदर्शन के अनुसार अज्ञान का मूल कारण 'मोह' है। इसलिए मोह को भी दुःख का कारण कहा गया है। द्वितीय अध्ययन में **ऋषि वज्जियपुत्त** ऐसा ही कहते हैं- **मोहमूलाणि दुक्खाणि, मोहमूलं च जम्मणं।**[21] सभी दुःखों के मूल में मोह है और मोह के कारण ही संसार में जन्म होता है।

जहाँ मोह होता है वहाँ कर्मबन्धन भी होता है और उन बद्धकर्मों का हमें फल भोगना होता है। इसलिए जब तक कर्म हैं तब तक दुःख है। **महाकाश्यप ऋषि** इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं- **कम्ममूलाइं दुक्खाइं, कम्ममूलं च जम्मणं।**[22] सभी दुःखों का मूल कारण कर्म है तथा पूर्वकृत कर्म के कारण ही फल भोग हेतु जन्म होता है। कर्म भी दो प्रकार के होते हैं- पुण्य एवं पाप कर्म। इनमें मुख्यतः पापकर्म दुःख का कारण होता है, अतः **मधुरायण ऋषि** कहते हैं- **पावमूलाणि दुक्खाणि, पावमूलं च जम्मणं।**[23] सभी दुःख पापमूलक होते हैं तथा जन्म का मूल भी पाप है। वे अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

संसारे दुक्खमूलं तु, पावं कम्मं पुरेकडं।
पावकम्मणिरोधाय, सम्मं भिक्खू परिव्वए।।[24]

संसार में दुःख का मूल पूर्वकृत पापकर्म है, पापकर्म का निरोध करने के लिए भिक्षु को सम्यक्रूप से परिव्रजन करना चाहिए। दुःख से रहित होना है तो पापकर्म का त्याग अनिवार्य है, क्योंकि पाप का सद्भाव होने पर दुःख अवश्य उत्पन्न होता है- **सभावे सति पावस्स, धुवं दुक्खं पसूयते।**[25]

पाप का घात होने पर दुःख का उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार पुष्प का विनाश होने पर फलोत्पत्ति नहीं होती- **पावघाते हतं दुक्खं, पुप्फघाते जहा फलं।**[26] मूल का सिंचन करने पर फल की उत्पत्ति होती है, मूल का घात होने पर फल भी नष्ट हो जाता है- **मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं।**[27] कई बार दुःखी व्यक्ति अपने दुःख का नाश करने के लिए दूसरों को दुःख देता है, किन्तु ऐसा करके वह अन्य दुःखों का बंध कर लेता है।[28] कूर्मापुत्र अध्ययन में उत्सुकता को भी

दुःख का कारण कहा गया है- **दुक्खं ऊसुयत्तणं।**[29] यह उत्सुकता मोह का ही एक रूप है, जिसमें अपेक्षा एवं फलप्राप्ति की कामना निहित है।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मोहकर्म ही दुःख का मूल है, उसके कारण ही पापकर्म किया जाता है तथा मोह के कारण व्यक्ति का ज्ञान आच्छादित रहता है। अर्थात् अज्ञान की दशा में भी मोह कारण है। यह मोहकर्म ही आसक्ति, ममत्व, अहंकार, क्रोध, माया, लोभ आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है।

आत्यन्तिक सुख क्या है, इसे निरूपित करते हुए अड़तीसवें साचिपुत्र अध्ययन में कहा गया है कि जब सुख से सुख प्राप्त होता है तो वह आत्यन्तिक सुख है। इसका तात्पर्य है कि **जब सुख की अवस्था निरन्तर नित नूतन बनी रहे, कभी बाधित न हो वह सुख आत्यन्तिक सुख है।**[30] इस सुख के पश्चात् कभी दुःख नहीं आता है। इन्द्रियजनित सुख के पश्चात् दुःख की प्राप्ति होती रहती है, अतः ऐसा सुख आत्यन्तिक सुख नहीं हो सकता। सम्भवतः साचिपुत्र (सारिपुत्र/स्वातिपुत्र) बौद्ध हैं, इसलिए वे कहते हैं कि प्रज्ञावान् साधक अनेकविध पदार्थों का त्यागकर कहीं भी लुब्ध नहीं होता, यह बुद्धों की शिक्षा है। नाना शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों के प्रति पण्डित साधक न तो राग करे, न द्वेष करे।[31] इसी प्रकार की चर्चा ऋषि वर्द्धमान (महावीर) अध्ययन में भी सम्प्राप्त होती है। वहाँ कहा गया है कि मुनि मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श में राग नहीं करता तथा इनके अमनोज्ञ होने पर उनके प्रति द्वेष नहीं करता- **मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्ज हि पावए।**[32] इस प्रकार आचरण करने वाला साधक मुनि पापकर्म के स्रोत का निरोध करता है। श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ यदि दमन नहीं की जाएं तो संसार की हेतु बन जाती हैं और यदि उन्हें नियन्त्रित कर लिया जाए तो वे ही निर्वाण में सहायक हो जाती हैं। जिस प्रकार विनीत घोड़े सारथी को मार्ग पर ले जाते हैं, उसी प्रकार सम्यक् रूप से दान्त इन्द्रियाँ साधक को विषयों में प्रवृत्त नहीं करती।[33] जो साधक मन एवं कषायों को जीतकर सम्यक् प्रकार से तप करता है वह शुद्धात्मा उसी प्रकार दीप्त होता है जैसे हवन से अग्नि दीप्त होती है।[34]

वैश्रमण अध्ययन में कहा गया है कि जो व्यक्ति सुख या साता के इच्छुक

होकर पापकर्म करते हैं उनका पाप वैसे ही बढ़ता है, जैसे ऋण लेने वाले व्यक्ति का ऋण बढ़ता है। जो जीव वर्तमान सुख की खोज करते हैं, उसके परिणाम को नहीं देखते हैं वे बाद में उसी प्रकार दुःख प्राप्त करते हैं, जैसे कांटे से बिंधी हुई मछली।[35]

कर्म-सिद्धान्त

इसिभासियाइं में कर्म-सिद्धान्त के इस नियम की भूरिशः पुष्टि हुई है कि जो जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, उसके अनुसार उसे फल-प्राप्ति होती है। चतुर्थ अध्ययन में **अंगर्षि** कहते हैं- **सुकडं दुक्कडं वावि कत्तारमणुगच्छति।**[36] सुकृत हो या दुष्कृत सभी कर्म कर्त्ता का अनुगमन करते हैं, अर्थात् कर्त्ता को उनके फल की प्राप्ति होती है। **मधुरायण ऋषि** कहते हैं कि आत्मकृत कर्मों का फल आत्मा स्वयं भोगती है, अतः आत्मा के हित के लिए पापकारी कार्यों का वर्जन करना चाहिए।[37] **हरिगिरि अध्ययन** में भी कहा गया है कि प्राणी जो नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म करता है उसी के अनुसार नाना अवस्थाओं को प्राप्त करता है।[38] तीसवें वायु अध्ययन में भी कहा गया है कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। उसी प्रकार नाना प्रयोगों से निष्पन्न सुखद या दुःखद कर्म किया जाता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है- **जारिसं किज्जते कम्मं, तारिसं भुज्जते फलं।**[39] जैनदर्शन में अष्टविध कर्मों का विवेचन प्राप्त होता है। इसिभासियाइं में अष्टविध कर्म शब्द तो आया है,[40] किन्तु इन कर्मों के नामों का उल्लेख नहीं हुआ है। आठ कर्म हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को आवरित करता है, दर्शनावरण कर्म जीव के दर्शन गुण (स्वसंवेदन) को आवरित करता है, वेदनीय कर्म सुख-दुःख का वेदन कराता है, मोहनीय कर्म दृष्टि एवं आचरण को मलिन करता है, क्रोध, मान, मायादि विकारों को प्रकट करता है। आयु कर्म के कारण मनुष्यादि भव की एक निश्चित अवधि के लिए प्राप्ति होती है। नामकर्म से शरीर, इन्द्रियादि की प्राप्ति होती है। गोत्रकर्म से जीव में उच्चता एवं नीचता के संस्कार आते हैं तथा अन्तराय कर्म के कारण जीव के दान (उदारता), लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (शक्ति) आदि गुण बाधित होते हैं।

कर्म के आदान या आस्रव के कारणों का उल्लेख महाकाश्यप अध्ययन में हुआ है। वहाँ पर मिथ्यात्व, अविरति (अनिवृत्ति), प्रमाद, कषाय एवं योग को कर्मास्रव का कारण कहा गया है।[41] जैन दर्शन के तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रन्थों में बन्ध-हेतु के ये ही पाँच प्रकार निरूपित हैं। इन्हीं से कर्मों का बंध होता है। ऋषि महाकश्यप का कथन है कि संसारी प्राणी के लिए कर्म का वही स्थान है जो अंडे और बीज का है। कर्म के अनुसार ही जीव सन्तान, भोग एवं नाना अवस्थाओं को प्राप्त करता है।[42] संसार की परम्परा का मूल पूर्वकृत पुण्य और पाप है। अतः पुण्य एवं पाप के निरोध के लिए सम्यक् परिव्रजन करना चाहिए। संसार में अशान्ति का मूल कर्म है- **कम्ममूलमणिव्वाणं संसारे सव्वदेहिणं।**[43] संसार के जितने दुःख एवं कष्ट हैं, वे प्रायः पूर्वकृत कर्म के कारण प्राप्त होते हैं। महाकाश्यप अध्ययन में कहा गया है कि हस्तछेदन, पादछेदन आदि विविध प्रकार के दुःख पूर्वकृत कर्मों से प्राप्त होते हैं।[44] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ऋषि महाकाश्यप पापकर्मों को न करने की प्रेरणा कर रहे हैं।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, निधत्त, निकाचना आदि हैं। महाकाश्यप अध्ययन में बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त, उपक्रम, उत्केर, संक्रमण, निधत्त, निकाचना आदि अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।[45]

हरिगिरि अध्ययन में कहा गया है कि जिस प्रकार ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है उसी प्रकार कर्म के अनुसार कान्ति, जाति, वय या अवस्था का निर्माण होता है।[46] जीव दो प्रकार की वेदनाओं का वेदन करते हैं। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान यावत् मिथ्यादर्शनशल्य आदि 18 पाप करके जीव असाता या दुःख का वेदन करता है तथा प्राणातिपातविरमण यावत् मिथ्यादर्शन शल्य विरमण से जीव साता अथवा सुख का वेदन करता है।

कर्मों में प्रमुख मोहकर्म है। यह कर्मसेना का सेनापति है। मोह का नाश होने पर अन्य कर्मों का नाश हो जाता है। हरिगिरि ऋषि कहते हैं-

छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा दुमो।
नट्ठमोहं तहा कम्मं, सिण्णं वा हतणायकं।।[47]

जिस प्रकार जड़ से कटी हुई लता, सूखे हुए मूल वाला वृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोह का नाश होने पर कर्मों का वैसे ही नाश हो जाता है जैसे सेनापति की हार होने पर सेना की हार हो जाती है।

कर्मास्रव को रोकने के लिए संवर का विधान है तथा पूर्व संचित कर्मों के क्षय के लिए निर्जरा का प्रतिपादन है। दकभाल ऋषि परिशाटन शब्द से निर्जरा को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि कर्म परिशाटन करने योग्य हैं। अज्ञानी जीव कर्मों का परिशाटन नहीं करते, ज्ञानी कर्मों का परिशाटन करते हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुष कर्मों से वैसे ही लिप्त नहीं होते, जैसे पानी से कमल पत्र।[48] पार्श्व अध्ययन में कहा गया है कि असम्बुद्ध एवं कर्मास्रव का संवर नहीं करने वाला व्यक्ति चातुर्याम निर्ग्रंथ धर्म में दीक्षित होकर भी आठ प्रकार की कर्मग्रंथियों का बंध करता है, वह नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देवगति में उत्पन्न होकर कर्मफल प्राप्त करता है, किन्तु यदि वह सम्बुद्ध और संवृतकर्मा हो जाए तो अष्टविध कर्मों का बन्ध नहीं करता तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर लेने पर उसे नरकादि गतियों में फलभोग भी नहीं करना पड़ता।[49]

चातुर्याम एवं पंच महाव्रत

पार्श्वनाथ की परम्परा में चातुर्याम धर्म था एवं भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को पृथक् कर पंच महाव्रत का स्वरूप प्रदान किया। नारद अध्ययन में चातुर्याम धर्म का ही संकेत मिलता है, क्योंकि नारद तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय पर हुए। अर्हत् नारद ऋषि ने इन्हें चार श्रोतव्य लक्षणों के रूप में प्रतिपादित किया है। व्यक्ति तीन करण (कृत, कारित एवं अनुमोदित) तथा तीन योग (मन, वचन एवं काया) से प्राणातिपात न करे, न दूसरों से करवाए, यह प्रथम श्रोतव्य लक्षण है। इसी प्रकार मृषाभाषण एवं अदत्तादान के त्याग को क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय श्रोतव्य स्वीकार किया गया है। चतुर्थ श्रोतव्य में अब्रह्म एवं परिग्रह दोनों का कथन एक साथ करते हुए कहा गया है कि साधक न तो इनका सेवन करे और न दूसरों से करवाए।[50] पुष्पशाल अध्ययन में प्राणातिपात आदि पाँच पापों के त्याग का कथन है-

ण पाणे अतिवातेज्जा, अलियादिण्णं च वज्जए।
मेहुणं च ण सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे।।[51]

पैंतालीसवें वैश्रमण अध्ययन में अहिंसा की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार शस्त्र-प्रयोग से या अग्नि से स्वयं के शरीर में घाव या जलन की वेदना होती है, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी हिंसा से वेदना का अनुभव होता है। प्राणघात सब प्राणियों को अप्रिय है तथा दया सबको प्रिय है। इस तथ्य को जानकर प्राणिघात का वर्जन करना चाहिए। अहिंसा सब प्राणियों को शान्ति उपजाने वाली है, यह सब प्राणियों में अनिन्दित ब्रह्म है।

आचारमीमांसा के अन्तर्गत साध्वाचार प्रमुख है। साध्वाचार के अन्तर्गत चातुर्याम धर्म अथवा पंच महाव्रत के अतिरिक्त पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि का भी विशेष महत्त्व है। इसिभासियाइं में इनका भी यथावसर उल्लेख हुआ है। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान है। इसका संकेत विदु ऋषि ने किया है, यथा-

सज्झायझाणोवगतो जितप्पा, संसारवासं बहुधा विदित्ता।
सावज्जवुत्ती करणेऽठितप्पा, निरवज्जवित्ती तु समायरेज्जा।।[52]

आत्मजेता मुनि स्वाध्याय एवं ध्यान में संलग्न होकर संसार के कारणों को बहुधा जानकर सावद्यवृत्ति कार्यों में अपने को नहीं लगाता, अपितु वह निरवद्य (निष्पाप) कार्य का आचरण करता है।

साधु के लिए सावद्य अर्थात् पापकारी कार्य अकरणीय हैं तथा निरवद्य कार्य करणीय हैं।

मोक्ष का स्वरूप

जैनदर्शन में ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों के क्षय को मोक्ष कहा जाता है, किन्तु 'इसिभासियाइं' में ऐसा लक्षण प्राप्त नहीं होता। मोक्ष का स्वरूप यहाँ देविल, महाकाश्यप, रामपुत्र आदि ऋषियों के वचनों में अभिव्यक्त हुआ है, तदनुसार वह शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्त शाश्वत स्थान है।[53] जो मोक्ष को प्राप्त करता है उसके विशेषण लगभग प्रत्येक अध्ययन में दिए गए हैं,

यथा- वह इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, दान्त, वीतराग, शक्तिसम्पन्न एवं त्राता होता है। एक बार सिद्धावस्था मोक्ष को प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता।

अध्यात्म दर्शन

इसिभासियाइं में आध्यात्मिक चिन्तन मुखर हुआ है। इसमें काम-भोगों एवं इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त रहने की पदे-पदे प्रेरणा की गई है। क्रोध, मान, माया, लोभादि किस प्रकार हानि पहुँचाते हैं एवं इन पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है, इसकी चर्चा इस आगम में प्रचुररूपेण समुपलब्ध है।

शौर्यायण ऋषि कहते हैं कि दुर्दान्त पाँच इन्द्रियाँ ही प्राणियों के लिए संसार का कारण बनती हैं। यदि उन्हें संयमित कर लिया जाए तो वे ही निर्वाण का कारण बन जाती हैं।[54] इन पाँच इन्द्रियों के विषयों में जो नहीं बहता वह उत्तम पुरुष होता है।[55] मनोज्ञ (इष्ट) शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि में आसक्ति, राग, गृद्धि, मूर्च्छा न हो तथा अमनोज्ञ (अनिष्ट) शब्द, रूपादि के प्रति द्वेष न हो तभी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम होता है तथा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

ऋषि वर्द्धमान कहते हैं कि जागृत रहने वाले मुनि की पाँच इन्द्रियाँ सुप्त रहती हैं तथा सुप्त व्यक्ति की पाँचों इन्द्रियाँ जागृत रहती हैं। सुप्तमुनि पाँचों इन्द्रियों से कर्मरज को ग्रहण करता है तथा जागृतमुनि इन्द्रियों के संयम द्वारा कर्मरज को रोकता है।[56] वर्द्धमान ऋषि कहते हैं मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श के प्रति राग नहीं करना चाहिए तथा इनके अमनोज्ञ होने पर द्वेष नहीं करना चाहिए। यही आध्यात्मिक साधना का मूल अभ्यास है। ऐसा करने वाला व्यक्ति कर्म-आस्रव को रोक देता है।[57] जिस प्रकार दुर्दान्त घोड़े सारथी को राजपथ से हटाकर उन्मार्ग में ले जाते हैं, उसी प्रकार दमन नहीं की गई इन्द्रियाँ आत्मा को बलपूर्वक कुमार्ग में ले जाती हैं। किन्तु जब वे सुदान्त हो जाती हैं तो विनीत घोड़े की भांति उन्मार्ग पर नहीं ले जाती।[58] इन्द्रियों को नियन्त्रित करने के लिए मन को जीतना आवश्यक है। वर्द्धमान अध्ययन में कहा गया है कि साधक मन को जीतकर इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति को रोके तथा फिर विवेक रूपी हाथी पर आरूढ़ होकर शस्त्रधारी शूरवीर

की भांति कषायों के साथ युद्ध करे।[59] जो साधक मन और कषायों को जीतकर सम्यक् प्रकार से तप करता है उसकी आत्मा शुद्ध होकर दीप्त होती है।[60]

उद्दालक ऋषि कहते हैं कि व्यक्ति को आत्महित के लिए जागृत रहना चाहिए, जो मात्र परार्थ का अभिधारक होता है उसका आत्महित नहीं हो पाता।[61] स्वयं के घर में आग लगने पर दूसरों के घर की ओर दौड़ना उचित नहीं। पहले अपना घर सम्हालना चाहिए।[62] स्व को एवं पर को सर्वभाव से सब प्रकार से जानना चाहिए।[63] आत्मार्थी निर्जरा करता है तथा परार्थी कर्मबन्धन करता है।[64] उद्दालक अध्ययन में सदा जागृत रहने तथा धर्माचरण में अप्रमत्त रहने का संदेश दिया गया है- **जागरह णरा णिच्चं, मा भे धम्मचरणे पमत्ताणं।**[65] जो मुनि जागृत रहता है उससे दोष दूर ही रहते हैं।[66]

छत्तीसवें तारायण अध्ययन में क्रोध विजय की प्रेरणा की गई है। क्रोध को अग्नि, अन्धकार, मृत्यु, विष, व्याधि, शत्रु, रज, जरा, हानि, भय, शोक, मोह, शल्य एवं पराजय कहा गया है।[67] बाह्य अग्नि को तो जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु क्रोधाग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता।[68] क्रोध रूपी ग्रह से अभिभूत व्यक्ति के सत्त्व (बल), बुद्धि (निर्णयशक्ति), मति (चिन्तनशक्ति), मेधा (प्रतिभा), गम्भीरता, सरलता आदि सब गुण निष्प्रभ हो जाते हैं।[69] क्रोधाविष्ट व्यक्ति माता-पिता, गुरु, साधु, राजा, देवता आदि किसी को कुछ नहीं समझता। वह सबसे गाली-गलौज करने लगता है।[70] क्रोध के कारण तप, संयम आदि नष्ट हो जाते हैं। इसलिए क्रोध का निग्रह करना आवश्यक है।

जिस प्रकार क्रोध कषाय से आत्मगुणों की हानि होती है, उसी प्रकार मान, माया एवं लोभ से आत्मगुणों की हानि होती है। अतः इन पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। उद्दालक अध्ययन में कहा गया है कि अज्ञान से विमूढात्मा क्रोध, मान, माया एवं लोभ के बाण से अपनी आत्मा को ही बींधता है[71] अर्थात् अपनी ही हानि करता है।

'योग' शब्द का प्रयोग

जैनदर्शन के प्राचीन ग्रन्थों एवं आगमों में 'योग' शब्द का प्रयोग प्रायः मन,

वचन एवं काया की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। यह योग शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार का सम्भव है। पतंजलि के योगसूत्र में योग शब्द चित्तवृत्ति के निरोध के लिए प्रयुक्त हुआ है।[72] हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि के साहित्य में योग शब्द का प्रयोग मोक्ष से जोड़ने वाली प्रवृत्ति के लिए भी हुआ है,[73] किन्तु इसिभासियाइं के महाकाश्यप अध्ययन में 'जुत्तजोगिस्स' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो 'युक्तयोगी' का वाचक है। वहा कहा गया है कि धीमान् युक्तयोगी के पापकर्म क्षय हो जाते हैं तथा आंशिक रूप से कर्म का क्षय होने पर अनेकविध ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।[74] योगसूत्र के विभूतिपाद में जिस प्रकार विभिन्न सिद्धियों या लब्धियों का कथन है कुछ-कुछ उसी प्रकार का कथन महाकाश्यप अध्ययन में भी हुआ है। महाकाश्यप अध्ययन में कहा गया है कि तपसंयम से युक्त आत्मा कर्म का विमर्दन (नाश) करके विद्यालब्धि, औषधिलब्धि, निपानलब्धि, वास्तुविद्या, शिक्षापद, गति-आगति (पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म) आदि का ज्ञान कर लेती है।[75]

साधक को इन ऋद्धियों या लब्धियों की प्राप्ति में नहीं अटकना चाहिए। जिस प्रकार विवेकशील व्यक्ति मिश्रित फूलों के ढेर में से विषपुष्पों को अलग कर अन्य फूलों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार योगों से युक्तात्मा पापकारी एवं बंधनकारी लब्धियों का त्याग कर दुःख का क्षय कर देता है।

ज्ञानमीमांसा

अध्यात्म-प्रधान ग्रन्थों में ज्ञान का महत्त्व निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित रहता है। अतः विदु अध्ययन में कहा गया है कि वह विद्या महाविद्या है एवं सर्वविद्याओं में उत्तम है जिसे साधकर साधक सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[76] विदु ऋषि कहते हैं कि जिस विद्या से व्यक्ति बन्ध, मोक्ष और जीवों की गति-आगति तथा आत्मभाव को जानता है, वह विद्या दुःख विमोचनी है।[77] दुःखों से मुक्ति के लिए ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस प्रकार रोग का ज्ञान होने पर उसका निदान सम्भव होता है तथा औषधि का ज्ञान होने पर उसका निराकरण सम्भव होता है, उसी प्रकार कर्म का सम्यक् परिज्ञान होने पर तथा कर्ममोक्ष का परिज्ञान होने पर ही कर्मों से छुटकारा सम्भव है। जो व्यक्ति जीवों के कर्म-बन्ध, मोक्ष उसकी फल परम्परा को जानता है, वही कर्मों का नाश करता है।[78]

चतुर्थ अध्ययन में अंगर्षि का कथन है कि जिस ज्ञान के द्वारा मैं अपने प्रकट या एकान्त में कृत आर्य या अनार्य कर्मों को जानता हूँ वही ज्ञान अचल है, ध्रुव है।[79]

इसिभासियाइं में हमें अनेकान्तवाद के बीज भी प्राप्त होते हैं। नवम अध्ययन 'महाकाश्यप' में संसारस्थ जीवों के लिए कहा गया है कि वे द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से नित्यानित्य हैं-

दव्वतो खेत्ततो चेव, कालतो भावतो तहा।
णिच्चाणिच्चं तु विण्णेयं, संसारे सव्वदेहिणं।।[80]

कतिपय अध्ययनों में जिन प्रज्ञप्त मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है। महाकाश्यप अध्ययन में कहा गया है-

गंभीरं सव्वतोभद्दं, सव्वभावविभावणं।
धण्णा जिणाहितं मग्गं, सम्मं वेदेंति भावतो।।[81]

वे लोग धन्य हैं, जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित गम्भीर, सर्वतोभद्र, सर्वपदार्थ प्रकाशक मार्ग को भावपूर्वक सम्यक् रूप से जानते हैं एवं आचरण करते हैं।

ग्रन्थ में जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग वैदिक ऋषियों के मुख से भी हुआ है। उदाहरण के लिए उद्दालक ऋषि के अध्ययन में स्वयं के लिए त्रिगुप्ति से गुप्त, त्रिदण्ड से विरत, निःशल्य, अगारव, चतुर्विधकथा से वर्जित, पाँच समितियों से समित, पाँच इन्द्रियों से संवृत, नवकोटि परिशुद्ध, उद्गम, उत्पादना एवं एषणा के दोषों से रहित विशेषणों का प्रयोग हुआ है।

इसिभासियाइं वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसको पढ़कर मेरे मन में जो भाव उठे हैं, उन्हें प्राकृत गाथाओं में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मणो मे हरिसिओ जाओ पढिऊण इसिभासियाइं।
रिसीणां वयणाणि एयम्मि, सोहन्ति सुद्धभावेण।।
जइणा बोद्धा माहणा य रिसिओ भवन्ति अरहंता।
अज्झत्तदोसनिवारणाय, उवएसा उवओगिणो।।
संपदायाभिनिवेसस्स, भावणा तत्थ वज्जिआ।
सम्मादिट्ठीए भवइ सम्मं, सव्वं भणितं अज्जरिसीहिं।।

सन्दर्भः-

1. ऋषिभाषित : एक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1988, भूमिका, पृ. 9
2. Isibhasiyaim, L.D.Series, 45, Edited by Dr Walther Schubring, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, First Edition, 1974, Introduction, P.5
3. इसिभासियाइं (ऋषिभाषितानि), जैन विश्व भारती, लाडनूँ, 2011, पृ. 13
4. यह टीका संक्षिप्त है तथा पुस्तक के पृ. 131 से 159 तक प्रकाशित है।
5. इसिभासियाइं, लाडनूँ, ऋषिभाषित : एक परिचय, पृ. 21
6. Isibhasiyaim, Ahmedabad, Introduction, P. 3-4 और देखें- इसिभासियाइं, ऋषिभाषित : एक परिचय, पृ. 18
7. इसिभासियाइं, ऋषिभाषित : एक परिचय, पृ. 19
8. पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता।
   पणयालीसं इसिभासियाइं अज्झयणपत्ताइं।।- ऋषिमण्डलस्तोत्र, 45
9. इसिभासियाइं, 20.2-3 एवं 7
10. इसिभासियाइं, 20.7
11. इसिभासियाइं 22.2-3
12. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
13. उतामृतत्वस्येशानो, यदन्नेनातिरोकृति।।- ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, 10.90.2
    (अ) इसिभासियाइं, 37.1-2
    (ब) शतपथ ब्राह्मण 11.1.6.1 में उल्लेख है- आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।
14. हिरण्यगर्भः समवर्तताऽग्रे, भूतस्य जातः पहिरेक आसीत।- ऋग्वेद, 10.121.1
15. इसिभासियाइं, 37.4
16. इसिभासियाइं, 31.9
17. द्रष्टव्य व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 1 में रोह के साथ भगवान महावीर की चर्चा।
18. से जहाणामए पंच अत्थिकाया ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भवति, न कयाइ ण भविस्सति, भुविंच, भवति य भविस्सति य, धुवा णितिया सया, अक्खयाअव्वया अवट्ठिा।-इसिभासियाइं 31.10
19. वही, 31.2
20. इसिभासियाइं, 21.3
21. इसिभासियाइं, 2.7

22. इसिभासियाइं, 9.4
23. इसिभासियाइं, 5.5
24. इसिभासियाइं, 15.6
25. इसिभासियाइं, 15.8
26. इसिभासियाइं, 15.10
27. इसिभासियाइं, 15.11
28. दुक्खिओ दुक्खघाताय, दुक्खावेत्ता सरीरिणो।
    पडियारेण दुक्खस्स, दुक्खमण्णं णिबंधती।।- इसिभासियाइं, 15.12
29. इसिभासियाइं, 7.1
30. जं सुहेण सुहं लद्धं, अच्चंतसुहमेव तं।
    जं सुहेण दुहं लद्धं, मा में तेण समागमो।।-इसिभासियाइं, 38.1
31. इसिभासियाइं, 38.4-9
32. इसिभासियाइं, 29.5
33. इसिभासियाइं,29.15
34. इसिभासियाइं, 29.17
35. इसिभासियाइं, 45.8
36. इसिभासियाइं, 4.12
37. आत-कडाण-कम्माणं, आता भुंजति तं फलं।
    तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए।। - इसिभासियाइं, 15.21
38. इसिभासियाइं, 24.19
39. इसिभासियाइं, 30.4
40. इसिभासियाइं, 31.7-8
41. इसिभासियाइं, 9.8
42. जहा अंडे जहा बीए, तहा कम्मं सरीरिणं।
    संताणे चेव भोगे य, नाणावण्णत्तमच्छति।। 9.9
43. इसिभासियाइं, 9.4
44. इसिभासियाइं, 9.2
45. उवक्कमो य उक्केरो, संछोभो खवणं तधा।
    बद्धपुट्ठविधत्ताणं, वेदणा तु णिकायिते।। - इसिभासियाइं, 9.15

46. इसिभासियाइं, 24.20
47. इसिभासियाइं, 24.25
48. इसिभासियाइं, 22.1
49. इसिभासियाइं, 31.7-8
50. इसिभासियाइं, 1.2
51. इसिभासियाइं, 5.3
52. इसिभासियाइं, 17.8
53. (अ) सिवमयलमरुयमक्खयमत्वाबाहमपुणरावत्तं सासयं ठाणं। 9.3
    (ब) सिवमयलमरुयमक्खमव्वाबाहमपुणरावत्तयं सिद्धि गतिलामधिज्जं।। 23.2
54. (i) दुद्दंता इंदिया पंच, संसाराए सरीरिणं।
    ते च्चेव णियमिता संता, णेज्जाणाए भवंति हि।।- इसिभासियाइं, 16.3
    (ii) इसी से मिलती-जुलती गाथा वर्द्धमान अध्ययन में भी प्राप्त होती है, यथा-
    दुद्दंता इंदिया पंच, संसाराय सरीरिणं।
    ते चेव णियमिता सम्मं, णेव्वाणाय भवंति हि।।- इसिभासियाइं, 219.13
55. वही, 16.1
56. इसिभासियाइं, 29.2
57. मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इतरम्मि य।
    असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोते पिहिज्जति।।- इसिभासियाइं, 29.4
58. इसिभासियाइं, 29.14-15
59. इसिभासियाइं, 29.16
60. जित्ता मणं कसाए य, जो सम्मं कुरुते तवं।
    संदिप्यते स सुद्धप्पा, अग्गी वा हविसाऽऽहुते।। - इसिभासियाइं, 29.17
61. आतट्ठे जागरो होहि, मा परट्ठाहिधारए।
    आतट्ठ हायते तस्स, जो परट्ठाहि धारए।। -इसिभासियाइं 35.15
62. इसिभासियाइं, 35.14
63. इसिभासियाइं, 35.13
64. इसिभासियाइं, 35.17
65. इसिभासियाइं, 35.20
66. इसिभासियाइं, 35.24

67. कोवो अग्गी तमो मच्चू, विसं वाधी अरी रयो।
जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो।।- इसिभासियाइं, 36.3
68. इसिभासियाइं, 36.5
69. इसिभासियाइं, 36.7
70. इसिभासियाइं, 36.15
71. इसिभासियाइं, 35.2, 4, 6, 8
72. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। -पातंजलयोगसूत्र, 1.1
73. मोक्षेण योजनाद् योगः।-द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका आदि ग्रन्थ
74. खिज्जंते पावकम्माणि, जुत्तजोगिस्स धीमतो।
देसकम्मक्खयभूता, जायंते रिद्धिओ बहू।। इसिभासियाइं, 9.18
75. विज्जोसहिणिवाणेसु, वत्थु-सिक्खागतीसु य। तवसंजमपयुत्ते य, विमद्दे होति पच्चओ।।
- इसिभासियाइं, 9.19
76. इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा।
जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती।। - इसिभासियाइं, 17.1
77. जेण बंधं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं।
आयाभावं च जाणति, सा विज्जा दुक्खमोयणी।।- इसिभासियाइं, 17.2
78. इसिभासियाइं, 17.6
79. जेण जाणामि अप्पाणं, आवी वा जइ वा रहे।
अज्जयारिं अणज्जं वा, तं णाणं अयलं धुवं।। 4.4
80. इसिभासियाइं, 9.34
81. इसिभासियाइं, 9.35



आचारांग सूत्र में अप्रमत्त जीवन की प्रेरणा

वीतराग पथ के साधक के लिए किस प्रकार की साधना आवश्यक है एवं किस प्रकार वह आध्यात्मिक निर्मलता की सीढ़ियाँ चढ़ सकता है, इसका सुन्दर निरूपण आचारांग सूत्र में सम्प्राप्त है। इस आगम में भगवान महावीर की वाणी का मौलिक रूप उपलब्ध है। यह साधकों का मार्ग प्रशस्त करने वाला उत्तम आगम है। अप्रमत्त साधना के अनेक सूत्र साधक इस आगम से आत्मसात् कर सकते हैं। मनुष्य प्रायः प्रमाद में जीता है। प्रमत्त जीवन ही उसे अच्छा लगता है। उसकी चित्तवृत्तियों में प्रमाद का प्रभाव छलकता रहता है। प्रमाद अज्ञानी व्यक्ति में भी होता है, तो ज्ञानी व्यक्ति में भी। अज्ञानी में प्रमाद का होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसका आत्मस्वरूप से परिचय ही नहीं होता, विषयों से कभी वह विमुख ही नहीं हुआ, अतः उसमें प्रमाद का होना अवश्यम्भावी है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नयन के प्रति चरण बढ़ाते हुए ज्ञानी व्यक्ति में भी प्रमाद का डंक लग जाता है। परिणामस्वरूप वह व्यक्ति ऊपर चढ़ते हुए गुणस्थानों से नीचे गिर जाता है। उपशान्त मोह नामक ग्यारहवां गुणस्थान इसका उदाहरण है।

अज्ञानी का प्रमाद

साधारणतः आत्मस्वरूप के विस्मरण को प्रमाद कहा जाता है। प्रमाद को अनेक प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। किसी सत्य को जानते हुए भी उसे स्वीकार न करना प्रमाद का एक रूप है। अज्ञानी या मिथ्यात्वी व्यक्ति में प्रायः इस प्रकार का प्रमाद होता है। इस प्रमाद के कारण ही वह पर पदार्थों से सुख चाहता है। उनके प्रति आसक्त होता है एवं परिणाम में दुःख प्राप्त करता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है-"**इति से गुणट्ठी महता परितावेण वसे पमत्ते।**" विषयसुखों की चाहना करने वाला व्यक्ति प्रमत्त होकर परिताप को प्राप्त करता है । आचारांग के इस वाक्य से स्पष्ट है कि इन्द्रियजनित विषयसुखों की इच्छा करना प्रमत्तता का सूचक है । ऐसा व्यक्ति अपने से भिन्न व्यक्ति और वस्तुओं के प्रति ममत्व करता है। ममत्व में भी सुख की इच्छा छिपी रहती है । संसार का यह सत्य है कि हम व्यवहार से भले ही परिवार में एक-दूसरे को अपना समझकर ममत्व करते हैं, किन्तु वास्तव में एक सीमा के पश्चात् कोई किसी का त्राण नहीं कर पाता है । फिर भी प्रमत्त

होकर व्यक्ति अपने रिश्ते नातों में आसक्त होकर अपने को भुलावे में रखता है तथा आत्मिक उन्नति से वंचित रहता है। आचारांग में कहा गया है-''**तंजहा माया मे, पिता मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे सहि-सयण-संगंथ-संथुता मे, विवित्तोवगरण-परियट्टण-भोयण- अच्छायणं मे इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते।**''[12] प्रमाद के वशीभूत होकर व्यक्ति सोचता है-यह मेरी माता है, यह मेरे पिता है, यह मेरा भाई है, यह मेरी बहिन है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरे पुत्र हैं, ये मेरी पुत्रियाँ हैं, यह मेरी पुत्रवधू है, ये मेरे मित्रगण हैं, यह मेरे स्वजन हैं इस प्रकार उनके साथ आसक्ति उत्पन्न कर लेता है । व्यक्तियों के साथ ही नहीं, वस्तुओं के साथ भी उसकी आसक्ति हो जाती है । अनेक प्रकार की साधन-सामग्री, आवास, भोजन, वस्त्र आदि को अपना समझकर वह उनमें आसक्त हो जाता है तथा प्रमादयुक्त जीवन जीता है । आचारांगसूत्र इस प्रकार के जीवन को आध्यात्मिक शुद्धि की दृष्टि से उचित नहीं मानता। वह सावधान करता है- ''**णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।**''[13] अर्थात् वे सब सगे सम्बन्धी तुम्हें त्राण देने और शरण देने में समर्थ नहीं हैं और तुम भी उनको त्राण और शरण देने में समर्थ नहीं हो।

सुख-दुःख सबका अलग है-''**जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं।**''[14] इस तथ्य को जानकर साधक अपने दुःख का कारण दूसरे को नहीं मानता। दूसरे के सुखी होने में भले ही वह निमित्त बन जाये, किन्तु उससे स्वयं में अहंकार उत्पन्न न हो, इसका ध्यान रखता है। प्रमत्त व्यक्ति सदा दुःख को प्राप्त करता है। आचारांगसूत्र कहता है कि ऐसे प्रमत्त व्यक्ति की आतुरता एवं दुःख को देखकर साधक को अप्रमत्ततापूर्वक रहना चाहिए-''**पासिय आतुरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए।**''[15]

जो विषयों के प्रति गाढ़ आसक्त होता है वह दिन-रात परिताप को प्राप्त होता हुआ काल, अकाल में उनके संयोग के लिए उद्विग्न रहता है। वह अर्थ का लोभी होकर दूसरों की हिंसा करता है। बिना सोचे समझे कार्य करता है तथा बार-बार उसकी प्राप्ति में ही चित्त को लगाये रखता है। प्रमत्त व्यक्ति दूसरों की हिंसा करने में संकोच नहीं करता । उसे अपनी अभिलाषा अथवा महत्त्वाकांक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण नज़र आती है। उसके मन में यह भावना होती है कि जो अब तक नहीं

किया गया है वैसा मैं करके दिखाऊँगा- "**अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे।**"[6] उसकी अभिलाषा पूरी होने में यदि अन्य प्राणियों की हिंसा होती है, आर्थिक रूप से दूसरों को हानि होती है, अन्य व्यक्तियों का शोषण होता है अथवा छोटे-छोटे प्राणियों का वध होता है तो भी उसे दया नहीं आती। प्रमाद का यह निकृष्ट रूप है। वह दूसरों के दुःख को देखकर करुणित नहीं होता। देश-विदेश में बड़े-बड़े कत्लखाने इसके साक्षी हैं, जहाँ लाखों पशुओं को बेरहम होकर अपने व्यवसाय के लिए मौत के घाट उतारा जाता है। यह प्रमाद का स्थूल रूप है।

प्रमाद का यदि बाहुल्य हो तो व्यक्ति का विवेक पूर्णतः ढक जाता है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ की अधिकता वाला होता है। वह विषयपूर्ति के अनेक संकल्पों से युक्त होता है तथा निरन्तर कर्मों का आस्रव करता रहता है। अज्ञान के साथ प्रमाद का अस्तित्व व्यक्ति को सदा मूढ़ बनाये रखता है और वह धर्म के सही स्वरूप से अपरिचित रहता है-"**सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।**"[7] धर्म के मार्ग पर चलने वाले लोगों को वह सन्मार्गगामी नहीं मानता और स्वयं के असत् मार्ग को सही समझता रहता है एवं दुःखी होता रहता है।

ज्ञानी का प्रमाद

जानते हुए भी आचरण न करना प्रमाद का दूसरा रूप है। इसे ज्ञान का अनादर भी कहा जा सकता है। प्रमाद का यह रूप ज्ञानी व्यक्ति में पाया जाता है। श्रावक एवं साधु भी इससे ग्रस्त होते हैं। साधक जानता है कि उसमें अमुक दोष है, फिर भी उसे छोड़ने के लिए तत्पर नहीं होता, यह उसका प्रमाद है। यह ज्ञात है कि आसक्ति बुरी है, संसार में फंसाने एवं अटकाने वाली है, फिर भी हम आसक्ति का त्याग न करें तो यह प्रमाद है। यह ज्ञात है कि संसार नश्वर है, शरीर नश्वर है, सब अकेले आए हैं और अकेले जायेंगे, फिर भी उनके प्रति आसक्ति करें तो प्रमाद ही कहा जायेगा। यह ज्ञात है कि संसार में सभी प्राणी सुख चाहते हैं, कोई भी दुःख नहीं चाहता। फिर भी हम दूसरों को दुःखी करने का प्रयत्न करें तो यह हमारा प्रमाद ही है। कोई यह समझे कि धन मनुष्य को त्राण देने वाला है, तो यह उसकी भूल है। प्रमादी व्यक्ति को सावधान करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र कहता है-"**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।**"[8] धन से भी कोई पूर्णतः रक्षित नहीं होता। इसीलिए मेघकुमार

और शालिभद्र जैसे राजकुमार एवं सेठ भी प्रव्रज्या के पथ पर चल पड़े। आज व्यक्ति धन से अपने त्राण की आशा करता है, यह उसकी भूल है। धन आत्मगुणों का रक्षक नहीं हो सकता। उसको यहाँ ही छोड़कर जाना होता है। यह सच है कि समय आने पर सबको जाना ही पड़ता है। मृत्यु का आना निश्चित है, उससे कोई नहीं बच सकता। फिर भी प्रमाद के कारण व्यक्ति सावधान नहीं होता। वह संसार से चिपके रहना चाहता है। अपने सुख की पूर्ति न होने पर दूसरों को कोसता है तथा अपने दुःख का कारण दूसरों में ढूंढता है। यह ज्ञानी का प्रमाद है।

ज्ञानी जब प्रमत्त होता है तो वह अपने मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा, प्रशंसा-स्तव आदि के जाल में उलझ जाता है।[9] उसे सबसे प्यारा अपना नाम लगता है। उस नाम के कारण संयम की आराधना निर्दोष नहीं रह पाती। अथवा कहें कि आत्म-शुद्धि एवं आत्मोन्नयन के लक्ष्य से साधक भटक जाता है। उसे आचारांग सूत्र सावधान करता है कि साधक को बाह्य आकर्षणों में न उलझकर आत्म-शोधन के मार्ग को प्राथमिकता देनी चाहिए। प्रमादी व्यक्ति में जब ज्ञान भी होता है तो वह बाहर में अपना आचरण अच्छा रखने का प्रयास करता है, किन्तु भीतर में दोष करता रहता है। वह अकरणीय कार्य करते हुए मन में सोचता है-कोई मुझे देख न ले।[10] यह ऐसी स्थिति है जिसमें साधक भीतर एवं बाहर में एक नहीं होता। वह माया के फंदे में उलझ जाता है। आचारांग सूत्र कहता है कि मायी एवं प्रमादी व्यक्ति जन्म-मरण करता रहता है, वह दुःख की कारा को नहीं काट पाता।[11] उसमें ईर्ष्या-द्वेष, राग-लोभ आदि की जड़ें सिंचित होती रहती हैं। जो अप्रमत्त होता है वह दुःख की इन जड़ों को काटने हेतु सदैव तत्पर रहता हैं एवं एक दिन इन्हें पूर्णतः दग्ध करने में समर्थ हो जाता है।

हिंसा का दोष तभी लगता है जब उसके पीछे प्रमाद की भावभूमि हो। वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का लक्षण देते हुए कहा है-"**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**"।[12] अर्थात् प्रमत्तयोगपूर्वक प्राणों की हानि करना हिंसा है। यदि प्रमाद न हो और सावधानी रखते हुए भी किसी प्राणी के प्राण चले जायें तो हिंसा का दोष नहीं लगता है। वह कर्मबंधन का हेतु नहीं होता है। प्रमाद कर्मबंधन का हेतु है। इसलिए सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है-"**पमायं कम्ममाहंसु**"[13]। केवल

हिंसा के दोष की बात नहीं है, सारे दोष प्रमाद की भावभूमि में ही सक्रिय होते हैं। प्रमाद के कारण ही व्यक्ति अपने मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोष या कर्म करता है।

अप्रमाद का स्वरूप एवं महत्त्व

दुःख-मुक्ति के लिए प्रमाद का त्याग अनिवार्य है । दृष्टि सम्यक् हो जाने के पश्चात् भी प्रमाद पीछा नहीं छोड़ता । विषयों से विरक्ति हो जाने के पश्चात् भी प्रमाद गलियां बनाकर आ घेरता है । वह सजग व्यक्ति से ही भय खाता है । अन्यथा वह व्यक्ति को भयभीत बनाये रखता है । आचारांग स्पष्ट रूप से निरूपण करता है कि जो प्रमत्त है उसे भय है तथा जो अप्रमत्त जीवन जीता है उसे किसी प्रकार का भय नहीं है-"**सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।**"[14] इसलिए आचारांगसूत्र प्रेरित करता है-उठो! प्रमाद मत करो-"**उट्ठिते णो पमादए।**"[15]

अप्रमत्तता के स्वरूप पर विचार करें तो समझ में आता है कि यह हमें निर्दोष बनाने की महत्त्वपूर्ण साधना है। मुझ पर किसी प्रकार का दोष हावी न हो, मैं दोषयुक्त न बनूँ, इस प्रकार की सावधानी अप्रमत्तता है । इसे जागरूकता भी कहा जा सकता है । ऐसा साधक आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होता एवं कषायों में आबद्ध नहीं होता। प्रमाद आता है तो साधक की सजगता से वह पलायन कर जाता है। सजगता और प्रमाद एक दूसरे के विरोधी हैं। दोनों साथ नहीं रह सकते। इसलिए प्रमाद को दूर भगाने के लिए सजग होना आवश्यक है। सजगता में ध्यान-साधना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। साधक अपने लक्ष्य के प्रति निरन्तर सजग रहता है । इसमें जरा भी चूक होती है तो उसे प्रमाद कहा जाता है । यह प्रमाद ही है जो व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान होने पर भी उसका आचरण नहीं करने देता है।

हमारा विवेक जागृत रहे, विवेक अविवेक में परिणत न हो जाय, इसकी सावधानी आवश्यक है । अप्रमाद विवेक की महिमा को बढ़ाता है-"**एवं से अप्पमादेण विवेगं किट्टिति वेदवी।**"[16] प्रमत्त व्यक्ति आत्मलक्ष्य से भटके हुए होते हैं । कुछ को आत्मलक्ष्य का बोध होता है तो कुछ को नहीं । आत्मलक्ष्य का बोध नहीं होना अत्यन्त बुरी स्थिति है । हम में से अधिकांश लोग इस बुरी स्थिति में जी

रहे हैं। यह घोर प्रमाद की अवस्था है। थोड़ा भी बोध होने लगे तो प्रमाद से ऊपर उठकर जीना सीखना है। जब जीवन में प्रमाद रहता है तो दोष सुरक्षित बने रहते हैं।

दोषों को हटाने के लिए जागरूकता आवश्यक है। सच्चे मुनि सदा जागरूक रहते हैं और अमुनि सदा सोये रहते हैं- "**सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति।**"[17] **यह जागरूकता प्रतिपल आवश्यक है।** एक साधु जब जागरूक होता है तो वह **सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में होता है** तथा वहाँ से आगे के गुणस्थानों में भी बढ़ सकता है। किन्तु वह जागरूक न हो तो छट्ठे प्रमत्त संयत गुणस्थान में ही अटका रहता है। सातवें गुणस्थान का जीव यदि गुणश्रेणी करता है तो वह अप्रमत्त होता है। यह गुणश्रेणी आत्मविकास की सूचक है। वीतरागता एवं केवलज्ञान की अवस्था क्षपकश्रेणी से प्राप्त होती है। साधक अन्तर्मुहूर्त में ही कर्मों के कलिमल को धो डालता है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले मोह कर्म का क्षय होता है। मोहकर्म सब कर्मों का मूल है। यह कर्म ज्ञान एवं दर्शन को भी पूर्णतः प्रकट नहीं होने देता। ज्ञान के पूर्ण प्रकटीकरण के लिए मोह का क्षय आवश्यक है। दुःख से मुक्ति भी इसी के क्षय से होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु महावीर गणधर गौतम को सावधान करते हुए कहते हैं-"**समयं गोयम ! मा पमायए !**"[18] हे गौतम! तुम समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। आचारांग में भी कहा है "**धीरे मुहुत्तमवि णो पमादए**"[19] धीर पुरुष अपने अन्तर स्वरूप को जानने हेतु क्षणभर भी प्रमाद न करे। जानने के पश्चात् तदनुरूप जीवन जीने में प्रमाद न करे। आचारांग सूत्र में बार-बार प्रमाद के त्याग एवं अप्रमाद के आचरण की प्रेरणा की गई है। प्रमत्त व्यक्ति बाहर भटकता रहता है। वह सत्य, शान्ति एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए कहा है- "**अप्पमत्तो परिव्वए।**"[20]

अप्रमत्तता क्यों?

प्रमाद नहीं करने के अनेक हेतु हैं। उसका एक हेतु यह है कि यह जीवन नश्वर है। सही समझ के साथ इस जीवन का सदुपयोग कर लेना चाहिए तथा इसमें समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। मनुष्य श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना,

स्पर्शन आदि इन्द्रियों से अशक्तता का अनुभव करने पर भी नहीं चेतता, यह उसकी भूल है। वय बीतती जाती है, यौवन भी बीत जाता है-"**वओ अच्चेति जोव्वणं च।**"[21] कोई यह माने कि मृत्यु मेरी नहीं दूसरों की ही होती रहेगी तो यह उसकी भूल अथवा प्रमाद है। ऐसे व्यक्ति को सावधान करते हुए आचारांग में कहा गया है- "**णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि।**"[22] मृत्यु नहीं आयेगी, ऐसा नहीं है । वह एक दिन अवश्य आएगी, अतः आँख मूँदकर उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं। निर्भय बनने के लिए, परम सुख को प्राप्त करने के लिए, संसार के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाने के लिए भी प्रमाद का त्याग अनिवार्य है। प्रमाद एक प्रकार की बाधा है, जिसे सजगता से दूर किया जाना आवश्यक है। दोष रहित होने के लिए भी अप्रमत्तता उपयोगी है।

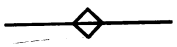
अप्रमत्त कौन?

अप्रमत्त वही हो सकता है जिसकी दृष्टि सत्य पर हो । सत्य को जानने और उसका आचरण करने के प्रति तत्पर व्यक्ति ही अप्रमत्त जीवन जी सकता है। इसलिये आचारांगसूत्र में बार-बार सत्य को जानने के लिए प्रेरित किया गया है- "**सच्चंमि धितिं कुव्वह। एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेति।**"[23] हे साधक! सत्य में धैर्य रखो । जो सत्यनिष्ठ होता है वह मेधावी पुरुष समस्त पाप कर्मो का क्षय कर देता है। आचारांग में ही कहा गया है-"**पुरिसा। सच्चमेव समभिजाणाहि! सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेधावी मारं तरति।**"[24] हे पुरुषों! सत्य को जानो। जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित होता है वह मेधावी मृत्यु को तैर जाता है। जो सत्यनिष्ठ होता है वह दूसरों का निग्रह करने की अपेक्षा स्वयं का निग्रह करता है और स्वयं का निग्रह करने वाला साधक दुःख से मुक्त हो सकता है।

सत्यनिष्ठ ज्ञानी साधक कभी प्रमाद नहीं करता। वह सर्वोच्च लक्ष्य के प्रति सजग रहता है- "**अणण्ण परमं णाणी णो पमादे कयाइ वि। आयगुत्ते सदा वीरे जायामायाए जावए।**"[25] अपने सर्वोच्च आत्म-लक्ष्य के प्रति सजग रहने वाला साधक आत्मनिग्रही होता है तथा अपनी संयम यात्रा का निर्वाह आत्मगुप्त होकर करता है। वह दूसरों से युद्ध करने की अपेक्षा स्वयं पर विजय प्राप्त करने के लिए सजग रहता है।

सन्दर्भः-

1. आचारांगसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 2010, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 2, उद्देशक 1, सूत्र 63
2. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 2.1.63
3. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 2.1.66
4. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 2.1.68
5. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.1.108
6. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 2.5.94
7. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 5.1.151
8. उत्तराध्ययनसूत्र, 4.5
9. दुहतो जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जंसि एगे पमादेंति-आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.3.127
10. 'मा मे केइ अदक्खु' अण्णाण पमाददोसेणं-आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध 5.1.151
11. मायी-पमायी पुणरेति गब्भं।-आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.1.108
12. तत्त्वार्थसूत्र, 7.8
13. सूत्रकृतांग सूत्र, 1.8.3
14. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.4.129
15. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 5.2.152
16. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 5.4.163
17. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.1.106
18. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन, 10
19. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 2.1.65
20. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 5.2.156
21. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 2.1.65
22. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 4.2.134
23. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.2.117
24. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.3.127
25. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 3.3.123



अहिंसा का समाज दर्शन

अहिंसा दो स्वरूपों में प्राप्त होती है- 1. हिंसा के निषेध रूप में, 2. दया, करुणा, अनुकम्पा आदि के सकारात्मक रूप में। इन्हें अहिंसा के दो पक्ष भी कहा जा सकता है। इनमें द्वितीय पक्ष तो समाज-दर्शन से सीधा सम्बद्ध है तथा प्रथम पक्ष प्राणियों की रक्षा के रूप में समाज-दर्शन का अंग बनता है। अहिंसा की आध्यात्मिक दृष्टि भी है तो सामाजिक दृष्टि भी। हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ संवर का कारण है वहाँ सामाजिक दृष्टि से उसका प्रभाव प्राणि-रक्षण के रूप में समस्त प्राणियों को प्राप्त होता है। प्राणिजगत् के सह-अस्तित्व, पर्यावरण-संरक्षण, शान्ति और सामाजिक सौहार्द के लिए अहिंसा अमृत की भांति उपादेय है। 'सव्वेसिं जीवितं पियं'- सभी जीवों को जीवन प्रिय है- यह सूत्र जहाँ अहिंसा के समाजदर्शन का आधार है, तो 'आयतुले पयासु'- सब जीवों को अपने समान समझें, 'मित्तिं भूएसु कप्प' सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखें, 'दयामूलो भवेद् धर्मो' धर्म दयामूलक होता है- आदि वाक्य अहिंसा के समाजदर्शन को पुष्ट करते हैं।

समाजदर्शन का आधार : संवेदनशीलता एवं जीवनप्रियता

अहिंसा का जितना सूक्ष्म और विशद विवेचन जैनदर्शन में हुआ है, उतना अन्य किसी दर्शन में दिखाई नहीं देता। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के स्थावर एकेन्द्रिय जीवों तथा त्रसकाय के द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा न करने, न कराने तथा अनुमोदन न करने का विवेचन जैनदर्शन की अनूठी विशेषता है। पृथ्वीकायिक आदि जीवों का रक्षण अहिंसा के समाजदर्शन को खड़ा करता है। पृथ्वी एवं जल का उपयोग यदि सीमित नहीं हुआ तो मनुष्य की भावी पीढ़ियों का जीवन सुरक्षित नहीं रह सकेगा। मनुष्य समाज ही नहीं समस्त प्राणिजगत् पृथ्वी एवं जल पर टिके हुए हैं। वायु भी सबके जीवन का आधार है, उसका रक्षण मानव का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

आचारांगसूत्र में विश्व के समस्त जीवों की रक्षा को दृष्टि में रखकर कहा गया है- **सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीवितुकामा।-आचारांगसूत्र, 1.2.3**

अर्थात् सभी प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल लगता है तथा दुःख प्रतिकूल लगता है। सभी प्राणियों को वध अप्रिय है, सबको जीवन प्रिय है, सब जीना चाहते हैं। भगवान् महावीर के ये वचन अहिंसा को सामाजिक एवं मानवीय रूप प्रदान करते हैं। यह अहिंसा प्राणिमात्र से जुड़ी हुई है। यही अहिंसा के समाज-दर्शन का मूल है।

सूत्रकृतांगसूत्र (2.1 सूत्र 679) में भी आचारांगसूत्र की अनुगूंज है। वहाँ मनुष्य को प्राणिमात्र के प्रति संवेदनशील बनाने हेतु कहा है-"जिस प्रकार मुझे डंडे से, मुट्ठि से, अस्थि से, ढेले से अथवा कपाल से कोई चोट पहुँचाता है, तर्जना देता है, पीटता है, परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है, विनाश करता है अथवा एक रोम भी उखाड़ता है तो मुझे हिंसाकारी दुःख एवं भय की वेदना (अनुभूति) होती है। इसी प्रकार समस्त जीवों को जानो। समस्त जीव, भूत, प्राण एवं सत्त्व को डंडे आदि किसी भी साधन से पीड़ा पहुँचाने, मारने, पीटने, परिताप देने, खिन्न करने, रोम उखाड़ने आदि से उसे दुःख एवं भय का वेदन होता है। इसलिए यह जानकर किसी भी प्राणी को नहीं मारना, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, अपने अधीन नहीं बनाना चाहिए, परिताप नहीं देना चाहिए तथा पीड़ित नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार सूत्रकृतांग में निरूपित अहिंसा का यह दर्शन प्राणी को दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशील बनाता है। दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशील होकर ही उनके प्रति की जा रही हिंसा से बचा जा सकता है।

समाज में व्यापक स्तर पर योजनाबद्ध तरीके से जो हिंसा हो रही है, चाहे वह हिंसा आतंकवाद के रूप में हो, शोषण के रूप में हो अथवा किसी अन्य रूप में हो; उस हिंसा को रोकने के लिए आवश्यक है दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशीलता का विकास। जिस प्रकार प्रताड़ित किए जाने, मारे जाने पर, कष्ट दिए जाने पर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है, जब तक मनुष्य में यह भावना नहीं आयेगी तब तक अहिंसा का सामाजिक पक्ष पुष्ट नहीं हो सकता। मुझे जिस प्रकार जीवन प्यारा है उसी प्रकार अन्य प्राणी भी जीना चाहते हैं। **'सव्वेसिं जीवितं पियं'** आचारांग का यह वाक्य अपने समान अन्य प्राणियों को

समझकर उनके दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील होने का पाठ पढ़ाता है। जानबूझकर निर्दोष प्राणियों को कष्ट पहुँचाना प्रत्येक मनुष्य के लिए त्याज्य है।

अहिंसा की आध्यात्मिक एवं सामाजिक दृष्टि

हिंसा को कर्मबन्धन का कारण मानकर हिंसा न करना अहिंसा की आध्यात्मिक दृष्टि है तथा किसी भी प्राणी को हिंसा प्रिय नहीं, यह मानकर हिंसा न करना अहिंसा की सामाजिक दृष्टि है। इस तरह व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से हिंसा त्याज्य है। हिंसा-त्याग के ये दोनों रूप परस्पर पूरक भी हैं। बाह्य हिंसा जितनी त्याज्य है, उतनी भीतर में होने वाली भावात्मक हिंसा भी त्याज्य है, क्योंकि भावात्मक हिंसा ही बाह्य हिंसा को जन्म देती है। इसी प्रकार बाह्य अर्थात् अन्य प्राणियों की चेतना को अपने समान समझने पर बाह्य हिंसा भी रुकती है एवं भीतर में भी हिंसा के भाव कमजोर पड़ते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि हम बाह्य जगत् के प्राणियों के प्रति असंवेदनशील होकर अहिंसा की भावात्मक साधना का दावा कर सकें। जिस प्रकार मैं चेतनावान् हूँ, मुझे सुख-दुःख की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अन्य जीव भी चेतनाशील हैं तथा उन्हें भी सुख-दुःख का अनुभव होता है, अतः मैं उनके साथ अप्रिय एवं कटु व्यवहार न करूँ, यह समवेदना सामाजिक स्तर पर मेरी अहिंसा को पुष्ट करती है।

हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ संवर का कारण है वहाँ सामाजिक दृष्टि से उसका प्रभाव प्राणि-रक्षण के रूप में समस्त प्राणियों को प्राप्त होता है। हिंसा से मात्र हिंसक व्यक्ति प्रभावित नहीं होता, अपितु समाज प्रभावित होता है। अहिंसा का प्रभाव भी व्यक्ति एवं समाज, दोनों पर होता है। हिंसा का प्रभाव हमें शीघ्र परिलक्षित हो जाता है, जबकि अहिंसा के प्रभाव का अनुभव प्रेक्षावान् लोग ही कर पाते हैं। जहाँ अहिंसा होती है वहाँ प्राणी परस्पर वैरभाव का त्याग कर देते हैं।

- अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।-योगसूत्र, 2.35

प्रायः यह समझा जाता है कि हिंसा या अहिंसा का फल हिंसक को ही प्राप्त होता है, किन्तु व्यापकदृष्टि से चिन्तन किया जाए तो यह मान्यता उचित नहीं है। हिंसा एवं अहिंसा का दायरा दूसरों तक भी पहुँचता है। आए दिन बम विस्फोट या आतंकी घटनाएँ देश-विदेश में घटित होती रहती हैं। उन घटनाओं में अनेक

निर्दोष बालक, महिलाएँ या पुरुष अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं। यह हिंसा का समाज पर सीधा प्रभाव है, उसे झुठलाया नहीं जा सकता। विश्व में अहिंसा के वातावरण की आवश्यकता का जो अनुभव किया जा रहा है, उसके पीछे एक कारण यह है कि हिंसा पर्यावरण एवं प्राणधारियों की विनाशक होने से विश्व की विनाशक है। हिंसा का प्रभाव दूसरे प्राणियों पर जिस प्रकार परिलक्षित होता है, उसी प्रकार अहिंसा का प्रभाव भी अन्य प्राणियों के प्राणों की रक्षा एवं मैत्री में सहायभूत होता है। अहिंसा से मनुष्य अन्तःशान्ति का अनुभव करने के साथ मानव-समाज एवं प्राणिसमुदाय में भी निर्भयता तथा शान्ति का संचार कर सकता है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि अहिंसा का सामाजिक पक्ष उजागर हो। प्राणिमात्र के जीवन की रक्षा का भाव मन में पैदा हो। यह भाव ही करुणा का द्योतक है, और जहाँ करुणा है वहाँ हिंसा स्वतः विश्राम पा लेती है। वैयक्तिक मुक्ति की प्रक्रिया में अहिंसा साधनभूत है, वहीं प्राणियों के रक्षण एवं उन्हें अभय प्रदान करने में भी उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समस्त विश्व के प्राणिजगत् का अस्तित्व अहिंसा के सामाजिक पक्ष पर टिका हुआ है।

आध्यात्मिक दृष्टि से हिंसा का परिणाम स्वयं को भोगना पड़ता है, अतः हमें हिंसा का संकल्प मात्र भी छोड़ देना चाहिए तथा सामाजिक दृष्टि से प्राणिरक्षण की उच्च भावना से हिंसा का परिहार करना चाहिए।

आयुष्य कर्म और अहिंसा

भारतीय परम्परा में यह विचारधारा प्रचलित है कि प्राणी का आयुष्य कर्म पूर्ण होने पर ही उसकी मृत्यु होती है, किन्तु इस प्रकार की मान्यता अहिंसा के सामाजिक पक्ष पर प्रश्न खड़े करती है। पहला प्रश्न तो यह खड़ा होता है कि हिंसा के कारण क्या प्राणी की मृत्यु नहीं होती? यदि मृत्यु नहीं होती है या आयुष्यकर्म पूर्ण नहीं होता है तो हिंसक कभी दोष का भागी नहीं कहलाएगा। इससे कर्म-व्यवस्था एवं समाज-व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। जैनदर्शन में इसका समाधान अकालमरण की अवधारणा से किया गया है। जिसके अनुसार किसी के द्वारा बांधी गई आयु विभिन्न परिस्थितियों में पहले भी पूर्ण हो सकती है। यदि ऐसा नहीं माना

जाएगा तो हिंसकों को हिंसा करने हेतु प्रोत्साहन मिलेगा एवं वे यह कहेंगे कि हमारा क्या दोष है, सामने वाले प्राणी का आयुष्य कर्म पूर्ण हो गया था, हम तो उसकी मृत्यु में मात्र निमित्त बने हैं। इससे हिंसा करना एक सामान्य बात हो जाएगी, जो दण्ड के योग्य भी नहीं ठहरायी जा सकेगी। इस तरह प्राणियों के प्रति अन्याय की अभिवृद्धि होगी एवं सामाजिक जीवन चरमरा जाएगा। कत्लखानों की बढ़ती संख्या को भी उन प्राणियों के आयुष्य कर्म की पूर्णता की दुहाई देकर उचित ठहराया जा सकेगा। इस प्रकार यह मान्यता धर्मविरोधी एवं प्राणिविरोधी बन जाएगी। अतः हिंसा से हिंसित प्राणी की जीवन-लीला के समाप्त होने को मात्र आयुष्यकर्म की क्षीणता का परिणाम मानना, हिंसा को बढ़ावा देना है। हिंसा के कारण आयुष्यकर्म पहले भी समाप्त हो सकता है।

स्थानांगसूत्र में अकाल मृत्यु के सात कारण गिनाए गए हैं, जो यह प्रमाणित करते हैं कि प्राणी की निर्धारित आयु के पूर्व भी उसकी मृत्यु हो सकती है। वे सात कारण हैं-

अज्झवसाणणिमित्ते, आहारे वेयणपराघाते।
फासे आणापाणे, सत्तविधं भिज्जए आउं।।

-स्थानांगसूत्र, सप्तम स्थान

1. राग-द्वेष के तीव्र अध्यवसायों से, 2. शस्त्र, अस्त्र, बम-विस्फोट, विष आदि के निमित्त से, 3. आहार न मिलने अथवा अत्यधिक आहार करने से, 4. तीव्र वेदना होने से, 5. दूसरों के द्वारा चोट पहुँचाने, आघात पहुँचाने से, 6. विद्युत् धारा के स्पर्श आदि से, 7. श्वास-निःश्वास के अवरोध से आयुष्य का भेदन हो सकता है अर्थात् निर्धारित आयुष्य के पूर्व भी औदारिक शरीरधारियों की देह छूट सकती है। तत्त्वार्थसूत्र (2.52) में भी अपवर्तनीय आयुष्य की चर्चा आई है। वहाँ कहा गया है कि औपपातिक जन्म ग्रहण करने वाले देवों एवं नारकों, चरमशरीरी (उसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले) जीवों, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तम पुरुषों, असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों, तिर्यंचों को छोड़कर शेष सभी जीवों का आयुष्य अपवर्त्य होता है। अपवर्त्य का तात्पर्य है कि उस आयुष्य को समय से पहले भी भोग कर पूर्ण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में इसे अकालमरण कहा

जाता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के हम जैसे सभी औदारिक शरीरधारी जीवों का अकालमरण सम्भव है, अतः जहर खाकर या रेल की पटरी के आगे कूदकर आयुष्य कर्म की परीक्षा नहीं करनी चाहिए तथा कत्लखानों में निरन्तर मारे जा रहे पशुओं को बचाने हेतु प्रयत्न करना चाहिए। हिंसा को रोकने की बात तभी सम्भव है जब हम अकालमरण की अवधारणा को स्वीकार करके चलें।

क्षेमंकरी अहिंसा

सहजीवन, सहअस्तित्व एवं विश्वशान्ति के लिए अहिंसा को सामाजिक आन्दोलन के रूप में स्वीकार करना होगा। पेड़-पौधों की रक्षा का प्रश्न हो या जंगली जानवरों के संरक्षण का सवाल, सब जगह अहिंसा को अपनाना होगा। अहिंसा के अभाव में हमारा जीवन भी संदिग्ध बन जाता है। पर्यावरण की शुद्धि की बात हो या पृथ्वी को बचाने की, सर्वत्र अहिंसा भगवती कल्याण-कारिणी है। अहिंसा का यह सार्वजनिक अभियान किसी प्राणी के लिए लाभकारी होगा, अन्य के लिए नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। अहिंसा सबको निर्भयता, स्वतन्त्रता एवं जीवन प्रदान करती है। इसीलिए 'प्रश्न-व्याकरणसूत्र' में कहा गया है-**अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमंकरी।**

अहिंसा त्रस एवं स्थावर समस्त प्राणियों का क्षेम करने वाली होती है। वह एक का नहीं समस्त प्राणियों का कल्याण करती है। वह अहिंसक का तो कल्याण करती ही है, किन्तु उसके सम्पर्क में आने वालों का भी उससे कल्याण होता है। ऋषियों के आश्रम में वैर-विरोध त्याग कर समस्त प्राणी एक साथ बैठते थे, यह संस्कृत साहित्य में भूरिशः उल्लेख है। तीर्थंकरों के समवसरण में भी निर्भय होकर विरोधी प्राणी एक साथ बैठकर उपदेश श्रवण करते थे। इसीलिए कहा गया - **भगवती अहिंसा भीयाणं विव सरणं।(प्रश्नव्याकरण, 2.1)** भगवती अहिंसा भीत प्राणियों की शरण प्रदात्री है।

जिस प्रकार हिंसा में स्व एवं पर दोनों का अहित विद्यमान है, उसी प्रकार अहिंसा में स्व एवं पर दोनों का हित निहित है।

अहिंसा में सहायक है यतना

जैनदर्शन में यह निर्देश है कि जो भी कार्य करो उसे यतनापूर्वक करो,

विवेकयुक्त होकर करो। बालक को सही मार्ग पर लाने के लिए यदि डांटना पड़े तो यतनापूर्वक डांटो। चलना, बोलना, खाना आदि सभी क्रियाएँ यतनापूर्वक की जानी चाहिए।

अहिंसा की स्थापना के लिए करुणा भाव एवं संवेदनशीलता की आवश्यकता है, किन्तु साथ ही प्रमाद एवं अयतना का त्याग भी आवश्यक है। बिना विवेक एवं यतना के संवेदनशीलता का दुरुपयोग भी संभव है। विश्वहित या समाजहित में सोचा जाय तो अपने क्षुद्र स्वार्थ या सुख की पूर्ति के लिए निरपराध प्राणियों का जीवन ले लेना नितांत घृणित है। निष्करुण प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता। जो दूसरों के दुःख को अपने दुःखों के सदृश समझता है वही दयार्द्र होकर दूसरे के दुःख को हलका करने में, उसे सान्त्वना देने में समर्थ हो पाता है।

जीवों की परस्पर उपकारकता

सामाजिक-जीवन एक दूसरे प्राणियों के सहयोग से चलता है। माता यदि शिशु को दूध न पिलाकर प्रताड़ित करे तो उसका शिशु पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। वही माता शिशु को समय पर दूध पिलाए एवं प्यार दे तो वह शिशु के लिए जीवनदायिनी सिद्ध होती है। करुणा एवं प्यार, सेवा एवं मैत्री से अहिंसक समाज का निर्माण होता है तो आतंक, भय एवं हिंसा से हिंसक तथा अशान्त समाज का निर्माण होता है।

'**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' सूत्र इस रहस्य का निरूपण करता है कि जीव परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते हैं। माता अपने पुत्र पर उपकार कर उसका लालन-पालन करती है। पुत्र भी माता-पिता का सहयोग करता है। परस्पर सहयोग से ही बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न हो पाते हैं। स्वामी-भृत्य, गुरु-शिष्य आदि एक दूसरे के उपकारक हैं। यह उपकार अहिंसा, मैत्री एवं करुणा के साथ ही सम्भव है।

'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में तीन प्रकार के हिंसकों का संकेत किया गया है- **कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति**। अर्थात् या तो जीव क्रोध के कारण हिंसा करते हैं, या लोभ के वशीभूत होकर हिंसा करते हैं, या फिर वे अज्ञानतावश हिंसा करते हैं। कभी वे सप्रयोजन हिंसा करते हैं तो कभी निष्प्रयोजन हिंसा करते हैं। हिंसा के

ये जो कारण हैं उनका त्याग तभी हो सकता है जब हमें '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' का बोध हो जाए। अपने समान अन्य प्राणियों को भी जीवन प्रिय है, यह अहिंसा का पाठ समझ में आ जाय।

प्राणातिपात शब्द की सार्थकता एवं प्राणियों में भेद

हिंसा के अर्थ में आगमों में 'प्राणातिपात' शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः आत्मा का हनन नहीं होता है, वह तो शाश्वत है, किन्तु आत्मा या जीव जिन प्राणों को धारण करता है, उनका अतिपात या हनन होता है। प्रत्येक संसारी जीव प्राणधारण करके ही जीवन जीता है। प्राणधारण करने के कारण उसे प्राणी कहा जाता है। प्राणधारण करने की अपेक्षा जीवों में भिन्नता पायी जाती है। पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव जहाँ स्पर्शनेन्द्रिय बलप्राण, कायबल प्राण, आयुष्य बल प्राण एवं श्वासोच्छ्वास बल प्राण- इन चार प्राणों का धारक होता है, वहाँ लट, केंचुआ आदि द्वीन्द्रिय जीव इनके साथ रसनेन्द्रिय बल प्राण एवं वचनबल बल प्राण सहित छह प्राणों को धारण करता है। चींटी, जूं आदि त्रीन्द्रिय जीव घ्राणेन्द्रिय प्राण के साथ सात प्राणों का धारक होता है। मक्खी, मच्छर आदि चतुरिन्द्रिय जीव चक्षुरिन्द्रिय सहित आठ प्राणों का स्वामी होता है। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं- मन वाले संज्ञीजीव तथा मन रहित असंज्ञी जीव। इनमें असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव श्रोत्रेन्द्रिय सहित नौ प्राणों का धारक होता है तथा पशु, पक्षी, मनुष्य आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मनोबल सहित दस प्राणों को धारण करते हैं । इस प्रकार प्राणों के धारण करने की अपेक्षा इन जीवो में भिन्नता पायी जाती है । अतः एकेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा को सामाजिक दृष्टि से समान नहीं कहा जा सकता। अतः एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की, द्वीन्द्रिय की अपेक्षा त्रीन्द्रिय की, त्रीन्द्रिय की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय की एवं चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा असंज्ञी पंचेन्द्रिय की तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा संज्ञी पंचेन्द्रिय की रक्षा अधिक महत्त्व रखती है। एक मनुष्य को जीने के लिए जल, वायु, वनस्पति एवं अग्नि की आवश्यकता होती है। यदि मनुष्य के जीव एवं एकेन्द्रिय के जीव को प्राणों की अपेक्षा भी समान मान लिया जाए तो मनुष्य के द्वारा इनका सेवन न्यायोचित नहीं ठहरेगा, किन्तु मनुष्य इनकी व्यर्थ हिंसा से बचने का प्रयत्न करे यह आवश्यक है। सभी प्राणी रक्षणीय होते हुए

भी इनमें प्राणधारण के विकास की अपेक्षा भेद समझना होगा, अतः द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को मांसाहार की श्रेणि में रखकर उनकी हिंसा को वनस्पति (शाकाहार) की अपेक्षा अधिक त्याज्य बताया गया है। इसलिए कोई मनुष्य के प्राण बचाने की अपेक्षा जल के प्राणों की चिन्ता करे तो यह अविवेक ही कहा जाएगा। दूसरी बात यह है कि मनुष्य के शरीर के आश्रित अनेक जीव रहते हैं। मनुष्य की हिंसा के साथ उन जीवों की भी हिंसा हो जाती है। विज्ञान की दृष्टि से कहें तो मनुष्य का शरीर असंख्य कोशिकाओं से निर्मित है, जबकि वनस्पति आदि में इतनी कोशिकाएं नहीं होती।

कतिपय विचारक दान, सेवा, परोपकार आदि पुण्य कार्यों का निषेध इसलिए करते हैं कि इन कार्यों में प्राणियों की हिंसा होती है। उनका यह चिन्तन मानवता के विरुद्ध है। उन्हें यह बात समझ लेनी चाहिए कि अप्काय के जीव की अपेक्षा पंचेन्द्रिय मनुष्य का जीवन प्राणों एवं इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विकसित है। इसलिए अप्काय के असंख्य जीवों की हिंसा से भी अधिक पाप एक मनुष्य को मारने में है। शाकाहार के सम्बन्ध में भी यही तर्क है। वनस्पति के असंख्य जीवों की अपेक्षा एक पशु एवं मनुष्य का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यों में भी जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के विकास की दृष्टि से अग्रणी हैं, वे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य एवं पशुओं से ऋषि की चेतना अधिक विकसित होती है। अतः अन्य प्राणियों की अपेक्षा ऋषि के हनन में अधिक पाप माना गया है- **एगं इसिं हणमाणे अणंते जीव हणइ।(भगवतीसूत्र 9.34)** अर्थात् एक ऋषि को मारने वाला अनन्त जीवों को मारता है, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि अप्काय, वनस्पतिकाय आदि के एकेन्द्रिय जीवों की हम निष्प्रयोजन हिंसा करते रहें। इसका प्रयोजन इतना ही है कि हम चेतना के स्तर को पहचान कर हिंसा से बचें तथा जहाँ तक सम्भव हो हिंसा का अल्पीकरण करते हुए अहिंसा का निरवद्य रूप सुरक्षित रखें। प्राणों की अपेक्षा, चेतना के विकास की अपेक्षा तथा मनुष्य समाज में उपयोगिता की अपेक्षा से भी प्राणियों के रक्षण में भेद सम्भव है।

भावों के स्तर पर हिंसा न हो, अहिंसा के इस विशुद्ध रूप की स्थापना एवं संवर्धन के लिए दया, करुणा, अनुकम्पा, दान, सहानुभूति आदि सकारात्मक भावों

के विकास की आवश्यकता है। ये सकारात्मक भाव हिंसा को तो रोकते ही हैं, अन्य प्राणियों के प्रति मैत्री, सहयोग एवं सौहार्द के भावों का भी विकास करते हैं।

आत्मवद्भाव एवं मैत्रीभाव

भगवान महावीर ने अहिंसा का उपदेश प्राणिमात्र की चेतना से जुड़कर किया। उनके उपदेशों में सभी प्राणियों के प्रति करुणा एवं आत्मीयता का स्रोत फूट पड़ा है। उन्होंने सभी जीवों के प्रति आत्मवद्भाव या आत्मतुला का सिद्धान्त दिया- **आयतुले पयासु** (**सूत्रकृतांग 1.10.3**), अपने समान दूसरों को देखो। **आत्तओ पासइ सव्वलोए**(**सूत्रकृतांग 1.12.15**)अपने समान सर्वलोक को देखता है।

आचारांग चूर्णि में कहा गया है-**जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं** (**आचारांग चूर्णि 1.1.6**) जिस प्रकार मुझे सुख इष्ट एवं दुःख अनिष्ट है, उसी प्रकार सब जीवों को सुख इष्ट एवं दुःख अनिष्ट होता है। भगवान ने जीवमात्र के प्रति मैत्री का उपदेश दिया-''**मित्तिं भूएसु कप्पए।**''(**उत्तराध्ययन-सूत्र, 6.2**)

मैत्री एवं कारुण्य भावनाएँ अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- **मैत्री-प्रमोद-कारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु ।-(तत्त्वार्थसूत्र, 7.11)**

समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव होना चाहिए। '**मित्ती मे सव्वभूएसु**' (**आवश्यकसूत्र**) पंक्ति में भी यही बात कही गई है। मैत्री हमें तो निर्मल बनाती ही है, किन्तु दूसरों के प्रति अहिंसक आचरण की प्रेरणा भी देती है। इसीलिए उसे अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक माना गया है। दीन-दुःखियों के प्रति अथवा कष्ट पा रहे जीवों के प्रति करुणा भाव हो, यह भी संदेश इस सूत्र से मिलता है। गुणीजनों के प्रति प्रमोद एवं अविनीतों के प्रति समता का भाव भी अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक है।

सकारात्मक अहिंसा

हिंसा-निषेध के साथ आगम वाङ्मय में अहिंसा का सकारात्मक स्वरूप भी उजागर हुआ है, जो अहिंसा के समाजदर्शन को पुष्ट करता है। आगम वाङ्मय में सकारात्मक अहिंसा के द्योतक विभिन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं, यथा- दया, करुणा,

अनुकम्पा, वैयावृत्त्य, दान, मैत्री, वात्सल्य आदि। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा के 60 पर्यायवाची नाम उपलब्ध हैं, जिनमें अधिकांश शब्द अहिंसा के सकारात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। उनमें 'दया' एवं 'रक्षा' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जो प्राणिमात्र के प्रति अहिंसात्मक सहयोग को ध्वनित करते हैं। निवृत्ति, समाधि, शान्ति, प्रीति (रति), तृप्ति, क्षान्ति, धृति, विशुद्धि, कल्याण, प्रमोद, मंगल आदि शब्द भी उसके सकारात्मक स्वरूप को ही इंगित करते हैं। जैन वाङ्मय में धर्म को दयामूलक प्रतिपादित किया गया है- **दयामूलो भवेद् धर्मो।** (**आदिपुराण 5.21**), **धम्मो दयाविसुद्धो** (**बोधपाहुड 25**)। दान को धर्म का एक भेद बताया गया है। (सप्ततिस्थानप्रकरण गाथा 96) अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण निरूपित किया गया है-'**तदेवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थ- श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**(**सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र 1.2**)। वात्सल्य को सम्यग्दर्शन के अंग के रूप में स्थान दिया गया है। जग के समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव '**मित्ती मे सव्वभूएसु**' (**आवश्यकसूत्र**) को आत्मविशुद्धि एवं निर्भयता का हेतु प्रतिपादित किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में क्षमा की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि क्षमाभाव से प्रह्लाद भाव उत्पन्न होता है तथा प्रह्लादभाव प्राप्त होने पर समस्त प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न होता है। मैत्रीभाव प्राप्त होने पर जीव भावविशुद्धि करके निर्भय बन जाता है। (उत्तराध्ययन 29.17)। वैयावृत्त्य से कर्म-निर्जरा (स्थानांग 5.1) एवं तीर्थंकर नामगोत्र के उपार्जन (उत्तराध्ययन 29.43) का कथन 'वैयावृत्त्य' की महत्ता को स्पष्ट करता है। वैयावृत्त्य का ही व्यापक रूप आज 'सेवा' है। सेवा का भाव सेवक एवं सेव्य दोनों का उपकार करता है। इस प्रकार जैन वाङ्मय में सकारात्मक अहिंसा का स्वरूप समाजहित को स्पष्ट करता है।

निष्कर्ष यह है कि आचारांग, सूत्रकृतांग आदि सूत्रों में जो अहिंसा का निरूपण हुआ है उसका मात्र वैयक्तिक पक्ष नहीं है, अपितु उसका एक सामाजिक पक्ष भी है जो प्राणि-रक्षण के लिए हमें बार-बार प्रेरित करता है। अहिंसा का एक समाज-दर्शन भी है जो हमें दूसरे जीवों के प्रति संवेदनशील बनाकर करुणा एवं मैत्री का संदेश देता है। हिंसा समाज के लिए शत्रु है तो अहिंसा उसके लिए परम

मित्र। हिंसा प्राणि-समाज के लिए घातक है तो अहिंसा उसके लिए जीवनदायिनी है। हम यह सोचें कि जिस प्रकार दूसरों के द्वारा की गई हिंसा हमें अप्रिय लगती है उसी प्रकार अन्य जीवों को भी लगती है, अतः उसे छोड़ दें। आज विश्व शान्ति एवं सामाजिक बन्धुभाव के लिए हिंसा के ज़हर को उतारकर अहिंसा का अमृत पीने व पिलाने की आवश्यकता है।

प्राणिजगत् के सहअस्तित्व, पर्यावरण-संरक्षण, शांति और पारस्परिक सौहार्द के लिए अहिंसा अत्यन्त आवश्यक है। अहिंसा के बिना परिवार और समाज की परिकल्पना नहीं की जा सकती। हिंसा जहाँ वैर को उत्पन्न करती है और उसे निरन्तर बढ़ाती है वहाँ अहिंसा परस्पर मैत्री और सहयोग की भावना को पुष्ट करती है, जिससे समाज में सामंजस्य स्थापित होता है।



आचारांगसूत्र में अहिंसा

आचारांग में प्रतिपादित अहिंसा मनुष्य की चेतना को संवेदनशील, जागरूक, आत्मवद्भाव से ओतप्रोत, ज्ञानसम्पन्न एवं अप्रमत्त बनाती है। आचारांगसूत्र में अहिंसा का जितना आधारभूत एवं मानव की चेतना से जुड़कर निरूपण हुआ है, उत्तरकालीन जैन ग्रन्थों में उसी का विस्तार प्राप्त होता है। अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में आचारांग न केवल जैनों का ग्रन्थ है, अपितु यह विश्व का एक अनमोल ग्रन्थरत्न है, जिसमें अहिंसा की प्रतिष्ठा मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक पक्षों को आधार बनाकर की गई है। जैनागम आचारांगसूत्र दो श्रुतस्कन्धों में निबद्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं, तथा द्वितीय श्रुत स्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा एवं विषय प्रतिपादन की दृष्टि से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में साधना के विभिन्न सूत्र उपलब्ध हैं। यह आगम दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक रीति से मनुष्य को बोध प्रदान करता है तथा उसे हिंसा, आसक्ति, परिग्रह, प्रमाद एवं क्रोधादि दोषों से रहित होने के लिए प्रेरणा करने के साथ उनके त्याग हेतु मार्ग भी प्रशस्त करता है। आचारांग में सत्य को जानने, समझने एवं उसको आचरण में लाने की महती प्रेरणा की गई है। अहिंसा का शाश्वत सन्देश भी इसमें मुखर हुआ है।

महावीर की अहिंसा के हमें पाँच लक्ष्य दृग्गोचर होते हैं- 1. आत्मशुद्धि, 2. प्राणिरक्षण, 3. पर्यावरण संरक्षण , 4. उन्नत समाज एवं 5. विश्व शान्ति। आचारांग में हमें इन पाँचों लक्ष्यों की पूर्ति हेतु चिन्तन-बिन्दु प्राप्त होते हैं।

यह विश्व अनेक छोटे-बड़े प्राणियों से युक्त है। मनुष्य की भाँति विश्व के सभी प्राणियों का जीवन महत्त्वपूर्ण है। पेड़-पौधों एवं पशु-पक्षियों का जीवन भी सन्तुलित पर्यावरण के लिए आवश्यक है। इसलिए जगत् के सभी जीवों का संरक्षण मानव का परम कर्त्तव्य है। आचारांगसूत्र में मानव के इस कर्त्तव्य को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, सबको आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल एवं दुःख प्रतिकूल लगता है, सबको जीवन प्रिय है। अतः किसी भी जीव की हिंसा नहीं की जानी चाहिए।[1] आत्मशान्ति एवं सुख सभी जीवों को प्रिय है। कष्ट एवं दुःख सबको प्रतिकूल लगते हैं। जीवों की यह

स्वाभाविक अभिवृत्ति एवं उनके जीने की अभिलाषा अहिंसा के माध्यम से ही सुरक्षित रह सकती है। अतः समस्त प्राणियों, सभी भूतों, सभी जीवों एवं सभी सत्त्वों* का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर बलात् आदेश देकर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें गुलाम नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए तथा उन्हें अशान्त नहीं बनाना चाहिए- अहिंसा की ऐसी प्ररूपणा अतीत-वर्तमान-भविष्य काल के सभी अर्हन्त भगवन्तों द्वारा की गई है, की जा रही है एवं की जाएगी। यह अहिंसाधर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है तथा समस्त लोक को ध्यान में रखकर क्षेत्रज्ञों (आत्मज्ञों) के द्वारा प्ररूपित किया गया है।[2] अहिंसा का यह उपदेश उन लोगों के लिए भी है जो इसे सुनने के लिए तत्पर नहीं हैं, उपस्थित नहीं हैं, हिंसा से उपरत नहीं हैं, हिंसा के साधनों से युक्त हैं तथा विभिन्न वस्तुओं के संयोगों में रत हैं।[3]

आज हिंसात्मक व्यवहार के कारण मनुष्य की मनुष्य से दूरियाँ बढ़ रही हैं, परिवार विघटित हो रहे हैं। पति-पत्नी में तलाक की संख्या बढ़ रही है, भाई-भाई, सास-बहू आदि सबके रिश्तों में खटास व्याप्त हो रही है। अन्य प्राणियों के प्रति भी संवेदनशीलता समाप्त हो रही है। आहार, सौन्दर्य-प्रसाधन एवं अन्य कार्यों के लिए विश्वस्तर पर प्राणियों की हिंसा हो रही है।

भगवान महावीर ने छोटे-से-छोटे प्राणी में भी चेतना एवं संवेदनशीलता का साक्षात्कार किया। आचारांग सूत्र में वनस्पति एवं मनुष्य में की गई तुलना इसका प्रमाण है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है, वनस्पति भी जन्म लेती है, जिस प्रकार मनुष्य वृद्धि को प्राप्त करता है, वनस्पति भी वृद्धि को प्राप्त होती है। जिस प्रकार मनुष्य चेतनायुक्त है, उसी प्रकार वनस्पति भी चेतनायुक्त है। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर छिन्न होने पर म्लान होता है, वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है। मनुष्य का शरीर जिस प्रकार अनित्य एवं अशाश्वत है

*द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राण, पंचेन्द्रिय जीवों को जीव, वनस्पतिकायिक जीवों को भूत एवं अप्कायिक आदि शेष जीवों को आचार्य शीलांक ने सत्त्व कहा है-

'प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः।
जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ता, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः।।'

-आराचारांग, शीलांक टीका, पत्रांक 64

तथा आहारादि से उपचित-अपचित होता है उसी प्रकार वनस्पति भी अनित्य, अशाश्वत एवं चयोपचययुक्त है। मनुष्य जिस प्रकार विपरिणामधर्मा है, उसी प्रकार वनस्पति भी विपरिणाम धर्मा है।[4] आचारांग सूत्र में वनस्पति में चेतना एवं संवेदनशीलता का यह स्वरूप उसके प्रति आत्मवद्भाव उत्पन्न करता है। आचारांगसूत्र में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं त्रस जीवों के भी संरम्भ, समारम्भ आदि को त्याज्य निरूपित किया गया है, क्योंकि शान्ति एवं सौहार्द के लिए अहिंसा की आवश्यकता सम्पूर्ण मानव जाति एवं समस्त विश्व के प्राणियों को सदा से रही है।

हिंसा के स्वरूप-बोधक विभिन्न शब्द

हिंसा के लिए आचारांगसूत्र में समारम्भ, क्षण (छण), दण्ड-समारम्भ, शस्त्र आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा के लिए प्रथम अध्ययन में 'समारम्भ' शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा- **से सयमेव अगणिसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।**[5] यहाँ समारम्भ शब्द हिंसा का वाचक है, जो वैदिक प्रयोग 'आलभन' से साम्य रखता है। तृतीय अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में 'छण' शब्द का प्रयोग हुआ है- **से ण छणे, न छणावए, छणंतं णाणुजाणति।**[6] अर्थात् संयम में जीने वाला प्राणियों की हिंसा न स्वयं करे, न दूसरों से करवाए तथा न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करे। 'दण्ड-समारम्भ' शब्द का प्रयोग अष्टम अध्ययन में इस प्रकार हुआ है- **तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारम्भावेज्जा, णेवण्णे एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंते वि समणुजाणेज्जा।**[7] मेधावी साधक न तो स्वयं इन कार्यों से षड्जीव निकायों का दण्ड-समारम्भ करे, न दूसरों से इन कार्यों का दण्ड-समारम्भ करवाए तथा न ही दूसरों के दण्ड-समारम्भ करने पर उनका अनुमोदन करे। शस्त्र शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है- **अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं।**[8] अर्थात् शस्त्र एक से बढ़कर एक है, किन्तु अशस्त्रों में कोई अशस्त्र बढ़कर नहीं है। यहाँ शस्त्र शब्द हिंसा का एवं अशस्त्र शब्द अहिंसा का बोधक है। हिंसा के लिए आचारांग में 'विप्परामुस' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए पंचम

अध्ययन में कहा गया है- "**आवंती केआवंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए वा एतेसु चे विप्परामुसंति।**"[9] यहाँ विप्परामुसंति शब्द का अर्थ हिंसा करना किया गया है। यह हिंसा मारपीट या वैचारिक हिंसा के लिए प्रयुक्त हुई है।

आचारांग कहता है कि यह हिंसा ग्रन्थ/बन्धन है, मोह है, मार/मृत्यु है और यह नरक है।[10] हिंसा का यह स्वरूप हिंसक की अपेक्षा से कहा गया है। निर्ग्रंथ हिंसा नहीं करता। बृहत्कल्पसूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि एवं मिथ्यात्व को भावग्रन्थ के 14 प्रकारों में स्थान दिया गया है।[11] मोहरहित व्यक्ति हिंसा नहीं करता। हिंसा करने का तात्पर्य है कि व्यक्ति में कोई न कोई ऐसा विकार है जिसके कारण वह हिंसा करता है। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने रागादि विकारों के अप्रादुर्भाव को अहिंसा कहा है।[12] चित्त में क्रोधादि या रागादि का कोई भी विकार हो अथवा अज्ञान या मिथ्यात्व का दोष हो तो वह हिंसा को जन्म देता है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रमत्तयोग को हिंसा का कारण कहा गया है- **प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।**[13]प्रमाद से युक्त जीव असजग होकर प्राणातिपात करता है। जिस प्रकार हिंसा एक ग्रंथ, ग्रंथि या बन्धन है उसी प्रकार वह मोह की सूचक है। मोह में मिथ्यात्व एवं क्रोधादि विकारों का समावेश हो जाता है। हिंसा प्राणी के चित्त को ग्रथित करती है, इसलिए वह ग्रन्थ या ग्रन्थि है। हिंसा मूढता को प्राप्त कराती है, इसलिए मोह है। यह मृत्यु की ओर ले जाती है, इसलिए मार है तथा हिंसा से विपुल वेदना प्राप्त होती है इसलिए यह नरक है।[14]अतः हिंसा चैतसिक स्तर से ही त्याज्य है। हिंसा का त्याग ही अहिंसा का आधार खड़ा करता है। हिंसा के विकार को छोड़ने पर मानव अहिंसक बन सकता है।

हिंसा के हैं विभिन्न कारण

हिंसा की उत्पत्ति कई कारणों से होती है। कहीं आशंका एवं प्रतिशोध की भावना हिंसा को जन्म देती है। आचारांग में कहा गया है कि कुछ प्राणी ऐसा सोचकर हिंसा करते हैं कि इसने मेरी हिंसा की, अतः मैं इसकी हिंसा करूँगा, यह मेरी हिंसा करता है, अतः मैं इसकी हिंसा करूँगा, यह मेरी हिंसा करेगा, अतः उसके पहले ही मैं इसका हनन कर देता हूँ।[15] इस प्रकार आशंकाओं एवं प्रतिशोध की भावना के कारण हिंसा का प्रयोग होता है। भय के कारण भी हिंसा होती है।[16] जो भयभीत है वह

अपनी सुरक्षा के लिए दूसरों की हिंसा करता है। इसके दूसरे पक्ष को देखें तो यह भी सच है कि हिंसा भय को जन्म देती है। दूसरों द्वारा कृत हिंसा हमें भयभीत करती है। इस तरह हिंसा एवं भय एक-दूसरे को उत्पन्न करते रहते हैं।

मनुष्य जिजीविषा, प्रशंसा, सम्मान, पूजा, जन्म, मृत्यु, दुःख के प्रतिघात आदि कारणों से भी हिंसा करता है। वह इन कारणों से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है।[17] कभी स्वयं हिंसा नहीं करता है तो दूसरे से करवा देता है। यदि स्वयं हिंसा नहीं करता है, दूसरों से भी हिंसा नहीं करवाता है तो हिंसा करने वाले का समर्थन कर देता है। इस प्रकार हिंसा का सम्बन्ध हमारी चैतसिक विचारधारा से है। हमारी विचारधारा एवं चिन्तन प्रक्रिया कैसी है, हमारी अभिवृत्ति एवं संस्कारों की धारा कैसी है, इस पर भी हिंसा का होना या न होना निर्भर करता है।

आचारांग के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति भी सजीव हैं।[18] अतः उनका उपयोग आवश्यकतानुसार ही करना चाहिए। आवश्यकता से अधिक उपयोग उनकी अनावश्यक हिंसा का कारण है। यह पर्यावरण को भी प्रदूषित करता है। आचारांग में कहा गया है कि मनुष्य जीने के लिए तो पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक आदि का समारम्भ करता ही है, किन्तु वह इनका समारम्भ अपनी प्रशंसा के लिए भी करता है। प्रशंसा प्राप्त करने के लिए मनुष्य पृथ्वीकायिक एवं अप्कायिक जीवों की हिंसा करते हुए बड़े-बड़े भवन बनाता है। घरों को धोने में आवश्यकता से अधिक जल बहाता है। बड़े-बड़े भोजों का आयोजन कर अथवा जंगल आदि में आग लगाकर तेजस्कायिक की हिंसा करता है। वह वायु को प्रदूषित करके उसकी हिंसा करता है। वनस्पति की हिंसा तो फर्नीचर, कागज, ईंधन, सजावट आदि अनेक निमित्तों से करता ही है, कभी बिना प्रयोजन भी हिंसा करता है। भूमि का बेतहाशा खनन आज पृथ्वी पर संकट खड़ा कर रहा है। पेयजल की इतनी कमी बढ़ रही है कि भावी युद्ध के बादल जल संकट को लेकर मंडराने वाले हैं। सम्मान की अभिलाषा भी पृथ्वीकायिक आदि सभी जीवों के समारम्भ को बढ़ावा देती है। मनुष्य में आज ऑनर किलिंग की कई घटनाएँ देखने को मिलती हैं। अनेक परिवारों में प्रेम सम्बन्धों के कारण कभी कन्या, कभी उसके प्रेमी की तो कभी परिवारजनों की हत्या कर दी जाती है। ये

उदाहरण सम्मान की रक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। पूजा अर्चना के लिए भी वनस्पति, जल आदि की हिंसा की जाती है। पहले देवी-देवताओं की पूजा के लिए पशुओं की बलि दी जाती थी, अब उसमें काफी कमी आयी है, किन्तु अभी और प्रयत्न अपेक्षित हैं। पृथ्वी, जल, वायु एवं वनस्पति को बचाना है तो इनका अपव्यय रोकना होगा, जिसकी प्रेरणा आचारांगसूत्र में पदे-पदे प्राप्त होती है। कोई जन्मोत्सव के लिए तो कोई मृत्यु-प्रसंग पर वनस्पति, जल आदि का अपव्यय करता है। कोई अपने दुःखों का प्रतिघात करने के लिए ऐसे उपाय अपनाता है, जिनसे जैविक पर्यावरण का हनन होता है। वास्तव में तो दुःख का प्रतिकार करने हेतु आन्तरिक ज्ञान एवं दृष्टि की निर्मलता उपयोगी होती है, किन्तु अज्ञान के कारण मनुष्य बाह्य सुख- सुविधाओं को जुटाकर ही दुःख का प्रतिकार करना चाहता है। मनुष्य कभी अपने पाप से मुक्ति पाने के लिए भी हिंसा करता है। वह कभी कोई अपराध करता है, फिर उस अपराध को छिपाने के लिए हिंसा का सहारा लेता है। ऐसी अनेक घटनाएँ आज के युग में प्रकाश में आ रही हैं। पति द्वारा प्रेमिका या पत्नी की हत्या अथवा पत्नी एवं प्रेमिका द्वारा पति की हत्या अपने अपराधों को छिपाने के लिए की जा रही है। आचारांग में ऐसी हिंसा के कारण को पाप-मोक्ष के प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा कहा गया है।[19]

आज अधिकांश हिंसा सुख-सुविधाओं के संवर्धन में लगे मानव-समुदाय के द्वारा की जा रही है। मानव-समुदाय किसी भी देश का क्यों न हो, वह अपनी सुख-सुविधाएँ बढ़ाकर पर्यावरण में असन्तुलन उत्पन्न कर रहा है, जिसे आचारांगसूत्र ने पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय आदि का समारम्भ कहा है। मनुष्य सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर इन्हें प्रदूषित कर रहा है। ए.सी. हो या फ्रिज इनके द्वारा वायु प्रदूषण निरन्तर बढ़ रहा है। ग्लोबल वार्मिंग एवं ओजोन परत में छेद होने का कारण भी सुख-सुविधाओं की सामग्री का विस्तार है। बड़े-बड़े कल-कारखाने एवं हिंसक कत्लखाने भी पर्यावरण को प्रदूषित कर रहे हैं।

आचारांग सूत्र में चमड़े, रक्त, हड्डी, मांस आदि की प्राप्ति के लिए त्रस जीवों की हिंसा की भी चर्चा की गई है।[20] वहाँ पशु आदि त्रस जीवों के विभिन्न अंगों की हिंसा के अनेक कारण प्रतिपादित हैं। आज सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण में विभिन्न

प्रकार के प्राणियों की हिंसा की जा रही है। यह हिंसा मनुष्य की निर्दयता एवं क्रूरता की परिचायक है।

मनुष्य अपने को बलवान् एवं बुद्धिमान समझता है, इसलिए वह सृष्टि के अन्य जीवों की स्वतन्त्रता को दर किनार कर उनके जीवन के प्रति बेपरवाह हो गया है। वह अपनी सुख-सुविधाओं के लिए उनका हनन करने में कोई संकोच नहीं करता। सत्ता, सम्पत्ति आदि की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपना बल बढ़ाने में लगा रहता है। वह शरीरबल, ज्ञातिबल, मित्रबल, राजबल, धनबल, शस्त्रबल आदि बल बढ़ाता है[21] और दूसरों को परास्त करने में हिंसा का सहारा लेता है। आज मनुष्य अपनी बुद्धि एवं बल का दुरुपयोग हिंसा के कार्यों में कर रहा है।

हिंसा का एक प्रमुख कारण अज्ञान है। प्रायः मनुष्य अज्ञान में जीता है। उसे यह भलीभांति ज्ञात नहीं है कि उसके द्वारा की जा रही हिंसा का परिणाम उसे स्वयं को क्या मिलने वाला है? हिंसा करने एवं कष्ट देने का प्रतिफल स्वयं को भी कष्ट रूप में भोगना पड़ता है। बम विस्फोट आदि के द्वारा की गई हिंसा का परिणाम बहुसंख्यक प्राणियों को भोगना पड़ता है। कभी बृहत्स्तर पर कृत हिंसा समूची मानवजाति एवं प्राणिजगत् के लिए भी अत्यन्त दर्दनाक होती है।

आतुरता भी मनुष्य को हिंसा के लिए प्रेरित करती है।[22] कामातुर व्यक्ति को अपनी वासना या कामना की पूर्ति महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। वह यौन उत्पीड़न, बलात्कार आदि से लेकर हत्या, गृहदाह, ग्रामदाह आदि के लिए संरम्भ एवं समारम्भ करने हेतु तत्पर हो जाता है। अनेकविध भयों से आक्रान्त व्यक्ति भी आतुर होकर भय के कारणों का नाश करने के लिए हिंसा का आलम्बन लेता है। क्षुधा से पीड़ित (क्षुधातुर) व्यक्ति यदि विवेकशील न हो तो वह भी दूसरे प्राणियों के प्राणों का प्यासा होकर हिंसा में प्रवृत्त होता है।गरीबी एवं बेरोजगारी इसीलिए हिंसा में कारण बनती हैं। आजीविका के अभाव से त्रस्त जन लूटपाट एवं हिंसा में संलग्न होकर उदरपूर्ति करने लगते हैं। आधुनिक युग में युवापीढ़ी हेरोइन आदि विभिन्न प्रकार की नशीली ड्रग के सेवन की आदि हो गई है। उसके पास जब पैसे नहीं होते हैं तथा ड्रग की तलफ उठती है तो वह हिंसा कर पैसा जुटाती है। यह भी आतुरता के कारण हिंसा है।

हिंसा का अन्य प्रमुख कारण प्रमाद है। आत्म-स्वरूप के बोध की विस्मृति एवं असजगता प्रमाद है। असावधानी के कारण साधु-साध्वियों से भी हिंसा हो सकती है, फिर गृहस्थ की तो बात ही क्या? वह अज्ञानवश एवं असावधानी वश छोटे-बड़े स्तर पर हिंसा करता रहता है।

हिंसा का एक कारण लोभ एवं परिग्रह की वृत्ति है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि अभीष्ट वस्तु आदि के संयोगों का अभिलाषी एवं अर्थ का लोभी मनुष्य दिन-रात परितप्त होता है तथा काल-अकाल में सदैव अर्थलाभ के लिए सन्नद्ध रहता है। वह चोरी एवं लूटपाट में भी संकोच नहीं करता तथा उसी में अपना चित्त लगाए रखता है और बार-बार हिंसा का सहारा लेता है।[23] लोभ एवं परिग्रह की वृत्ति के कारण मनुष्य अधिकाधिक वस्तुओं, धन-सम्पत्ति एवं भूसम्पदा पर अधिकार करना चाहता है, जिससे हिंसा एवं क्रूरता की भावना को प्रश्रय मिलता है। विगत शताब्दियों में हिटलर, मुसोलिनी आदि शासक हुए हों, या महमूद गजनवी जैसे अत्याचारी, सबके मन में लोभ एवं परिग्रह की वृत्ति का दबाव रहा। भारत में भी छोटी-छोटी रियासतें अपने भू-स्वामित्व का विस्तार करने के कारण परस्पर युद्ध करती रहीं। आज मनुष्य अधिकाधिक जमीनें खरीदकर बैंक बैलेंस बढ़ाकर अथवा दो नम्बर का पैसा बढ़ाकर दूसरों के साथ अन्याय करने में संलग्न है, जिससे हिंसा को बढ़ावा मिलता है। अतः हिंसा को रोकने के लिए परिग्रह एवं लोभवृत्ति पर भी विजय की आवश्यकता है।

मनुष्य न केवल स्वयं के लिए, अपितु दूसरों के लिए भी हिंसा में प्रवृत्त होता है। वह परिवार का नाम लेकर न जाने कितना आरम्भ करता है। इसलिए आचारांग में कहा गया- दूसरे के लिए क्रूर कर्म करता हुआ अज्ञानी जीव दुःख प्राप्त करता है तथा उससे मूढ़ बनकर विपर्यास भाव को प्राप्त करता है।[24]

प्राणि-रक्षा में समाया आत्महित

आचारांगसूत्र में अन्य जीवों के साथ आत्मवद्भाव स्थापित करते हुए कहा गया- तुम भी वही हो जिसको तुम मारने योग्य मानते हो।[25] तुम्हारे में एवं उसमें कोई अन्तर नहीं है। वह भी चेतनाशील है तथा तुम भी चेतनाशील हो।

हिंसा को रोकने की प्रेरणा करते हुए आचारांगसूत्र में कहा गया है कि यह

हिंसा अहित एवं अबोधि की सूचक है।[26] हिंसा में हित नहीं अहित समाया हुआ है तथा हिंसा के कारण चित्त में जड़ता आने से अज्ञानता पुष्ट होती रहती है। कई लोग हिंसा में अपना हित समझते हैं, किन्तु आचारांगसूत्र उनकी इस गलत धारणा का खण्डन करता हुआ स्पष्ट करता है कि हिंसा कभी हितकारिणी नहीं हो सकती। उससे न आत्महित होता है न परहित। वह ज्ञान की नहीं अज्ञान की सूचक है।

यह प्राणिलोक आर्त्त है, परिजीर्ण है, अज्ञान से ग्रस्त होने के कारण इसे समझाना कठिन है।[27] अतः लोक में प्राणी बहुत दुःखी हैं- **बहुदुक्खा हु जंतवो।**[28] दुःख का एक कारण तो कामनाओं में आसक्ति है तथा दूसरा कारण इन कामनाओं की पूर्ति के लिए की जा रही हिंसा है। अपनी कामनाएँ पूर्ण करने के लिए एक प्राणी दूसरे प्राणी को क्लेश या दुःख देता है। नरक के जीव परस्पर एक दूसरे को दुःख देते हैं,[29] कुछ वैसी ही स्थिति इस मनुष्य लोक में नज़र आ रही है। यहाँ भी एक-दूसरे को दुःख देने वाले लोगों की कमी नहीं है। अज्ञान के कारण ऐसा होता है। ऐसे अज्ञानी दुर्बोध्य होते हैं, तथापि समझाने का प्रयत्न जारी रखना चाहिए।

जहाँ हिंसा व्याप्त होती है, जहाँ एक जीव अन्य जीव को मारने या दुःखी करने के लिए उद्यत होता है वहाँ भय का वातावरण बन जाता है। आचारांग कहता है- "**पाणा पाणे किलेस्संति। पास लोए महब्भयं।**"[30] प्राणी प्राणियों को कष्ट देते हैं। लोक को देखो, यहाँ महान् भय है। इस भय से बचने के लिए हिंसा का त्याग अनिवार्य है। आज आतंकवादियों, लुटेरों, चोरों, उचक्कों आदि के कारण तो मानव भयाक्रान्त है ही, किन्तु वह आज घर में रहने वाले नौकरों, निकट के रिश्तेदारों, परिवार के सदस्यों एवं प्रतिस्पर्धियों से भी भयभीत रहता है। इस भय का निवारण पारस्परिक प्रेम, मैत्री एवं सहयोग के माध्यम से किया जा सकता है।

वैर-विरोध एवं भय पर विजय प्राप्त करने के लिए हिंसा को उपाय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि खून से सने वस्त्र को खून से स्वच्छ नहीं किया जा सकता। इसके लिए अहिंसा ही श्रेयस्कर उपाय है। हिंसा आतंककारिणी है। आतंक पीडाकारी होता है। वह मनुष्य की स्वतन्त्रता और सुखी जीवन-पद्धति को बाधित करता है। अतः आतंक से छुटकारा पाने के लिए अहिंसा का आश्रय उपयोगी है।

अहिंसक जीवन शैली के उपाय

अब प्रश्न यह है कि हिंसा पर नियन्त्रण किस प्रकार किया जाए? हिंसा पर नियन्त्रण करने के लिए आचारांगसूत्र में हमें अनेकविध समाधान प्राप्त होते हैं। उनमें सबसे प्रमुख है कि जो भी क्रिया करें उसे ज्ञानपूर्वक करें। उस क्रिया का क्या फल होगा, यह जानने का प्रयत्न करें। हिंसा कभी अनजाने में होती है तो कभी जानबूझ कर की जाती है। अनजाने में हिंसा करना तो अज्ञान का सूचक है ही, हिंसा को जानबूझकर करना भी मिथ्याज्ञान या गलत ज्ञान रूप अज्ञान का सूचक है। अल्पज्ञान में हिंसा करना भी अज्ञान ही है। बिना प्रयोजन के भी लोग हिंसा करते रहते हैं, वह हिंसा भी अज्ञान के कारण होती है। इसलिए आचारांगसूत्र में कहा है-**से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरम्भोवरए।**[31] जो हिंसा से उपरत है वह ज्ञानवान् एवं बोधिप्राप्त है। ज्ञानी किसी की हिंसा नहीं करता- **एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।**[32] ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता है। प्रयत्नपूर्वक यद्यपि किसी को ज्ञानी नहीं बनाया जा सकता, तथापि जनचेतना जागृत कर हिंसा की अनेक प्रवृत्तियों को रोका जा सकता है तथा हिंसा का अल्पीकरण किया जा सकता है। जो हिंसा अनजाने में हो रही है, अथवा गलत ज्ञान के कारण हो रही है, उसे रोका जा सकता है। आज सौन्दर्यप्रसाधनों के निर्माण में कितनी हिंसा हो रही है, इसकी जानकारी आम व्यक्तियों को नहीं है। जानकारी होने पर कुछ कमी आना सम्भव है।

इसलिए आचारांग में कहा गया है कि कर्मसमारम्भ का ज्ञान करके हिंसा को रोका जाए। जो परिज्ञात कर्मा होता है वह कर्म समारम्भ से उपरत होता है।[33] जो प्राणियों की हिंसा में लगा रहता है वह अपरिज्ञातकर्मा है। परिज्ञातकर्मा पुरुष विविध प्रकार की स्वैच्छिक हिंसा को नियन्त्रित कर सकता है। हिंसा के दोषों की जानकारी से विश्व में अहिंसा के प्रति आस्था बढ़ सकती है एवं बढ़ी है।

हिंसा से विरत होने का अन्य उपाय है- प्रमाद का त्याग। यह प्रमाद ज्ञानी को भी होता है एवं अज्ञानी को भी। अज्ञानी तो आत्मस्वरूप से विस्मृत होने के कारण प्रायः प्रमाद में ही जीता है। वह विषयों के प्रति आसक्त होता है। आचारांगसूत्र इस प्रमाद की ओर ध्यान आकर्षित करता है। वहाँ कहा गया है कि विषयों का

अभिलाषी व्यक्ति प्रमत्त होकर परिताप को प्राप्त होता है।[34] विषयों के प्रति प्रमत्त व्यक्ति इस जीवन में अन्य प्राणियों के हनन, छेदन, भेदन, चोरी, अपहरण, उपद्रव, उत्त्रास आदि प्रवृत्तियों में सन्नद्ध रहता है तथा यह मानने लगता है कि जो अब तक नहीं किया गया है मैं वह कार्य करूँगा।[35] इस आवेश में वह अनेकविध हिंसा को जन्म देता रहता है। आज मनुष्य में ऐसी प्रवृत्ति पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होती है। वह प्रमाद के कारण मिथ्या-अभिमान में आकर प्राणिजगत् के लिए अहितकर प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है। आतंकवाद हो या घरेलू हिंसा- ये सभी हिंसाएँ अज्ञानी की प्रमत्तता के कारण होती हैं। ज्ञानी भी असावधानी पूर्वक जीवन जीते समय प्रमाद करता है, उसकी असावधानी से भी हिंसा होती है। अतः उसे भी प्रमाद त्याग करना चाहिए। इस प्रकार प्रमाद का त्याग हिंसा को नियन्त्रित करने का एक आध्यात्मिक उपाय है। प्रमाद के कारण ही हिंसा बंधनकारिणी होती है।

आचारांगसूत्र में विवेकपूर्वक क्रिया करने पर बल दिया गया है।[36] विवेकपूर्वक की गई क्रिया सावधानी के साथ की जाती है। इसी के लिए आगे चलकर दशवैकालिकसूत्र में 'यतना' शब्द का प्रयोग हुआ है।[37] सोना, उठना, बैठना, चलना आदि प्रत्येक क्रिया यतना के साथ करने पर जीवों का संरक्षण भी होता है तथा क्रिया भी निर्दोष रूप से सम्पन्न होती है। साधु-साध्वियों के लिए यतनापूर्वक गमनागमन की दृष्टि से ईर्या समिति का, यतनापूर्वक बोलने के लिए भाषा समिति का, आहार आदि के निर्दोष अन्वेषण हेतु एषणा समिति का, वस्तुओं को सावधानी के साथ उठाने एवं रखने हेतु आदान-निक्षेपण समिति का, शारीरिक-मलमूत्र आदि के विवेकपूर्वक उत्सर्जन हेतु परिष्ठापनिका समिति का प्रतिपादन किया गया है। साधु-साध्वी की इस आचार-संहिता से प्रेरणा लेकर गृहस्थ भी अपने कार्यों को जहाँ तक सम्भव हो विवेकपूर्वक या यतनापूर्वक सम्पन्न करें तो महती हिंसा से बचा जा सकता है।

लोकसंज्ञा के कारण मनुष्य दूसरों की देखा-देखी हिंसा करता है। इस हिंसा को रोकने के लिए जनमानस में अधिकाधिक इस बात का प्रचार किये जाने की आवश्यकता है कि आप दूसरों को देखकर हिंसा के साधनों का अवलम्बन न लें, अपितु स्व-विवेक से यह निर्णय करें कि मैं अकारण ही हिंसा में प्रवृत्त होकर दूसरे

प्राणियों को क्यों आर्त बना रहा हूँ। किसी प्राणी को दिया गया दुःख या परिताप अपने लिए भी परिणाम में परितापकारी होता है। सत्य को जानने के लिए आचारांगसूत्र में बार-बार प्रेरणा की गई है- **सच्चम्मि धितिं कुव्वहा।**[38] अर्थात् सत्य को जानने में बुद्धि लगाएँ। जो सत्य को जानता है वह स्वतः हिंसा से विरत हो सकता है, क्योंकि उसे अहिंसा अपने लिए एवं प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारिणी एवं अभय प्रदायिनी प्रतीत होती है।

दूसरों के लिए मन, वचन एवं काया से किसी भी प्रकार का अनिष्ट न करने की प्रेरणा हमें आचारांगसूत्र से प्राप्त होती है। दूसरे का अनिष्ट क्यों न करें तथा दूसरे को अपनी भाँति शान्ति उपजाने में सहयोगी क्यों बनें, इसके लिए आत्मवद्भाव के विकास की आवश्यकता है। जिस प्रकार मुझे डंडे से, कपाल आदि से पीटे जाने पर पीड़ा होती है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी होती है, इस प्रकार की संवेदनशीलता के साथ आत्मवद्भाव का विकास सम्भव है। यह आत्मवद्भाव अहिंसा का अत्यन्त समर्थ उपाय है। आत्मवद्भाव अपनाकर हम समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री, करुणा एवं अभय का संदेश दे सकते हैं।

अहिंसक समाज ही उन्नत समाज होता है। आचारांगसूत्र हमें न केवल मानव की हिंसा को रोकने की प्रेरणा करता है, अपितु पशु-पक्षियों की रक्षा के लिए भी प्रेरित करता है। वह मानव की संवेदनशीलता को गहरी करता है तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति का भी समारम्भ घटाने हेतु प्रेरित करता है।

आज विश्वस्तर पर मानव के अधिकारों के संरक्षण के लिए मानवाधिकार आयोग आदि संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। इसी प्रकार की संस्थाएँ पर्यावरण-संरक्षण की दृष्टि से पशु-पक्षियों एवं प्राणियों के जीवनाधिकार के लिए भी स्थापित की जानी चाहिए। मनुष्य सबसे बुद्धिमान् प्राणी है, अतः वह अपना भी हित सोच सकता है तथा अन्य प्राणियों के हित में भी कार्य कर सकता है। इसलिए आचारांग सूत्र ने बार-बार मनुष्य को सावधान किया है कि तुम हिंसा से विरत बनो।

आचारांग में प्रतिपादित अहिंसा को आज पूरे विश्व में फैलाने की आवश्यकता है। गाँधीजी का अहिंसाविषयक चिन्तन आज सम्पूर्ण विश्व में आदृत हो रहा है, उसके अधिक ठोस आधार एवं सूक्ष्म चिन्तन के सूत्र आचारांगसूत्र में

उपलब्ध हैं। यह आगम जीवन को भीतर एवं बाहर से अहिंसक बनने के उपायों का पथ प्रशस्त करता है। अतः आचारांगसूत्र अहिंसा के शाश्वत प्रतिपादन की दृष्टि से विश्व स्तर पर समादरणीय है।

सन्दर्भः-

1. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीवितुकामा। सव्वेसिं जीवितं पियं।-आचारांग सूत्र आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर, चतुर्थ संस्करण, 2010, 1.2.3 सूत्र 78,
2. से बेमि- जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति-सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं पवेदिते।-आचारांग सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1.4.1, सूत्र 132
3. तं जहा- उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरतदंडेसु वा। अणुवरतदंडेसु वा सोवधिएसु वा अणुवहिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा।।-आचारांगसूत्र, 1.4.1, सूत्र 132
4. आचारांगसूत्र, 1.1.5, सूत्र 45
5. आचारांग सूत्र 1.1.4
6. आचारांग सूत्र, 1.3.2, सूत्र 119
7. आचारांग सूत्र 1.2.2, सूत्र 74
8. (i) आचारांग सूत्र 1.3.4, सूत्र 129
   (ii) अन्यत्र भी कहा है- एत्थ सत्थे पुणो पुणो।-आचारांग सूत्र 1.2.2, सूत्र 72
9. आचारांग सूत्र, 1.5.1, सूत्र 147
10. आचारांगसूत्र, 1.1.3 सूत्र 25
11. बृहत्कल्पसूत्र, उद्देशक 1, गाथा 10-14
12. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 44
13. तत्त्वार्थसूत्र, 7.8
14. एषा हिंसा प्राणिनश्चित्तं ग्रथ्नाति तेनाऽस्ति ग्रंथिः, एषा मूढतां नयति, तेनास्ति मोहः, एषा मृत्युं नयति तेन मारः, एषा विपुलां वेदनां नयति तेन नरकः।- आचारांगभाष्य, आचार्यमहाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं, 1994, 1.2.25, पृष्ठ 36
15. अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा, अप्पेगे हिंसंति वा, अप्पेगे हिंसिस्संति वा णेगे वधेंति।- आचारांग सूत्र, 1.1.6, सूत्र 52

16. भया कज्जति- आचारांग सूत्र 1.2.2, सूत्र 73
17. आचारांग सूत्र 1.1, उद्देशक 2-7
18. द्रष्टव्य आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, उद्देशक 2-7
19. भयाकज्जति पावमोक्खो ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए।- आचारांग सूत्र 1.2.2, सूत्र 73
20. आचारांग सूत्र 1.1.6, सूत्र 52
21. से आतबले, से णातबले, से मित्तबले.....। आचारांगसूत्र 1.2.2 सूत्र 33
22. (i) आतुरा परितावेंति।-आचारांग सूत्र 1.1.2, सूत्र 10 (ii) आतुरा परितावए।- आचारांग सूत्र 1.6.1, सूत्र 180, (iii) आतुरा परितावेंति।-आचारांग सूत्र 1.1.6, सूत्र 49
23. अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठाई अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो।-आचारांगसूत्र, 1.2.2 सूत्र 72
24. आचारांग सूत्र 1.2.4, सूत्र 82
25. तुमं सि णाम तं चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि।- आचारांगसूत्र 1.5.5, सूत्र 170
26. तं से अहिताए, तं से अबोधीए। - आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, सभी उद्देशक।
27. अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोधे अविजाणए।-आचारांगसूत्र, 1.1.2 सूत्र, 10
28. आचारांगसूत्र 1.6.1 सूत्र, 180
29. परस्परोदीरितदुःखाः।- तत्त्वार्थसूत्र, 3.4
30. आचारांग सूत्र 1.6.1, सूत्र 180
31. आचारांगसूत्र, 1.4.4
32. सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.4.10
33. आचारांगसूत्र, 1.1.4, सूत्र 38
34. इति से गुणट्ठी महता परितावेण वसे पमत्ते- आचारांगसूत्र, 1.2.1, सूत्र 63
35. जीविते इह से पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्देवत्ता उत्तासयित्ता, अकडं करिस्सामि ति मण्णमाणे।-आचारांगसूत्र, 1.2.1, सूत्र 66
36. आचारांगसूत्र 1.5.4, सूत्र 163
37. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
    जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ।।-दशवैकालिक, चतुर्थ अध्ययन, गाथा 8
38. आचारांगसूत्र, 1.3.2, सूत्र 117

जैनागम साहित्य में अहिंसा हेतु उपस्थापित युक्तियाँ

शान्ति, स्वतंत्रता, समता एवं निर्भय जीवन के लिए अहिंसा अपरिहार्य आवश्यकता है। इसके अभाव में सुखी जीवन, सुन्दर समाज, समृद्ध राष्ट्र एवं मैत्रीमय विश्व की परिकल्पना नहीं की जा सकती । आज जब विश्व में भय, आतंक एवं हिंसा का बोलबाला है, तब अहिंसा की उपयोगिता अधिक प्रासंगिक एवं आवश्यक प्रतीत होती है। हिंसा जहाँ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को दुष्प्रभावित करती है, वहाँ अहिंसा प्राणिमात्र का कल्याण करने वाली है। हिंसा जहाँ हिंसा में संलग्न व्यक्ति को दूषित करती है एवं समष्टि के हित को प्रभावित करती है, वहीं अहिंसा शत्रुता का नाश कर व्यक्ति को भीतर से निर्मल बनाती है एवं समाज में सबके प्रति पारस्परिक मैत्री का स्थापन करती है।

जैनागमों में हिंसा को पाप एवं अहिंसा को धर्म प्रतिपादित किया गया है । '**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो**"[1] (अहिंसा, संयम एवं तपस्वरूप धर्म उत्कृष्ट मंगल होता है।) वाक्य से यही ध्वनित होता है। हिंसा का अर्थ जैन धर्म में किसी प्राणी का वध करना मात्र नहीं है। आचारांग सूत्र में हिंसा के पाँच रूपों का अनेकशः कथन हुआ है, यथा - 1. किसी जीव का हनन करना, 2. उस पर धोंस जमाते हुए शासन करना, 3. दास बनाना, 4. परिताप देना, 5. किसी जीव को अशान्त बनाना। इन रूपों का उल्लेख सभी प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व की हिंसा नहीं करने का परामर्श देते हुए किया गया है, यथा- '**सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।**'[2] साधारणतया हिंसा का अर्थ हनन किया जाता है, किन्तु भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा सबको समान रूप से जीने का अधिकार प्रदान करती है। इसमें प्रत्येक प्राणी के जीवन का सम्मान है। प्राणी छोटा हो या बड़ा, सबको जीने का अधिकार है । भगवान महावीर की अहिंसा मात्र मानव समुदाय तक सीमित नहीं, यह प्राणिमात्र की रक्षा की प्रेरणा करती है। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि जो भी अतीतकाल में अरिहन्त हुए हैं, वर्तमान में अरिहन्त हैं तथा भविष्य में अरिहन्त होंगे, वे सभी इसी प्रकार का प्रतिपादन करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव एवं

सत्त्व का हनन नहीं किया जाना चाहिए, उन्हें शासित, दास, परितापित एवं अशान्त नहीं बनाया जाना चाहिए। यह अहिंसा धर्म ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है। इसे क्षेत्रज्ञों आत्मज्ञों ने लोक को जानकर कहा है।[3] इस कथन से यह स्पष्ट है कि अहिंसा शाश्वत धर्म है । यह व्यक्ति एवं समष्टि दोनों के लिए हितकारी है।

हिंसा का प्रमुख कारण : अज्ञान

हिंसा तभी घटित होती है, जब आत्मिक स्तर पर प्रमाद या असजगता विद्यमान हो । ज्ञान का सम्यक् स्वरूप प्रकट होने पर एवं अप्रमत्तता आने पर हिंसा नहीं की जा सकती । इसलिए सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है- **एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसति किंचणं।**[4] अज्ञान से आच्छन्न एवं उसके कारण प्रमादयुक्त बने हुए व्यक्ति ही प्रायः हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। हिंसा के अन्य कारण भी हैं - '**कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति।**'[5] - अर्थात् क्रोधी, लोभी एवं अज्ञानी हिंसा करते हैं।

आचारांगसूत्र में हिंसा की तीन स्थितियों का निरूपण हुआ है - स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा कराना एवं हिंसा करते हुए का समर्थन करना। ये तीनों प्रकार के हिंसाकार्य त्याज्य हैं। वहाँ पर छह प्रकार के जीव निकायों- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक एवं वायुकायिक की हिंसा स्वयं करने, दूसरों से कराने एवं हिंसा करने वाले का अनुमोदन करने को त्याज्य बताते हुए कहा गया है कि मेधावी पुरुष इन छहों जीव निकायों की तीनों प्रकार से हिंसा नहीं करता, यथा- '**तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवणिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा**'।[6] सूत्रकृतांग सूत्र में इन जीव निकायों की मन, वचन एवं काया के स्तर पर हिंसा का निषेध है, यथा- '**एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया। मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही**'।[7] अहिंसा के लक्षण में उत्तरवर्ती साहित्य में विकास होता रहा है। तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ प्रमत्तयोग से प्राणों के व्यपरोपण को हिंसा कहा गया है,[8] वहाँ अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में रागादि की अनुत्पत्ति को ही अहिंसा कह दिया है-'**अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति**'[9]। किन्तु इस प्रकार की अहिंसा तो

वीतरागियों में ही संभव है। यह अहिंसा का उत्कृष्ट रूप है। द्वितीय रूप महाव्रतधारी उन श्रमण-श्रमणियों में उपलब्ध होता है जो तीन करण एवं तीन योगों से हिंसा के त्यागी होते हैं। अहिंसा का तृतीय रूप अणुव्रत के रूप में श्रावक-श्राविका स्वीकार करते हैं। इसमें सभी निरपराध त्रस जीवों के हनन रूप हिंसा का त्याग किया जाता है । इस तरह हिंसा का अभाव भी अहिंसा है तथा हिंसा का अल्पीकरण भी अहिंसा है। अहिंसा का जितने स्तर पर पालन किया जाय, उतना लाभकारी है। इसलिए हिंसा से बचने में ही सबका हित निहित है।

अहिंसा का पालन एवं हिंसा का त्याग यद्यपि आधुनिक युग की महती आवश्यकता है, तथापि जैनागमों में इसके लिए किस प्रकार के तर्क दिए गए हैं, उनका अध्ययन ही प्रस्तुत निबन्ध का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। जैन प्रमाणमीमांसा के अन्तर्गत प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो प्रमाण प्रतिपादित हैं। परोक्ष प्रमाण में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम प्रमाण का समोवश होता है। प्रस्तुत प्रसंग में मुख्यतः तर्क एवं आगम-प्रमाण का अवलम्बन लेकर अहिंसा के औचित्य की स्थापना आगमों के आधार पर की जा रही है-

1. जीवन सबको प्रिय है

आचारांग सूत्र में स्पष्ट प्रतिपादन है कि सभी प्राणी जीना चाहते हैं, सबको आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल एवं दुःख प्रतिकूल लगता है। वध सबको अप्रिय एवं जीवन प्रिय है। सभी जीवन की इच्छा रखते हैं। इसलिए किसी भी जीव का अतिपात नहीं करना चाहिए, यथा - '**सव्वे पाणा पिआउया, सुहसाता दुक्खपडिकूला, अप्पियवधा, पियजीविणो जीवितुकामा। सव्वेसिं जीवितं पियं। नातिवातेज्जं कंचणं।**'[10] दशवैकालिक सूत्र में भी कहा गया है - '**सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं, तम्हा पाणिवहो घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।**'[11] हिंसा या तो प्राणी के जीवन को समाप्त कर देती है या उसमें असाता अथवा दुःख उत्पन्न करने में निमित्त होती है। इसलिए सब जीवों की भावना का आदर करते हुए उनकी हिंसा नहीं की जानी चाहिए। आचारांग सूत्र की इस युक्ति से प्रत्येक प्राणी के जीने के अधिकार की भी स्थापना होती है । आधुनिक युग में मानवाधिकार के अन्तर्गत मनुष्य को ही जीने का अधिकार प्रदत्त है, अन्य प्राणियों को नहीं। महावीर की

अहिंसा सभी प्राणियों को जीने का अधिकार प्रदान करती है। यदि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि सबके जीने के अधिकार या उनकी जीवन प्रियता की भावना का आदर किया जाए तो उनकी हिंसा में निश्चित ही कटौती संभव है।

2. सभी जीव चेतनाशील हैं

जिस प्रकार मानव चेतनाशील प्राणी है, उसी प्रकार अन्य जीवों में भी चेतना है। भगवान महावीर ने जैनागमों में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में ज्ञान-दर्शन स्वरूप चेतना को स्वीकार किया है। एकेन्द्रिय जीवों में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों का समावेश होता है, क्योंकि इनमें एक ही स्पर्शनेन्द्रिय होती है। द्वीन्द्रिय जीवों (लट, केंचुआ आदि) में स्पर्शन के साथ रसना, त्रीन्द्रिय जीवों (चींटी आदि) में इन दोनों के साथ घ्राण तथा चतुरिन्द्रिय जीवों में चक्षु इन्द्रिय सहित चार इन्द्रियाँ होती हैं। पंचेन्द्रिय में श्रोत्रेन्द्रिय भी होती है। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं- संज्ञी अर्थात् मन वाले एवं असंज्ञी अर्थात् मन रहित। मनोयुक्त पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य, पशु, पक्षी, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प एवं जलचर जीव हमें दृष्टिगोचर होते हैं। नारकी एवं देव भी पंचेन्द्रिय होते हैं, किन्तु वैक्रिय शरीरधारी होने के कारण वे हमारे चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते हैं। इस प्रकार जीवों की विविधता है। किन्तु जीव छोटे हों या बड़े, एकेन्द्रिय हों या पंचेन्द्रिय-सभी जीव चेतनाशील हैं। चेतनाशील होने के कारण हमारी उनके प्रति आत्मीयता एवं संवेदनशीलता अपेक्षित है। संवेदनशीलता जागृत करते हुए आचारांग सूत्र में कहा गया है -

तुमं सि णाम तं चेव, जं हंतव्वं ति मण्णसि।
तुमं सि णाम तं चेव, जं अज्जावेतव्वं ति मण्णसि।
तुमं सि णाम तं चेव, जं परितावेतव्वं ति मण्णसि।।
तुमं सि णाम तं चेव, जं परिघेत्तव्वं ति मण्णसि।
तुमं सि णाम तं चेव, जं उद्दवेतव्वं ति मण्णसि।[12]

तुम वही हो जिसे तुम मारने योग्य समझते हो, तुम वही हो जिसे तुम शासन करने योग्य समझते हो, तुम वही हो जिसे तुम परिताप देने योग्य मानते हो, तुम वही हो जिसे तुम गुलाम बनाने योग्य मानते हो, इसी प्रकार तुम वही हो जिसे

अशान्त करने योग्य समझते हो। इन वाक्यों में मनुष्य की संवेदनशीलता को गहरा किया गया है एवं हननीय, शासनीय, परितापनीय आदि के रूप में देखे जाने वाले प्राणियों को अपने समान समझने तथा उनके स्थान पर अपने को रख कर देखने की प्रेरणा की गई है।

आचारांग सूत्र में वनस्पति एवं मनुष्य में जो समानता निरूपित की गई है, वह भगवान महावीर की वैज्ञानिकता, संवेदनशीलता एवं सूक्ष्मदृष्टि की परिचायक है। वहाँ पर निगदित है कि जिस प्रकार मनुष्य उत्पत्ति स्वभाव वाला, वृद्धि स्वभाव वाला एवं चेतनाशील है उसी प्रकार वनस्पति भी उत्पन्न होती है, बढ़ती है एवं चेतनाशील है।[13] जगदीशचन्द्र बसु के प्रयोगों के पश्चात् समस्त विश्व वनस्पति में चेतना स्वीकार करने लगा है, किन्तु प्रभु महावीर ने 2600 वर्ष पूर्व यह तथ्य उद्घाटित कर दिया था। तीर्थंकर महावीर ने यह भी कहा कि जिस प्रकार मनुष्य को छेदा जाय तो वह म्लान होता है उसी प्रकार वनस्पति भी छेदे जाने पर म्लान होती है। मनुष्य जैसे आहार करता है वैसे वनस्पति भी आहार करती है। दोनों अनित्य, अशाश्वत, चयोपचय वाले एवं विपरिणाम धर्मी हैं।[14]

सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया कि – **से जहा नामए मम अस्सायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा, लेलूण वा कवालेण वा, आउडिज्जमाणस्स वा, हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परितावज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाव सव्वे पाणा जाव सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियावज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेत्तव्वा, व परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।**[15]

अर्थात् जिस प्रकार कोई मुझे दण्ड से, हड्डी से, मुष्टि से, पत्थर से या ठीकरी से मारे, तर्जना दे, ताड़ना दे, परिताप दे, खिन्नता उत्पन्न करे, अशान्त करे यावत् रोम उखाड़े तो मुझे कितनी असाता, हिंसाकारी दुःख एवं भय का अनुभव होता है।

इसी प्रकार सभी प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व को डण्डे से यावत् कपाल से चोट मारे यावत् रोम उखाडे (उन्हें किसी भी प्रकार की यन्त्रणा दे) तो उन्हें भी कितने दुःख एवं भय का अनुभव होता होगा। ऐसा जानकर सभी प्राण यावत् सत्त्व न हन्तव्य हैं, न शासितव्य हैं, न दास बनाये जाने योग्य हैं, न परितापनीय हैं और न ही अशान्त बनाने योग्य हैं।

सूत्रकृतांग का यह संदेश सभी प्राणियों में आत्मवद्भाव की स्थापना करता है। जिन कारणों से मुझे स्वयं दुःख का अनुभव होता है, वैसे कारण मुझे दूसरे प्राणियों के लिए भी उपस्थित नहीं करने चाहिए।

3. हिंसा कर्म-बंधन का हेतु है

जैन आगमों के अनुसार हिंसा से पाप कर्मों का आस्रव एवं फलतः बंध होता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है-

अजयं चरमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं।।[16]

अयतना (अविवेक, प्रमत्तता) से कार्य करने वाला प्राणियों की हिंसा करता है और परिणामस्वरूप कटुक फल देने वाले पाप कर्मों का बंध करता है। तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को बंध का हेतु कहा गया है। हिंसा का समावेश स्थूल रूप से अविरति में होता है। सूक्ष्म रूप से उस समय अशुभ योग, प्रमाद एवं कषाय भी रहते हैं। कर्म-बंधन का हेतु होने से हिंसा त्याज्य है। अहिंसा से संवर, निर्जरा एवं मोक्ष की प्राप्ति संभव है। क्योंकि अहिंसा धर्म है, व्रत है, समिति एवं गुप्ति है। अहिंसा किस प्रकार कर्मबंध का कारण नहीं है, इसके लिए कहा गया है-

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ।।[17]

यतनापूर्वक यदि चलने, ठहरने, बैठने, सोने, भोजन करने, बोलने आदि की प्रवृत्ति की जाती है, तो वह पापकर्म के बंधन का कारण नहीं होती। आगे कहा गया है-

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ।।[18]

जो सब जीवों को सम्यक् रूप से अपने समान समझकर उनके साथ व्यवहार करता है वह आस्रव का निरोध करता हुआ पापकर्म का बंध नहीं करता। जो जीव के सम्यक् स्वरूप को न समझकर व्यवहार करता है वह कर्म-बंध करता है और उसका फल भोगना पड़ता है। अतः कर्मबन्धन से बचने के लिए हिंसा का त्याग करना आवश्यक है।

4. हिंसा से हिंसा की शुद्धि नहीं होती

भगवान महावीर ने बदले की भावना से किए जाने वाले कार्य का निषेध किया है। वे कहते हैं कि रुधिर से सने हुए वस्त्र को यदि रुधिर से ही धोया जाय तो वह स्वच्छ नहीं हो सकता- **रुहिकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही।।**[19]

इसी प्रकार हिंसा का उपचार हिंसा नहीं है। अहिंसा से ही हिंसा पर काबू पाया जा सकता है। क्षमा के द्वारा हिंसक को शान्त बनाया जा सकता है। क्षमा से प्रहूलाद भाव उत्पन्न होता है, मैत्रीभाव का स्थापन होता है।[20] आचारांग सूत्र में कहा गया है- हिंसा तो एक से बढ़कर एक होती है, किन्तु अहिंसा सबसे बढ़कर है- **अत्थि सत्थं परेण परं णत्थि असत्थं परेण परं।**[21]

5. हिंसा अहित एवं अबोधि का हेतु है

हिंसा किसी भी प्रकार की क्यों न हो, वह अहित एवं अज्ञान का ही निमित्त बनती है। आचारांग सूत्र में कहा गया है- **इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जातिमरण- मोयणाए दुक्खपडिघातहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणति।तंसे अहिताए, तंसे अबोधीए।**[22]

कोई मनुष्य इसी जीवन के लिए प्रशंसा, आदर तथा पूजा की प्राप्ति हेतु, जन्म-मरण एवं मोक्ष के लिए तथा दुःख का प्रतिघात करने हेतु पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक एवं वायुकायिक जीवों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा कराता है तथा इनकी हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है। यह उसके अहित एवं अबोधि के लिए है। यहाँ पर भगवान महावीर का संदेश है कि किसी उत्तम प्रयोजन के लिए की गई हिंसा भी अज्ञान एवं

अहित का ही कारण बनती है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कभी-कभी जीवन में हमें हिंसा में भी हित दिखाई पड़ता है। बहुत सी धर्मक्रियाएँ भी हिंसायुक्त होती हैं तथा कभी हमें दो हिंसाओं में से एक हिंसा का चुनाव करना पड़ता है। ऐसे अवसर पर जैन दार्शनिकों ने बड़ी हिंसा की अपेक्षा छोटी हिंसा या अल्प हिंसा को स्वीकार करने का सुझाव दिया है। बहु-आरम्भ अथवा बहु-हिंसा को जहाँ नरकायु के बन्ध का कारण माना गया है वहाँ अल्पारम्भ या अल्पहिंसा को मनुष्यायु का हेतु प्रतिपादित किया गया है।[23] धर्मक्रियाओं में होने वाली हिंसा को जैनों ने हिंसा की ही श्रेणी में रखा है, धर्म की श्रेणी में नहीं, जैसा कि आचारांग सूत्र के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। किन्तु धर्मक्रिया करते समय भावों की शुभता या विशुद्धता के कारण प्रायः भावहिंसा नहीं होती है। भावहिंसा ही बंधन का मुख्य कारण बनती है, द्रव्य हिंसा नहीं।[24] भावों की विशुद्ध होने पर ही जीव अरिहन्त प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता है।[25]

6. अहिंसा में सबका कल्याण निहित है

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है - **अंहिसा तस-थावर- सव्वभूयखेमंकरी**[26] - त्रस एवं स्थावर सभी प्राणियों के लिए अहिंसा कल्याणकारिणी है। सबका हित करने वाली अहिंसा सबके लिए अवश्य उपादेय है। हिंसा अहितकारिणी है। वह हिंसक का भी अहित करती है, हिंस्य को भी पीड़ित करती है तथा पर्यावरण को भी प्रदूषित करती है। हिंसा को आज विश्वस्तर पर त्याज्य माना जा रहा है।

7. मैत्रीभाव के लिए अहिंसा आवश्यक है

सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट कथन है कि हिंसा करने, हिंसा कराने एवं हिंसा का अनुमोदन करने से वैर बढ़ता है-

संय तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए।
हणंतं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो।।[27]

अतः मैत्रीभाव की स्थापना के लिए अहिंसा आवश्यक है। भय एवं वैर से उपरत होकर मनुष्य को चाहिए कि वह प्राणियों के प्राणों का हनन न करे- **न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए।**[28]

8. सभी जीव पहले ही दुःख से पीड़ित हैं

संसारी जीव पहले से ही दुःखाक्रान्त हैं, इसलिए हिंसा के द्वारा उन्हें और अधिक दुःखी नहीं किया जाना चाहिए- **सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे अहिंसिआ।**[29] अथवा दुःख सबको अकान्त अर्थात् अप्रिय है, इसलिए भी उनकी हिंसा नहीं की जानी चाहिए। हिंसा से असाता उत्पन्न होती है जो अशान्ति, महद्भय एवं दुःख रूप होती है- **सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूताणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति बेमि।**[30]

9. भयभीतों के लिए अहिंसा शरणभूत है

प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के संदर्भ में प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- **एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाणं विव सरणं, पक्खीणं विव गमणं, तिसियाणं विव सलिलं, खुहियाणं विव असणं, समुद्दमज्झे य पोयवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं।**[31] यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण है। यह पक्षियों के लिए आकाश के समान, तृषितों के लिए सलिल के समान, बुभुक्षितों के लिए भोजन की तरह, समुद्र के मध्य जहाज की भाँति, चतुष्पदों के लिए आश्रमस्थल के समान तथा रोग के दुःख से ग्रस्तों के लिए औषधिबल के समान है।

10. हिंसा दुःखजनक है

आचारांग सूत्र में प्रतिपादित है कि यह दुःख आरम्भजन्य है- **आरम्भजं दुक्खमिणं ति णच्चा। एवमाहु समत्तदंसिणो।**[32] जो अपनी साता या सुख के लिए अन्य प्राणियों की हिंसा करता है, वह कुशील धर्मवाला होता है - **अहाहु से लोगे कुसीलधम्मे भूताइं से हिंसति आतसाते।**[33] हिंसा की दुःखरूपता को आचारांगसूत्र में इस प्रकार भी अभिव्यक्त किया गया है - **सोच्चा भगवतो अणगाराणं इहमेगेसिं णातं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए।**[34] यह हिंसा का कार्य बंधन में पटकने वाला, मूर्च्छा उत्पन्न करने वाला, अनिष्ट में धकेलने वाला एवं नरक में ले जाने वाला है।

कभी हिंसा का कार्य सप्रयोजन होता है, तो कभी निष्प्रयोजन-**अट्ठा हणंति अणट्ठा हणंति।**[35] यदि निरर्थक या निष्प्रयोजन हिंसा का पूर्ण त्याग करते हुए

सप्रयोजन हिंसा को भी यतना, विवेक या समिति के माध्यक से न्यून किया जाए तो समस्त मानवजाति एवं सम्पूर्ण प्राणिजगत् को शान्ति, सुख, समृद्धि एवं आनन्द का अनुभव हो सकता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा भी है - **अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।**[36] जगत् में अहिंसा समस्त प्राणियों के लिए परम ब्रह्म है । समस्त जगत् के जीवों के प्रति वात्सल्यभाव से पूरित तीर्थकरों ने इसीलिए अहिंसा का उपदेश दिया है- **एसा सा भगवई अहिंसा जा सा अपरिमिय-णाणदंसणधरेहिं सील-गुण-विणयतवसंजमणायगेहिं तित्थकरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरेहिं सुटठु दिट्ठा।**[37]

11. करुणा जीव का स्वभाव है

हिंसा का निषेध ही अहिंसा नहीं है, अपितु अहिंसा का सकारात्मक पक्ष भी है, जो करुणा, अनुकम्पा, दया, मैत्री आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है । अन्य जीवों के प्रति आत्मवद्भाव के साथ उनके दुःख-दर्द को दूर करने की भावना भी अहिंसा का ही विस्तार है। एक-दूसरे जीव का निरवद्य एवं हितावह उपग्रह करना जीव के स्वाभाविक लक्षण में सम्मिलित है- **परस्परोपग्रहो जीवानाम्।**[38] षट्खण्डागम की धवला टीका में करुणा को जीव का स्वभाव निरूपित किया गया- **करुणाए जीव-सहावस्स कम्मजणिदत्तविरोधादो।**[39]

करुणा के साथ अनुकम्पा पर भी बल दिया गया है । अनुकम्पा को सम्यग्दर्शन का एक लक्षण स्वीकार किया गया है ।[40] इसी प्रकार धर्म उसे कहा गया है जहाँ दया है।[41] भगवान ने सब जीवों की रक्षा एवं दया के लिए प्रवचन फरमाया था।[42] जैनागमों में सब जीवों के प्रति मैत्री का संदेश मिलता है।[43] इस प्रकार अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की प्रस्तुति के साथ अहिंसा को आगमों में स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। [44]

सारांश यह है कि आगमों में विभिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अहिंसा के पालन एवं हिंसा के त्याग की प्रेरणा की गई है। यह अहिंसा व्यक्तिगत स्तर पर भी कल्याणकारिणी है तो समाज एवं राष्ट्र के स्तर पर भी मंगलविधात्री है। पर्यावरण प्रदूषण, भ्रष्टाचार, आतंकवाद जैसी आधुनिक विश्व की समस्याओं का समाधान भी अहिंसा के माध्यम से सम्भव है। पर्यावरण का प्रदूषण हिंसा-जन्य है।

पेड़-पौधों की हिंसा, जल एवं वायु की हिंसा, कीटनाशकों के प्रयोग से हिंसा, पशु-पक्षियों की हिंसा आदि से पर्यावरण-प्रदूषण बढ़ता रहता है। भ्रष्टाचार की समस्या भी तभी उत्पन्न होती है, जब मन में प्रदूषण का भाव हो। दूसरों को एवं अपने को होने वाली पीड़ा का यदि पहले से ही बोध हो जाए तो भ्रष्टाचरण की ओर मानव प्रवृत्त ही न हो। आचरण की पूर्ण शुद्धता एवं नैतिकता अहिंसा के होने पर ही सभंव है। अहिंसा के होने पर जीवन में शान्ति, सौहार्द एवं प्रेम का अजस्र झरना बहता है। परिवार समाज एवं राष्ट्र में सर्वत्र शान्ति एवं आनन्द का अनुभव अहिंसा के द्वारा ही सम्भव है।

सन्दर्भ:-

1. दशवैकालिक, 1.1 सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर 2005,
2. (अ) सूत्रकृतांग 2.1 सूत्र 679, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण, 1991, पृष्ठ-499
   (ब) आचारांगसूत्र 1.4.2 सूत्र 138, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण 1989, पृष्ठ-126
3. सूत्रकृतांग, 2.1.680, पृष्ठ-500
4. सूत्रकृतांग, 1.1.4.10, पृष्ठ-98
5. प्रश्नव्याकरण, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर,1983, 1.1, पृष्ठ-23
6. आचारांग सूत्र, 1.1.7, सूत्र 62 पृष्ठ-36
7. सूत्रकृतांग, 1.9.9 पृष्ठ-361
8. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।-तत्त्वार्थसूत्र, 7.8, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,वाराणसी, 1985
9. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 44, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1966
10. आचारांग सूत्र, 1.2.3- सूत्र 78 एवं 85, पृष्ठ-51 एवं 57
11. दशवैकालिक, 6.11, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, चतुर्थ संस्करण, 2005, पृष्ठ-180
12. आचारांगसूत्र 1.5.5, सूत्र 170 पृष्ठ-186
13. आचारांगसूत्र, 1.1.5, सूत्र 45, पृष्ठ-26
14. इमं पि छिण्णं मिलाति एयं पि छिण्णं मिलासि, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं, इमं पि अणितियं एयं पि अणितियं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि चयोवचइयं एवं

पि चयोवचइयं, इमं पि विप्परिणामधम्मयं एयं पि विप्परिणामधम्मयं। - आचारांगसूत्र, 1.1.5, सूत्र-45, पृष्ठ-26-27

15. सूत्रकृतांग, 2.1.679, पृष्ठ-499
16. दशवैकालिक, 4.1, पृष्ठ-76
17. दशवैकालिक, 4.8, पृष्ठ-79
18. दशवैकालिक, 4.9, पृष्ठ-80
19. ज्ञाताधर्मकथा, 1.5, शैलक अध्ययन, पृष्ठ-171, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण, 1989
20. खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ।-उत्तराध्ययनसूत्र, 29.18, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, तृतीय भाग, 1989
21. आचारांग सूत्र, 1.3.4, पृष्ठ-113
22. आचारांग सूत्र, 1.1.2.13, पृष्ठ-9
23. (अ) बहूवाारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः। - तत्त्वार्थसूत्र, 6.16-पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1985

    (ब) अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य।-तत्त्वार्थसूत्र, 6.18
24. ओघनिर्युक्ति, 747-749, निर्युक्तिसंग्रह, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, जामनगर, 1989
25. भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंतपन्नत्तस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। - उत्तराध्ययन सूत्र, 29.51-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, तृतीय भाग, 1989
26. प्रश्नव्याकरण सूत्र, 2.1.108, पृष्ठ-165
27. सूत्रकृतांग, 1.1.1.3, पृष्ठ-7
28. उत्तराध्ययन सूत्र, 6.7, पृष्ठ-208
29. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन 1, उद्देशक 4, गाथा 9
30. आचारांगसूत्र, 1.4.2, सूत्र 139, पृष्ठ-126, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण, 1989
31. प्रश्नव्याकरण सूत्र, 2.1.108, पृष्ठ-165
32. आचारांग सूत्र, 1.4.3.140, पृष्ठ-132
33. सूत्रकृतांग, 1.7.5, पृष्ठ-333

34. आचारांग सूत्र, 1.1.2.14, पृष्ठ-9
35. प्रश्नव्याकरण, 1.1.18, पृष्ठ-23
36. स्वयम्भूस्तोत्र, 21.4, स्वयम्भूस्तोत्र तत्त्वप्रदीपिका, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, 1993
37. प्रश्नव्याकरण, 2.1.109, पृष्ठ-167
38. तत्त्वार्थसूत्र, 5.21
39. धवला, पुस्तक 13, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर पृष्ठ-362
40. (अ) तदेवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।- सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र 1.2, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
(ब) प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम्।-धवला, 1.1.4, शोलापुर
41. (अ) धम्मो दयाविसुद्धो।- बोधपाहुड, 25, अष्टपाहुड, श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मुम्बई
(ब) धम्मो दयापहाणो। - कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 97, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1990
42. सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।- प्रश्नव्याकरण, 2.1.112
43. मित्तिं भूएसु कप्पए। - उत्तराध्ययन सूत्र, 6.2
44. अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की प्रस्तुति के लिए द्रष्टव्य पुस्तक -"सकारात्मक अहिंसाः शास्त्रीय और चारित्रिक आधार" - कन्हैयालाल लोढ़ा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2004

अपरिग्रह की अवधारणा

अपरिग्रह का सिद्धान्त मानव जाति की खुशहाली, मानसिक शान्ति एवं सामाजिक समरसता के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यह प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, उसके सम्यक् वितरण एवं महंगाई पर नियन्त्रण के लिए भी उपादेय है। अपरिग्रह की अवधारणा मूलतः चेतन प्राणियों एवं जड़ पदार्थों पर मनुष्य की अधिकार-भावना पर नियन्त्रण करती है। सुख की लालसा के कारण मानव पदार्थों एवं धन का संग्रह करता है तथा प्राणियों पर अधिकार कर हुकुम चलाता है। परिग्रह की इस वृत्ति के कारण अन्य प्राणियों की हिंसा होती है तथा जड़ पदार्थों का अनावश्यक संग्रह होने से समाज-व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से कहा जाए तो पर-पदार्थों के प्रति मूर्च्छाभाव परिग्रह है, जो आसक्ति एवं ममत्व के रूप में प्रकट होता है। यह मूर्च्छाभाव मनुष्य की चेतना को सुप्त एवं संवेदना शून्य बनाकर बन्धन में डाल देता है। यह बन्धन मनुष्य को पराधीन एवं दुःखी करता है, अतः परिग्रह त्याज्य है। व्यक्तिगत शान्ति एवं चित्त की स्वस्थता के लिए भी परिग्रह त्याज्य है तो सामाजिक हित में भी पदार्थ-संग्रह रूप परिग्रह का त्याग-भाव अपेक्षित है।

अपरिग्रह का स्वरूप

परिग्रह का अभाव या अल्पता ही अपरिग्रह है। अब यह परिग्रह क्या है? 'परिग्रह' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। प्राकृत में इसे 'परिग्गह' कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'परि' उपसर्गपूर्वक 'ग्रह्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर होती है। 'ग्रह्' धातु का अर्थ होता है ग्रहण करना या पकड़ना और परिग्रह का अर्थ है- भली-भांति पकड़ लेना अर्थात् जकड़ लेना। पर-पदार्थों को मानसिक रूप से पकड़े रखना या उनमें आसक्ति रखना ही परिग्रह है। पर-पदार्थों में स्वयं की आत्मा के अतिरिक्त सृष्टि की सारी वस्तुएँ, व्यक्ति, धन-सम्पत्ति, शरीर आदि सभी पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं। यह पदार्थ मेरा है, यह मुझे चाहिए, इसका विनाश मेरा विनाश है, इसका विकास मेरा विकास है, यह तो बढ़ते रहना चाहिए, इससे सुख भोगना है आदि समस्त मानसिक विकल्प परिग्रह रूपी वृक्ष की ही शाखाएँ हैं। इसीलिए कहा है- **''नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो सव्वजीवाणं''** (प्रश्नव्याकरणसूत्र, 1.5) अर्थात्

परिग्रह के समान जगत् में जीव के लिए कोई बन्धन नहीं है। यह बन्धन मनुष्य को पराधीन बनाता है। परिग्रह का यह आंतरिक अथवा वास्तविक रूप है।

दशवैकालिक एवं तत्त्वार्थसूत्र में पर-पदार्थों एवं प्राणियों के निमित्त से जीव में उत्पन्न मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है।[1] मूर्च्छा वह है जो व्यक्ति को स्वहित से बेभान कर देती है, किसी अंश में नशे में ला देती है, व्यक्ति अपने हित से बेखबर होकर पर-पदार्थों एवं व्यक्तियों में अपना सुख खोजकर उनसे बंधन को प्राप्त होता है। यह परिग्रह बन्धन स्वरूप है। व्यक्ति स्वयं उनसे बंधता है।

परिग्रह को समझने के लिए प्रायः आसक्ति एवं ममत्व शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मनुष्य जिन वस्तु एवं व्यक्तियों में अपना सुख मानता है, जिनमें संरक्षा एवं सुरक्षा की आशा रखता है, उनके प्रति वह या तो आसक्त होता है या उनके प्रति ममत्व करता है। यह परिग्रह मोहकर्म का ही एक रूप है, अतः आभ्यन्तर परिग्रह के भेदों में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसक वेद की गणना की जाती है। अतः पूर्णतः अपरिग्रही होने के लिए मोहकर्म का क्षय अनिवार्य है।

यह आंतरिक परिग्रह जो पदार्थों से सम्बन्ध रखने के कारण होता है, उपचार से जब पदार्थों पर ही आरोपित कर दिया जाता है तब पदार्थों को भी 'परिग्रह' कहा जाता है। प्राचीन काल में मोटे रूप से स्त्री के प्रति ही पुरुष की गहरी आसक्ति होती थी, अतः उसको 'परिग्रह' नाम दिया गया। संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य कवि कालिदास ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में परिग्रह शब्द का प्रयोग 'पत्नी' के अर्थ में ही किया है।[2] यह आसक्ति अन्य वस्तुओं के साथ भी होती है। अतः नौकर-चाकर, गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं तथा भूमि, भवन एवं अन्य भोग्य-पदार्थों को भी परिग्रह की कोटि में समाविष्ट किया गया। आज वैज्ञानिक अनुसंधान के परिणामस्वरूप भोग्य-पदार्थों की अगणित वृद्धि हुई है। विविध प्रकार की सुख-सुविधाओं का विस्तार हुआ है। कई सुविधाएँ प्रत्येक परिवार के लिए आवश्यक बन गई हैं। नये-नये पदार्थों का संग्रह करने की मनोवृत्ति मनुष्य में जन्म लेती जा रही है, किन्तु पदार्थ अनन्त हैं, उनका कोई पार नहीं, अतः वस्तुओं का संग्रह-रूप परिग्रह बढ़ता जा रहा है। इस परिग्रह का मूल

कामना है। कामना उनकी होती है जिनसे हमें सुख-सुविधा का अनुभव होता है। आचारांग सूत्र में कहा गया है- '**कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति**' (आचारांग सूत्र, 1.3.2, सूत्र 113) जो काम-भोगों में गृद्ध या आसक्त हैं वे संचय करते हैं। संचय के दो प्रकार हैं- स्वर्णादि पदार्थों का संचय एवं कर्मों का संचय। कामनाओं के कारण ये दोनों प्रकार के संचय होते हैं।

गृहस्थ की अपेक्षा वर्तमान में परिग्रह के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा जाता है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना ही परिग्रह है। आवश्यकता को परिभाषित करना दुष्कर कार्य है। प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता के मानदण्ड भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। यही कारण है कि अमेरिका में जो पदार्थ व्यक्ति की आवश्यकता के रूप में गिने जाते हैं, वे ही भारत में विलासिता के रूप में गिने जाते हैं। सारे अर्थशास्त्री मिलकर भी आवश्यकता के विषय में एकमत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि आवश्यकता का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अब अशन, वसन एवं निवास की आवश्यकता के अतिरिक्त भी अनेक इच्छाओं को आवश्यकता की परिधि में सम्मिलित किया जा रहा है। जो भी हो, इच्छाओं का कहीं भी परिमाण किया जाए, सीमांकन किया जाए तो भी परिग्रह-परिमाण के रूप में गृहस्थ कथंचित् अपरिग्रह के दायरे में आता है। परिग्रह-परिमाण व्रत परिग्रह को एक दोष मानकर उसकी अभिवृद्धि को रोकने के संकल्प एवं प्रयत्न को सूचित करता है।

'न परिग्रहः इति अपरिग्रहः।' अपरिग्रह शब्द में नञ् समास है। नञ् का 'अ' शेष रहता है, जिसका संस्कृत भाषा में छह अर्थों में प्रयोग होता है- सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध। इन अर्थों में से यहाँ आभ्यन्तर स्तर पर अभाव अर्थ में प्रयोग हुआ है, अतः अभाव अर्थ में अपरिग्रह का अर्थ होगा- परिग्रह का न होना। परिग्रह का सर्वथा अभाव ही अपरिग्रह है। बाह्य अपरिग्रह में अल्पता अर्थ का ग्रहण कर अल्प परिग्रह को भी अपरिग्रह कहा जा सकता है।

प्रभु महावीर बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार से परिग्रह-मुक्त थे। उनके साथ शरीर था, किन्तु उसका परिग्रह नहीं था, क्योंकि शरीर में उनकी आसक्ति नहीं

थी। उन्होंने अपरिग्रही बनने हेतु महाव्रत एवं अणुव्रत का उपदेश दिया।

परिग्रह सर्वत्र दुःख का मूल माना गया है। इसीलिए 'आचारांग सूत्र में कहा गया है-''**परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा**'' (आचारांग 1.2.5 सूत्र 89) अर्थात् परिग्रह से अपने को दूर रखो। परिग्रह की भावना शान्ति एवं समता को भंग कर अशान्ति एवं विषमता उत्पन्न कर देती है। जीवन में आकुलता, विषाद और नीरसता का विष घोल देती है। यह हृदय को संकीर्ण, बुद्धि को भोगोन्मुख, मन को चपल और इन्द्रियों को अनियन्त्रित बना देती है। बाहर से सुख-सामग्रियों का अम्बार लगे होने पर भी भीतर से सुख को सोख लेती है। परिग्रह की कामना तृष्णा को उत्तरोत्तर बढ़ाकर मनुष्य को अनन्त दुःख के भयानक जंगल में छोड़ देती है जहाँ पर भटकाव के अतिरिक्त कोई मार्ग दिखाई नहीं देता।

परिग्रह के दुष्परिणाम

परिग्रह भाव के अनेक दुष्परिणाम प्रतीत होते हैं। उनमें कतिपय इस प्रकार सम्भव हैं- 1. अन्य मनुष्यों के प्रति संवेदनशीलता का समापन, 2. व्यवहार में कठोरता एवं क्रूरता का प्रवेश, 3. स्वहित से अनभिज्ञता, 4. हिंसा में अभिवृद्धि, 5. धर्म-श्रवण एवं धर्माचरण में अरुचि, 6. प्रदर्शन की भावना में वृद्धि, 7. मानवीय मूल्यों का ह्रास, 8. पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति के कारण आत्म-विकास की उपेक्षा, 9. आत्म-विकास की उपेक्षा से पदार्थ-विस्तार में रुचि, 10. अनावश्यक संग्रह की प्रवृत्ति, जिससे वस्तु के वितरण में अव्यवस्था एवं समाज में आर्थिक असन्तुलन, 11. कम श्रम में अधिक लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति, 12. लोभ एवं तृष्णा की सतत उपस्थिति, 13. अनैतिकता, कालाबाजारी, रिश्वतखोरी एवं भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन, 14. वस्तुओं के अनावश्यक संग्रह से मंहगाई में वृद्धि, 15. प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, 16. धन-संग्रह एवं व्यापार में प्रतिस्पर्धा तथा हिंसा का प्रयोग, 17. असत्य, चोरी आदि दोष, 18. विलासिता का प्रयोग करते हुए हिंसा आदि दोष, 19. ईर्ष्या, द्वेष एवं तनाव में अभिवृद्धि, 20. शारीरिक एवं मानसिक अस्वस्थता, 21. पारिवारिक वैमनस्य एवं कलह, 22. अहं की पुष्टि, 23. लोभ के कारण असन्तोष, 24. मानवीय मूल्यों से अधिक धन को महत्त्व आदि। इनमें कुछ दोष आध्यात्मिक हैं तो कुछ सामाजिक एवं आर्थिक असन्तुलन से

सम्बद्ध। शारीरिक, मानसिक एवं मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध हानियाँ भी इनमें सम्मिलित हैं।

हृदयहीनता एवं क्रूरता का प्रवेश

धन एवं पदार्थों के संग्रह में लगे व्यक्ति की अन्य मनुष्यों एवं प्राणियों के प्रति संवेदनशीलता प्रायः समाप्त हो जाती है। वह लोभ की मूर्च्छा के कारण अपनी कामनाओं की पूर्ति को ही सर्वोच्च मानता है तथा अन्य प्राणियों के सुख-दुःख की परवाह नहीं करता। वह दूसरों का शोषण करके भी धनवानों की श्रेणी में उच्चतर स्थान प्राप्त करना चाहता है। इस मनोवृत्ति के कारण दूसरों की तो हानि होती ही है, किन्तु स्वयं में भी क्रूरता एवं हृदयहीनता का प्रभाव बढ़ता जाता है। क्रूर एवं हृदयहीन व्यक्ति दूसरों के दुःख में दुःखी नहीं होता तथा वह सबके प्रेम से वंचित होता है। वह सम्पत्तिशाली होकर भी दूसरों से प्रेम पाने में विपन्न हो जाता है। मानवीय प्रेम सम्बन्ध त्याग एवं समर्पण पर जीवित रहते हैं। क्रूर एवं हृदयहीन व्यक्ति स्वयं की सुख-लोलुपता एवं परिग्रह भावना में इतना अन्धा होता है कि वह मानवीय प्रेम भावना का आदर नहीं कर पाता है। वह मौज-मस्ती के लिए तो बड़ी होटलों और क्लबों में जाता है तथा विवाह आदि समारोह में धन का प्रदर्शन कर रुतबा जमाना चाहता है, किन्तु दूसरे की पीड़ा को दूर करने में वह संवेदना शून्य दिखाई देता है। धन की लालसा वाले परिवार प्रायः कलह में जीते हैं, क्योंकि उनमें धन का अभिमान और सुविधा की लिप्सा का स्वार्थ सर्वोपरि होता है।

धन का सदुपयोग न करने का दुष्परिणाम

परिग्रही या धनी व्यक्ति परिग्रह के दुष्प्रभाव से तभी बच सकता है जब वह संगृहीत वस्तुओं और धन का सदुपयोग मानव मात्र अथवा प्राणिमात्र के हित में करने को तत्पर हो। जिस प्रकार हमारा भोजन उदर के माध्यम से सभी अंगों को पोषण देता है, उसी प्रकार संग्रह करने वाले के माध्यम से जरूरतमन्दों की आवश्यकताएँ पूर्ण होनी चाहिए। अर्जित धन के सम्बन्ध में जब यह अहंकार होता है कि यह धन मैंने कमाया, यह मेरा है, दूसरे के काम में नहीं आ सकता, तो वह धन उस संग्रही व्यक्ति के लिए भी घातक बन जाता है। वह धन या तो उसे विलासिता की ओर ले जाता है या फिर क्रूरता की ओर। विलासी जीवन में

सुख-भोग तो है, किन्तु उसकी निरन्तरता नीरसता में बदल जाती है। ऐसे व्यक्ति की जब इच्छाएँ या महत्त्वाकांक्षाएँ पूर्ण नहीं होती हैं तो वह तिलमिलाता है तथा कभी डिप्रेशन का शिकार हो जाता है। आचारांगसूत्र के अनुसार कामनाओं में आबद्ध व्यक्ति उनके पूर्ण न होने पर शोक करता है, खिन्न होता है, कुपित होता है, आँसू बहाता है, पीड़ा और परिताप का अनुभव करता है।[3] डिप्रेशन आदि इन दुष्परिणामों से बचने के उपाय हैं- त्याग, प्रेम और सेवा। आसक्ति का त्याग ही त्याग है, दूसरों को अपनी भांति समझना प्रेम है तथा अपने को प्राप्त धन आदि का दूसरों के लिए सदुपयोग करना सेवा है।

बुद्धि एवं भाव का उपयोग

प्रायः धनिक व्यक्ति परिग्रही होता है। उसके पास बुद्धि भी है और भाव भी है, बुद्धि का उपयोग वह धन के संग्रह एवं उसकी सुरक्षा में करता है तथा भावों का उपयोग अर्जित धन एवं पदार्थों के प्रति आसक्ति में करता है। विचारों से वह संकीर्ण होता है, उसे धन अपनी सुरक्षा का एवं खुशहाली का हेतु दिखाई देता है। वह समझता है कि मुझे दुनिया में जो कुछ मिलना है इसी धन-सम्पदा से मिलेगा, इस तरह का भ्रम भी वह पाल लेता है। यह भ्रम उसे भटकाता है तथा कदाचित् ऐसी दुःखद परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं कि वह धन से उन पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता है। उसे हताशा एवं निराशा का अनुभव होता है। उदार व्यक्ति प्रायः डिप्रेशन का शिकार नहीं होता। वह बुद्धि का उपयोग धन के अर्जन एवं रक्षण में करके भी पीड़ितों एवं जरूरतमन्दों की मदद के लिए तत्पर रहता है, इससे उसे भीतरी सुख का अनुभव होता है। उस सुख का रस उसे डिप्रेशन से बचाये रखता है। भावों के स्तर पर मनुष्य की स्वस्थता अनिवार्य है और वह स्वस्थता, उदारता, प्रेम, सहानुभूति, त्याग आदि सकारात्मक भावों से सम्भव है।

परिग्रही में संयम एवं इन्द्रियनिग्रह नहीं

परिग्रही (आसक्त) व्यक्ति इन्द्रिय-संयम, तप एवं नियम का पालन नहीं कर पाता है। आचारांग सूत्र में कहा गया है- "**ण एत्थ तवो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति।**" (1.2.3, सूत्र 77) जो परिग्रही व्यक्ति शरीर एवं पदार्थ-सुख के प्रति आसक्त होता है, वह स्वाद-विजय, अनशन आदि का तप स्वेच्छा से नहीं कर

पाता है। वह इन्द्रियों पर निग्रह भी नहीं कर पाता, क्योंकि परिग्रह का जन्म ही इन्द्रिय-जन्य सुख पर आधारित होता है। परिमित समय के लिए भोग-उपभोग की वस्तुओं के प्रत्याख्यान रूप नियम का भी पालन नहीं कर पाता है। (आचारांगभाष्य 1.2.3, सूत्र 59 का भाष्य)। इसका तात्पर्य है कि आध्यात्मिक दृष्टि से वह अपना विकास करने में असमर्थ होता है। जिस क्षण व्यक्ति को इन पर-पदार्थों, धन-सम्पत्ति एवं परिजनों के प्रति आसक्ति असह्य लगती है तो वह उसी क्षण इन्हें त्यागकर प्रव्रजित हो जाता है। यही नहीं वह समस्त बन्धनों से मुक्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने में भी सफल हो जाता है।

परिग्रह किसके लिए?

कुछ लोग यह कहते हैं कि वे अपने लिए धनार्जन नहीं करते, परिवार के सदस्यों की सुख-सुविधा तथा बच्चों के अध्ययन और उन्नयन के लिए धन एवं पदार्थ का संग्रह करते हैं। यद्यपि पारिवारिकजनों के समुचित विकास एवं पालन-पोषण हेतु सामग्री जुटाने का दायित्व परिवार के प्रमुख सदस्य का होता है तथापि वह अपनी पारिवारिक जनों के प्रति आसक्ति होने के कारण तथा स्वयं के धन सम्पदा कमाने में रस के कारण क्रूर एवं अनैतिक कर्म करके भी धन-संग्रह में लगा रहता है और अन्त में दुःख प्राप्त करता है। आचारांग सूत्र के शब्दों में- **"इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।"** (आचारांग 1.2.2, सूत्र 79) अर्थात् अज्ञानी पुरुष दूसरे के लिए क्रूर कर्म करता हुआ, दुःख में मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त करता है। सुख के स्थान पर उसे दुःख प्राप्त होता है, यही विपर्यास है।

इच्छा का परिमाण

मनुष्य यह जाने कि उसको जीने के लिए कितनी एवं किन वस्तुओं की आवश्यकता है। इसका ठीक से मूल्यांकन कर वह अपनी इच्छाओं को सीमित कर सकता है। जिस प्रकार वर्तमान काल में कम सन्तान को सुख का एक आधार माना गया है उसी प्रकार इच्छाओं की सीमा भी जीवन की यात्रा को अपेक्षाकृत सुखी बना देती है। अधिक इच्छाएँ मनुष्य को अशान्त बनाती हैं। इच्छाओं पर नियन्त्रण भी ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। यह जीवन सीमित है, असीमित भोगेच्छाओं को

पालना दुःख को आमन्त्रण देना है। इच्छा की पूर्ति के पश्चात् मनुष्य को जो सुख की प्रतीति होती है, वस्तुतः वह इच्छा या कामना का अभाव होने से होती है। जिन सन्त-महात्माओं के पदार्थ संग्रह की कामना नहीं है, वे उस गृहस्थ की अपेक्षा सुखी देखे जाते हैं, जो कामनाओं के जंजाल में फंसा हुआ है। अतः सुख से जीने के लिए इच्छाओं का परिमाण करना आवश्यक है। अधिक इच्छाओं वाले (महेच्छ) एवं अल्प इच्छा वाले (अल्पेच्छ) मनुष्य में भी महद् अन्तर होता है। यहाँ उनके जीवन के कतिपय अन्तर प्रस्तुत हैं-

महेच्छ या परिग्रही मानव का जीवन

1. तनाव ग्रस्त एवं अशान्त
2. अपने समकक्ष जनों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष से युक्त
3. प्राप्त सुख-साधनों से असन्तुष्ट, अतः उनसे भी सुखी नहीं
4. रक्तदाब (Blood Pressure), मधुमेह (Diabetes) आदि रोगों से आक्रान्त
5. पारिवारिक कलह एवं अशान्ति
6. दूसरों को कष्ट देकर जीवनयापन
7. आर्थिक असन्तुलन
8. अनैतिकता पूर्वक अर्जन को प्रोत्साहन
9. निष्ठुरता एवं संवेदनहीनता में वृद्धि
10. पर्यावरण-प्रदूषण को बढ़ावा
11. अपराध में वृद्धि

अल्पेच्छ या परिग्रह परिमाणकर्ता मानव का जीवन

1. अपेक्षाकृत तनावरहित एवं शान्त
2. अपने समकक्षों के प्रति प्रेमभाव, महेच्छों के प्रति भी ईर्ष्या-द्वेष नहीं।
3. प्राप्त सुख-साधनों से सन्तुष्ट
4. अनेकविध रोगों से मुक्त
5. परिवार में अपेक्षाकृत शान्ति एवं सौहार्द का वातावरण
6. दूसरों को कम से कम कष्ट देते हुए जीवन-यापन
7. आर्थिक अभाव की अनुभूति न्यून

8. नैतिकता पूर्वक अर्जन सम्भव
9. करुणा एवं संवेदनशीलता
10. पर्यावरण संरक्षण
11. अपराध में न्यूनता

अपरिग्रह एवं निर्धनता

निर्धनता एवं अपरिग्रह का सम्बन्ध वस्तुओं के संग्रह या असंग्रह से नहीं है। अपरिग्रही होने का तात्पर्य निर्धन या दरिद्र होना नहीं है। यदि ऐसा हो तो सभी पेड़-पौधे, कीडे-मकोड़े, पशु-पक्षी आदि निर्धन होने से अपरिग्रही कहे जायेंगे।[4] सभी भिखारी निर्धन होने से अपरिग्रही की श्रेणि में आ जायेंगे। वस्तुतः जिसने समझ बूझकर पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति एवं ममत्व का त्याग किया है वह ही अपरिग्रही की श्रेणि में आता है। गृहस्थ जीवन में निर्धन होना जीवन को संकट में डालना है। यथोचित धन या आजीविका का साधन भी आवश्यक है, किन्तु धन एवं पदार्थों के प्रति जो ममत्व एवं आसक्ति है उसे त्यागने की आवश्यकता है। अपरिग्रह का सिद्धान्त वैभव सम्पन्न व्यक्तियों के लिए जितना हितकर है उतना ही वैभवहीन व्यक्तियों के लिए भी है। एक के पास धन है, दूसरे के पास नहीं है, किन्तु मूर्च्छा या ममत्व दोनों में है। अतः उस मूर्च्छा की विमुक्ति के लिए अपरिग्रह धर्म का उपदेश दोनों व्यक्तियों के लिए समानरूप से उपादेय है।[5]

अपरिग्रह की आवश्यकता

अतः पर पदार्थों के प्रति आसक्ति एवं ममत्व न हो- यही भगवान् महावीर के अपरिग्रह सिद्धान्त का मूल लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को जीवन में आत्मसात् करने पर शान्ति, समता एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। निराशा, असंतोष, एवं नीरसता के बादल छँट जाते हैं। सदैव प्रेम, दया एवं करुणा की अजस्रधारा प्रवाहित होने लगती है। बन्धन का अंत एवं मुक्ति का उदय होता है। पराधीनता की बेडियाँ टूट जाती हैं। यह मेरा भवन है, यह मेरी भूमि है, यह मेरा बैंक-बैलेंस है, यह मेरा नौकर है, यह मेरा भव्य कार्यालय है आदि वाक्य ममत्वबुद्धि के सूचक हैं। मेरेपन की बुद्धि छूटने पर ममत्व छूटता है, अतः आचारांग में कहा गया है- 'जे

ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं।' (आचारांगसूत्र, 1.2.6, सूत्र 156) अर्थात् जो ममत्व या परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है वह परिग्रह का त्याग करता है। जब तक ममत्वबुद्धि रहती है तब तक व्यक्ति के चित्त में संसार रहता है तथा वह उसके चिपकाव एवं बन्धन से रहित नहीं हो पाता है।

'ईशावास्योपनिषद्' (मंत्र 1) में भी आसक्ति छोड़ने हेतु प्रेरित करते हुए कहा है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृद्धः कस्यस्विद्धनम्।।

अर्थात् इस संसार के पदार्थों का त्याग भाव से भोग करो तथा किसी के धन के प्रति आसक्त मत बनो। त्याग भाव से भोग करने का अर्थ है- आसक्ति त्याग अथवा अपरिग्रह। त्यागभाव के कारण भोग्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, फलस्वरूप परिग्रह नहीं होता। यही भाव 'भगवद्गीता' में भी है। श्रीकृष्ण फल की कामना से रहित होकर कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। फल की कामना ही आसक्ति को जन्म देती है और उससे रहित होने पर जो कार्य किया जाता है वह बाँधता अथवा जकड़ता नहीं है। प्राणी तनावग्रस्त नहीं होता, वह परिग्रह से परे रहता है। भगवद्गीता में 'अपरिग्रह' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। वहाँ योग साधना के लिए परिग्रह रहित होना आवश्यक माना गया है।[6] डॉ. दयानन्द भार्गव ने अपरिग्रह का अर्थ करते हुए कहा है- "अपरिग्रह का एक अर्थ यह है कि मनुष्य अपने आपको भोग्य पदार्थों का स्वामी न समझे। स्वामित्व का अर्थ है- दूसरे को अपना दास बनाने की इच्छा कि वह हमारे अनुकूल चले। यदि वह वैसा नहीं करता है तो हमें दुःख होता है। अपरिग्रह का दूसरा अर्थ है- हम परिग्रह के गुलाम न हो जाएं। परिग्रह की गुलामी का अर्थ है- पराधीनता। अपरिग्रह का अर्थ है स्वतन्त्रता। पदार्थों का उपयोग करें, क्योंकि पदार्थों के बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं है, किन्तु पदार्थों के गुलाम न बनें।[7] डॉ. सागरमल जैन भी यही बात कहते हैं कि हमें वस्तुओं के प्रयोग का अधिकार है, उनके स्वामित्व का नहीं।

'कठोपनिषद्' में एक कथा आती है जिसमें यम से नचिकेता आत्मा की अमरता के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है और जानना चाहता है कि आत्मा

क्या है? यम नचिकेता की परीक्षा लेने हेतु उत्तर को टालते हुए धन-सम्पत्ति, भौतिक सुख-समृद्धि एवं ऐश्वर्य का प्रलोभन देता है। वह कहता है-'हे नचिकेता! तुम सौ-सौ वर्षों तक जीने वाले पुत्र और पौत्रों को मांग लो। गाय, भेड़, हाथी, स्वर्ण, घोड़े और विशाल भू-मण्डल के साम्राज्य को मांग लो तथा इन सबको भोगने के लिए सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहो।[8] किन्तु नचिकेता इनकी यथार्थता को जानता है और कहता है- **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।'**[9] अर्थात् मनुष्य कभी भी धनादि द्वारा तृप्त नहीं किया जा सकता। वह कहता है मुझे आत्मा की अमरता के रहस्य को जानना है। ये सब धनादि तो विनश्वर हैं।

हम धन की अभिवृद्धि में लगे रहते हैं, किन्तु तृप्ति दूर भागती नजर आती है। धनाकांक्षा का कहीं अंत नहीं है। यौवन से वृद्धावस्था तक पहुँचने पर भी धन की लालसा अर्थात् तृष्णा तरुण रहती है। तृष्णा की आग का शमन करने के लिए ही परिग्रह-परिमाण एवं उपभोग-परिभोग-परिणाम व्रतों की प्रेरणा की गयी है। ये दोनों व्रत साधन हैं- अपरिग्रह एवं अनासक्ति तक पहुँचने के लिए। क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-स्वर्ण, दोपद-चौपद, धन-धान्य, कुविय-धातु आदि का परिमाण एवं कर्मादान की आजीविका का त्याग करने से तृष्णा एवं परिग्रह पर नियन्त्रण प्रारम्भ होता है। परिग्रह का बाह्य नियन्त्रण आंतरिक नियन्त्रण को पुष्ट करता है। वस्तुतः आंतरिक नियन्त्रण ही परिग्रह का सच्चा नियंत्रण है और वही परिग्रह जनित दुःख को समाप्त कर सकता है। 'दशवैकालिक' सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में कहा है-

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं।।[10]

अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर संयोग (परिग्रह-आसक्ति) को जो मनुष्य त्याग देता है वह मुण्डित होकर अणगार बनता है। वही अणगार दुःख से मुक्त होता है।

संक्षेप में यदि कहा जाए तो पर पदार्थों से मानसिक सम्बन्ध जोड़ लेना ही उनका परिग्रह है। पदार्थ, मनुष्य से, उसकी आत्मा से बाहर रहते हैं, किन्तु मनुष्य उनमें अपनी आसक्ति एवं अधिकार स्थापित कर दुःखी होता रहता है, उनमें ही अपनी आत्मा को समझने लगता है। यह भ्रम (मिथ्यात्व) है और यह भ्रम अविवेकपूर्ण है। विवेक की बात तो यह है कि पर-पदार्थों से मानसिक सम्बन्ध

केवल माना हुआ होता है। प्राणी चाहे तो उनमें सम्बन्ध न माने। सम्बन्ध न मानते ही वह अपरिग्रही हो जाता है। अपरिग्रही होने के पश्चात् दुःख से मुक्ति मिल जाती है।

संदर्भः-

1. (i) मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।- दशवैकालिक, 6.20
   (ii) मूर्च्छा परिग्रहः ।-तत्त्वार्थ सूत्र, 7.12
2. परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
   समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।।-अभिज्ञानशाकुन्तल, 3.17
3. द्रष्टव्य, आचारांग सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1.2.5, सूत्र 124
4. कन्हैयालाल लोढ़ा, दुःखरहित सुख, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2005, पृ. 172
5. आचार्य महाप्रज्ञ, आचारांगभाष्यम्, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, 1994, सूत्र, 174, पृ. 150
6. योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
   एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।-भगवद्गीता 6.10
7. श्रीमद्भगवद्गीता विपुलभाष्य, हंसा प्रकाशन, जयपुर, सन् 2009, पृ. 165
8. शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
   भूमेर्महदायतनं वृणीष्व, स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।-कठोपनिषद्, 1.1.13
9. कठोपनिषद्, अध्याय 1, वल्ली 1, मंत्र 27
10. दशवैकालिकसूत्र, 4.17

परिग्रह-परिमाणव्रत की प्रासंगिकता

आज जहाँ वस्तुओं की सुलभता, धन की प्रचुरता, साधनों की सुविधा आदि को व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के विकास का मानदण्ड समझा जा रहा है वहाँ परिग्रह-परिणाम व्रत की चर्चा की क्या कोई प्रासंगिकता है, यह विचार का विषय है।

परिग्रह-परिमाणव्रत तो बाह्य धन-सम्पदा के स्वामित्व की सीमा बांधता है और यह युग आर्थिक समृद्धि की ओर अग्रसर है। ऐसे में कोई परिग्रह-परिमाण व्रत धारण करता है तो उसे आर्थिक समृद्धि कैसे प्राप्त होगी ? अतः परिग्रह-परिमाण व्रत आर्थिक विकास में बाधक प्रतीत होता है। किन्तु चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि व्रत-ग्रहण और आर्थिक विकास दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं। परिग्रह-परिमाणव्रत मानव की आत्मिक शान्ति के साथ समुचित आर्थिक विकास में सहयोगी होता है। परिग्रह का परिमाण मानव को जो अमूल्य निधि प्रदान कर सकता है, वह अर्थ के असीम अभिलाषी को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। परिग्रह-परिमाण व्रत न केवल व्यक्ति की आत्मिक शान्ति, सन्तोष एवं सुख के लिए आवश्यक है, अपितु समाज के सन्तुलित विकास एवं राष्ट्र की समृद्धि के लिए भी आवश्यक है। यह अर्थशास्त्री केनीज एवं मार्क्स की मान्यताओं से परे मानव को आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार की सम्पन्नता प्रदान करता है।

आज का युग वैज्ञानिक विकास के साथ आर्थिक विकास का युग है। आज समस्त विकास अर्थकेन्द्रित है। इंजीनियरिंग में जाने वाले छात्र हों या प्रबन्धन में, डॉक्टर बनना हो या वकील, प्रशासनिक अधिकारी बनना हो या उद्योगपति, प्रोफेसर बनना हो या राजनेता, प्रायः सबके केन्द्र में अर्थ है। अर्थ को जीवन-स्तर के सुधार का आधार माना जाता है। देश की निर्धनता दूर हो, प्रतिव्यक्ति आय का अनुपात बढ़े एवं सबके जीवन जीने का स्तर ऊँचा उठे, विकास की इस मंजिल के मूल में आर्थिक समृद्धि या आर्थिक विकास को आधार माना जा रहा है। उद्योग अब लघुस्तर की अपेक्षा बृहत्स्तर पर, राष्ट्रीय स्तर की अपेक्षा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विस्तार पाते जा रहे हैं। शिक्षा एवं बौद्धिक क्षमताओं का भी उपयोग अर्थव्यवस्था के विकास में ही किया जाना अपेक्षित समझा जाता है। प्राकृतिक सम्पदा हो या वैज्ञानिक उत्पाद, सबके दोहन और शोषण को व्यापार का हिस्सा बनाया जा रहा

है। अर्थकेन्द्रित व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के समक्ष भगवान महावीर द्वारा श्रावक समाज के लिए प्रतिपादित परिग्रह परिणाम-व्रत कितना प्रासंगिक रह गया है, यह एक विचारणीय बिन्दु है।

अर्थ के साथ गृहस्थ जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी तनाव रहित जीवन जीने के लिए परिग्रह का परिमाण आवश्यक है। जो असीमित इच्छाओं के लोक में विचरण करता है वह अतृप्त एवं अशान्त बना रह कर दुःख के सागर में डुबकियाँ लगाता रहता है। उसका जीवन तनाव एवं दबाव से आक्रान्त रहता है। मस्तिष्क विविध चिन्ताओं की चिता में दग्ध होता रहता है। अर्थप्राप्ति की अन्धी असीमित दौड़ में मानव जिनके लिए धन कमाता है, वह उनके लिए ही समय नहीं निकाल पाता है।

आचारांग सूत्र में अर्थलोभी पुरुष के लिए कहा गया है- '**अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो**'- (आचारांगसूत्र 1.2.2 सूत्र 72)। जो अर्थ का लोभी होता है वह दिन-रात संतप्त रहता है, काल-अकाल में भी अर्थ-प्राप्ति के लिए तत्पर रहता है। इच्छित संयोगों को चाहता हुआ वह चोरी, हत्या एवं भ्रष्टाचार का आलम्बन लेने में भी नहीं चूकता है । उसका चित्त धनादि अर्थ की प्राप्ति में ही लगा रहता है तथा उसके लिए हिंसा आदि करने को भी तत्पर रहता है। इस प्रकार आचारांग का यह सूत्र अर्थ के लोभ के कारण होने वाली मानसिक स्थितियों एवं दोषों का ख्यापन करता है । परिग्रह की भावना ही अर्थ के प्रति लुब्धता उत्पन्न करती है । अपरिग्रही को लोभ नहीं होता, अतः उसका चित्त शान्त रहता है तथा वह हिंसादि अनेकविध दोषों से बच जाता है । आचारांग सूत्र में लोभ को नरक का हेतु स्वीकार करते हुए कहा है- **लोभस्स पासे णिरयं महंतं** । - (आचारांग सूत्र 1.3.2 सूत्र 120) लोभी की स्थिति नारक जीव की भांति होती है जो सुख की लालसा में विषयों का संग्रह करने हेतु सन्नद्ध रहता है, किन्तु अन्त में उसे दुःख ही प्राप्त होता है । नारकी जीव जिस प्रकार एक-दूसरे को दुःख देते हैं, उसी प्रकार लोभी जीव भी एक-दूसरे को दुःखी करते हैं । वे भय एवं आशंका में जीते हैं ।

अर्थ-संग्रह की असीमित दौड़ वाले के लिए आगम-वचन है-

कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया।।

- उत्तराध्ययनसूत्र, 8.16

यदि किसी व्यक्ति को समस्त लोक भी दे दिया जाय, तो उससे भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसलिए मानव को अपने लक्ष्य का सीमाकरण कर लेना चाहिए। आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों ने भगवान महावीर के समक्ष परिग्रह-परिमाण व्रत अंगीकार कर स्वयं को प्रशम सुख के मार्ग पर प्रस्थित कर लिया था। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द आदि श्रावकों ने हिरण्य-सुवर्ण, चौपाए पशु, क्षेत्र-वास्तु, शकटविधि, वाहनविधि आदि का परिमाण किया था। ऐसा करके उन्होंने अपने जीवन को अनेक चिन्ताओं से मुक्त बना लिया था।

कोई यह समझे कि धन का परिग्रह हमारा रक्षक होता है, संकट के समय उसका उपयोग किया जा सकता है तो कहना होगा कि बचत किए हुए धन का संकट में उपयोग हो सकता है, किन्तु उसके प्रति ममत्व रखना कदापि उचित नहीं है। संसार में जो भी वस्तुएँ या धन-सम्पत्ति हमें प्राप्त हुई हैं उनके उपयोग का तो हमें अधिकार है, किन्तु उनके अनावश्यक संग्रह एवं परिग्रह का हमें अधिकार नहीं है। धनादि का अधिक संग्रह भी मनुष्य को मरण से नहीं बचा पाता है, इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया - **न वित्तेण ताणं लभे पमत्ते**।- (उत्तराध्ययन, 4.5) अर्थात् प्रमत्त मनुष्य धन से त्राण प्राप्त नहीं कर सकता।

परिग्रह का अर्थ बाह्य भौतिक वस्तुओं का संग्रह मात्र नहीं है। परिग्रह का तात्पर्य है मूर्च्छा-**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो** (दशवैकालिक, 6.21) मूर्च्छा का तात्पर्य ममत्व या आसक्ति भाव है। पर-वस्तु में अपना ममत्व या स्वामित्व समझना परिग्रह है। यह व्यक्ति को चारों ओर से जकड़ लेता है। इसलिए इसे परिग्रह कहा गया है। आगम में परिग्रह को दुःख एवं बन्धन का कारण प्रतिपादित करते हुए कहा गया है -

किमाह बंधणं वीरे, किं वा जाणं तिउट्टइ ?
चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अण्णं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ।।

- सूत्रकृताङ्ग 1.1.1-2

सूत्रकृताङ्ग सूत्र में प्रश्न किया गया - "भगवान महावीर ने बन्धन किसे कहा है, तथा क्या जानकर बन्धन को तोड़ा जा सकता है ?" गणधर सुधर्मा ने जम्बू स्वामी को उत्तर दिया है - "जिसका चेतन प्राणी या अचेतन पदार्थो के प्रति थोड़ा भी परिग्रह है अथवा उस परिग्रह का समर्थन है तो वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।" पूर्णतः दुःख -मुक्ति के लिए परिग्रह (ममत्व) का त्याग अनिवार्य है।

यद्यपि आगम में मूर्च्छा या ममत्व को परिग्रह कहा है, किन्तु इसका यह आशय नहीं कि गृहस्थ बाह्य साधन-साम्रगी या धन-सम्पदा कितनी भी रखे, और मूर्च्छा से रहित रहे। बाह्य धन-सम्पदा या वस्तुओं का स्वामित्व रखते हुए कोई ममत्व या मूर्च्छा से रहित नहीं हो सकता। उस मूर्च्छा को नियन्त्रित करने के लिए ही श्रावकाचार में इच्छा-परिमाण या परिग्रह-परिमाण व्रत को स्थान दिया गया है। परिग्रह का परिमाण मनुष्य की इच्छाओं का सीमांकन कर देता है। दूसरी बात यह है कि परिग्रह के साथ आरम्भ, मिथ्याभाषण, चौर्य, लोभ, अहंकार आदि सारे पाप जुड़े हुए हैं। जो अल्पेच्छ या मितेच्छ हो जाता है, किं वा परिग्रह का परिमाण कर लेता है वह सब पापों को नियन्त्रित करने की ओर चरण बढ़ा लेता है। उसको दूसरे पापों पर भी विजय प्राप्त करने में आसानी हो जाती है।

आभ्यन्तर परिग्रह के 14 भेद हैं- 1. मिथ्यात्व 2. क्रोध 3. मान 4. माया 5. लोभ 6. हास्य 7. रति 8. अरति 9. शोक 10. भय 11. जुगुप्सा 12. स्त्रीवेद 13. पुरुषवेद एवं 14. नपुंसक वेद। इस प्रकार आभ्यन्तर रूप से परिग्रह का विस्तार मिथ्यात्व, चार कषाय एवं नौ नोकषाय तक व्याप्त है। ये सारे भेद मोहकर्म से सम्बद्ध हैं।

बाह्य परिग्रह के मुख्यतः पाँच प्रकार निरूपित हैं- 1. हिरण्य-सुवर्ण 2. क्षेत्र-वास्तु 3. धन-धान्य 4. द्विपद-चतुष्पद तथा 5. कुप्यादि-वस्तु। श्रावक इन सबकी मर्यादा करता है। वर्तमान काल में परिग्रह योग्य अनेक वस्तुओं तथा साधन-सामग्री का विस्तार हुआ है। उन सबका भी परिमाण किए जाने की आवश्यकता है। आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह में कमी होने पर जीवन आसान हो जाता है। जो श्रावक इन परिग्रहों का जितना परिमाण कर लेता है, वह अपनी जीवनयात्रा को उतना सुखकर बना लेता है। आगम में

परिग्रह-परिमाण के साथ आजीविका के साधनों की पवित्रता पर भी ध्यान दिया गया है। अंगार कर्म, वन कर्म आदि 15 व्यवसायों को हिंसा के आधिक्य एवं कर्मबन्धन का प्रमुख स्रोत होने से श्रावक के लिए त्याज्य बताया गया है।

अर्थ-विकास के इस युग में गृहस्थ श्रावक के द्वारा परिग्रह-परिमाण के औचित्य के सन्दर्भ में यहाँ पर कतिपय बिन्दु प्रस्तुत हैं-

(1) प्रश्न यह होता है कि जिसके पास पर्याप्त धन-सम्पदा है वह यदि परिग्रह परिमाण करे तो उचित प्रतीत होता है, किन्तु जिसके पास खाने को रोटी नहीं, पहनने को कपड़े नहीं, रहने को आवास नहीं, आजीविका का स्थायी साधन नहीं, प्रतिदिन मजदूरी कर जो उदर का भरण करता हो उसके द्वारा परिग्रह-परिमाण किया जाना क्या उचित हो सकता है? परिग्रह-परिमाण व्रत तो उसी को सुशोभित हो सकता है जिसके पास मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने के पश्चात् भी पर्याप्त साधन विद्यमान हों। उपासकदशांग सूत्र का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि आनन्द आदि श्रावकों के पास करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ थीं, तब उन्होंने भगवान महावीर के मुखारविन्द से परिग्रह का परिमाण किया। किसी निर्धन ने परिग्रह का परिमाण किया हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान यह कह कर किया जा सकता है कि कोई निर्धन भावी की अपेक्षा से वर्तमान में भी परिग्रह परिमाण कर सकता है। सम्भव है भविष्य में उसके पास करोड़ों की धन-सम्पदा हो जाए, अतः वह उस अपेक्षा से वर्तमान में भी परिग्रह परिमाण करे तो अनुचित नहीं। परिग्रह-परिमाण का उद्देश्य है वस्तु एवं व्यक्तियों के प्रति ममत्व एवं आसक्ति को हेय समझकर उनके प्रति आकर्षण को कम करते हुए पूर्णतः समाप्त करना। कोई व्यक्ति निर्धन होने से अपरिग्रही नहीं होता। निर्धनता एवं अपरिग्रह में महान् भेद है। निर्धन व्यक्ति भी धन, वस्तु, भवन आदि के लिए तीव्र लालसा एवं कामना मुक्त हो सकता है, तो वह भी परिग्रही ही है। उस लालसा को जीतना ही अपरिग्रह-सिद्धान्त का मूल प्रतिपाद्य है। अतः परिग्रह का परिमाण करते समय परिग्रह रखने की अधिकाधिक इच्छा त्याज्य है। कुछ लोग जितनी धन-सम्पदा उनके पास जीवन पर्यन्त न हो सके, उतने परिग्रह की मर्यादा करते हैं, जो समीचीन नहीं है। आनन्द आदि श्रावकों ने परिग्रह

का परिमाण भावी की अपेक्षा से नहीं, जितना उनके पास था उसके आधार पर किया था। श्रावक के तब के एवं अब के आचार में यह एक प्रमुख भेद है कि वर्तमान में श्रावक की व्रत रखते समय भी परिग्रह की भावना बलवती रहती है, जबकि आनन्द आदि श्रावकों में व्रत-अंगीकार करने के साथ परिग्रह-त्याग का भाव उच्च था।

(2) इच्छा-परिमाण या परिग्रह परिमाण से आर्थिक विकास अवरुद्ध नहीं होता, अपितु परिमाण से अधिक अर्जित राशि का उपयोग बेरोजगारों को रोजगार उपलब्ध कराने में अथवा समाजहित या राष्ट्रहित के उपयोगी कार्यों में किया जा सकता है। इससे समाज में आर्थिक सन्तुलन भी बनता है तथा हर जरूरतमन्द को जीवन-निर्वाह का साधन मिल जाता है । परिग्रह-परिमाण व्रती के लिए दूसरे शब्दों में कहें तो जिसे अपने लिए नहीं चाहिए, वह दूसरों के लिए उपयोगी बन जाता है।

(3) वर्तमान आर्थिक युग में उपभोक्तावाद का प्रबल प्रभाव है। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ या औद्योगिक प्रतिष्ठान अपने उत्पाद बेचने के लिए मनोवैज्ञानिक ढंग से दूरदर्शन, आकाशवाणी, अखबार, होर्डिंग आदि के माध्यम से ऐसा विज्ञापन करते हैं कि आवश्यकता न होने पर भी उन्हें खरीदने हेतु मनुष्य का मन बन जाता है। यही नहीं कम्पनियों द्वारा बिना ब्याज के किश्तों में उन उत्पादों की उपलब्धता से ग्राहकों को आकर्षित किया जाता है। बैंकों द्वारा प्रदत्त ऋण एवं कैशकार्ड-क्रेडिट कार्ड भी इसमें अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। उत्पादों में परस्पर स्पर्धा है, इसलिए ग्राहकों को अहं आकर्षित कर आर्थिक कारोबार में तेजी लायी जाती है। मध्यम वर्ग का मानव आज अपनी आय से अधिक वस्तुओं को क्रय करने में अपनी प्रतिष्ठा समझने लगा है। घर पर उपलब्ध ये वस्तुएँ मनुष्य की प्रतिष्ठा की मानदण्ड समझी जा रही हैं। जिसके पास सुविधाओं का जितना अम्बार है, वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। इससे मानव की असन्तुष्टि का ग्राफ निरन्तर ऊँचा जा रहा है। पहले जहाँ एक स्कूटर से व्यक्ति सन्तुष्ट था वहाँ आज वह एक कार से भी असन्तुष्ट है। अब उसे घर के प्रत्येक सदस्य के लिए अलग-अलग कारें चाहिए। वे भी सामान्य नहीं, वातानुकूलित होनी चाहिए । वे भी नया मॉडल निकलने पर फिर बदल ली जाती हैं। मोबाइल फोन की विविधता एवं सुविधा-सम्पन्नता का विस्तार

तेजी से हो रहा है।

यहाँ पर दो बिन्दु उभर कर आते हैं। पहला तो यह कि सुविधाओं का जितना विस्तार या विकास होता है, मनुष्य से संतोष उतना ही दूर होता जाता है। यदि वह परिमाण या नियन्त्रण करके चलता है तो सदैव सन्तुष्ट रह सकता है । दूसरा बिन्दु यह है कि वैज्ञानिक साधनों एवं सुविधाओं से मनुष्य की कार्यक्षमता बढ़ी है। इस दृष्टि से इनकी उपयोगिता है। किन्तु इन सुविधाओं ने उसको पराधीनता में ही जकड़ा है तथा उसके मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य को भी प्रभावित किया है।

(4) आर्थिक विकास को ही यदि केन्द्र में रखा जाए एवं न्याय-नीति को गौण कर दिया जाय तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, यथा - अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असंयम, लोभ, वस्तुओं की दासता, शोषण, मिलावट, तस्करी, काला बाजारी, धोखाधड़ी आदि। इसके विपरीत यदि मानव-हित को लक्ष्य में रखकर परिग्रह की मर्यादा को प्रोत्साहन दिया जाए तो उपर्युक्त दोषों में निश्चित रूप से कमी आ सकती है।

(5) मात्र अर्थ-केन्द्रित विकास मनुष्य की वृत्तियों को पशुत्व की ओर ले जा सकता है। वह उसे संवेदनाशून्य, क्रूर एवं स्वार्थी बनाता है, किन्तु परिग्रह-परिमाण व्रत मनुष्य को जीवन मूल्यों से जोड़े रखता है, जिससे वह अपनी दुष्प्रवृतियों पर नियन्त्रण करने के साथ जगत् के अन्य प्राणियों के प्रति संवेदनशील, उदार एवं सहयोगी बनता है। आर्थिक विकास के साथ मानवता का विकास भी आवश्यक है, जिसमें परिग्रह-परिमाण व्रत की महती भूमिका हो सकती है।

(6) परिग्रह का परिमाण अनेक कारणों से मानव जाति के लिए लाभप्रद है, उनमें से कतिपय कारण इस प्रकार हैं-

1. परिग्रह परिमाण मानव को आत्म-सन्तोष एवं शान्ति प्रदान करता है।
2. अनन्त इच्छाओं को सीमित करने के कारण व्यक्ति मनोजयी, इन्द्रिय-विजेता एवं आत्म-विजेता बनता है।
3. परिमाण से अधिक धन होने पर व्यक्ति उसका जनहित में उपयोग कर सकता है।
4. वह जगत् में अनेक लोकोपकारी कार्य कर पुण्य का संचय कर सकता है।

5. परिग्रह पाप है, अतः उसका त्याग एवं परिमाण आत्महितकारी है ।
6. आरम्भ, मिथ्या भाषण, चौर्य, लोभ आदि दोषों से बचने के कारण आस्रव का निरोध कर कर्म बन्धन से बचा जा सकता है।
7. जहाँ आस्रव-निरोध रूप संवर की साधना होती है, वहाँ पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा भी सहज ही होने लगती है।
8. परिग्रह-परिमाण करने वाला व्यक्ति निर्धन वर्ग की ईर्ष्या का भाजन बनने से बच जाता है।
9. हृदय में उदारता की भावना को बल मिलता है, जो स्वयं को एवं दूसरों को प्रसन्न रखने में सहायक होती है।
10. परिग्रह का परिमाण सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय होता है, क्योंकि उसमें सम्पदा पर एकाधिपत्य की भावना का नाश हो जाता है। अपनी पूर्ति होने के पश्चात् सर्वकल्याण का भाव विकसित हो सकता है।

सम्प्रति न केवल भारत में, अपितु समस्त विश्व में बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, आतंकवाद, और पर्यावरण प्रदूषण की समस्याएँ मुँहबायें खड़ी हैं। इन समस्याओं के निराकरण में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित परिग्रह परिमाणव्रत एक सार्थक उपाय सिद्ध हो सकता है। बेरोजगारी एवं निर्धनता से पीड़ित व्यक्तियों को ईश्वर या भाग्य के भरोसे छोड़ना उचित नहीं है। उनके मन में असीम इच्छाओं की उत्पत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करना भी समुचित नहीं। उनके लिए श्रमनिष्ठ आजीविका के साधनों का विकास तथा तदनुकूल शिक्षण का विकास आवश्यक है। परिग्रह-परिमाणव्रती श्रावक-समाज इस दिशा में थोड़े क्षेत्र में ही सही, आदर्श निदर्शन बन सकता है।

भ्रष्टाचार की समस्या पुरातनकाल से चली आ रही है। बिना श्रम के धन अर्जित करने की लालसा ही इसका मूल कारण प्रतीत होती है। व्रती व्यक्ति इस प्रकार की लालसा से रहित होकर भ्रष्टाचारमुक्त वातावरण प्रदान कर सकता है। धन या सत्ता की प्राप्ति आतंकवाद का मुख्य हेतु है। परिग्रह-परिमाणव्रती स्वयं इससे मुक्त रहता है, साथ ही दूसरों के लिए भी वह प्रेरक उदाहरण बन सकता है।

पर्यावरण प्रदूषण की समस्या प्राकृतिक सम्पदा के शोषण और उसके रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़ी हुई है। मानव सुख-सुविधा के जितने साधन जुटाता है वह उतना ही प्रदूषण फैलाता है। परिग्रह व्रत को यदि व्यापक स्तर पर स्वीकार कर लिया जाए तो पर्यावरण प्रदूषण की समस्या पर एक सीमा तक नियन्त्रण हो सकता है।

इस प्रकार परिग्रह-परिमाण जहाँ आत्मिक शान्ति, सौहार्द एवं भावात्मक समृद्धि का हेतु है, वहाँ वह समाज, राष्ट्र एवं विश्व की विभिन्न समस्याओं के निराकरण में भी सहायक है।



पर्यावरण-संरक्षण में भोगोपभोग-परिमाणव्रत की भूमिका

पर्यावरण की अशुद्धि का मानव-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण के प्रदूषित होने पर मानव के सर्वविध स्वास्थ्य के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। यही नहीं प्राणिमात्र का जीवन संकट में पड़ जाता है। इसलिए पर्यावरण की शुद्धता आवश्यक है। पर्यावरण के प्रदूषण में मानव का जितना हाथ है, उतना किसी अन्य प्राणी का नहीं। उसकी गंदी प्रवृत्तियों से वायु, जल, पृथ्वी आदि सभी प्राकृतिक तत्त्व निरन्तर प्रदूषित हो रहे हैं। आज विकास की दौड़ के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन हो रहा है तथा भोग-उपभोग की वस्तुओं में निरन्तर वृद्धि हो रही है, जिससे पर्यावरण में अनेकविध प्रदूषण उत्पन्न हो रहे हैं। जैन धर्म में भोगोपभोग परिमाण-व्रत का विधान है, जिसकी प्राकृतिक संसाधनों के अनावश्यक दोहन तथा कचरे से उत्पन्न प्रदूषण को रोकने में महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। प्रस्तुत आलेख में उसकी चर्चा की जा रही है।

आगम-साहित्य में पर्यावरण चेतना

पर्यावरण-संरक्षण इस युग की महती आवश्यकता है। पर्यावरण और उसके संरक्षण के संबंध में जैनागमों में पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध होता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में भगवान महावीर की वाणी पर्यावरण-चेतना से ओत-प्रोत दिखाई पड़ती है। आचारांग-सूत्र में पर्यावरण के प्रति भगवान महावीर की विशद चेतना का साक्षात्कार होता है। उन्होंने अनुभव कर प्रतिपादित किया कि बहुत से जीव ऐसे हैं, जिनकी काया मात्र पृथ्वी है, बहुत से जीव ऐसे हैं जिनकी काया मात्र जल है। इसी प्रकार अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकायिक जीवों में भी महावीर ने चेतना का अनुभव किया । भगवान महावीर ने सब जीवों में इस तथ्य का साक्षात्कार किया कि सभी प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है, वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, सभी जीव जीना चाहते हैं-"**सव्वे पाणा पिआउया, सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीवितुकामा सव्वेसिं जीवितं पियं।**" (आचारांग सूत्र 2.2.3)

सभी जीवों के प्रति एकात्मता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा - "**तुमं सि**

णाम तं चेव जं हंतव्वं त्ति मण्णसि'' (आचारांग 1, 5.5) जिसे तुम मारने योग्य समझते हो, वह तुम ही हो। अर्थात् तुम्हारे में एवं अन्य जीव में कोई भेद नहीं है। इसी आशय को अभिव्यक्त करते हुए स्थानांग सूत्र में चेतना की दृष्टि से आत्मा को एक भी कहा गया है- '**एगे आया**' (स्थानांग सूत्र 1.1)

पर्यावरण : जैन दृष्टि में

हमारे चारों ओर जो कुछ है, वह सब पर्यावरण है- **परितः आवरणं पर्यावरणम्**। हम भी उस पर्यावरण के अंग हैं। यह पर्यावरण जैन दर्शनानुसार दो प्रकार का है - सजीव और निर्जीव। धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल का समावेश निर्जीव पर्यावरण में तथा पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रसकायिक जीवों का समावेश सजीव पर्यावरण में होता है। यह लोक अनेक सूक्ष्म जीवों एवं अजीव द्रव्यों से पूरी तरह भरा हुआ है । आज जो बैक्टीरिया प्रोटोजोआ आदि सूक्ष्म जीवों की चर्चा की जाती है वह भी सजीव पर्यावरण का अंग है। सजीव एवं निर्जीव दोनों प्रकार के द्रव्य मिलकर पर्यावरण को पूर्णता प्रदान करते हैं। दोनों की पारस्परिक उपयोगिता है। जीव में उत्पन्न प्रदूषण का फल अजीव पुद्गल पदार्थों पर भी दृष्टिगोचर होता है तथा अजीव पदार्थों का प्रभाव जीव पर भी पड़ता है । इसकी पुष्टि तत्त्वार्थसूत्र के अग्रांकित सूत्रों से होती है-

- गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।
- आकाशस्यावगाहः।
- शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्।
- सुख-दुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च।
- परस्परोपग्रहो जीवानाम्।
- वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य। -तत्त्वार्थसूत्र 5.17-22
- धर्म एवं अधर्म द्रव्य का उपकार गमन एवं स्थिति में निमित्त होना है।
- आकाश का कार्य अन्य सभी द्रव्यों को स्थान देना है।
- पुद्गल से जीव को शरीर, वाणी, मन, प्राण एवं अपान प्राप्त होते हैं।
- सुख-दुःख, जीवन-मरण रूप उपग्रह भी पुद्गलों द्वारा सम्पन्न होते हैं।

- जीव परस्पर एक-दूसरे के उपकारक हैं।
- काल का कार्य परिणमन, क्रिया एवं परत्व-अपरत्व (ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व)है।

इस प्रकार जीव एवं अजीव का परस्पर घनिष्ठ संबंध है । दोनों एक-दूसरे के उपकारक हैं। अजीव का अजीव के साथ एवं जीव का जीव के साथ भी उपकार्य - उपकारक भाव संबंध है। इसलिए निश्चयनय से यह कहना कि किसी एक द्रव्य का दूसरे पर प्रभाव नहीं होता, उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । पर्यावरण प्रदूषण की समस्या पर विचार इस तथ्य का द्योतक है कि जीव अजीव से प्रभावित होता है। अजीव में प्रदूषण भी जीवन को दूभर बना देता है ।

प्रदूषण की समस्या

अतः पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या वास्तविक है । पर्यावरण के घटकों में किसी प्रकार का दोष-उत्पन्न होना पर्यावरण-प्रदूषण है। इस प्रदूषण का प्रभाव न केवल दूषित घटक पर होता है, अपितु अन्य घटकों पर भी दृष्टिगोचर होता है । जल में यदि प्रदूषण है तो उसको पीने वाले प्राणी भी रोगग्रस्त होते हुए देखे जाते हैं । वायु का प्रदूषण भी प्राणियों के सामान्य एवं स्वस्थ जीवन को बाधित करता है । इस प्रकार प्रदूषण से न केवल वह प्रदूषित वस्तु प्रभावित होती है, अपितु अन्य वस्तुएँ एवं प्राणी भी प्रभावित होते हैं । अधिकतर प्रदूषण मानव के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं। उसके मन में उत्पन्न इच्छाओं, कामनाओं, तृष्णाओं आदि से पहले वह स्वयं प्रदूषित होता है तथा बाद में पर्यावरण के अन्य घटकों को प्रदूषित करता है। इस प्रदूषण का फल फिर स्वयं मनुष्य एवं अन्य प्राणियों को भोगना पड़ता है। पर्यावरण के अजीव घटक में हुए प्रदूषण से हमारा जीवन निश्चित ही प्रभावित होता है, इसीलिए इस प्रदूषण के निराकरण का विचार उठता है ।

पर्यावरण-प्रदूषण का एक प्रमुख कारण है- 'अमर्यादित भोगोपभोग। आज मनुष्य उपभोग-परिभोग की मर्यादा को लांघ चुका है । वह अधिकाधिक भोग-साम्रगी की उपलब्धि को विकास का सूचक मानता है । धनी राष्ट्र भौतिक सुख-सुविधाओं में निरन्तर अभिवृद्धि करते हुए प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक दोहन कर रहे हैं । प्राकृतिक सम्पदा के दोहन का अतिरेक एक प्रकार का शोषण है, जो भावी पीढ़ी के लिए अभिशाप है । आज मनुष्य कृत्रिम उर्वरकों,

कीटनाशकों एवं रसायनों का प्रयोग कर भूमि की स्वाभाविक उर्वरता को समाप्त कर रहा है। वनस्पति के उत्पादनों में रोग-प्रतिरोधक शक्ति न्यून होती जा रही है। देश में वनभूमि का प्रतिशत निरन्तर घटता जा रहा है। फर्नीचर आदि के लिए वनों का निरन्तर विनाश हो रहा है। औद्योगीकरण से उत्पन्न प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। बडे-बडे कारखानों से उठता हुआ धुआँ वायुप्रदूषण को जन्म दे रहा है। सड़कों पर दौड़ते वाहन श्वास लेने में कठिनाई का अनुभव करा रहे हैं। फ्रिज आदि में प्रयुक्त क्लोरो फलोरो कार्बन ओजोन परत में विघटन उत्पन्न कर रहा है। खाद्य पदार्थों में मिलावट एवं प्लास्टिक पैंकिग का प्रयोग भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहा है। इन दिनों फास्ट फूड की संस्कृति देश-विदेश में विस्तार पा रही है, किन्तु यह भोजन स्वादिष्ट भले ही हो, पौष्टिक तो कदापि नहीं है। सौन्दर्य-प्रसाधन सामग्री के लिए भी अनेक मासूम प्राणियों की हिंसा की जा रही है। ये सौन्दर्य-प्रसाधन चर्मरोगों को भी जन्म दे रहे हैं। इस प्रकार भोगोपभोग की सामग्री प्राकृतिक पर्यावरण को प्रदूषित कर रही है। गुटखा, शराब, तम्बाखू आदि का सेवन न केवल सेवनकर्ता को प्रभावित करता है, अपितु इससे अन्य लोग भी प्रभावित होते हैं।

उपभोक्ता संस्कृति के इस युग में भोगोपभोग की साम्रगी के प्रति लिप्सा बढ़ी है। उसका अधिकाधिक संग्रह करने के लिए व्यक्ति लालायित हुआ है। विज्ञापन के इस युग में उपभोक्ता में भोग्यवस्तुओं को क्रय करने हेतु आकर्षण उत्पन्न किया जाता है। बालकों, युवाओं, स्त्रियों एवं प्रौढों की रुचि के अनुरूप मनोवैज्ञानिक ढंग से विज्ञापन देने की विधि का निरन्तर विकास हो रहा है। इससे विज्ञापित वस्तुएँ उपभोक्ता की आवश्यकता बनकर उभरती हैं और वह फिर उन्हें खरीदने के लिए आतुर हो जाता है। इस उपभोक्ता संस्कृति के कारण पर्यावरण प्रदूषण में बेतहाशा वृद्धि हुई है। मर्यादाहीन भोगोपभोग या उपभोग-परिभोग के कारण अनेक हानियाँ हुई हैं, यथा-

1. जीवनदायी वायु, जल एवं खाद्य वस्तुओं में प्रदूषण बढ़ा है। 2. खनिज पदार्थो का भरपूर दोहन या शोषण हो रहा है। 3. पेट्रोलियम पदार्थों की खपत बढ़ी है। फलस्वरूप इनका भी संकट उपस्थित हो सकता है। 4. कृषियोग्य भूमि का उद्योग

एवं आवासों में रूपान्तरण हुआ है। 5. पीने योग्य पानी की कमी हुई है। 6. पृथ्वी का तापमान बढ़ा है। 7. जंगलों का विनाश हुआ है। 8. शारीरिक रोगों मे वृद्धि हुई है। कैंसर, एड्स जैसे रोग पैदा हुए हैं, 9. जीवन प्राकृतिक सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य से वंचित हो रहा है। 10. मानसिक तनाव बढ़ा है, मनोविकारों में वृद्धि हुई है। 11. परिवारों का बिखराव हुआ है। 12. समाज में विषमता बढ़ी है, दस प्रतिशत धनिक लोगों का नब्बे प्रतिशत साधनों पर नियन्त्रण है। 13. पारस्परिक संवेदनशक्ति घटी है। 14. करुणा, अनुकम्पा, सहयोग एवं सहानुभूति में कमी आई है। 15. संबंधों की पवित्रता दूषित हुई है। 16. हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन सेवन एवं परिग्रह में वृद्धि हुई है। ऐसे और भी अनेक दुष्परिणाम हैं जो भोगोपभोग की अमर्यादा के कारण उत्पन्न हुए हैं। इनसे आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार का पर्यावरण दूषित हुआ है।

भोगोपभोग की सामग्री : विकास का सम्यक् मापदण्ड नहीं

आज विकास का मापदण्ड भोग-उपभोग की सामग्री में वृद्धि के आधार पर आंका जाता है, किन्तु विकास का यह सही मापदण्ड प्रतीत नहीं होता। वास्तविक विकास में आम लोगों की सम्यक् समझ का विकास आवश्यक है। वस्तु का होना विकास नहीं, अपितु उसका उपयोग किस प्रकार एवं कितना किया जाए, उसका शिक्षण भी आवश्यक है। प्रसिद्ध **अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन** ने इस संदर्भ में सही कहा कि पिछड़े वर्ग का शैक्षणिक एवं सामाजिक स्तर जब तक उन्नत नहीं होगा तब तक समुचित विकास संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि भौतिक सामग्री के वृद्धिरूप विकास पर्यावरण प्रदूषण का उत्पादक एवं अभिवर्धक होने के कारण समग्रता की दृष्टि से ह्रास ही अधिक कर रहा है, जिसका दूर दृष्टि के अभाव में हम मूल्यांकन नहीं कर पा रहे हैं। यह विकास का व्यवस्थित रूप नहीं है। यदि पर्यावरण का उपयोग सहज रूप में होता है तो उससे पर्यावरण का संतुलन बना रहता है, किन्तु जब उसमें अनावश्यक हस्तक्षेप किया जाता है तो इससे पर्यावरण का अंसतुलन बढ़ता है।

हिंसा, आतंक, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि की घटनाओं में कमी होना विकास

का सूचक माना जा सकता है, किन्तु आज इनके बढ़ने से मानसिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रदूषण भी बढ़ रहा है, जो ह्रास का सूचक है।

पर्यावरण प्रदूषण को रोकने एवं पर्यावरण को संरक्षित रखने के लिए जैनदर्शन में अनेक उपाय उपलब्ध हैं। इनमें अंहिसा, सत्य, अचौर्य आदि १२ व्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर श्रावक के उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के आधार पर पर्यावरण-संरक्षण पर विचार किया जा रहा है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत से पर्यावरण संरक्षण

भोग या परिभोग वस्तु का एक बार होता है, यथा- भोजन आदि का। उपभोग एक से अधिक बार होता है, यथा- वस्त्र, मकान आदि का। भगवान ने श्रावक के लिए भोगोपभोग की मर्यादा हेतु उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत प्रतिपादित किया है। इसमें खाने-पीने एवं अन्य प्रकार की वस्तुओं के उपयोग की मर्यादा की जाती है।

उपभोग-परिभोग का यदि परिमाण कर लिया जाए तो पर्यावरण की संरक्षा स्वतः हो सकेगी। कतिपय बिन्दु नीचे प्रस्तुत हैं-

1. भोगोपभोग के योग्य वस्तुओं का परिमाण कर लेने पर उनकी माँग कम होगी। मांग कम होने पर उत्पादन कम करना होगा। उत्पादन कम होने से प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कम होगा। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कम होने से प्रदूषण कम होगा एवं परिस्थिति का संतुलन बना रहेगा।
2. उपभोग-परिभोग की जितनी अधिक लालसा होती है, उतना ही मनुष्य भोगोपभोग की सामग्री का अधिक संग्रह करता है। अधिक संग्रहवृत्ति से किसी एक के पास वस्तुओं की उपलब्धता बढ़ जाती है, जबकि इससे दूसरे के अधिकारों का हनन होता है। उन्हें अनावश्यक रूप से उस वस्तु या सामग्री से वंचित रहना पड़ता है। इस प्रकार भोगोपभोग का परिमाण न होना सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषित करता है। यदि भोगोपभोग का परिमाण हो जाए तो राष्ट्र और विश्व की सामाजिक विषमता दूर की जा सकती है।
3. उपभोग-परिभोग का परिमाण कर लेने पर आहार, जल एवं वनों का अनावश्यक विनाश रुक सकेगा। आज पेयजल की कमी का एक प्रमुख कारण

जल का दुरुपयोग भी है। जल का यदि आवश्यक एवं सीमित उपयोग हो तथा इसके अनावश्यक दुरुपयोग को रोका जाए तो जल की समस्या पर भी विजय पायी जा सकती है तथा उससे होने वाली गंदगी एवं प्रदूषण को भी रोका जा सकता है। इसी प्रकार लकड़ी के उपयोग को मर्यादित कर लिया जाए तो वनों की कटाई पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।

4. उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत मानसिक प्रदूषण को भी नियन्त्रित करता है तो बाह्य भौतिक प्रदूषण को भी रोकता है । भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करने वाले व्यक्ति की इच्छाएँ सीमित होती हैं। असीमित इच्छाओं से व्यक्ति का अन्तर्मन दूषित होता है तथा उसका प्रभाव बाह्य प्रदूषण को बढ़ाने के रूप में व्यक्त होता है।

5. आज यदि कोई यह व्रत कर ले कि उसे पॉलीथिन की थैलियों का प्रयोग नहीं करना है तो इससे पॉलीथिन की थैलियों से उत्पन्न होने वाले प्रदूषण पर रोक लगेगी । प्रश्न यह खड़ा होता है कि एक व्यक्ति के द्वारा ऐसा व्रत लेने से क्या होगा ? तो कहना होगा कि इस प्रकार का व्रत लेने की सामूहिक प्रेरणा करनी होगी। जितने व्यक्ति इसका प्रयोग छोड़ेंगे, उतने ही अनुपात में तज्जन्य प्रदूषण कम हो सकेगा। उल्लेखनीय है कि राजस्थान सरकार ने पॉलीथिन की थैलियों के प्रयोग पर रोक भी लगायी है । इसका जब अन्य पदार्थों के साथ गाय भक्षण करती है तो उसके प्राण खतरे में पड़ जाते हैं । पॉलीथिन की थैली तो एक उदाहरण है। इसी प्रकार अन्यविध प्रदूषणों को रोकने हेतु भोगोपभोग की मर्यादा एक महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध हो सकती है। सरकार भी इसमें बृहत्स्तर पर नियम बनाकर अपना योगदान कर सकती है। चमड़े का प्रयोग हो या माँस का प्रयोग, उसके प्रयोग का यदि त्याग कर लिया जाए तो पशुवध पर तो रोक लगेगी ही, किन्तु कुल मिलाकर पारिस्थितिकी संतुलन एवं पर्यावरण पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा ।

6. धूम्रपान, शराब, गुटखा आदि के सेवन का त्याग करके भी पर्यावरण को शुद्धबनाने में सहयोग किया जा सकता है। गुटखे के पाउच भी आज पर्यावरण प्रदूषण को निरन्तर बढा रहे हैं।

7. श्रावक के उपभोग-परिभोग व्रत के साथ 15 कर्मादानों की भी चर्चा की जाती है। उपासकदशांग (प्रथम अध्ययन) एवं आवश्यक सूत्र में श्रावक के लिए 15 प्रकार के धन्धे त्याज्य बताये गए हैं, क्योंकि वे कर्मबंध के महान् कारण हैं। किन्तु विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि ये 15 कर्मादान पर्यावरण को भी प्रदूषित करते हैं। 15 कर्मादानों में मुख्य हैं- अंगार कर्म, वन कर्म, भूमि-खनन कर्म, पशु-भाटक कर्म, दन्त-व्यापार, मद्य-व्यापार आदि। आज वन-संरक्षण को शुद्ध पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण घटक माना जाता है । वन का संरक्षण वनकर्म एवं अंगार कर्म का त्याग करने पर स्वतः सहज रूप में हो सकता है।
8. भोगोपभोग की लालसा ने औद्योगीकरण को जन्म दिया है। औद्योगीकरण के विकास के साथ ही मशीनों से निकलते धुएँ, कचरे आदि से वायु एवं जल प्रदूषित हुए हैं। भोगोपभोग पर नियन्त्रण इस प्रदूषण को रोकने में अवश्य ही कारगर उपाय सिद्ध हो सकता है।
9. दूरदर्शन, रेडियो, ध्वनिवर्धक यन्त्र आदि ध्वनि-प्रदूषण में अभिवृद्धि कर रहे हैं। फ्रिज, एयरकण्डीशनर आदि घर के अन्दर एवं बाहर प्रदूषण फैलाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति भोगोपभोग की ओर जितना अधिक लालायित होगा, उतना ही वह प्रदूषण को आमंत्रण देगा।
10. पशु-पक्षी पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करते, क्योंकि उनमें संग्रहवृत्ति नहीं पायी जाती है। मनुष्य अधिकाधिक भोग-सामग्री का संग्रह करने का अभिलाषी है, अतः वह पर्यावरण को प्रदूषित करने में सबसे बड़ा घटक है।
11. जब तक भोगोपभोग की मर्यादा नहीं की जाती, तब तक हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मसेवन एवं परिग्रह रूप पापों के सेवन की संभावना अधिकाधिक बनी रहती है, जिनके कारण परोक्ष रूप से पर्यावरण प्रदूषण में वृद्धि होती है ।

उपसंहार

वायु, जल आदि वस्तुओं का सेवन तभी लाभकारी है जब वे प्रदूषण रहित हों। विकृत या प्रदूषित अवस्था में उनका सेवन हितकर नहीं है। इसलिये हमें उन्हें

प्रदूषित नहीं करने का संकल्प लेना होगा। आधुनिक विज्ञान पर्यावरण के घटकों में प्रदूषण की चर्चा तब करता है जब वह प्रदूषण बृहत् स्तर पर जन-समुदाय या प्राणिसमुदाय को प्रभावित करता है, जबकि जैनदर्शन में एक व्यक्ति के द्वारा किए गए प्रदूषण को भी 'पाप' कहकर उसे त्याज्य प्रतिपादित किया गया है। आज मनुष्य न केवल भोगोपभोग के लिए, अपितु बिना प्रयोजन के भी पर्यावरण प्रदूषण में लगा हुआ है। शास्त्रकार ऐसे अनर्थदण्ड से भी बचने की प्रेरणा करते हैं।

जैनधर्म की समस्त साधना प्रदूषणों को दूर करने की साधना है। इसके द्वारा आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के प्रदूषणों पर विजय पायी जा सकती है।

वस्तुओं का सम्यक् उपयोग पर्यावरण के लिए हानिकारक नहीं, उनका अमर्यादित भोग एवं उपभोग हानिकारक है। इसलिए आगम में भोगोपभोग के परिमाण की बात कही गई है।

शिक्षा के पाठ्यक्रमों में जैनदर्शन के इस सिद्धान्त को सम्मिलित किया जाना चाहिए कि अधिकाधिक भोग सामग्री का होना विकास का सूचक नहीं है, अपितु वस्तुओं का उपयोग मात्र शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक है। भोगोपभोग का आकर्षण जितना कम होगा, पर्यावरण का संरक्षण उतना ही आसानी से हो सकेगा तथा देश-दुनिया के पर्यावरण में स्वच्छता कायम हो सकेगी । वह स्वच्छता बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के पर्यावरणों को संरक्षित कर सकेगी । फिर प्राकृतिक पर्यावरण के साथ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पर्यावरण में भी स्वच्छता का प्रभाव दृष्टिगोचर हो सकेगा ।



प्रकीर्णक-साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा

जैन जीवन शैली का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है- समाधिमरण। जैनधर्म में जीने की कला का भी निरूपण हुआ है तो शान्ति एवं समाधिभावों के साथ मृत्यु की कला का भी। साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका - उनका एक मनोरथ होता है कि वे अन्तिम समय में संलेखना* - संथारा करके समाधिमरण का वरण करें। अस्पताल में ऑक्सीजन की नलियों में उलझकर मरने की अपेक्षा समाधिभावों में मृत्यु के लिए पण्डितमरण का वरण श्रेष्ठ है। आचारांगसूत्र, समवायांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र में समाधिमरण अथवा पंडितमरण की चर्चा संप्राप्त होती है, किन्तु प्रकीर्णक साहित्य का अधिकांश भाग तो समाधिमरण की चर्चा से ही ओतप्रोत है। आराधना प्रकरण, आराधना पताका, पर्यन्ताराधना के साथ महाप्रत्याख्यान आदि अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थों में समाधिमरण अथवा पंडितमरण की विशद चर्चा प्राप्त होती है। प्रस्तुत आलेख में प्रकीर्णक-साहित्य को आधार बनाकर समाधिमरण के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की जा रही है। दिगम्बर/यापनीय परम्परा का ग्रन्थ भगवती आराधना भी समाधिमरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आध्यात्मिक साधना से संपृक्त प्रकीर्णक साहित्य में समाधिमरण प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान (वीरभद्र), संस्तारक, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा(वीरभद्र), मरणविभक्ति,मरणविशुद्धि,मरण-समाधि और आराधनापताका आदि अनेक आराधनाएं समाधिमरण का ही प्रतिपादन करती हैं। समाधिमरण से सम्बद्ध आठ प्रकीर्णकों को संकलित कर उसे मरणविभक्ति या मरणसमाधि नाम दिया गया है। इस संकलन में जो प्रकीर्णक संगृहीत हैं, वे हैं- मरणविभक्ति, मरणविशुद्धि, मरणसमाधि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना प्रकीर्णक । ये समस्त प्रकीर्णक समाधिपूर्वक मरण करने की प्रक्रिया एवं उसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। एक प्रकीर्णक है-चन्द्रवेध्यक। इस प्रकीर्णक में विनय, आचार्य, शिष्य, विनयनिग्रह, ज्ञान और चारित्र गुणों का विवेचन करने के साथ

---

* श्वेताम्बर साहित्य में प्रायः 'संलेखना' शब्द प्राप्त होता है तथा दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में 'सल्लेखना' शब्द दृग्गोचर होता है।

मरणगुण पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। ऋषिभाषित प्रकीर्णक के तेवीसवें अध्ययन में भी मरण की चर्चा है। वीरभद्र (10वीं शती) की आराधनापताका, अभयदेवसूरि (11वीं शती) का आराधना प्रकरण, जिनभद्र का कवचप्रकरण एक अज्ञातकर्तृक आराधनापताका तथा पर्यन्ताराधना आदि अनेक आराधनाएं भी प्रकीर्णकों के रूप में स्वीकार की गई हैं। इस प्रकार प्रकीर्णकों की विषयवस्तु में मरण अथवा समाधिमरण को प्रमुख स्थान मिला है।

प्रकीर्णकों में निरूपित समाधिमरण के वैशिष्ट्य को जानने से पूर्व यह विचार कर लिया जाय कि अंग-आगमों में इसके सन्दर्भ में क्या विवेचन हुआ है। समवायांगसूत्र में मरण के 17 प्रकार निरूपित हैं- आवीचिमरण, अवधिमरण आदि।[1] इन सतरह प्रकारों में बालमरण, पंडितमरण, बालपंडितमरण, केवलिमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण और पादपोपगमन** मरण भी समाहित हैं। ये भेद मरण के समाधिरूप एवं असमाधिरूप दोनों का प्रतिपादन करते हैं। समवायांगसूत्र में ही समाधि के दस स्थानों का कथन है, उनमें केवलिमरण को भी समाधि का एक स्थान माना गया है।[2] यह केवलिमरण व्यक्ति को सब प्रकार के दुःखों से रहित कर देता है, इसलिए समाधिरूप है। भगवतीसूत्र में मरण के बालमरण एवं पण्डितमरण ये दो भेद बतलाकर बालमरण के वलयमरण, वशार्त्तमरण आदि 12 भेद किए गए हैं जो मरण के विभिन्न निमित्तों के द्योतक हैं, यथा गिरिपतन, तरुपतन, जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, विषभक्षण आदि। वहाँ पंडितमरण के प्रायोपगमन एवं भक्त प्रत्याख्यान ये दो भेद किए गए हैं। इंगिनीमरण*** का समावेश वहाँ भक्तप्रत्याख्यान में कर लिया गया है।[3] स्थानाङ्गसूत्र के द्वितीय स्थान में वलयमरण, वशार्त्तमरण, निदानमरण, तद्भवमरण, गिरिपतनमरण, तरुपतनमरण, जलप्रवेशमरण, अग्निप्रवेशमरण, विषभक्षणमरण एवं शस्त्रावपाटनमरण को भगवान् महावीर के द्वारा अवर्णित,

---

** जैन आगम साहित्य में प्रस्तुत शब्द के तीन रूप मिलते हैं और ये तीनों ही रूप समानार्थक हैं- 1. पादपोपगमन, 2. पादोपगमन और 3. प्रायोपगमन।

*** अवधेय है कि जैन आगम साहित्य में प्रस्तुत शब्द के तीन रूप मिलते हैं और ये तीनों ही रूप समानार्थक हैं- 1. इंगिनीमरण, 2. इंगितमरण और 3. इंगिणीमरण।

अकीर्तित, अप्रशंसित एवं अनभ्यनुज्ञात बतलाया गया है। कारणवश दो मरण अभ्यनुज्ञात हैं- वैहायसमरण और गिद्धपिट्ठमरण। भगवान् महावीर द्वारा दो मरण वर्णित, कीर्तित, प्रशंसित और अभ्यनुज्ञात हैं- 1. पादोपगमनमरण और 2. भक्तप्रत्याख्यानमरण।[4] जो मरण महावीर के द्वारा अभ्यनुज्ञात नहीं हैं उन्हें बालमरण तथा अभ्यनुज्ञात मरणों को पण्डितमरण की श्रेणी में रखा जा सकता है। वैसे स्थानांगसूत्र में मरण के तीन प्रकार भी निरूपित हैं- 1. बालमरण, 2. पंडितमरण और 3. बालपंडितमरण।[5] असंयमी जीवों का मरण बालमरण, संयमियों का मरण पंडितमरण तथा संयतासंयत अर्थात् श्रावकों का मरण बालपंडितमरण होता है। इन मरणों का सम्बन्ध लेश्या से जोड़ते हुए स्थानाङ्गसूत्र में कहा गया है कि ये तीनों मरण तीन-तीन प्रकार के होते हैं। बालमरण के तीन प्रकार हैं- 1. स्थितलेश्य (स्थित अशुद्ध लेश्या वाला), 2. संक्लिष्टलेश्य और 3. पर्यवजातलेश्य (विशुद्धि की वृद्धि से युक्त)। पंडितमरण में लेश्या संक्लिष्ट नहीं होती अतः उसके 1. स्थित लेश्य (स्थित विशुद्ध लेश्या वाला) 2. असंक्लिष्ट लेश्य एवं 3. पर्यवजात (प्रवर्धमान विशुद्ध लेश्या वाला) लेश्य ये तीन भेद होते हैं। बालपंडितमरण में 1. स्थितलेश्य, 2. अंसक्लिष्ट लेश्य एवं 3. अपर्यवजात लेश्य (हानि-वृद्धि से रहित) ये तीन भेद होते हैं।[6]

उत्तराध्ययनसूत्र (मूलसूत्र) में मरण के दो भेद प्रतिपादित हैं- 1. अकाममरण एवं 2. सकाममरण। बाल जीवों अर्थात् अज्ञानियों का मरण अकाममरण तथा पंडित जीवों अर्थात् ज्ञानियों का मरण सकाममरण होता है।[7]

आचारांगसूत्र जो प्रथम अंग आगम है, उसके विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन में संलेखना, संथारा और मरण विधि का विस्तृत वर्णन है। निर्युक्तिकार एवं टीकाकारों ने भक्तप्रत्याख्यान, इंगितमरण एवं पादोपगमनमरण के रूप में आचारांग में वर्णित मरण विधि की व्याख्या की है। उपधि-विमोक्ष, वस्त्र-विमोक्ष, आहार-विमोक्ष, स्वाद-विमोक्ष, सहाय- विमोक्ष आदि विभिन्न चरणों के साथ आचारांगसूत्र में शरीर-विमोक्ष का निरूपण हुआ है। संलेखना के अन्तर्गत शरीर एवं कषाय दोनों को कृश करने का उल्लेख है। अंतिम समय में जब व्यक्ति ग्लान हो जाए, शरीर को वहन करने में असमर्थ हो जाय तो तृण अर्थात् सूखा घास माँगकर

उन पर संथारा करने का विधान है। आचारांगसूत्र में भक्तप्रत्याख्यान आदि त्रिविध मरणों के अतिरिक्त वैहायसमरण को भी उचित बतलाया गया है, जिसके अनुसार संकटापन्न स्थिति आने पर कोई साधु संयम की रक्षा हेतु प्राणत्याग कर देता है। सयंम मार्ग पर दृढ़ रहकर अकस्मात् मृत्यु का वरण करने वाला साधु एक प्रकार से हितकर, सुखकर, कालोपयुक्त एवं निःश्रेयस्कर मरण मरता है।[8] प्रकीर्णकों में वैहायसमरण की उपेक्षा की गई है तथा भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी एवं पादोपगमन मरणों का ही प्रतिपादित किया गया है।

समाधिमरण का निरूपण भगवती आराधना एवं मूलाचार में भी हुआ है, किन्तु डॉ. सागरमल जैन के अनुसार प्रकीर्णकों की गाथाएं ही भगवती आराधना एवं मूलाचार में आई हैं।[9] मैं इनके पूर्वापर होने की चर्चा में न जाकर इतना ही कहूँगा कि समाधिमरण के प्रतिपादन की दृष्टि से यापनीय परम्परा के ये दोनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रकीर्णक साहित्य पर दृष्टिपात करने के अनन्तर ज्ञात होता है कि उसमें सर्वत्र पंडितमरण, अभ्युद्यतमरण किंवा समाधिमरण से मरने की प्रेरणा दी गई है। सर्वत्र यह ध्वनि गूंजती हैं-

इक्कं पंडियमरणं छिण्णइ जाईसयाइं बहुयाइं।
तं मरणं मरियव्वं जेण मओ सुम्मओ होई ।।[10]

अर्थात् एक पंडितमरण सैंकड़ों जन्मों का बंधन काट देता है, इसलिए उस मरण से मरना चाहिए, जिससे मरना सार्थक हो जाय । मरण उसी का सार्थक है जो पंडितमरण से देह त्याग करता है। इसके लिए पर्याप्त तैयारी अथवा तत्परता की आवश्यकता होती है, इसलिए इस मरण को अभ्युद्यतमरण कहा गया है । इस मरण के समय चित्त में समाधि रहती है, साधक आत्मा एवं शरीर में भिन्नता का अनुभव कर तीव्र वेदना काल में भी शान्त एवं अनाकुल रहता है, इसलिए इसे समाधिमरण कहते हैं। यह मरण पण्डा अर्थात् सद्-असद् विवेकिनी बुद्धि से सम्पन्न किंवा सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न संयती ही कर सकता है, इसलिए इस मरण को पण्डितमरण कहते हैं। प्रकीर्णकों मे ये तीनों शब्द एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। ज्ञानपूर्वक मरने वाला एक उच्छ्वास मात्र काल में उतने कर्मों को क्षय कर देता

है जितने अज्ञानी जीव बहुत से करोड़ों वर्षों में भी क्षय नहीं कर सकता।[11] इसलिए कर्म-निर्जरा की दृष्टि से पण्डितमरण अत्यन्त उपादेय है।

प्रकीर्णक-रचयिता आचार्यों की दृष्टि मे पंडितमरण साधना का उत्कृष्ट रूप है। इसके लिए जीवन में साधना के अभ्यास की आवश्यकता होती है। जो साधक अपने जीवन में योग-साधना का अभ्यास नहीं करते हैं, वे मरणकाल में परीषहों को सहन करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। यही नहीं बहिर्मुखी वृत्तियों वाला, ज्ञानपूर्वक आचरण न करने वाला तथा पूर्व में साधना न किया हुआ जीव आराधना काल में अर्थात् समाधिमरण के अवसर पर विचलित हो जाता है।[12] इसलिए मुक्ति रूपी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अप्रमादी होकर निरन्तर सद्गुण सम्पन्न होने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि मरणकाल के उपस्थित होने पर कोई साधक अपने को बदल नहीं सकता। यद्यपि विशिष्ट साधक मरणकाल में भी अपने को बदल सकता है, किन्तु सामान्य साधकों को पर्याप्त समय एवं प्रतिबोध की आवश्यकता होती है। चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक के रचयिता ने मृत्युकाल उपस्थित होने पर मिथ्यात्व का वमनकर सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए कामना की है तथा उन्हें धन्य कहा है जो इन्द्रिय-सुखों के अधीन न होकर मरणसमुद्घात के द्वारा मिथ्यात्व की निर्जरा कर देते हैं।[13] यहाँ एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि साधुवेश अंगीकार कर लेने मात्र से प्रत्येक श्रमण सम्यक्त्वी नहीं हो जाता। जब तक वह बहिर्मुखी है, ऐन्द्रियक सुखों के अधीन एवं रसलोलुप है, जब तक शरीर के साथ वह ममत्व को उचित मानता है तब तक वह सम्यक्त्वी नहीं होता। सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान सम्यक् होता है तथा ज्ञान सम्यक् होने पर ही चारित्र एवं तप सम्यक् होते हैं। इन चारों को आराधना के चार स्कन्ध माना गया है।[14] आराधना भी अभ्युद्यतमरण की तैयारी है। जो पंडितमरण पूर्वक मरते हैं वे आराधक कहलाते हैं तथा जो अज्ञानपूर्वक मरण करते हैं वे अनाराधक कहलाते हैं। दीर्घकाल तक पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करने वाला मुनि भी यदि मृत्यु के समय विराधना करता है तो उसे धर्म का अनाराधक कहा जाता है तथा अत्यधिक मोही व्यक्ति भी यदि जीवन की सन्ध्यावेला में संयमी और अप्रमत्त हो जाता है तो उसे आराधक कहा जाता है।[15] दूसरे शब्दों में जो समाधिपूर्वक मरता है वह आराधक एवं जो

असमाधिपूर्वक मरता है वह अनाराधक कहा गया है।

मरण के प्रकार

आतुरप्रत्याख्यान आदि प्रकीर्णकों में स्थानाङ्ग सूत्र की भाँति मरण के तीन प्रकार निरूपित हैं- 1. बालमरण, 2. बालपंडितमरण और 3. पंडितमरण।[16] आराधनापताका में आचार्य वीरभद्र ने मरण के पाँच प्रकार बतलाए हैं- 1. पंडितपंडितमरण, 2. पंडितमरण, 3. बालपंडितमरण, 4. बालमरण और 5. बालबालमरण।[17] केवलियों का मरण **पंडितपंडितमरण** कहलाता है। मुनियों का भक्तपरिज्ञा आदि मरण **पंडितमरण** है। देशविरत एवं अविरत सम्यग्दृष्टियों का मरण **बालपंडितमरण** कहलाता है। उपशम युक्त मिथ्यादृष्टियों का मरण **बालमरण** है तथा कषाय से कलुषित जीवों का जघन्य मरण **बालबालमरण** कहलाता है। इनमें से प्रथम तीन मरण सम्यग्दृष्टियों को होते हैं अतः वे तीनों पंडितमरण की श्रेणी में आते हैं तथा अंतिम दो मरण मिथ्यादृष्टियों को होने से बालमरण की श्रेणी में आते हैं।[18]

बालमरण के भेद

बालमरण के भेदों का निरूपण प्रकीर्णकों में नहीं है, किन्तु जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, विषभक्षण आदि के आधार पर वह अनेक प्रकार का हो सकता है। आतुरप्रत्याख्यान में कुछ प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[19] आधुनिक काल में तो बालमरण के अनेक रूप हैं, विशेषतः अकालमृत्यु में अकस्मात् जो मरण होता है वह प्रायः बालमरण ही होता है। इसके अन्तर्गत विमान दुर्घटना, रेल दुर्घटना, सड़क दुर्घटना, भूकम्प, बाढ़, बिजली के झटके, आग लगने आदि के कारण होने वाली मृत्यु एवं अस्त्र-शस्त्र के कारण हुई मृत्यु सम्मिलित है। अकालमृत्यु आमगसम्मत है। स्थानाङ्गसूत्र में आयुभेद के दिए गए सात कारण[20] एवं तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित अपवर्त्य आयु इसके प्रमाण हैं। साधारण रोग या असाध्य रोगों के कारण भी अज्ञान दशा में जो मृत्यु होती है वह बालमरण की श्रेणी में आती है।

पंडितमरण के भेद

मृत्यु जीवन का एक अनिवार्य पहलू है, इससे कोई बच नहीं सकता। इसलिए प्रकीर्णकों का संदेश है कि जब मरना है तो धीरतापूर्वक पंडितमरण से ही क्यों न

मरा जाय। वह पंडितमरण भी तीन प्रकार का प्रतिपादित है- 1. भक्तपरिज्ञामरण, 2. इंगिनीमरण और 3. पादोपगमन या प्रायोग्यमरण।[21]

(1) भक्तपरिज्ञामरण

भक्तप्रत्याख्यान अथवा भक्तपरिज्ञामरण की विधि, स्वरूप एवं भेदों का विवेचन 'भक्तपरिज्ञा' प्रकीर्णक में तथा वीरभद्राचार्य की 'आराधनापताका' में विस्तार से मिलता है। भक्तपरिज्ञामरण के भेद किए गए हैं- 1. सविचार और 2. अविचार। समय रहते संलेखनापूर्वक पराक्रम के साथ जो भक्तपरिज्ञामरण है वह सविचार भक्तपरिज्ञामरण है तथा अल्पकाल रहने पर बिना शरीर संलेखना विधि के जो भक्तपरिज्ञामरण किया जाता है वह अविचार भक्तपरिज्ञामरण है।[22] भक्तप्रत्याख्यान शब्द से ऐसा लगता है कि इसमें मात्र अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम रूप चार आहारों का त्याग किया जाता होगा, किन्तु ऐसा ही नहीं है। इसमें भी भीतरी शुद्धि अर्थात् आत्मिक शुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आहार का त्याग तो इसमें सागारी एवं अनागारी दोनों प्रकार से किया जाता है । प्रारम्भ में त्रिविध आहार का त्याग किया जाता है तथा बाद में यथास्थिति चौथे आहार 'पान' का भी त्याग कर दिया जाता है। इस मरण में गुरुजनों एवं केवलियों के प्रति विनय, श्रद्धा अथवा भक्ति भाव भी पाया जाता है, इसलिए भी इसका भक्तपरिज्ञा नाम सार्थक है। अब भक्तपरिज्ञामरण के दोनों प्रकारों पर विचार किया जा रहा है-

(क) सविचार भक्त परिज्ञामरण[23]

वीरभद्राचार्य ने सविचार भक्तपरिज्ञामरण के चार द्वार निरूपित किए हैं- 1. परिकर्म विधि 2. गणसंक्रमण 3. ममत्व-व्युच्छेद और 4. समाधिलाभ। परिकर्म विधि के भी उन्होंने ग्यारह प्रतिद्वार बतलाए हैं- 1. अर्ह 2. लिंग 3. शिक्षा 4. विनय 5. समाधि 6. अनियत विहार 7. परिणाम 8. त्याग 9. शीति 10. भावना और 11. संलेखना । यह भक्तपरिज्ञामरण वह साधक करता है जो संयम में हानि पहुँचाने वाली दुःसाध्य व्याधि से पीड़ित हो , जरा अवस्था से पीड़ित हो, देव-मनुष्य तिर्यञ्च आदि से उत्पन्न उपसर्ग आ गया हो, दुर्भिक्ष काल हो, मार्ग भटक गया हो, जंघाओं में चलने का सामर्थ्य न रहा हो, और जिसकी आंखें कमजोर हो गई हों। इस सविचार भक्तपरिज्ञामरण के लिए रजोहरण, अचेलकता, केशलोच आदि जो

बाह्य लिंग दिए गए हैं उनसे पता चलता है कि यह मरण साधु-साध्वी ही स्वीकार करते थे। जबकि भक्तपरिज्ञा का अविचार भेद गृहस्थों के द्वारा भी स्वीकार्य रहा है। शिक्षा, विनय आदि प्रतिद्वारों के निरूपण से सविचारमरण का वैशिष्ट्य स्पष्ट होता है।

परिकर्म विधि के पश्चात् गणसंक्रमण द्वार का निरूपण करते हुए आचार्य वीरभद्र ने उसके 10 प्रतिद्वार बतलाए हैं - 1. दिशा 2. क्षमापना 3. अनुशिष्टि 4. परगण 5. सुस्थित गवेषणा 6. उपसंपदा 7. परीक्षा 8. प्रतिलेखना 9. आपृच्छना 10. प्रतीच्छा। इस गणसंक्रमण द्वार में अपने गण के साधु-साध्वियों से क्षमायाचना की जाती है। आराधना के निमित्त वह साधक दूसरे गण में भी जा सकता है, जैसा कि कहा है-

एवं आपुच्छित्ता सगणं अब्भुज्जयं पविहरंतो।
आराहणानिमित्तं परगणगमणे मइं कुणइ।।

-आराधनापताका, गाथा 231

वह माया, मिथ्यादर्शन एवं निदान शल्यों को छोड़कर आत्मशुद्धि करता है। वह साधु तप आदि करके संलेखना भी करता है। गण का अधिपति भी इस मरण को अपनाता है।

सविचार भक्तपरिज्ञामरण का तृतीय द्वार है- ममत्वव्युच्छेद। इस ममत्वव्युच्छेद द्वार में मात्र शरीर से ममत्व छोड़ने की बात नहीं है, अपितु इसके भी 10 प्रतिद्वार हैं- 1. आलोचना 2. गुण-दोष 3. शय्या 4. संस्तारक 5. निर्यापक 6. दर्शन 7. हानि 8. प्रत्याख्यान 9. क्षमणा (क्षमायाचना) 10. क्षमादान। इन द्वारों से मरण की विधि प्रकट होती है।

सविचारमरण का चौथा द्वार है - समाधिलाभ। इसके आठ प्रतिद्वार हैं- 1. अनुशिष्टि 2. सारणा 3. कवच 4. समता 5. ध्यान 6. लेश्या 7. आराधना 8. परित्याग। संस्तारकगत क्षपक को निर्यापक (चित्त में समाधि लाने वाले योग्य उपदेशक साधु) नौ प्रकार की भाव संलेखना का उपदेश देते हैं, जिसमें मिथ्यात्व का वमन, सम्यक्त्व का ग्रहण, पञ्च महाव्रत की रक्षा आदि सम्मिलित हैं। धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान तथा प्रशस्त लेश्याओं को इसमें अपनाया जाता है। अन्त में शरीरत्याग

करने के सम्बन्ध में उल्लेख है ।

(ख)अविचार भक्तपरिज्ञामरण

यह मरण साधु एवं गृहस्थ दोनों के लिए है। आचार्य वीरभद्र ने इसके 3 भेद किए हैं - 1. निरुद्ध 2. निरुद्धतर और 3. परमनिरुद्ध।[24] जंघाबल के क्षीण हो जाने पर अथवा रोगादि के कारण कृश शरीर वाले साधु का बिना शरीर संलेखना किए जो समाधिमरण होता है, उसे निरुद्ध अविचार भक्तपरिज्ञामरण कहते हैं। वह मरण यदि लोगों को ज्ञात हो जाय तो उसे प्रकाश और ज्ञात न होने पर अप्रकाश कहा जाता है। व्याल (सर्प), अग्नि, व्याघ्र आदि के कारण अथवा शूल, मूर्च्छा एवं दस्त आदि के कारण अपनी आयु को उपस्थित समझकर समाधिमरण की जो क्रिया करता है वह निरुद्धतर कहलाती है। जब भिक्षु की वाणी भी वातादि के कारण रुक जाय तो वह मृत्यु को उपस्थित समझकर परमनिरुद्धमरण मरता है।[25]

भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक में अविचारमरण का विस्तृत विवेचन है, किन्तु वहाँ निरुद्ध, निरुद्धतर एवं परमनिरुद्ध भेद नहीं किए गए हैं। भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक के रचयिता आचार्य वीरभद्र के अनुसार साधु एवं गृहस्थ दोनों के द्वारा इस मरण को ग्रहण किया जाता है।[26] जब व्याधि, जरा और मरण के मगरमच्छों की निरन्तर उत्पत्ति से युक्त संसारसमुद्र दुःखद प्रतीत हो तथा मृत्यु नजदीक प्रतीत हो तो शिष्य गुरु के चरणों में जाकर कहे कि मैं संसार समुद्र को तैरना चाहता हूँ, आप मुझे भक्तपरिज्ञा में आरूढ़ कीजिए। वह गुरु भी शिष्य को आलोचना और क्षमापना के साथ भक्तपरिज्ञा मे आरूढ़ होने के लिए कहता है। शिष्य फिर वैसा ही करके तीन शल्यों से भी रहित होता है। गुरु उस शिष्य को महाव्रतों में आरूढ़ करता है। यदि शिष्य देशविरत अर्थात् श्रावक हो तो गुरु उसे अणुव्रतों में आरूढ़ करता है। वह शिष्य हर्षित होकर गुरु, संघ एवं साधर्मिक की पूजा करता है। गृहस्थ साधक फिर अपने द्रव्य का धार्मिक-आध्यात्मिक कार्यों में उपयोग करता है। यदि वह सर्वविरति में अनुराग रखने वाला हो तो वह भी संस्तारक-प्रव्रज्या को अंगीकार कर सर्वविरति प्रधान सामायिक चारित्र में आरूढ़ हो जाता है। शिष्य गुरु के द्वारा अनुमत भक्तपरिज्ञामरण का नियम अंगीकार कर लेता है। वह भवपर्यन्त त्रिविध आहार का त्याग कर देता है। फिर उसे संघसमुदाय के समक्ष चतुर्विध आहार का

त्याग कराया जाता है, किन्तु इससे पूर्व समाधि-पान कराने का उल्लेख है। समाधि-पान एक ऐसा दूध है जिसमें इलायची, तेजं, नागकेसर, तमालपत्र एवं शक्कर मिली रहती है। उसे उबालकर ठंडा करके पिलाया जाता है जिससे शरीर में शान्ति बनी रहती है। इसके अनन्तर फोफला आदि द्रव्य देकर विरेचन किया जाता है, इससे पेट की अग्नि का कुछ शमन भी हो जाता है। चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करने के साथ ही वह आचार्य, उपाध्याय, साधर्मिक, कुल एवं समस्त जीवों आदि से क्षमायाचना करता है। वह सबको आत्मिक शुद्धि के लिए क्षमादान भी करता है। इस प्रकार वंदना, क्षमणा, गर्हा आदि से सैकड़ों भवों में अर्जित कर्मों को वह क्षणभर में निर्जरित कर देता है। इसके लिए मृगावती रानी का उदाहरण दिया गया है।[27] साधु को भी गणाधिपति मिथ्यात्व, शल्य, कषाय आदि के त्याग की प्रेरणा करता हुआ भक्तपरिज्ञामरण में आरूढ़ करता है।

(2) इंगिनीमरण

यह भक्तपरिज्ञामरण से विशिष्ट है। भक्तपरिज्ञा में की जाने वाली साधना-विधि तो इसमें आ ही जाती है, किन्तु इसमें साधक दूसरों से किसी प्रकार की सेवा न लेकर संथारा ग्रहण करने के अनन्तर स्वयं ही आकुञ्चन, प्रसारण एवं उच्चार आदि की क्रियाएं करता है।यथा-

सयमेव अप्पणा सो करेइ आउंटणाइकिरियाओ।
उच्चाराइ विगिंचइ एयं च सम्मं निरुवसग्गे।।[28]

यदि देवों, मनुष्यों या तिर्यञ्चों के द्वारा किसी प्रकार का उपसर्ग भी उपस्थित किया जाय तो वह निर्भय होकर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करता।[29] उन उपसर्गों से उसमें आकुलता भी नहीं होती तथा वह उन्हें दूर करने का भी प्रयास नहीं करता है। यदि किन्नर किंपुरुष देवों की कन्याएं उसे चाहें तो भी वह विचलित नहीं होता है और न ही किसी ऋषि का आश्चर्य करता है।[30] वह अन्तः एवं बाह्य शुद्धि करके एक स्थान पर तृणों का संस्तारक बिछाता है तथा अरहन्त को प्रणाम करते हुए विशुद्ध मन से आलोचना करता हुआ चारों आहारों का त्याग करता है। द्रव्य एवं भाव से संलेखना करने के अनन्तर ही वह संस्तारक ग्रहण करता है। इस इंगिणीमरण से मरण करने वाला जीव प्रथम संहनन अर्थात् वज्रऋषभ नाराच

संहनन से युक्त होता है।[31]

इंगिनीमरण का साधक इतना निर्भय एवं निराकुल हो जाता है कि यदि संसार के सारे पुद्गल भी दुःख में परिणत हो जायें तब भी उसे दुःखी नहीं कर सकते। वह धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान से आर्त एवं रौद्र ध्यान में नहीं आता है। स्वाध्याय एवं शुभध्यान ही उसके जीवन का अंग बन जाते हैं। मौन एवं अभिग्रह धारक उस आराधक से यदि देव एवं मनुष्य कुछ पूछे तो वह धर्मकथा कहता है।[32]

(3) पादपोपगमनमरण

भक्तप्रत्याख्यान एवं इंगिनीमरण से भी यह मरण उत्कृष्ट है। इस मरण से मरने वाला साधक पादप के सूखे ठूंठ की तरह एक स्थान पर निश्चेष्ट पड़ा रहता है। वह किसी प्रकार हिलने-डुलने की भी क्रिया नहीं करता है। मरणसमाधि प्रकीर्णक में पादपोपगमन का लक्षण इस प्रकार दिया है-

निच्चलनिप्पडिकम्मो निक्खिवए जं जहिं वा अंगं।
एयं पाओवगमं सनिहारिं वा अनीहारिं वा।।[33]

अर्थात् निश्चल रूप में बिना प्रतिक्रिया के जहां जिस प्रकार अंग स्थिर करके जो मरण किया जाता है वह पादोपगमनमरण है। यह दो प्रकार का होता है-सनिहारी और अनिहारी। जब उपसर्ग के कारण मरण होता है तो उसे सनिहारी एवं बिना उपसर्ग के मरण होने पर उसे अनिहारी कहा जाता है, यथा-

उवसग्गेण वि जं सो साहरिओ कुणइ कालमण्णत्थ।
तो भवियं नीहारिमियरं पुण निरुवसग्गम्मि।।[34]

यह मरण भी प्रथम संहनन अर्थात् वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त जीव करता है। वीरभद्राचार्य के मत में संलेखना किया हुआ अथवा संलेखना न किया हुआ भी आत्मा पादोपगमनमरण करता है।[35] पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसों पर फेंक दिए या डाल दिए जाने पर भी साधक निश्चेष्ट बने रहते हैं।[36] पादोपगमनमरण करने वाले जीवों के अनेक उदाहरण आराधनापताका में दिए गए हैं।

मरणसमाधि प्रकीर्णक में चिलातीपुत्र, स्कन्धक शिष्यों, गजसुकुमाल आदि के समाधिमरण के जो उल्लेख हैं वे दिल दहला देने वाले हैं तथा समाधिमरण की

साधना के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। चिलातीपुत्र के शरीर को चीटियों के द्वारा छलनी कर दिया गया, किन्तु उन्होनें मन में उनके प्रति थोड़ा भी द्वेष नहीं किया-

देहो पिपीलियाहिं चिलाइपुत्तस्स चालणिव्व कओ।
तणुओ वि मणपओसो न य जाओ तस्स ताणुवरिं।।

-मरणसमाधि, गाथा 429

स्कन्धक ऋषि के शिष्यों को यन्त्र में पीला गया, किन्तु उन्होंने किञ्चित भी द्वेष नहीं किया। गजसुकुमाल के सिर पर श्वसुर के द्वारा अंगारे रखे गए, फिर भी वे विचलित नहीं हुए।

इस प्रकार की उत्कृष्ट चित्तसमाधि से मरण को प्राप्त होना जीवन की साधना का उत्कृष्ट निदर्शन है।

समाधिमरण का फल

भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक में समाधिमरण करते समय चार बातें प्रार्थनीय मानी गई हैं- 1. दुःखक्षय, 2. कर्मक्षय, 3. समाधिमरण, 4. बोधिलाभ। समाधिमरण से मरने वाला उस जीवन में आत्मा की असीम शक्ति से तो साक्षात्कार करता ही है, किन्तु वह उसी भव में या 3-4 भवों में अथवा अधिकतम 7-8 भवों में अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

समाधिमरण के सोपान

समाधिमरण के यद्यपि भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी एवं पादपोपगमन- ये तीन भेद हैं जो उस मरण की विशेषताओं को ही निरूपित करते हैं, किन्तु समाधिमरण की प्रक्रिया के कुछ सामान्य सोपान भी हैं, जिन्हें जानना अत्यन्त आवश्यक है। महाप्रत्याख्यान एवं आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में पादपोपगमन मरण के प्रसंग में पंडितमरण के चार आलम्बन कहे गए हैं-1. अनशन, 2. पादपोपगमन, 3. ध्यान और 4. भावना।[37] अभयदेवसूरि विरचित आराधना प्रकरण में मरणविधि के छः द्वार निरूपित हैं- 1. आलोचना 2. व्रतों का उच्चारण, 3. क्षमापना, 4. अनशन, 5. शुभ भावना और 6. नमस्कार भावना।[38] नन्दन मुनि के द्वारा आराधित आराधना के 6 प्रकार ये हैं- 1. दुष्कार्यों की गर्हा, 2. जीवों से क्षमायाचना, 3. शुभ भावना 4. चतुःशरण ग्रहण, 5. पञ्चपरमेष्ठि- नमस्कार और 6. अनशन।[39] पर्यन्ताराधना में

आराधना के 24 द्वार दिए गए हैं, जो आराधना का क्रमिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, वे 24 द्वार हैं- 1. संलेखना द्वार, 2. स्थान द्वार (ध्यानानुकूल स्थान का चयन), 3. विकटना (अतिचारों की आलोचना), 4. सम्यक्त्व द्वार, 5. अणुव्रत द्वार, 6. गुणव्रत द्वार (श्रावक के लिए), 7. पापस्थान द्वार, 8. सागार द्वार, 9. चतुःशरण गमन द्वार, 10. दुष्कृत गर्हा द्वार, 11. सुकृतानुमोदना द्वार, 12. विषय द्वार, 13. संघादि से क्षमा,14 चतुर्गति के जीवों से क्षमा द्वार, 15. चैत्य नमन द्वार, 16. अनशन द्वार, 17. अनुशिष्टि द्वार (गुरु द्वारा शिक्षा), 18. भावना द्वार (द्वादश भावनाएं), 19.कवच द्वार (स्थिरीकरणार्थ), 20. नमस्कार द्वार, 21. शुभध्यान द्वार] 22. निदान द्वार, 23. अतिचारनाश द्वार और 24. फलद्वार। इसप्रकार पर्यन्ताराधना में मरणविधि का एक व्यवस्थित क्रम निरूपित है । एक आचार्य (अज्ञात नाम) की आराधना पताका में उत्तम मरणविधि के 32 द्वार दिए गए हैं।[40] उन्होंने अनुशिष्टि द्वार के 17 प्रतिद्वार दिए हैं तथा निर्यामक, असंविग्न, निर्जरणा, द्रव्यदान, स्वजनक्षमा, जिनवरादिक्षमा, शक्रस्तव और कायोत्सर्ग द्वार - नए जोड़े हैं। वीरभद्राचार्य ने अपनी आराधना पताका में भक्तप्रत्याख्यान आदि त्रिविध मरणों का निरूपण करते हुए प्रसंगानुसार द्वारों का निरूपण किया है।

इन आराधनाओं की अपेक्षा प्राचीन प्रकीर्णकों में मरणविधि तो निरूपित है, किन्तु उसे विभिन्न द्वारों में विभक्त नहीं किया गया है। आतुरप्रत्याख्यान नाम के तीन प्रकीर्णक हैं,[41] किन्तु एक प्रकीर्णक में ही चार आलम्बन दिए गए हैं और वे भी पादपोपगमन मरण के सम्बन्ध में। इसका अर्थ यह है कि आराधनाओं की रचना प्रकीर्णकों के पश्चात हुई है एवं प्रकीर्णकों की विषयवस्तु को ही उनमें स्पष्टतर रूप में प्रतिपादित किया गया है।

हम प्रकीर्णकों को आधार बनाकर समाधिमरण के निम्नांकित प्रमुख सोपान निर्धारित कर सकते हैं-

1. संलेखना, 2. आत्म-आलोचन, 3. व्रताधान, 4. संस्तारक 5. क्षमायाचना, 6. आहार, शरीर एवं उपधि का त्याग, 7. भावनाओं द्वारा दृढ़ीकरण, 8. पंच परमेष्ठी की शरण, 9. देह विसर्जना। स्थूल रूप में तो संलेखना, संथारा और मरण

ये तीन सोपान ही बनते हैं, किन्तु समाधिमरण का स्वरूप कुछ स्पष्ट हो सके, इसलिए सात सोपानों में इनका विवेचन किया जा रहा है।

1. संलेखना

संलेखना का अर्थ है कृश करना। संलेखना दो प्रकार की होती है- 1. बाह्य और 2. आभ्यन्तर । शरीर की संलेखना बाह्य संलेखना कहलाती है तथा कषायों की संलेखना आभ्यन्तर संलेखना होती है।[42] विविध प्रकार के आयम्बिल, उपवास आदि तप करके शरीर को कृश करना शरीर संलेखना है। अल्प, विरस एवं रूखा आहार ही उस साधक के लिए ग्राह्य है। बेले, तेले, चोले आदि की तपस्याएं एवं प्रतिमा आराधना भी वह कर सकता है। शरीर की इस संलेखना के साथ कषाय की संलेखना आवश्यक है। यदि शरीर कृश होता जाय और अध्यवसायों में विशुद्धि न हो तो शरीर की संलेखना भी निरर्थक हो जाती है।[43] कषायों में कमी करने का साधक निरन्तर प्रयास करे । वह क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से एवं लोभ को संतोष से जीते ।[44] वह राग एवं द्वेष दोनों से बचे तथा निस्संग होकर विचरण करे।

शरीर संलेखना जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदों की अपेक्षा तीन प्रकार की है। जघन्य संलेखना 12 पक्ष अर्थात् छः माह, मध्यम संलेखना 12 माह तथा उत्कृष्ट संलेखना 12 वर्षो तक चलती है।[45] इसका अर्थ है कि समाधिमरण से मरने वाला साधक अपनी तैयारी पर्याप्त समय रहते प्रारम्भ कर देता है।

संलेखना साधना का लक्ष्य वस्तुतः कषायों में कमी लाना है। शरीर की संलेखना भी उसी की पूर्ति के लिए की जाती है। जो साधक तपस्या आदि के माध्यम से शरीर को कृश तो कर लेता है, किन्तु कषायों को कृश नहीं करता, उसकी साधना निष्फल रहती है।

2. आत्म-आलोचन

समाधिमरण का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण सोपान है। इसके द्वारा अपने भीतर विद्यमान दोषों का अवलोकन कर उन्हें छोड़ा जाता है। संलेखना करते हुए भी जो दोष साधक के भीतर शेष रह जाते हैं, उनका त्याग आत्म-आलोचन के द्वारा ही

संभव है। अपनी आलोचना स्वंय भी की जा सकती है तथा गुरु के पास जाकर भी की जा सकती है। गुरुजनों के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करने पर हलकेपन का अनुभव होता है। गुरुजन भी दोषों को छोड़ने की प्रेरणा देकर आत्मा का महत्त्व बतलाते हैं। उस आलोचना के द्वारा प्रमुख रूप से साधक जिन दोषों की गर्हा करता है, वे हैं-सात भय, आठ मद, तीन गारव, तीन शल्य, चार कषाय, मिथ्यात्व, असंयम और ममत्व।[46] सात प्रकार के भयों में इहलोक, भय, परलोकभय, आदान भय, अकस्मात् भय, अपयश भय, आजीविका भय और मरण भय समाविष्ट हैं। समाधिमरण का साधक समस्त भयों को जीतकर निर्भय हो जाता है। मद (घमंड) आठ प्रकार का है-जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, लाभमद, श्रुतमद और ऐश्वर्य मद। गारव तीन हैं- ऋद्धिगारव, रस गारव और साता गारव। इन तीनों की गुरुता को समाधिमरण का इच्छुक साधक त्याग देता है। तीन शल्यों में माया शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य एवं निदान शल्य की गणना होती है। ये तीनों शल्य त्यागकर साधक निःशल्य हो जाता है। साधना में ये तीनों कांटे की तरह बाधक हैं। क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषाय के त्याग का प्रयास तब तक चलता रहता है जब तक वीतराग अवस्था प्राप्त न हो जाय। मिथ्यात्व, असंयम एवं ममत्व का त्याग किए बिना भी साधना लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ती है। मिथ्यात्व का त्याग तो सबसे अधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि इसको त्यागे बिना किसी भी दोष का त्याग सर्वांश में नहीं हो सकता। असंयम अर्थात् अविरति का त्याग भी ऐसे साधक के लिए आवश्यक है। हिंसा, असत्य आदि से वह पूर्णतः विरत होता है। अन्त में वह अपने शरीर आदि के ममत्व का भी त्याग कर देता है।[47] आत्मा के निकट पहुँचने अथवा आत्मा में रमण करते हुए देहत्याग करने का यही तरीका है।[48]

आत्मालोचन में अपने दोषों की निन्दा एवं गर्हा करके उनका प्रतिक्रमण भी किया जाता है, यथा-

मूलगुणे उत्तरगुणे जे मे नाराहिया पमाएणं।
तमहं सव्वं निंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं।।[49]

प्रमाद के कारण मूलगुण एवं उत्तरगुणों की आराधना न की गई हो तो मैं उनकी निन्दा करता हूँ तथा भावी दोषों से भी प्रतिक्रमण करता हूँ। आहार आदि

चार संज्ञाओं, तैंतीस प्रकार की आशातनाओं तथा राग एवं द्वेष की गर्हा का भी उल्लेख मिलता है।

आलोचना गुरु के समक्ष भी की जाती है। गुरु के समक्ष समाधिमरण का इच्छुक साधक मायामृषावाद को छोड़कर उसी प्रकार सरलता पूर्वक कार्य एवं अकार्य को प्रकट कर देता है जिस प्रकार कि एक बालक कार्य एवं अकार्य का विचार किए बिना सरलतापूर्वक बात कह देता है।[50]

3. व्रताधान

दोषों के त्याग के साथ महाव्रतों का पुनः आधान किया जाता है। श्रावक अणुव्रतों, गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों को ग्रहण करता है।[51] सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक तथा सर्वविरति रूप सामायिक- इन त्रिविध सामायिक को बिना आगार के वह स्वीकार करता है।[52] व्रतों का यह ग्रहण गुरु की साक्षी में भी किया जाता है।

4. संस्तारक

प्रकीर्णकों में संस्तरण को अधिक महत्त्व नहीं मिला है। भगवती आराधना में चार प्रकार के संस्तरणों का उल्लेख है -

पुढवि सिलामओ वा फलमओ तणमओ य संथारो।
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अहव पुव्वसिरो।।[53]

अर्थात् समाधिमरण में चार प्रकार के संस्तरण निमित्त बनते हैं - पृथ्वी, शिलामय, फलमय और तृणमय। साधक अपना सिर पूर्व या उत्तर दिशा में करके संथारा ग्रहण करता है। संस्तरण का अर्थ है बिछौना, लेटने-बैठने का स्थान या संसारसागर से तैरने की शय्या । प्रकीर्णकों की दृष्टि में बाह्य संस्तरण का कोई महत्त्व नहीं है, वस्तुतः आत्मा ही प्रमुख संस्तरण है, यथा-

न वि कारणं तणमओ संथारो न वि फासुआ भूमी।
अप्पा खलु संथारो हवइ, विसुद्धे चरित्तम्मि।।[54]

अर्थात् विशुद्ध चारित्र में न तो तिनकों का बना संथारा या संस्तरण निमित्त है और न प्रासुक भूमि इसमें निमित्त है, अपितु आत्मा ही निश्चय में संस्तरण है।

संस्तारक प्रकीर्णक में संथारे के सन्दर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण कथन मिलते हैं। वहाँ कहा गया है कि देवलोक के देवता विविध प्रकार के भोगों को भोगते हुए भी

जब संथारे का चिन्तन करते हैं तो वे आसन, शय्या आदि को भी छोड़ देते हैं।[55] जो गारव से मत्त होकर तथा गुरु के समक्ष अपनी आलोचना न करके संथारा ग्रहण करता है उसका संथारा अविशुद्ध होता है।[56] संथारा शुद्ध किसका होता है, उसका इस प्रकीर्णक में विस्तृत निरूपण है। जो गुरु के पास आलोचना करके, सम्यग्दर्शन पूर्वक आचरण में निरत रहकर, राग-द्वेष को छोड़ते हुए तीन गुप्तियों से गुप्त एवं तीन शल्यों से रहित होकर, तीन गारवों एवं तीन दण्डों को त्यागकर, चतुर्विध कषाय एवं चार विकथाओं से रहित होकर, पाँच महाव्रतों एवं पाँच समितियों का पालन करता हुआ संथारा ग्रहण करता है, उसका संथारा शुद्ध होता है।[57] यही नहीं शुद्ध संथारे पर आरूढ होने वाला साधक षड्जीवकाय की हिंसा से विरत होता है, सात भय स्थानों व आठ मदों से रहित होकर वह नव प्रकार की ब्रह्मचर्यगुप्ति से युक्त होता है एवं दस धर्मों का पालन करता है।[58] संथारा ग्रहण करने के प्रथम दिन ही इतना लाभ होता है कि उसका मूल्य आंकना कठिन है।[59] तृण के संस्तरण पर स्थित एवं राग तथा मोह से रहित मुनिवर को मुक्ति का वह सुख मिलता है जो चक्रवर्ती को भी नहीं मिल सकता।[60]

संथारे पर कब आरूढ होना चाहिए, इसके लिए कहा है कि वर्षा ऋतु में विविध प्रकार के तप करके हेमंत ऋतु में सथांरा ग्रहण करना चाहिए।[61]

5. क्षमायाचना

समाधिमरण का यह भी एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। साधु हो तो वह गुरु, गण एवं संघ के साधुओं से क्षमायाचना कर समस्त जीवों से क्षमायाचना करे। श्रावक हो तो वह भी अपने निकटतम जीवों से क्षमायाचना करने के पश्चात् सब जीवों से क्षमायाचना करे। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण आदि सबसे क्षमायाचना करने का विधान है-

आयरिए उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल गणे य।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेणं खामेमि।।[62]

वह दूसरों से क्षमायाचना ही नहीं करता, अपितु दूसरों को क्षमादान भी करता है। वह सबसे वैर-विरोध त्यागकर मित्रता का भाव रखता है, क्योंकि वह सबसे क्षमा याचना कर अपने हृदय को निर्मल बना लेता है-

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।।[63]

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में इस गाथा की दूसरी पंक्ति इस प्रकार है- 'आसवे वोसिरित्ताणं समाहिं पडिसंधए' अर्थात् मैं आस्रवों को त्यागकर समाधि प्रतिसंधान करता हूँ।

6. आहार, शरीर एवं उपधि का त्याग

वैसे तो संलेखना के बाह्य भेद में शरीर को कृश करने का उल्लेख आ गया है, किन्तु मरण संलेखनापूर्वक हो या बिना संलेखना के, मरणकाल उपस्थित होने पर चारों प्रकार के आहारों का त्याग कर दिया जाता है। भक्तपरिज्ञामरण में अवश्य प्रारम्भ में त्रिविध आहार का त्याग किया जाता है, किन्तु बाद में चारों आहारों का त्याग कर दिया जाता है। जब देह छूटने का समय एकदम नजदीक है, तब आहार करने से क्या लाभ? आहार के लिए कहा गया है कि आहार के कारण से मत्स्य सातवीं नरक में जाते हैं, इसलिए सचित्त आहार की तो साधक मन से भी कामना न करे।

आहार के सम्बन्ध में एक बात ध्यातव्य है कि समाधिमरण से मरने वाले साधक के (ओजाहार एवं) रोमाहार तो चालू ही रहता है, केवल कवलाहार का ही त्याग किया जाता है। (ओजाहार तो सम्पूर्ण शरीर के द्वारा ग्रहण किया जाता है तथा) रोमाहार शरीर के रोमों के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। कवलाहार के रूप में जिस आहार का त्याग किया जाता है उसमें अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों का ग्रहण हो जाता है।

शरीर के साथ भिन्नता का अनुभव करना शरीर का त्याग है। शरीर के साथ ममत्व छोड़ने के पश्चात् ही यह संभव है कि शरीर से आत्मा को भिन्न अनुभव किया जा सके। '**अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीव त्ति**' का स्मरण एवं अनुभव सदैव रहना चाहिए।[64]

उपधि दो प्रकार की होती है-बाह्य और आभ्यन्तर। परिग्रह बाह्य उपधि है तथा कषाय भाव आभ्यन्तर उपधि है। इन दोनों प्रकार की उपधियों का त्याग भी अनिवार्य है। ये दोनों उपधियां बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह की द्योतक हैं।

आहार, शरीर एवं उपधि का त्याग तीन प्रकार से अर्थात् मन वचन एवं काय योग से हो, यथा-

सव्वं पि असणं पाणं चउव्विहं जो य बाहिरो उवही।
अब्भिंतरं च उवहिं सव्वं तिविहेण वोसिरे।।[65]
उवही सरीरगं चेव आहारं च चउव्विहं।
मणसा वय काएणं वोसिरामि त्ति भावओ।।[66]

अर्थात् चतुर्विध अशन-पानादि, समस्त बाह्य उपधि एवं सम्पूर्ण आभ्यन्तर उपधि का मन, वचन एवं काया से भावपूर्वक त्याग करना चाहिए।

वर्तमान में सोते समय जो सागारी संथारा किया जाता है उसमें इन तीनों के त्याग का उल्लेख रहता है, यथा-

आहार शरीर उपधि पचखूं पाप अठारह।
मरण पाऊँ तो वोसिरे, जीऊँ तो आगार।।

7. भावनाओं द्वारा दृढ़ीकरण

वैराग्यपरक चिन्तन एवं भावनाओं से चित्त में समाधि सुदृढ़ होती है। अनित्य, अशरण आदि द्वादश भावनाएं भी इसी की अंग हैं। अभयदेवसूरि ने आराधना प्रकरण में एकत्व, अनित्यत्व, अशुचित्व और अन्यत्व का नामतः उल्लेख करके प्रभृति शब्द से अन्य भावनाओं की ओर संकेत किया है।[67] इन भावनाओं की पुष्टि में महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा आदि प्रकीर्णकों से भी अनेक गाथाएँ उपलब्ध हैं। यथा-

एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।[68]

अर्थात् ज्ञान एवं दर्शन से युक्त शाश्वत आत्मा ही मेरी है और शेष सब वस्तुएं संयोग लक्षण वाली हैं तथा बाहरी हैं। उनसे आत्मा का संयोग सम्बन्ध है, नित्य सम्बन्ध नहीं है। इसमें एकत्व एवं अन्यत्व दोनों भावनाओं का भाव निहित है। जब समाधिमरण के समय अत्यन्त वेदना हो तो उसे भी इस प्रकार की भावनाओं के आलम्बन से सहज ही सहन किया जा सकता है। साधक सोचता है कि मैंने अनन्तबार नरकादि गतियों में इससे भी तीव्र वेदना सहन की है। जो जैसा कर्म

करता है, उसे वैसा फल भोगना पड़ता है,

एक्को करेइ कम्मं एक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं।
एक्को संसरइ जिओ जर-मरण-चउग्गई गुविलं।।[69]

अर्थात् जीव अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही अपने दुष्कर्मों का फल भोगता है, वह अकेला ही चतुर्गतियों में भ्रमण करता है। परिवार के लोग उसके शरणभूत नहीं हैं-

न वि माया न वि पिया, न बंधवा, न वि पियाइं मित्ताइं।
पुरिसस्स मरणकाले न होंति, आलंबणं किंचि।।[70]

अर्थात् माता-पिता, बन्धुजन और प्रिय मित्र कोई भी मृत्यु के समय पुरुष का सहारा नहीं बनता है।

अशुचि भावना का स्वरूप प्रकट करते हुए आराधना प्रकरण में कहा गया है-

देहो जीवस्स आवासो, सो य सुक्काइसंभवो।
धाउरूवो मलाहारो सुई नाम कहं भवे।।[71]

अर्थात् जीव का आवास यह देह शुक्र आदि से पैदा होता है, धातु इसका रूप है, मल आहार है इसमें शुचिता क्या है ?

इस प्रकार की विभिन्न भावनाओं से अपनी आत्मशक्ति को बल मिलता है, वैराग्य में स्थिरता आती है तथा वेदनाओं एवं परीषहों को सहन करने का सामर्थ्य मिलता है।

8. पंच परमेष्ठी की शरण

अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए अन्त में साधक पंच परमेष्ठी की शरण ग्रहण करता है । पंच परमेष्ठी को नमस्कार कर उनकी शरण ग्रहण करने का उल्लेख अंग आगमों में कहीं नहीं हुआ है, यह प्रकीर्णकों एवं आराधनाओं की ही देन है। महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में कहा है-

मम मंगलमरिहंता सिद्धा साहू सुयं च धम्मो य।
तेसिं सरणोवगओ सावज्जं वोसिरामित्ति।[72]

अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, साधु, श्रुत और धर्म मेरे लिए कल्याणकारी हैं, मैं इनकी शरण में जाकर समस्त पापकर्म त्यागता हूँ। आचार्य एवं उपाध्यायों को भी

इसी प्रकार मंगल माना गया है। भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक में अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, आचार्य एवं सर्वसाधुओं के प्रति तीनों करणों से भक्ति करने का उल्लेख है।[73] इसी प्रकीर्णक में अरिहंत को किए गए नमस्कार का फल बतलाते हुए कहा है-

अरिहंतनमुक्कारो वि हविज्ज जो मरणकाले।
सो जिणवरेहिं दिट्ठो संसारुच्छेअणसमत्थो।।[74]

अर्थात् मरणकाल में अरिहंत को किया गया नमस्कार भी जिनवरों के द्वारा संसार उच्छेद करने वाला कहा गया है। नमस्कार महामन्त्र में उसे पापनाशक कहा गया है, ये ही भाव आराधनाप्रकरण में इस प्रकार आए हैं-

इय पंचनमुक्कारो पावाण पणासणोऽवसेसाणं।
तो सेसं चइऊणं सो गेज्झो मरणकालम्मि।।[75]

आगे कहा है-

पंचनमोक्कारवरत्थसंगओ अणसणावरणजुत्तो।
वयकरिवरखंधगओ मरणरणे होइ दुज्जेओ।।[76]

अर्थात् पाँच नमस्काररूपी श्रेष्ठ अस्त्र से युक्त, अनशनरूपी कवच को धारण किया हुआ तथा व्रतरूपी हाथी के स्कन्ध पर आरूढ़ साधक मरणरूपी युद्धक्षेत्र में दुर्जेय होता है।

9. देह विसर्जन

देह छोड़कर जब आत्मा का महाप्रयाण हो जाता है, तब देह का विसर्जन कब एवं किस प्रकार किया जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध में प्रकीर्णकों में कोई संकेत नहीं मिलता, किन्तु भगवती आराधना में मरे हुए साधु की देह को वहां से तत्काल हटाने का उल्लेख है ।[77]

समाधिमरण और आत्महत्या

जैनेतर सम्प्रदाय के लोग या समाधिमरण के स्वरूप से अनभिज्ञ लोग इसे आत्महत्या की संज्ञा देते हैं, किन्तु उनका यह मन्तव्य उचित नहीं है, क्योंकि आत्महत्या करते समय तो कषायों में अभिवृद्धि अर्थात् संक्लेश होता है जबकि समाधिमरण में कषायों पर जय प्राप्त की जाती है। यह साधना का एक उत्कृष्ट प्रकार है, जिसके द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप का आराधन किया जाता है।

मैने आत्महत्या एवं समाधिमरण का अन्तर इस प्रकार किया है:-

आत्महत्या तु सावेशा, रागरोषविमिश्रिता।
समाधिमरणं तावत्, समभावेन तज्जयः।।[78]

अर्थात् आत्महत्या तो आवेशपूर्वक की जाती है। इसमें राग-द्वेष का भाव मौजूद रहता है, जबकि समाधिमरण में तो राग-द्वेष को समभावपूर्वक जीता जाता है।

युद्ध में जो सैनिक लड़ते हुए मारे जाते हैं वह आत्महत्या तो नहीं है, किन्तु उसमें प्राप्त मरण भी बालमरण अथवा अज्ञानमरण की श्रेणी में ही आता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध कषायजय से नहीं, अपितु राग-द्वेष से ही है।

उपसंहार

प्रकीर्णक-साहित्य में वर्णित समाधिमरण की अवधारणा के सम्बन्ध में निम्नांकित प्रमुख बिन्दु उभरकर आते हैं-

1. अंग-सूत्रों एवं उत्तराध्ययनादि में वर्णित पंडितमरण अथवा समाधिमरण का प्रकीर्णकों में विस्तार से निरूपण हुआ है। साथ ही अंग-सूत्रों में स्थापित मूलस्वरूप एवं लक्ष्य उनमें सुरक्षित रहा है। अतः प्रकीर्णकों की गणना श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के 45 आगमों में होती है। जो परम्पराएँ इन्हें आगम नहीं मानती, उनके द्वारा भी आगमवत् पठनीय हैं।
2. समाधिमरण मुक्ति के मार्ग की एक उत्कृष्ट साधना है। मुख्यतः इसके तीन प्रकार हैं- भक्तपरिज्ञामरण, इंगिनीमरण एवं पादपोपगमनमरण। इन सभी समाधिमरणों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की आराधना की जाती है।
3. मृत्यु होना सुनिश्चित है। धीर पुरुष भी मरता है और कायर पुरुष भी मरता है। जब मरना सुनिश्चित है तो धीर पुरुष की भाँति ही क्यों न मरा जाय, ताकि मरना सार्थक हो जाय। यह प्रकीर्णकों की प्रेरणा है।
4. प्रकीर्णकों में समाधिमरण के पूर्व संलेखना की बात कही है और संलेखना को बाह्य एवं आभ्यन्तर अथवा शरीर एवं कषाय के भेद से दो प्रकार का निरूपित किया गया है और कषाय की संलेखना के अभाव में शरीर की संलेखलना को निरर्थक प्रतिपादित किया गया है।

5. कषाय की संलेखना के साथ सात प्रकार के भय, आठ प्रकार के मद, तीन प्रकार के गारव, तीन प्रकार के शल्य, चार प्रकार की संज्ञाओं और तैंतीस प्रकार की आशातना आदि त्यागने का उल्लेख प्रकीर्णकों में ही प्राप्त होता है। इनमें ममत्व व्युच्छेद पर भी बल दिया गया है।
6. भक्तपरिज्ञा, इंगिनी एवं पादपोपगमन मरणों के भेदों का स्वरूप सहित वर्णन कर प्रकीर्णकों ने समाधिमरण के प्रत्यय को अधिक स्पष्ट किया तथा महत्त्व प्रदान किया है।
7. समाधिमरण के पूर्व समस्त जीवों से क्षमायाचना करना (आत्मशुद्धि के लिए) आवश्यक माना गया है।
8. समाधिमरण से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है तथा नवीन कर्मों के आस्रव का निरोध होता है, जिससे मुक्ति का मार्ग सरल हो जाता है। इससे पूर्वबद्ध कर्मों का स्थितिघात एवं रसघात होता है।
9. जो जीव समाधिमरणपूर्वक मरता है वह उसी भव में अथवा अधिकतम 7-8 भवों में मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।
10. अनशन एवं उपधि के त्याग के साथ शरीर का त्याग भी आवश्यक है। शरीर का त्याग करने का आशय उसके दुःख-सुःख से अप्रभावित होने अथवा आत्मा से उसे भिन्न अनुभव करने से है।
11. समाधिमरणपूर्वक मरने वाला निर्भय होकर मरता है, सबके प्रति मैत्री-भाव रखता हुआ मरता है, उसका किसी के प्रति वैर-भाव नहीं रहता । वह व्याकुल होकर नहीं मरता। वह अनाकुल रहता हुआ समाधिभाव में देह छोड़ देता है।
12. मरण के विविध प्रकारों में यह सबसे उत्कृष्ट मरण है।
13. यह आत्महत्या एवं युद्ध क्षेत्र में मरने से भिन्न है, क्योंकि उनमें कषाय के आवेश में मरण होता है, जबकि समाधिमरण में कषायों पर जय प्राप्त की जाती है।
14. समाधिमरण एक प्रकार से सजगतापूर्वक मरण है, जिसे पूर्ण तैयारी के साथ स्वीकार किया जाता है। अचानक मृत्यु का प्रसंग आने पर भी साधक इस

मरण को सजगतापूर्वक अपना सकता है।

15. यदि समाधिमरण के काल में कोई साधक विचलित हो जाय एवं चित्त में असमाधि हो जाय तो उसका मरण समाधिमरण नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह पूरे जीवन की साधना की अन्तिम परिणति ही माना जा सकता है। साधना के अभ्यास के अभाव में इसे अपनाना उतना आसान नहीं हैं।
16. समस्त साधु या श्रावक इस मरण से नहीं मर पाते, कुछ ही इसे अपना पाते हैं।

सन्दर्भ :-

1. द्रष्टव्य, समवायांगसूत्र, सप्तदश स्थानक समवाय
2. द्रष्टव्य, समवायांगसूत्र, दशस्थानक समवाय
3. द्रष्टव्य, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उद्देशक 1
4. स्थानाङ्गसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सूत्र 2.4.411-414
5. वही, सूत्र 3.4.519
6. वही, सूत्र 3.4.520-522
7. उत्तराध्ययनसूत्र, पंचम अध्ययन, गाथा 2-3
8. इच्चेवं विमोहायतणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि। - आचारांग सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सूत्र 1.8.4.215
9. द्रष्टव्य, महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, प्रका. आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, भूमिका पृ. 52
10. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 49, आराधनापताका प्रकीर्णक, गाथा 50, मरणसमाधि प्रकीर्णक, गाथा 245
11. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडीहिं।
    तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ, ऊसासमित्तेणं।। -महाप्रत्याख्यान, गाथा 101
12. चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक, गाथा 122
13. वही, गाथा 149-150
14. दंसणनाण चरित्ते तवे य आराहणा चउक्खंधा।
    सा चेव होइ तिविहा उक्कोसा मज्झिम जहन्ना।। - महाप्रत्याख्यान, गाथा 137
15. पंचसमिओ तिगुत्तो सुचिरं कालं मुणी विहरिऊणं।
    मरणे विराहयंतो धम्ममणाराहओ भणिओ।।

बहुमोहो विहरित्ता पच्छिमकालम्मि संवुडो सो उ।
आराहणोवउत्तो जिणेहिं आराहओ भणिओ।। -चन्द्रवेध्यक, गाथा 157-158

16. तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति।। -आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 36
17. पंडियपंडियमरणं च पंडियं बालपंडियं तह य।
बालमरणं चउत्थं च पंचमं बालबालं तु।। -आराधनापताका (2), गाथा 43
18. द्रष्टव्य, आराधनापताका (2), गाथा 44-47
19. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं च जलपवेसो य।
अणयार भंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि।। -आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 46
20. सत्तविधे आउभेदे पण्णत्ते, तं जहा-
अज्झवसाण णिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते।
फासे आणापाणू सत्तविहं भिज्जए आऊ।। -स्थानाङ्गसूत्र, 7.7.2
21. भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 9
22. भत्तपरिन्नामरणं दुविहं सविआरओ य अवियारं।
सपरक्कमस्स मुणिणो संलिहिअतणुस्स सविआरं।।
अपरक्कमस्स काले अप्पहुप्पंतंमि जं तमविआरं।। -भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 10-11
23. सम्पूर्ण विवरण के लिए द्रष्टव्य, आराधनापताका (वीरभद्र)
24. आराधनापताका (वीरभद्र), गाथा 895
25. द्रष्टव्य, वही गाथा 896-900
26. भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 14
27. सम्पूर्ण विवरण के लिए द्रष्टव्य, भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक
28. आराधनापताका (वीरभद्र), गाथा 908
29. वही, गाथा 909
30. वही, गाथा 910
31. वही, गाथा 905-907
32. वही, गाथा 911, 919 आदि
33. मरणसमाधि प्रकीर्णक, गाथा 527
34. आराधनापताका (वीरभद्र), गाथा 926
35. पढमिल्लुय संघयणो संलिहियप्पाऽहवा असंलिहिओ।
नीहारिमियंर वा पाओवगमं कुणइ धीरो।। -आराधनापताका, गाथा 922

36. आराधनापताका (वीरभद्र), गाथा 924
37. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 92
38. आलोयणा वयणं उच्चारो, खामणा अणसणं च।
    सुहभावणा णमोक्कार भावणं च त्ति मरणविही।। -आराधना प्रकरण, गाथा 1
39. नन्दनमुनि आराधित आराधना (संस्कृत), श्लोक 37
40. द्रष्टव्य, पइण्णयसुत्ताइं भाग-2 (महावीर जैन विद्यालय, बम्बई)
41. द्रष्टव्य, तीनों प्रकीर्णक, पइण्णयसुत्ताइं भाग-1 (महावीर जैन विद्यालय, बम्बई)
42. संलेहणा उ दुविहा अब्भिंतरा य बाहिरा चेव।
    अब्भिंतरा कसाएसु बाहिरा होइ हु सरीरे। -पर्यन्ताराधना, गाथा 5
43. सयला वि सा निरत्था जाव कसाए न संलिहिए।। -पर्यन्ताराधना, गाथा 10
44. कोहं खमाए माणं मद्दवया अज्जवेण मायं च।
    संतोसेण य लोहं जिणइ हु चत्तारि वि कसाए।। -आराधनापताका (1), गाथा 17
45. तणुसंलेहण तिविहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य।
    बारसवासा बारसमासा पक्खा वि बारस उ।। -पर्यन्ताराधना, गाथा 6
46. सत्त भए अट्ठ मए सन्ना चत्तारि गारवे तिन्नि।
    आसायणं तेत्तीसं रागं दोसं च गरिहामि।।
    असंजममन्नाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्तं।
    जीवेसु अजीवेसु य तं निंदे तं च गरिहामि।। -आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 29-30
47. ममत्तं परिवज्जामि, निम्ममत्तं उवट्ठिओ।
    आलंबणं च मे आया, अवसेसं च वोसिरे।। -आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 23
48. आया हु महं नाणे आया मे दंसणे चरित्ते य।
    आया पच्चक्खाणे आया मे संजमे जोगे।। -आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 24
49. महाप्रत्याख्यान, गाथा 12
50. जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
    तं तह आलोइज्जा मायामोसं पमोत्तूणं।। -आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 32
51. भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 28-29
52. संथारयपव्ववज्जं पडिवज्जइ सो वि निअमनिरवज्जं।
    सव्वविरइप्पहाणं सामाइअचरित्तमारूहइ।। -भक्तपरिज्ञा, गाथा 33
53. भगवती आराधना (शिवार्य), गाथा 640
54. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 96, संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 53

55. संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 27
56. जो गारवेण मत्तो निच्छइ आलोयणं गुरुसगासे।
आरूहइ य संथारं अविसुद्धो तस्स संथारो।। -संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 33
57. वही, गाथा 36-40
58. वही, गाथा 41-43
59. वही, गाथा 46
60. तणसंथारनिसन्नो वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि।। -वही, गाथा 48
61. वही, गाथा 55
62. वही, गाथा 104
63. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 54
64. संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 100
65. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 34
66. वही, गाथा 109
67. इय पडिवण्णाणसणो सम्मं भावेज्ज भावणाओ सुभा ।
एगत्ताऽणिच्चत्ताऽसुइत्त अण्णत्त पभिईसो।। -आराधनाप्रकरण, गाथा 63
68. महाप्रत्याख्यान, गाथा 16
69. वही, गाथा 44
70. चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक, गाथा 167
71. आराधनाप्रकरण (अभयदेवसूरि), गाथा 66
72. महाप्रत्याख्यान, गाथा 114
73. भक्तपरिज्ञा, गाथा 70
74. वही, गाथा 77
75. आराधनाप्रकरण, गाथा 79
76. वही, गाथा 83
77. जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ।। -भगवती आराधना, गाथा 1968
78. स्वाध्याय शिक्षा, जून 1991

प्रतिक्रमण

आत्मविशुद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए भूलों का परिमार्जन आवश्यक है तथा पुनः भूल न दोहराने का संकल्प भी अनिवार्य है। जैनदर्शन में इस प्रक्रिया को षड् आवश्यकों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवन आदि षड् आवश्यकों में प्रतिक्रमण की प्रधानता होने से इन षडावश्यकों की 'प्रतिक्रमण' नाम से अधिक प्रसिद्धि है। संयम अथवा विरति के मार्ग पर चलने वाले साधक से जब भी कोई भूल हो जाए तो वह नियमित रूप से प्रातःकाल एवं सायंकाल उसका समभावपूर्वक निरीक्षण कर उसकी निन्दना करता हुआ पुनः संयममार्ग पर अपने आचरण को सुदृढ़ कर सकता है । साधक के लिए सतत सजगता आवश्यक है । अतः उसके द्वारा अवश्य करणीय होने से सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान को आवश्यक कहा गया है । भूल को भूल अथवा दोष को दोष जानकर ही उसका परिहार किया जा सकता है एवं गुणों का संवर्धन किया जा सकता है । जैनदर्शन में आत्मसुधार का एक सुन्दर उपाय है- प्रतिक्रमण ।

जीव का स्वभाव से विभाव में जाना अतिक्रमण है तथा पुनः स्वभाव में स्थित होना प्रतिक्रमण है। जीव का दोष रहित जो शुद्ध स्वरूप है, वह उसका स्वभाव है तथा विकार एवं दोषों से युक्त अवस्था विभाव है। जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं अशुभयोग के कारण स्वभाव से विभाव में गमन करता रहता है, उसे पुनः सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, कषायविजय एवं शुभयोग में लाना प्रतिक्रमण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जीव का औदयिक भाव से पुनः क्षायोपशमिक भाव में आना प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण का पारमार्थिक स्वरूप है। इसके अनुसार जब तक आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं होती तब तक प्रतिक्रमण की आवश्यकता बनी रहती है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के तृतीय प्रकाश की स्वोपज्ञवृत्ति में प्रतिक्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है-**शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात् प्रतीपं क्रमणम् (प्रतिक्रमणम्)** अर्थात् शुभयोग से अशुभयोग में गए हुए जीव का पुनः शुभ योग में आना प्रतिक्रमण है । बिना शुभभावों के शुभ योग में आना अशक्य है, अतः भावशुद्धि ही प्रतिक्रमण का प्रयोजन है । इसलिए औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में आना अथवा विभाव से स्वभाव में आना वास्तविक

या भाव-प्रतिक्रमण है । इस भाव-प्रतिक्रमण के लिए प्रतिक्रमण के पाठों का निर्धारण किया गया है । व्यावहारिक दृष्टि से इन पाठों को भावपूर्वक बोलकर आत्मशुद्धि एवं व्रतशुद्धि की जाती है । प्रतिक्रमण के इस व्यावहारिक स्वरूप के अनुसार गृहीत व्रतों में अतिचार लगने पर आलोचन, निन्दना एवं गर्हा से उन अतिचारों या दोषों को दूर कर व्रतों को शुद्ध कर लेना प्रतिक्रमण है ।

प्रतिक्रमण की महत्ता निर्विवाद है । व्रतों में अतिचार लगने पर साधु और श्रावक को तो उनकी शुद्धि के लिए यथाकाल प्रतिक्रमण करना ही चाहिये । किन्तु साधारण व्यक्ति (अव्रती) भी अपनी भूलों का प्रतिक्रमण करने लगे तो आत्मशुद्धि का मार्ग उसके लिए भी सरल हो जाता है । व्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण इस बात की भी प्रेरणा देता है कि व्यवहार में हमसे कोई भी भूल ऐसी हुई हो जो हमारे प्रमाद की वृद्धि करती हो, क्रोधादि कषायों को उद्दीप्त करती हो, दूसरों के प्रति मलिन व्यवहार को जन्म देती हो, अपने भीतर जिससे अशान्ति और क्षोभ उत्पन्न होता हो, वे सब भूलें प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा त्याज्य हैं । प्रतिक्रमण हमें आत्मानुशासित करता है और अपने ही द्वारा आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है । अपनी भूल को भूल समझना ही आज कठिन हो गया है, उसकी शुद्धि तो दूर की बात है । नियमित रूप से द्रव्य प्रतिक्रमण करने वाले साधु और श्रावक भी जब तक अपनी भूलों, दोषों या अतिचारों का अवलोकन (आलोचन) नहीं करेंगे तब तक उनको भी निर्मलता, शान्ति और आनन्द का स्वारस्य प्राप्त नहीं हो सकेगा ।

द्रव्य प्रतिक्रमण का समय निर्धारित है, किन्तु भाव प्रतिक्रमण कभी भी किया जा सकता है । द्रव्य प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण का स्मरण दिलाने और उसे पुष्ट करने के लिए होता है । प्रतिक्रमण के पाठों का शुद्ध उच्चारण द्रव्य प्रतिक्रमण है, किन्तु उसके साथ जब भाव भी जुड़ जाते हैं तो वह द्रव्य प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण का रूप ले लेता है ।

भाव प्रतिक्रमण कभी भी हो सकता है । प्रतिक्रमण के पाठों के बिना भी भाव प्रतिक्रमण सम्भव है । इसके लिए साधक का सजग होना अनिवार्य है । भूल को सुधारना एवं उसे पुनः न दोहराने का संकल्प ही प्रतिक्रमण का प्रयोजन है । सजग साधक अपनी की हुई भूल को पुनः न दोहराने का संकल्प ले लेता है, किन्तु प्रमादी साधक बार-बार भूलें दोहराता रहता है और न दोहराने के संकल्प के प्रति सजग

नहीं होता है । प्रतिक्रमण आत्मसुधार का अमोघ उपाय है । इसके माध्यम से साधक अपनी साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है । भूल सुधार करके ही कोई लक्ष्य को सिद्ध कर पाता है । एक व्यापारी भी यदि अपनी भूल का सुधार नहीं करता है, बार-बार उस भूल की पुनरावृत्ति करता रहता है तो वह कभी भी एक सफल व्यापारी नहीं हो सकता । इसी प्रकार कोई डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, प्रोफेसर अपनी व्यवसायगत भूलों की समीक्षा कर उनको नहीं सुधारता है तो वह भी अपने क्षेत्र में विकास नहीं कर पाता है । इसी तरह अध्यात्म के क्षेत्र में भी विकास तभी सम्भव है जब अपने द्वारा हुए दोष युक्त अतिक्रमण का तत्काल प्रतिक्रमण होने लगे । तत्काल प्रतिक्रमण न कर सकें तो सायंकाल एवं प्रातःकाल प्रतिक्रमण करके आत्मसुधार कर ही लेना चाहिए ।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के लिए तीन चरण प्राप्त होते हैं- 1. आलोचन 2. निन्दना 3. गर्हा । सर्वप्रथम तो अपने दोष हमें दिखाई दें यह आवश्यक है । अपने दोष देखना ही आलोचन है, दोष दृष्टिगत होने पर उसे बुरा समझना उसकी 'निन्दना' है तथा जब वह दोष गुरु के समक्ष प्रकट किया जाता है तो उसे 'गर्हा' कहा जाता है । इसके लिए योग्य गुरु की आवश्यकता होती है । जो शिष्य के द्वारा प्रकट दोष का प्रचार न करे तथा प्रायश्चित्तादि से उसकी शुद्धि करने का प्रयत्न करे वह योग्य गुरु होता है । प्रायश्चित्त के द्वारा व्यक्ति दोष रहित बन सकता है तथा पुनः दोष न करने का संकल्प भी प्रायश्चित्त के द्वारा दृढ़ होता है ।

प्रतिक्रमण सीखने-सिखाने पर स्थानकवासी परम्परा में विशेष बल दिया जाता है । शिक्षण बोर्ड, धार्मिक पाठशाला, स्वाध्याय शिविर आदि के माध्यम से स्थानकवासी समाज धार्मिक ज्ञान-वृद्धि के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रहा है । समाज में सामायिक और स्वाध्याय की सतत प्रेरणा का ही यह सुफल है कि अनेक युवक-युवतियाँ, किशोर-किशोरियाँ, बालक-बालिकाएँ सामायिक, प्रतिक्रमण, 25 बोल आदि सीख रहे हैं । समाज में अनेक धार्मिक प्रतियोगी परीक्षाएँ भी ज्ञान-वृद्धि में सहायक हुई हैं । यह ज्ञान कहीं भार न बन जाये, इसके लिए आवश्यक है उसका जीवन में आचरणपरक प्रभाव । आचरण भी दो प्रकार का हो सकता है - 1. द्रव्य क्रियाओं के रूप में 2. अपने दोष दूर करने के रूप में । प्रतिक्रमण अपने दोष दूर करने की शिक्षा देता है । द्रव्य क्रियाएँ भी संवर के साथ निर्जरा में सहायक

हों, इस लक्ष्य से भावपूर्वक करने पर वे विशेष फलदायिनी होती हैं, किन्तु उन्हें औपचारिकतावश करने पर अपेक्षित लाभ नहीं मिलता।

प्रतिक्रमण एक आवश्यक है। आत्मशुद्धि के लिए जो अवश्य करणीय है, उसे आवश्यक कहा गया है। आवश्यक छह माने गये हैं- 1. सामायिक (सावद्ययोग विरति) 2. चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन) 3. वन्दना (गुणवत्प्रतिपत्ति) 4. प्रतिक्रमण (स्खलित निन्दना) 5. कायोत्सर्ग (व्रण चिकित्सा) 6. प्रत्याख्यान (गुणधारणा)। इन छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण का प्राधान्य होने से षडावश्यकों को 'प्रतिक्रमण' शब्द से अभिहित किया जाता है। अतः प्रतिक्रमण में इन छहों आवश्यकों का समावेश किया जाता है।

प्रथम 'सामायिक' आवश्यक में सावद्ययोग का त्याग किया जाता है तथा आत्मा को उत्कृष्ट बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशेष आत्मशुद्धि के लिए, शल्यरहित बनाने के लिए, पाप-कर्मों का क्षय करने के लिए कायोत्सर्ग भी किया जाता है। इस कायोत्सर्ग में देहाभिमान का उत्सर्ग करते हुए आत्म-दोषों का आलोचन किया जाता है। उन्हें ध्यान में रहकर देखा जाता है। दोषों का निरीक्षण करके ही उनका निवारण किया जा सकता है। श्रावक इस ध्यानमुद्रा में रहकर प्रतिक्रमण में सम्यक्त्व, ज्ञान, बारह व्रत, कर्मादान, संलेखना आदि से सम्बद्ध 99 अतिचारों का आलोचन करता है। श्रमण-प्रतिक्रमण में कुल 125 अतिचारों का आलोचन किया जाता है। देहादि से आसक्ति रहते हुए आत्मदोषों का अवलोकन इतना सरल नहीं होता, इसलिए देह के प्रति ममत्व अथवा देहाध्यास का त्याग करके निष्पक्ष व तटस्थ होकर आत्मकृत अतिचारों का आलोचन किया जाता है। सभी अतिचारों के पाठ पर ध्यान दिये जाने से यह ज्ञात होता है कि मेरे व्रतों में कौन सा अतिचार लगा और कौन सा नहीं। यह आलोचन सूक्ष्मस्तर पर शान्तभाव से होना चाहिए, ताकि अपना दोष पकड़ में आ सके। दूसरे शब्दों में कहें तो वर्तमान में निर्दोष रहकर ही अतीतकाल के दोषों का निरीक्षण या अन्वेषण किया जा सकता है। इसलिए सावद्ययोग से विरति रूप सामायिक को प्रथम आवश्यक स्वीकार किया गया है।

दूसरे आवश्यक में 'लोगस्स' पाठ के द्वारा 24 तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। तीर्थंकर दोषमुक्त हैं। अतः अपने दोष ध्यान में आने के पश्चात् दोष-मुक्त का

उत्कीर्तन करने से अपने दोषों को दूर करने की भावना बलवती बनती है और यह आत्मविश्वास जागता है कि जिस प्रकार तीर्थंकर दोषमुक्त बने हैं उस प्रकार मैं भी दोषमुक्त बन सकता हूँ।

तीसरे 'वन्दना' आवश्यक में 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से मूल गुण एवं उत्तरगुणों के धारक, संयमी गुरुदेव से संयम यात्रा की कुशल क्षेम पूछी जाती है तथा उन्हें द्वादश आवर्तनों के माध्यम से भावपूर्ण वन्दन किया जाता है। गुरु की शरण को साधक दोष-मुक्त बनने का उत्तम साधन समझता है। वह अपने द्वारा क्रोधादि के कारण हुई आशातना के लिए क्षमायाचना करता है। इसे अनुयोगद्वारसूत्र में 'गुणवत्प्रतिपत्ति' आवश्यक कहा गया है। गुणवत्प्रतिपत्ति का अर्थ है गुणवानों के प्रति आदरभाव। गुणवानों के प्रति आदरभाव आत्मविकास में सहायक है।

चतुर्थ 'प्रतिक्रमण' आवश्यक के पूर्व साधक की दोष-निवारण हेतु भूमिका तैयार हो जाती है। उसका मन अपने दोषों के निवारण हेतु अथवा कहें प्रतिक्रमण हेतु व्याकुल हो जाता है और वह फिर अपने एक-एक अतिचार के लिए कहता है- **मिच्छा मि दुक्कडं** अर्थात् मेरा दुष्कृत गलत था, मिथ्या था, मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। इसीलिए अनुयोगद्वारसूत्र में प्रतिक्रमण आवश्यक को 'स्खलितनिन्दा' कहा गया है। प्रतिक्रमणकर्ता अपनी भूल की निन्दना कर चिन्तन करता है कि मैं पुनः विभाव से स्वभाव में , दोष से निर्दोषता में, अतिक्रमण से प्रतिक्रमण में आना चाहता हूँ।

प्रतिक्रमणकर्ता को यह ज्ञात होता है कि संसार में चार ही मंगल हैं - 1. अरिहंत 2. सिद्ध 3. साधु और 4. केवलिप्रज्ञप्त धर्म। इन चार के अतिरिक्त धन-सम्पदा-परिजन आदि अशरण भूत हैं। इनके प्रति ममत्व त्याज्य है। इसलिए प्रतिक्रमण का साधक 18 प्रकार के पापस्थानों से विरत होता है और आजीविका सम्बन्धी 15 कर्मादानों को छोड़ने का संकल्प करता है। वह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से अपने सामर्थ्यानुसार विरति अथवा परिमाण करता है। जीवन चलाने के लिए वह भोगोपभोग और दिशा का भी परिमाण करता है। अपध्यान के निरर्थक आचरण, प्रमादपूर्वक आचरण, हिंसा को बढ़ावा, पाप कर्म के उपदेश आदि से अपने को पृथक् रखता है। वह मन, वचन और काया के दुष्प्रणिधान को त्यागने का संकल्प करके समभाव का आचरण करता है। वह

विभिन्न दिशाओं में भाग-दौड़ को रोककर आस्रव-सेवन को मर्यादित करता है। अपना सामर्थ्य बढ़ाने के लिए आत्मपोषण हेतु चारों आहारों का त्याग करके ब्रह्मचर्यपूर्वक पौषध की आराधना करता है। माला आदि सुगन्धित द्रव्यों एवं कीमती पदार्थों से अपने को पृथक् रखता है, साधु की भाँति प्रतिलेखना एवं प्रमार्जनपूर्वक उच्चार प्रस्रवण की भूमि का उपयोग करता है। सामान्य जीवन में जो कुछ उसके पास है उसमें से अनासक्ति पूर्वक देने का भाव रखता है। साधु-साध्वी का योग मिलने पर निर्दोष दान देने के लिए भावना भाता है एवं सदैव उत्सुक रहता है। शरीर छूटने के समय संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण का वरण करता है।

पंचम आवश्यक 'कायोत्सर्ग' में काया के उत्सर्ग अर्थात् काया के प्रति ममत्व का त्याग और देहाभिमान का त्याग मुख्य है। अपने दोषों का प्रतिक्रमण कर लेने के पश्चात् भी साधक देह से अपने को पृथक् समझने का अभ्यास करता है। प्राचीन ग्रन्थों में कायोत्सर्ग की विधि दी गई है। कायोत्सर्ग में पहले श्वासोच्छ्वास पर ध्यान केन्द्रित किया जाता था और अब उसके स्थान पर लोगस्स के पाठ पर ध्यान किया जाता है। श्वासोच्छ्वास में लक्ष्य संभवतः श्वास के आने या जाने को तटस्थता से देखने का रहा होगा। किन्तु कालान्तर में यह विधि छूट गई। कायोत्सर्ग खड़े होकर, बैठकर और लेटकर भी किया जा सकता है। लेकिन श्रेष्ठ विधि खड़े रहकर कायोत्सर्ग करना है, क्योंकि इसमें निद्रा आदि दोष की संभावना कम रहती है। अनुयोगद्वारसूत्र में इस आवश्यक को 'व्रणचिकित्सा' नाम दिया गया है। 'व्रण' का अर्थ होता है- 'घाव'। संयम या व्रतों की आराधना में प्रमादवश लगने वाले अतिचार या दोष व्रण हैं, उनकी चिकित्सा इस 'कायोत्सर्ग' आवश्यक के माध्यम से की जाती है। कायोत्सर्ग एक प्रकार की औषध है, मरहम है जिससे आत्मिक घाव ठीक होते हैं।

छठे 'प्रत्याख्यान' आवश्यक का नाम 'गुणधारणा' भी है। व्रण चिकित्सा होने के पश्चात् श्रावक एवं साधु आत्मसाधना में योग्य गुणों को धारण करते हैं। साधक अपनी वृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए तप की आराधना करता है। इस आवश्यक का लक्ष्य होता है आत्म-दोषों का निराकरण कर उन्हें पुनः न करने का संकल्प तथा ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति। प्रत्याख्यान के माध्यम से ही क्रोधादि कषायों पर विजय पायी जाती है। कोई भी प्रत्याख्यान है, वह ज्ञानपूर्वक करने पर

सुप्रत्याख्यान होता है तथा अज्ञानपूर्वक प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान कहलाता है।

इन षडावश्यकों का आचरण व्यक्ति को मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी, अव्रती से व्रती, प्रमत्त से अप्रमत्त, सकषाय से निष्कषाय और अशुभ योगी से शुभ योगी बना सकता है।

आवश्यक किं वा प्रतिक्रमण के पाठों एवं विधि में यथावश्यक विकास होता रहा है। आवश्यक सूत्र का अवलोकन करने पर विदित होता है कि यह संक्षिप्त एवं सारगर्भित है तथा इसमें श्रमण आवश्यक का ही प्रतिपादन है, श्रावक प्रतिक्रमण का नहीं। आवश्यक सूत्र के 6 अध्ययनों में क्रमशः निम्नांकित पाठ प्राप्त होते हैं-

सामायिक आवश्यक- करेमि भंते, इच्छामि ठामि काउस्सग्गं, इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए का पाठ, तस्सउत्तरीकरणेणं का पाठ, ज्ञान के अतिचार (आगमे तिविहे का पाठ) आदि।

चतुर्विंशतिस्तव- लोगस्स का पाठ। इस पाठ में लोगस्स उज्जोयगरे से लेकर 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' तक सातों पद्य हैं।

वन्दन- इच्छामि खमासमणो का पाठ।

प्रतिक्रमण- चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए, शय्यासूत्र (शयन संबंधी दोष-निवृत्ति का पाठ), भिक्षादोष निवृत्ति सूत्र (पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए), स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सूत्र, तैंतीस बोल का पाठ (एक से लेकर तैंतीस की संख्या में विभिन्न दोषों का प्रतिक्रमण), निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ (नमो चउवीसाए तित्थयराणं आदि)।

कायोत्सर्ग- कायोत्सर्ग पाठ।

प्रत्याख्यान- दशविध प्रत्याख्यान का पाठ।

श्रमण-प्रतिक्रमण में पाँच समिति, तीन गुप्ति, पंच महाव्रत, रात्रि भोजन त्याग, अठारह पापस्थान, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय की विराधना सहित- सबके 'मिच्छा मि दुक्कडं' के पाठ दशवैकालिक सूत्र आदि आगमों के आधार से जोड़े गए हैं। इसी प्रकार बड़ी संलेखना का पाठ, दर्शन सम्यक्त्व का पाठ, आयरिय उवज्झाए आदि दोहे, खामेमि सव्वे जीवा, चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ, नमोत्थुणं आदि भी

आवश्यक सूत्र में योजित किए गए हैं। इन सब पाठों के योजित होने एवं निश्चित विधि का निर्धारण होने से श्रमण-प्रतिक्रमण समग्रता से युक्त है ।

श्रमण-प्रतिक्रमण में पांच पाठ मुख्य हैं- 1. शय्यासूत्र 2. गोचरर्यासूत्र 3. काल प्रतिलेखनासूत्र 4. तैंतीस बोल और 5. प्रतिज्ञा सूत्र। साधु-साध्वी के द्वारा अधिक समय तक सोना, बार-बार एवं बिना सावधानी के करवट बदलना, बिना प्रमार्जन हाथ पैर पसारना, अयतना से शरीर को खुजलाना, प्राणियों का शरीर तले दब जाना आदि आचरणीय नहीं हैं। शय्यासूत्र में इन दोषों के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' दिया जाता है। गोचरचर्यासूत्र में गोचरी (भिक्षाविधि) एवं आहार सेवन से सम्बद्ध दोषों की आलोचना की जाती है। साधु साध्वी सूर्योदय के पहले गृहस्थ से आहार नहीं ले सकते तथा उसका सेवन भी नहीं कर सकते। प्रथम प्रहर का लिया भोजन चतुर्थप्रहर में सेवन नहीं कर सकते। उसके पहले ही उन्हें उसका उपयोग करना होता है। ग्रहण किए गए आहार को दो कोश से आगे नहीं ले जा सकते। इसी प्रकार प्रमाण या भूख से अधिक नहीं खा सकते। वे गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा एवं परिभोगैषणा से सम्बद्ध 42 दोषों को टालकर आहार सेवन करते हैं। साधु-साध्वी के लिए चारों काल स्वाध्याय और दोनों सन्ध्याकाल में वस्त्र, पात्र आदि के प्रतिलेखन का विधान है। इनमें यदि कोई दोष रह जाए तो स्वाध्याय-प्रतिलेखना सूत्रपाठ के द्वारा उन दोषों की आलोचना की जाती है। तैंतीस बोल का पाठ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसके अन्तर्गत आत्मशुद्धि का गहन अभ्यास किया जाता है। इसके अन्तर्गत असंयम, राग-द्वेष, दण्ड, शल्य, गारव, विराधना, गुप्ति, कषाय, संज्ञा, विकथा, ध्यान, क्रिया, कामगुण, समिति, षड् जीवनिकाय, लेश्या, भय, मद आदि से सम्बद्ध दोषों या अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है। इससे नियमित आत्मशोधन होता है तथा जीवन में सजगता बनी रहती है। इनके पश्चात् प्रतिज्ञापाठ में असंयम से निवृत्त होने, अब्रह्म, प्रत्याख्यान, अज्ञान, अक्रिया, मिथ्यात्व आदि का प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग किया जाता है। इससे साधु जीवन के पालन में दृढ़ता एवं नई ऊर्जा का अनुभव होता है।

श्रावक प्रतिक्रमण के पाठ भी श्रावक को सन्मार्ग पर स्थिर रखकर व्रतों के पालन के प्रति दृढ़ बनाते हैं तथा व्रतों के पालन में लगे अतिचारों की शुद्धि में

सहायक होते हैं। प्राणातिपातविरमण आदि बारह व्रतों में यह प्रतिक्रमण दृढ़ बनाता है। यह अरिहन्त, सिद्ध को देव, पंच महाव्रतधारी को गुरु एवं जिनप्रज्ञप्त को धर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। आगम का स्वाध्याय निर्दोष रूप से करने हेतु प्रेरित करता है। संलेखना स्वीकार करने एवं उसका निर्दोष पालन करने की प्रेरणा हमें प्रतिक्रमण के पाठों से मिलती है।

प्रतिक्रमण का जैन परम्परा में शाश्वत महत्त्व होते हुए भी इसके पाठों को लेकर थोड़ा-थोड़ा भेद रहा है । श्वेताम्बर श्रमण प्रतिक्रमण का आधार आवश्यक सूत्र है तथा श्रावक प्रतिक्रमण में बारह व्रतों के अतिचारों का आधार उपासकदशांग सूत्र रहा है । श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि परम्पराओं में बारह व्रतों की आलोचना के लिए 'वंदित्तु सूत्र' का महत्त्वपूर्ण स्थान है जो आचार्यों द्वारा प्राकृत के 50 पद्यों में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त सकलार्हत् स्तोत्र, अजित-शांति स्तवन आदि भक्तिपरक स्तुतियाँ बोली जाती हैं। इनसे पूर्व खरतरगच्छ के महान् आचार्य जिनप्रभसूरि (13वीं-14वीं शती) द्वारा रचित विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ में दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के स्वरूप, विधि आदि का निरूपण किया गया है।

उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बर स्थानकवासी, मूर्तिपूजक और तेरांपथ के प्रतिक्रमण में करेमि भंते, इच्छामि खमासमणो, तस्सउत्तरी, लोगस्स, नमोत्थुणं आदि अनेक पाठ समान हैं। प्रतिक्रमण को उपयोगी एवं रोचक बनाने की दृष्टि से समय-समय पर प्रयास होते रहे हैं। स्थानकवासी प्रतिक्रमण में भाव वन्दना और उसमें तिलोकऋषि जी के सवैया का संयोजन इसी के उदाहरण हैं। तेरापंथ सम्प्रदाय के प्रतिक्रमण पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि इस परम्परा के श्रावक प्रतिक्रमण में व्रतों के अतिचारों के पाठ आचार्य श्री तुलसी जी के द्वारा रचित गेय हिन्दी पद्यों में निबद्ध किए गये हैं और प्राकृत पाठ हटा दिये गये हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रतिक्रमण किये जाने की परम्परा है। वट्टकेर विरचित मूलाचार, आशाधरकृत अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में षडावश्यकों का विस्तार से निरूपण है। मूलाचार में प्रतिक्रमण के सात प्रकार प्रतिपादित हैं[1]- 1. दैवसिक 2. रात्रिक 3. ईर्यापथ- आहार, गुरुवन्दन, शौच आदि जाते समय लगे अतिचारों से

तत्काल निवृत्ति हेतु 4. पाक्षिक 5. चातुर्मासिक 6. सांवत्सरिक एवं 7. उत्तमार्थ-संलेखना-संथारा के समय यावज्जीवन चारों 'आहारों' के त्याग के साथ कृत प्रतिक्रमण। उस तरह श्वेताम्बर परम्परा से दिगम्बर परम्परा में ईर्यापथिक एवं उत्तमार्थ प्रतिक्रमण विशिष्ट हैं। मूलाचार में प्रतिक्रमण के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव में कृत अपराधों या दोषों का निन्दना एवं गर्हापूर्वक मन, वचन एवं काया से शोधन करना प्रतिक्रमण है।[2] अमितगति के अनुसार सायंकाल प्रतिक्रमण में 108 श्वासोच्छ्वास प्रमाण, प्रातःकालीन प्रतिक्रमण में 54 श्वासोच्छ्वास एवं अन्य कायोत्सर्ग 27 श्वासोच्छ्वास प्रमाण कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में भी श्रमणों एवं श्रावकों दोनों के लिए प्रतिक्रमण का विधान है, किन्तु वर्तमान में प्रतिक्रमण करने की परम्परा मुनियों तक सीमित है। विरले ही ऐसे दिगम्बर श्रावक होंगे जो नियमित रूप से प्रतिक्रमण करते होंगे। इस परम्परा में भी प्रतिक्रमण के अन्तर्गत वर्तमान में भक्ति पाठों का अधिक सन्निवेश हो गया है।

परम्पराएँ सदैव अमूर्त भावों पर कम एवं मूर्त क्रियाओं पर अपना आग्रह रखती आई हैं। इसलिए कुछ बिन्दुओं पर विवाद उठते रहते हैं। स्थानकवासी परम्परा में प्रतिक्रमण संबंधी विवाद को दूर कर एक श्रावक प्रतिक्रमण तय करने हेतु सन् 1933 के अजमेर साधु-सम्मेलन में 'प्रतिक्रमण निर्णय समिति' का गठन किया गया था। पूज्य (आचार्य) श्री हस्तीमल जी म.सा. के संयोजन में श्रावक प्रतिक्रमण 'सार्थ सामायिक प्रतिक्रमण सूत्र' प्रकाशित हुआ। सम्मेलन में यह भी निर्णय हुआ कि दैवसिक प्रतिक्रमण में 4, पक्खी प्रतिक्रमण में 8, चातुर्मासिक में 12 एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 20 लोगस्स का ध्यान किया जाएगा। किन्तु अभी भी इसके सहित कुछ बिन्दुओं पर मतभेद हैं, यथा- श्रावक प्रतिक्रमण एक किया जाये या दो? इन विवादों में सबके अपने-अपने तर्क हैं। जो जैसा मानता है वह उसके अनुसार तर्क ढूँढ लेता है। वैसे ज्ञातासूत्र में पंथकजी द्वारा दो प्रतिक्रमण किये जाने को सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। जिस प्रकार पाक्षिक प्रतिक्रमण में देवसिय प्रतिक्रमण सम्मिलित माना जाता है उसी प्रकार चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में देवसिय प्रतिक्रमण को सम्मिलित मानने में कोई बाधा

नहीं होनी चाहिये।

आवश्यकता इस बात की है कि प्रतिक्रमण करते समय मन, वाणी और काया तीनों का योग तथा आत्मभावों का उपयोग प्रतिक्रमण में रहे। यदि ऐसा हुआ तो प्रतिक्रमण सम्बन्धी ये विवाद बौने नजर आयेंगे और प्रतिक्रमण की साधना का डंका जगत् में चहुँ ओर स्वतः निनादित होता रहेगा।

प्रश्न यह है कि जिसने व्रत अंगीकार नहीं किए हैं, क्या ऐसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष या बालक-बालिका को भी प्रतिक्रमण करना चाहिए? इस सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यातव्य हैं- 1. एक तो सांस्कृतिक ऐक्य की दृष्टि से एवं उस प्रकार के संस्कार प्राप्त करने या रुचि उत्पन्न करने की दृष्टि से उन्हें भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। 2. व्रत अंगीकार न किए हुए होने पर भी प्रतिक्रमण आत्मशुद्धि में सहायक होता है। उसके पाठों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से जीवन को हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि से रहित बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है। कदाचित् व्रत अंगीकार करने की भी भावना बन सकती है। 3. यह ज्ञात होता है कि जीवन में हम जो दोष करते हैं, उनका निरीक्षण कर नियमित रूप से उनका निराकरण कर शुद्ध बनने हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए। 4. दोषों की शुद्धि सम्भव है, यह विश्वास जागता है जो आध्यात्मिक उन्नति का महत्त्वपूर्ण आधार है। मेरे से आज क्या भूल हुई है, उसे मैं आगे से कैसे दूर कर सकता हूँ, इसका संकल्प जागता है, जो प्रतिक्रमण का मूल सन्देश है। बुराइयों एवं दोषों से बचने के लिए प्रतिक्रमण एक कारगर औषधि है।

सन्दर्भः-

1. पडिक्कमणं देवसियं रादियं इरियापथं च बोधव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ।।- मूलाचार, 615
2. दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवयकायेण पडिक्कमणं।।- मूलाचार, 1.26

उमास्वातिकृत प्रशमरतिप्रकरण एवं उसकी तत्त्वार्थसूत्र से तुलना

वाचक उमास्वाति/उमास्वामी की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं - 1. तत्वार्थसूत्र एवं 2. प्रशमरतिप्रकरण। तत्त्वार्थसूत्र संस्कृत सूत्रों में निबद्ध है तथा प्रशमरतिप्रकरण संस्कृत कारिकाओं/श्लोकों में ग्रथित है। तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन का महनीय आधारभूत ग्रन्थ है, जिसमें जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष- इन सात तत्त्वों के माध्यम से जैन ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा का सारगर्भित निरूपण हुआ है। प्रशमरतिप्रकरण में भी इन सबकी न्यूनाधिक चर्चा हुई है, किन्तु प्रशमरतिप्रकरण में प्रशम किं वा वैराग्य के प्रतिपादन को प्रमुख लक्ष्य बनाया गया है। यह ग्रन्थ प्रशमसुख की वर्तमान जीवन में अनुभूति पर बल प्रदान करता है। तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरतिप्रकरण में विषयवस्तु की दृष्टि से एवं कहीं शब्दावली की दृष्टि से समानता है, तो कुछ विषयों के प्रतिपादन में दोनों ग्रन्थ भिन्नता लिए हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ जीवादि तत्त्वों की संख्या सात दी गई है वहाँ प्रशमरतिप्रकरण में इनकी संख्या नौ है। प्रशमरतिप्रकरण कल्प्य-अकल्प्य, आत्मा के आठ प्रकार, अष्टमद, षड्लेश्या, शास्त्र-लक्षण आदि विभिन्न विषयों की विशिष्ट चर्चा करता है। इस आलेख में प्रशमरतिप्रकरण के कर्तृत्व तथा तत्त्वार्थसूत्र से उसके साम्य एवं भेद की संक्षेप में चर्चा की गई है।

प्रशमरतिप्रकरण के कर्त्ता एवं टीकाकार

संस्कृत कारिकाओं में आबद्ध प्रशमरतिप्रकरण जैन अध्यात्मविद्या का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें कषाय-कलुषित जीव के निर्मल एवं मुक्त होने का मार्ग सम्यक् रीति से निरूपित है। प्रशमरतिप्रकरण निर्विवाद रूप से तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता वाचक उमास्वाति की रचना मानी जाती है। पं. सुखलाल संघवी तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में प्रशमरति को उमास्वाति की कृति मानने में सन्देह का अवकाश नहीं मानते **(तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 18)**। पं.कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी जैन साहित्य का इतिहास लिखते हुए प्रशमरति को उमास्वाति की ही कृति माना है **(जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 375)**। डॉ. मोहनलाल मेहता एवं प्रो. हीरालाल कापड़िया ने भी वाचक उमास्वाति को ही प्रशमरति का रचयिता स्वीकार किया है **(जैन**

साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 4, पृ. 267) । इस प्रकार श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों जैन परम्पराएँ एकमत से तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता वाचक उमास्वाति को ही प्रशमरतिप्रकरण का कर्त्ता अङ्गीकार करती हैं, किन्तु इस मन्तव्य की पुष्टि में पं. सुखलाल संघवी के अतिरिक्त किसी ने कोई प्रमाण उपस्थापित नहीं किया है । पं. सुखलाल संघवी ने उल्लेख किया है कि हरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थभाष्य टीका में **''यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे''** वाक्य लिखकर प्रशमरतिप्रकरण की 210 वीं एवं 211 वीं कारिकाएँ उद्धृत की हैं **(तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ.29, पादटिप्पण 1)**। इससे तत्त्वार्थभाष्यकार एवं प्रशमरतिकार के एक ही होने की पुष्टि होती है ।

प्रशमरतिप्रकरण वाचक उमास्वाति की ही रचना है, इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रमाण अज्ञातकर्तृक अवचूरि में प्राप्त होता है, जिसमें 500 प्रकरणों के प्रणेता वाचक उमास्वाति को ही प्रशमरतिप्रकरण का कर्त्ता स्वीकार किया गया है, यथा-**''श्री उमास्वातिवाचकः पंचशतप्रकरणप्रणेता प्रशमरतिप्रकरणं प्ररूपयन्नादौ मंगलमाह।''- (प्रशमरतिप्रकरण, अगास, परिशिष्ट 1)** इस कथन से भी प्रशमरतिप्रकरण वाचक उमास्वाति की ही कृति सिद्ध होती है । टीकाकार हरिभद्र ने प्रशमरतिप्रकरण के कर्त्ता के लिए 'वाचकमुख्य' शब्द का प्रयोग किया है- **''तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे''** जो उमास्वाति का ही संसूचन करता है । अभी तक ऐसा कोई लेख देखने में नहीं आया जिसमें प्रशमरतिप्रकरण के उमास्वातिकृत होने का खण्डन किया गया हो । अतः इसका उमास्वातिकृत होना निर्विवाद है । इस सन्दर्भ में यह कहना उपयुक्त होगा कि प्रशमरति एवं तत्त्वार्थसूत्र की आन्तरिक विषयवस्तु एवं प्रयुक्त शब्दावली में जो साम्य एवं एकरूपत्व प्राप्त होता है उससे तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरति के एक कर्तृकत्व की सिद्धि को बल मिलता है । इन दोनों ग्रन्थों में कितना साम्य है, इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

प्रशमरतिप्रकरण की अभी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें एक टीका आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित है। ये हरिभद्र 'षड्दर्शनसमुच्चय' के रचयिता आठवीं शती के प्रसिद्ध हरिभद्रसूरि (700-770 ई.) से पृथक् हैं । टीका के अन्त में प्राप्त प्रशस्ति के अनुसार वह टीका अणहिलपाटक नगर में हरिभद्राचार्य के द्वारा जयसिंहदेव के

राज्य में विक्रम संवत् 1185 (ई. 1128) में रची गई थी (**श्री हरिभद्राचार्यैः रचितं प्रशमरतिविवरणं किंचित् । अणहिलपाटकनगरे श्रीमज्जयसिंहदेवनृपराज्ये । बाणवसुरुद्रसंख्ये विक्रमतो वत्सरे व्रजति ।**) टीका अपने आप में सुस्पष्ट, संक्षिप्त, सरल तथा आगमानुसारिणी है । प्रशस्ति में इन हरिभद्र के पूर्व अनेक टीकाएँ हुई, ऐसा संकेत मिलता है (**परिभाव्य वृद्धटीकाः सुखबोधार्थं समासेन**)।

दूसरी टीका अवचूरि के रूप में है, जिसका कर्त्ता अज्ञात है । किन्तु अवचूरि के अन्त में प्रदत्त 'धनमिव जयमनुभवति' वाक्यांश से ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवचूरि के कर्त्ता धनञ्जय (धनम्+जय) हैं । ये धनञ्जय कौन से हैं, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता । अवचूरि में यथावश्यक शब्दों का व्याख्यान किया गया है ।

प्रशमरतिप्रकरण का संक्षिप्त परिचय

प्रशमरतिप्रकरण की रचना का उद्देश्य वाचक उमास्वाति ने प्रशमरति में स्थैर्य स्थापित करना बताया है- '**प्रशमरतिस्थैर्यार्थं वक्ष्ये जिनशासनात् किंचित् ।**' (कारिका 2) वाचक उमास्वाति के इस कथन से ग्रन्थ के अनुबन्ध का तो बोध होता ही है, किन्तु इसके साथ ही दो अन्य तथ्य भी स्पष्ट होते हैं- 1. इस ग्रन्थ का आधार जिनशासन अर्थात् जिनोपदिष्ट आगम वचन हैं । यह कोई काल्पनिक कृति नहीं है । 2. प्रशम अर्थात् वैराग्य के प्रति रुचि में उमास्वाति को उस समय शिथिलता दृष्टिगोचर हुई होगी, अतः उसके प्रति साधु-साध्वियों एवं जनमानस को दृढ़ बनाने के लिए उमास्वाति ने यह ग्रन्थ रचा होगा । इन दोनों तथ्यों में से प्रथम के द्वारा इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध होती है तथा दूसरे तथ्य के द्वारा ग्रन्थ की उपयोगिता विदित होती है । ग्रन्थ का नाम 'प्रशमरति' है । 'प्रशम' का अर्थ टीकाकार हरिभद्र ने राग-द्वेष से रहित होना अथवा वैराग्य किया है । 'रति' का अर्थ उन्होंने शक्ति अथवा प्रीति किया है (**तत्र वैराग्यलक्षणे प्रशमे रतिः शक्तिः प्रीतिः तस्यां स्थैर्यं निश्चलता**)। इस ग्रन्थ में उमास्वाति ने वैराग्य या कषाय-विजय रूप प्रशम के प्रति रुचि उत्पन्न करने एवं उस रुचि को निश्चल बनाने का प्रयास किया है । वैराग्य के पर्यायवचनों में उमास्वाति ने माध्यस्थ्य, विरागता, शान्ति,

उपशम, प्रशम, दोषक्षय और कषाय विजय की गणना की है (**माध्यस्थ्यं वैराग्यं विरागता शान्तिरुपशमः प्रशमः । दोषक्षयः कषायविजयश्च वैराग्यपर्यायाः ।**- कारिका, 17) जो वैराग्य या प्रशम के विभिन्न रूपों को प्रकट करते हैं । टीकाकार हरिभद्र ने तो मंगलाचरण में प्रशमरति को वैराग्य पद्धति का ही ग्रन्थ बताया है । प्रशम या वैराग्य रूप एक विषय पर ही केन्द्रित होने के कारण यह प्रकरण ग्रन्थ की कोटि में आता है (**शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् । आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ।।**)।

ग्रन्थ में 22 अधिकार एवं 313 कारिकाएँ हैं । 22 अधिकार इस प्रकार हैं - 1. पीठबन्ध 2. कषाय 3. रागादि 4. अष्टकर्म 5. पंचेन्द्रिय विषय 6. अष्टमद 7. आचार 8. भावना 9. धर्म 10. धर्मकथा 11. जीवादि नव तत्त्व 12. उपयोग 13. भाव 14. षड्द्रव्य 15. चारित्र 16. शीलाङ्ग 17. ध्यान 18. क्षपकश्रेणी 19. समुद्घात 20. योगनिरोध 21. मोक्षगमन-विधान 22. अन्त फल । ग्रन्थ की विस्तृत विषयवस्तु का आपाततः बोध इन अधिकारों के नामों से ही हो जाता है। किन्तु प्रसंगतः इनमें निर्ग्रन्थ-स्वरूप, लोकस्वरूप, आत्मा के आठ प्रकार, मोहनीय कर्म के उन्मूलन की प्रक्रिया, गृहस्थचर्या आदि विषयों का भी निरूपण हुआ है। प्रशमरतिप्रकरण में वर्णित बहुत से विषय ऐसे हैं जो तत्त्वार्थसूत्र के पूरक हैं, यथा-दशविध धर्मों, द्वादश भावनाओं, षड्लेश्याओं एवं मुक्ति की प्रक्रिया का जो विस्तृत वर्णन प्रशमरतिप्रकरण में उपलब्ध है वह तत्त्वार्थसूत्र में उठी जिज्ञासाओं का शमन करता है। आत्मा के द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग आदि आठ भेद विनय का महत्त्व, प्रशम-सुख की प्राप्ति का उपाय, कुल-रूप-बल आदि अष्ट मद चतुर्विध धर्मकथा, 18 हजार शीलाङ्ग आदि कुछ विषय ऐसे हैं जो प्रशमरतिप्रकरण की पृथक् रचना के वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करते हैं। प्रशमरति के कुछ प्रमुख विषयों पर यहाँ विचार किया जा रहा है ।

प्रशमरतिप्रकरण में चर्चित कतिपय प्रमुख विषय

कल्प्य और अकल्प्य का विचार- प्रशमरतिप्रकरण के अष्टम 'भावना' अधिकार में साधु-साध्वी के लिए कल्प्य-अकल्प्य का विधान करते समय पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र आदि को कल्प्य प्रतिपादित करते हुए उमास्वाति द्वारा प्रश्न

उठाया गया कि भोजन, आश्रय, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने वाले साधु को अपरिग्रही कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान करते हुए उन्होंने कहा कि आहार, शय्या, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा तथा जो कल्प्य (ग्रहण योग्य) एवं अकल्प्य (ग्रहण न करने योग्य) का विधान है वह सद्धर्म और देहरक्षा के निमित्त से है-

पिण्डः शय्यावस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम्।। - प्रशमरति, कारिका, 138

उमास्वाति का मन्तव्य है कि धर्म के उपकरणों को धारण करने वाला साधु भी पङ्क में उत्पन्न कमल की भाँति निर्लेप रह सकता है (कारिका, 140)। साधु के लिए क्या कल्प्य है और क्या अकल्प्य, इसका निरूपण करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो ज्ञान, शील और तप का उपग्राहक और दोषों का निग्राहक है वह निश्चय से कल्प्य है तथा शेष सब अकल्प्य है। (कारिका 141) इसी तथ्य को उन्होंने प्रकारान्तर से कहा कि जो वस्तु कल्प्य होने पर भी सम्यक्त्व, ज्ञान और शील की उपघातक होती है तथा जिससे जिन प्रवचन की निन्दा होती है वह कल्प्य वस्तु भी अकल्प्य ही है (कारिका 144)। उमास्वाति प्रतिपादित करते हैं कि देश, काल, क्षेत्र, पुरुष अवस्था, उपघात और शुद्ध परिणामों का विचार करके ही कोई वस्तु कल्प्य होती है, एकान्ततः कोई वस्तु कल्प्य नहीं होती (कारिका 146)।

इस प्रसङ्ग में वे निर्ग्रन्थ का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि ज्ञानावरण आदि अष्टविध कर्म, मिथ्यात्व, अविरति एवं अशुभ योग से सब ग्रन्थ हैं तथा इन्हें जीतने के लिए जो निष्कपटरूपेण यत्नशील रहता है वह निर्ग्रन्थ है-

ग्रन्थः कर्माष्टविधं मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च।
तज्जयहेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः।। -प्रशमरति, कारिका 142

इस प्रकार उमास्वाति वस्त्र, पात्र आदि को साधना में बाधक नहीं मानकर उन्हें अपेक्षा से कल्प्य स्वीकार करते हैं। प्रशमरतिप्रकरण के कर्त्ता उमास्वाति की यह मान्यता उन्हें श्वेताम्बर अथवा यापनीय सिद्ध करती है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने इस प्रकार के किसी मन्तव्य को स्थान नही दिया है।

मुक्ति की प्रक्रिया- मोक्ष-प्राप्ति में बाधक आठ कर्म हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय ये चार घाती कर्म हैं जो केवलज्ञान में बाधक हैं। इन आठ कर्मों में से सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय किया जाता है। प्रशमरतिप्रकरण में मोह क्षय करने की प्रक्रिया का सुन्दर निरूपण हुआ है। इसके लिए जीव सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ का क्षय करता है। तदनन्तर मिथ्यात्व मोहनीय एवं सम्यक्त्व-मिथ्यात्व मोह का क्षय कर सम्यक्त्व मोहनीय को नष्ट करता है। इस प्रकार मोहकर्म की सात प्रकृतियों का क्षय करने के पश्चात् यदि मोहोन्मूलन की प्रक्रिया अनवरत चलती रही तो जीव आठ कषायों (प्रत्याख्यान चतुष्क और अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क) का क्षय करता है। क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद हास्यादिवेद षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा) का क्षय करके पुरुषवेद का क्षय करता है। फिर संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ का भी क्षय कर जीव वीतरागता को प्राप्त कर लेता है (कारिका 260-262)। इस प्रकार मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों का क्षय होने पर पूर्ण वीतरागता प्राप्त होती है। पूर्ण वीतरागता के साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय नामक घाती कर्म को क्षय कर साधक केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है (कारिका 268-269)।

इस प्रकार मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक चार घाती कर्मों को क्षय कर लेने वाला केवलज्ञानी शेष चार अघाती कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) को अनुभव करता हुआ एक मुहूर्त तक अथवा कुछ कम एक पूर्वकोटि काल तक विचरण करता है (कारिका 271)। अन्तिम भव की आयु अनपवर्तित होने के कारण अभेद्य होती है। वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म भी उसके समान अभेद्य होते हैं। किन्तु जिस केवली के आयुकर्म की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति अधिक होती है तो वह उसे समुद्घात करके आयुकर्म के समान कर लेता है (कारिका 272-273)। समुद्घात करने की एक निश्चित विधि होती है जिसमें आत्म-प्रदेशों को लोकाकाश में फैलाकर कर्म स्थिति को समान कर दिया जाता है। इसके अन्तर्गत आत्मप्रदेशों को क्रमशः दण्डाकार, कपाटाकार, मथन्याकार और लोकव्यापी किया जाता है। यह प्रत्येक कर्म एक-एक समय में होता है (कारिका 274)। इसी प्रकार विपरीत क्रम से आत्म-प्रदेशों का एक-एक

समय में संकोच किया जाता है (कारिका 275) । समुद्घात के पश्चात् योग-निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। सबसे पहले मनोयोग का निरोध किया जाता है, फिर क्रमशः वचनयोग और काययोग का निरोध किया जाता है (कारिका 277-279) । काययोग का निरोध करते समय शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो प्रकार सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति और व्युपरतक्रिय नामक ध्यान को ध्याता है। यह ध्यान की अन्तिम अवस्था है (कारिका 280)। इसके बाद अयोग अवस्था आ जाती है (कारिका 282)। इसे कर्मसिद्धान्त में चौदहवाँ गुणस्थान कहा गया है। इसे शैलेशी अवस्था भी कहा गया है। यह अवस्था पाँच ईषद् ह्रस्वाक्षरों को उच्चारित करने जितने समय तक के लिए होती है (कारिका 283)। इस अवस्था में ही वह केवली अवशिष्ट कर्मों का एक साथ क्षय कर देता है । इसके साथ ही औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों से मुक्त होकर ऋजु श्रेणि से अस्पृशद् गति द्वारा एक समय में ही ऊर्ध्व लोक में अवस्थित हो जाता है। यहाँ वह सादि, अनन्त, अनुपम और अव्याबाध उत्तम सुख को प्राप्त होते हुए केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वरूप होकर रहता है (कारिका, 289)

लोकस्वरूप- प्रशमरतिप्रकरण में लोक का बाह्य स्वरूप भी निरूपित हुआ है। इसमें लोक को ऐसे खड़े हुए पुरुष के आकार का प्रतिपादित किया गया है, जिसके दोनों पैर फैले हुए हों तथा कटिभाग पर दोनों ओर हाथ रखे हुए हों। लोक को जैन दर्शन षड्द्रव्यात्मक स्वीकार करता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और जीव ये षड् द्रव्य हैं। वह लोक अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के रूप में तीन भागों में विभक्त है। अधोलोक उलटे सकोरे के समान आकार का होता है। तिर्यक्लोक को अनेक प्रकार का तथा ऊर्ध्वलोक को पन्द्रह प्रकार का बताया गया है। रत्नप्रभा आदि सात नरक ही सप्तविध अधोलोक हैं। तिर्यक्लोक जम्बूद्वीप आदि के भेद से अनेक प्रकार का तथा ऊर्ध्वलोक में सौधर्मादि के दशकल्प, ग्रैवेयक के तीन, महाविमान का एक तथा ईषत्प्राग्भार का एक, इस प्रकार 15 प्रकार का लोक है ।

आत्मा के आठ प्रकार - आत्मा को द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग,ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य की मार्गणा के आधार पर आठ प्रकार का कहा गया है । जीव की

भांति अजीव से सम्बद्ध जीव को भी द्रव्यात्मा स्वीकार किया गया है। सकषाय जीवों के कषायात्मा, सयोगियों के योगात्मा, समस्त जीवों के उपयोग आत्मा, सम्यग्दृष्टि के ज्ञानात्मा, सब जीवों के दर्शनात्मा, विरत जीवों के चारित्रात्मा तथा समस्त संसारी जीवों के वीर्यात्मा कही गई है।

अष्ट मद- जाति, कुल रूप, बल, लाभ, बुद्धि, वाल्लभ्य और श्रुत मदों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इन मदों के कारण विवेकहीन हुए मनुष्य इहलोक और परलोक में हितकारी अर्थ को भी नहीं देखते हैं। प्रशमरतिप्रकरण में इन सभी मदों को त्यागने की प्रेरणा की गई है। उदाहरण के लिए कुलमद को त्यागने की प्रेरणा करते हुए कहा गया है कि जिसका शील दूषित है, उसको कुलमद करने से क्या प्रयोजन है ? और जो अपने गुणों से अलंकृत एवं शीलवान है उसको भी कुल का मद करने से क्या प्रयोजन है ? इन आठ प्रकार के मदस्थानों में निश्चय से कोई गुण नहीं है, केवल अपने हृदय का उन्माद और संसार की वृद्धि है। यह भी कहा गया है कि जाति आदि के मद से उन्मत्त मनुष्य पिशाच की भाँति यहाँ पर भी दुःखी होता है और परलोक में भी जाति आदि की हीनता को प्राप्त करता है। आगम एवं कर्मसिद्धान्त में अष्टविध मद को नीच गोत्र कर्म के बन्धन का कारण निरूपित किया गया है। उमास्वाति ने कहा है कि समस्त मदों के मूल का नाश करने के लिए अपने गुणों के गर्व और पर-निन्दा को छोड़ देना चाहिए। जो दूसरों का तिरस्कार एवं उनकी निन्दा करता है तथा अपनी प्रशंसा करता है वह अनेक भवों में भोगने योग्य नीच गोत्र का बन्ध करता है।

धर्मकथा- वैराग्य मार्ग में स्थिरता के लिए प्रवचन-भक्ति, शास्त्र-सम्पद् में उत्साह और संसार से विरक्त जनों के साथ सम्पर्क के अतिरिक्त धर्मकथा भी वैराग्य की स्थिरता के लिए आवश्यक है। धर्मकथा के चार प्रकार प्रतिपादित हैं- 1. आक्षेपणी 2. विक्षेपणी 3. संवेदनी और 4. निर्वेदनी। जो कथा जीवों को धर्म की ओर अभिमुख करने वाली है वह आक्षेपणी धर्मकथा है तथा जो धर्मकथा कामभोगों से विमुख करती है वह विक्षेपणी धर्मकथा है। जिस कथा से संसार का सम्यग्बोध हो एवं उसमें दुःख का अनुभव हो उसे संवेदनी तथा कामभोग से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कहलाती है। ये चारों कथाएँ तो अपनाने योग्य हैं, किन्तु

स्त्री, भक्त, चोर और जनपद कथा परित्याज्य हैं।(कारिका 182-183)

शास्त्र का लक्षण - प्रशमरतिप्रकरण में शास्त्र का लक्षण धर्म में अनुशासित कर दुःख से त्राण करना स्वीकार किया गया है । उमास्वाति कहते हैं कि 'शास्' धातु अनुशासन अर्थ में पढ़ी जाती है, 'त्रैङ्' धातु पालन अर्थ में निश्चित है (कारिका 186) । उमास्वाति ने शास्त्र को रागादि के शासन का साधन बताते हुए कहा है कि जो रागद्वेष से उद्धत चित्त वाले मनुष्यों को धर्म में अनुशासित करे तथा दुःख से रक्षा करे, वही शास्त्र है-

यस्माद्रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ।।-प्रशमरति,कारिका 187

प्रशमरतिप्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र : पारस्परिक साम्य

प्रशमरतिप्रकरण एवं तत्त्वार्थसूत्र में अनेक स्थलों पर पर्याप्त साम्य है । यह साम्य कहीं शब्दशः भी प्रकट हुआ है, जो यह सिद्ध करता है कि तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरति के रचयिता एक ही हैं । साम्य इतना स्फुट है कि उससे इनकी एककर्तृकता में सन्देह नहीं रह जाता है । तत्त्वार्थसूत्र के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय के अतिरिक्त शेष सभी अध्यायों की कुछ विषयवस्तु एवं सूत्रों की तुलना प्रशमरतिप्रकरण से की जा सकती है । यहाँ पर अध्याय क्रम से तुलना प्रस्तुत है -

अध्याय-1

(i) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।- तत्त्वार्थसूत्र, 1.1
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदः साधनानि मोक्षस्य ।
तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ।।-प्रशमरतिप्रकरण,230

प्रशमरतिप्रकरण की दूसरी पंक्ति का साम्य तत्त्वार्थभाष्य की निम्न पंक्ति में द्रष्टव्य है- **एतानि च समस्तानि मोक्षसाधनानि, एकतराऽभावेऽप्य-साधनानीत्यतस्त्रयाणां ग्रहणम् ।- तत्त्वार्थभाष्य,** 1.1

(ii) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।
तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।- तत्त्वार्थसूत्र 1.2-3
एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति ।
सम्यग्दर्शनमेतच्च, तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 222

इनमें'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' का भाव साम्य है तो 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' अंश तो पूर्णतः शब्दशः ज्यों का त्यों उभयत्र प्राप्त है।

(iii) सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। - तत्त्वार्थसूत्र, 1.30

कात्स्न्यार्ल्लोकालोके व्यतीतसाम्प्रतभविष्यतः कालान्।
द्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञाता द्रष्टा च सर्वार्थैः ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 270

प्रशमरतिप्रकरण में जहाँ केवलज्ञानी को लोक एवं अलोक के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य काल के समस्त द्रव्य, गुण एवं पर्यायों का ज्ञाता-द्रष्टा कहा गया है वहाँ तत्त्वार्थसूत्र में उसे सूत्र शैली में समस्त द्रव्य एवं पर्यायों का ज्ञाता कहा गया है।

(iv) एक जीव में एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरतिप्रकरण में उमास्वाति मिलती-जुलती शब्दावली में कहते हैं कि एक जीव में एक से लेकर चार ज्ञान तक पाये जा सकते हैं-

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः। - तत्त्वार्थसूत्र, 1.31
एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्यः ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 226

(v) मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। - तत्त्वार्थसूत्र, 1.32

आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम्। - प्रशमरतिप्रकरण, 227

इन दोनों पंक्तियों में भावसाम्य है। 'आद्यत्रयज्ञान' शब्द मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान का ही द्योतक है तथा ये तीनों ज्ञान मिथ्यात्व से युक्त होने पर विपर्यय को प्राप्त होते हैं।

अध्याय-2

(i) औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। -तत्त्वार्थसूत्र, 2.1
द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम्।।- तत्त्वार्थसूत्र, 2.2
भावाः भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारिणामिकश्चैव।
औपशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पंचैते ।।
ते चैकविंशतित्रिद्विनवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः। -प्रशमरति, 196-197

तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त दो सूत्रों में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (मिश्र), औदयिक और पारिणामिक भावों के नामों एवं उनके भेदों का उल्लेख है।

प्रशमरतिप्रकरण की उपर्युक्त कारिकाओं में भी इन्हीं पाँच भावों के नामों एवं भेदों का समानरूपेण उल्लेख है, मात्र क्रम भिन्न हो गया है।

पाँच भावों एवं उनके भेदों की समानता के अतिरिक्त प्रशमरति में सान्निपातिक नामक षष्ठ भाव का भी उल्लेख हुआ है। उसके 15 भेद कहे गए हैं-

षष्ठश्च सान्निपातिक इत्यन्य पंचदशभेदः। - प्रशमरतिप्रकरण, 197

(ii) उपयोगो लक्षणम्।- तत्त्वार्थसूत्र, 2.8

सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्। -प्रशमरति, 194

जीव का लक्षण उपयोग है, यह तथ्य उभयत्र समान शब्दावली में अभिहित है।

(iii) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।- तत्त्वार्थसूत्र, 2.9

साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु। -प्रशमरतिप्रकरण, 194

वह उपयोग दो प्रकार का है- साकार(ज्ञान) एवं अनाकार (दर्शन)। इनमें प्रथम साकार उपयोग आठ प्रकार का एवं अनाकार उपयोग चार प्रकार का है।

(iv) संसारिणो मुक्ताश्च।- तत्त्वार्थसूत्र, 2.10

जीवाः मुक्ता संसारिणश्च संसारिणस्त्वनेकविधाः। -प्रशमरति, 190

जीव संसारी एवं मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं। इनके उपभेदों में भी दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त साम्य है।

(v) एकसमयोऽविग्रहः।- तत्त्वार्थसूत्र, 2.30

समयेनैकेनाऽविग्रहेण गत्वोर्ध्वमप्रतिघः। - प्रशमरतिप्रकरण, 287

अध्याय-5

(i) संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्। - तत्त्वार्थसूत्र, 5.10

नाणोः। - तत्त्वार्थसूत्र, 5.11

द्व्यादिप्रदेशवन्तो यावदनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः।

परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः।। - प्रशमरतिप्रकरण, 208

प्रशमरति के अनुसार पुद्गल स्कन्धों में दो से लेकर अनन्त प्रदेश होते हैं, परमाणु में कोई प्रदेश नहीं होता। इस तथ्य को तत्त्वार्थसूत्र में इस प्रकार प्रकट किया गया है कि पुद्गल में संख्येय, असंख्येय एवं अनन्त प्रदेश होते हैं, जबकि अणु में कोई प्रदेश नहीं होता।

(ii) लोकाकाशेऽवगाहः । - तत्त्वार्थसूत्र, 5.12

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने । - तत्त्वार्थसूत्र 5.13

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् । - तत्त्वार्थसूत्र, 5.15

लोकालोकव्यापकमाकाशं मर्त्यलोकिकः कालः ।

लोकव्यापि चतुष्टयमवशेषं त्वेकजीवो वा ।। -प्रशमरतिप्रकरण, 213

आकाश लोक एवं अलोक में रहता है, काल मनुष्य लोक में रहता है, शेष चार द्रव्य लोकव्यापी हैं, एक जीव के प्रदेश भी लोकव्यापी कहे गए हैं । तत्त्वार्थसूत्र में धर्म एवं अधर्म द्रव्य को सम्पूर्ण लोक में व्याप्त कहा गया है तथा लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक जीवों का अवगाहन कहा है ।

(iii) आऽऽकाशादेकद्रव्याणि । - तत्त्वार्थसूत्र, 5.5

निष्क्रियाणि च । - तत्त्वार्थसूत्र, 5.6

धर्माधर्माकाशान्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम् ।

कालं विनाऽस्तिकाया जीवमृते चाऽप्यकर्तृणि ।।-प्रशमरतिप्रकरण, 214

धर्म, अधर्म एवं आकाश संख्या में एक-एक हैं तथा निष्क्रिय हैं । यह कथन दोनों ग्रन्थों में समानरूप से हुआ है । किन्तु प्रशमरतिप्रकरण में शेष तीन द्रव्यों पुद्गल, जीव और काल को अनन्त प्रतिपादित करते हुए काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है तथा छह द्रव्यों में से 'जीव' को छोड़कर शेष पाँच को अकर्त्ता माना गया है ।

(iv) गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.17

आकाशस्यावगाहः । - तत्त्वार्थसूत्र, 5.18

धर्मो गतिस्थितिमतां द्रव्याणां गत्युपग्रहविधाता ।

स्थित्युपकृच्चाधर्मोऽवकाशदानोपकृद्गगनम् ।।-प्रशमरतिप्रकरण, 215

उपर्युक्त दोनों कथनों में पूर्ण समानता है, जिनके अनुसार धर्म को गति में, अधर्म को स्थिति एवं आकाश को अवगाहन में उपकारक प्रतिपादित किया गया है ।

(v) स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.23

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।

- तत्त्वार्थसूत्र, 5.24

स्पर्शरसगन्धवर्णाः शब्दो बन्धश्च सूक्ष्मता स्थौल्यम् ।

संस्थानं भेदतमश्छायोद्योतातपश्चेति ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 216

पुद्गल के लक्षण से सम्बद्ध उपर्युक्त दो सूत्रों एवं कारिका में पूर्ण साम्य है। मात्र उद्योत एवं आतप के क्रम में भिन्नता है।

(vi) शरीरवाङ्मनः प्राणापानाःपुद्गलानाम् ।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.19

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.20

कर्मशरीरमनोवाग्विचेष्टितोच्छ्वासदुःखसुखदाः स्युः ।

जीवितमरणोपग्रहकराश्च संसारिणः स्कन्धाः ।। - प्रशमरति, 217

शरीर, वाक्, मन, उच्छ्वास (प्राणापान), सुख, दुःख, जीवन, मरण- ये सब संसारी जीव पर पुद्गल के उपकार हैं।

(vii) वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।-तत्त्वार्थसूत्र, 5.22

परिणामवर्तनाविधिः परापरत्वगुणलक्षणः कालः ।-प्रशमरतिप्रकरण, 218

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व एवं अपरत्व काल के उपकार हैं। प्रशमरतिप्रकरण में इन्हें काल के लक्षण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। परत्व, अपरत्व आदि का उल्लेख वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में भी हुआ है। प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है- परत्व, अपरत्व, युगपद्, अयुगपद्, चिर, क्षिप्र आदि के ज्ञान में कारण 'काल' है। (**कालः परापरव्यतिकर-यौगपद्यायौगपद्य चिरक्षिप्रप्रत्यय-लिङ्गम्** - प्रशस्तपादभाष्य, काल निरूपण)

(viii) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । - तत्त्वार्थसूत्र, 5.29

अर्पितानर्पितसिद्धेः ।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.31

उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि ।

सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात् ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 204

उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त को सत् कहा गया है। इनमें प्रधान गौणभाव के कारण वस्तु को कभी नित्य एवं कभी अनित्य कहा जाता है। व्यय के लिए प्रशमरति में विगम एवं ध्रौव्य के लिए नित्यत्व का प्रयोग हुआ है, शेष यथावत् है।

अध्याय- 6

शुभः पुण्यस्य ।

अशुभः पापस्य ।- तत्त्वार्थसूत्र, 6.3-4

पुद्गलकर्म शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।

यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ।।-प्रशमरतिप्रकरण,219

शुभ आस्रव पुण्य का एवं अशुभ आस्रव पाप का हेतु होता है। यही बात प्रशमरतिप्रकरण में स्पष्ट की गई है कि शुभ कर्मपुद्गल को पुण्य तथा अशुभ कर्मपुद्गल को जिन शासन में पाप कहा गया है।

अध्याय- 7

(i) **मूर्च्छा परिग्रहः ।**- तत्त्वार्थसूत्र, 7.12

अध्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रहं वर्णयन्ति निश्चयतः ।- प्रशमरतिप्रकरण, 178

मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। अध्यात्मवेत्ता मूर्च्छा को परिग्रह के रूप में वर्णित करते हैं।

(ii) **हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।**- तत्त्वार्थसूत्र, 7.1

अणुव्रतोऽगारी ।- तत्त्वार्थसूत्र, 7.15

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिमाणातिथि-संविभागव्रतसम्पन्नश्च ।- तत्त्वार्थसूत्र, 7.16

स्थूलवधानृतचौर्यपरस्त्रीरत्यरतिवर्जितः सततम् ।

दिग्व्रतमिह देशावकाशिकमनर्थविरतिं च ।

सामायिकं च कृत्वा पौषधमुपभोगपरिमाण्यं च ।

न्यायागतं च कल्प्यं विधिना पात्रेषु विनियोज्यम् ।। - प्रशमरति, 303-304

श्रावक के 12 व्रतों का तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरतिप्रकरण में समान क्रम है। उपासकदशाङ्ग सूत्र में देशावकाशिक को सामायिक के पश्चात् एवं उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत को दिग्व्रत के पश्चात् रखा गया है । इस दृष्टि से उमास्वाति ने आगम निरूपित क्रम में अपनी सूझ से परिवर्तन किया है ।

अध्याय-8

(i) आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ।

- तत्त्वार्थसूत्र, 8.5

सज्ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुषां तथा नाम्नः ।

गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ।- प्रशमरतिप्रकरण, 34

यहाँ पर ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का क्रम से दोनों ग्रन्थों में कथन किया गया है।

(ii) पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद् द्विपंचभेदाः यथाक्रमम्।

– तत्त्वार्थसूत्र, 8.6

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिकश्चतुः षट्कसप्तगुणभेदः ।

द्विपंचभेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरतः ।। – प्रशमरतिप्रकरण, 35

ज्ञानावरणादि कर्मों की क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठावीस, चार, बयालीस, दो एवं पाँच प्रकृतियाँ हैं।

(iii) प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ।– तत्त्वार्थसूत्र, 8.4

प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्याः । –प्रशमरति, 36

चार प्रकार के बन्ध हैं– प्रकृति, स्थिति, अनुभाव/अनुभाग एवं प्रदेश।

अध्याय–9

(i) उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-
ब्रह्मचर्याणि धर्मः । – तत्त्वार्थसूत्र, 9.6

सेव्यः क्षान्तिर्मार्दवमार्जवशौचे च संयमत्यागौ ।

सत्यतपोब्रह्माकिंचन्यानीत्येष धर्मविधिः ।।– प्रशमरतिप्रकरण, 167

सत्य, तप और ब्रह्मचर्य के क्रम में भेद के अतिरिक्त क्षमा आदि दशविध धर्मों का समान कथन हुआ है ।

(ii) अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोक-
बोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । – तत्त्वार्थसूत्र, 9.7

भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे ।

अशुचित्वं संसारः कर्मास्रवसंवरविधिश्च ।।

निर्जरणलोकविस्तरधर्मस्वाख्यातत्त्वचिन्ताश्च ।

बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वाद्वश विशुद्धाः –प्रशमरितप्रकरण, 140-150

संसार एवं बोधिदुर्लभ भावनाओं के क्रमभेद के अतिरिक्त अनित्यादि बारह भावनाओं का दोनों ग्रन्थों में समान कथन हुआ है।

(iii) सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातानि चारित्रम् ।– तत्त्वार्थसूत्र, 9.18

सामायिकमित्याद्यं छेदोपस्थापनं द्वितीयं तु ।
परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातम् ।।
इत्येतत्पंचविधं चारित्रं मोक्षसाधनं प्रवरम् ।।- प्रशमरतिप्रकरण, 226-227

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय एवं यथाख्यात चारित्र का कथन दोनों ग्रन्थों में हुआ है। प्रशमरति में पंचविध चारित्र को मोक्ष का साधन कहा गया है।

(iv) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः । - तत्त्वार्थसूत्र, 9.19
अनशनमूनोदरता वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 175

विविक्त शय्यासन के स्थान पर प्रशमरतिप्रकरण में संलीनता शब्द प्रयुक्त हुआ है, शेष अनशन आदि बाह्य तप-नामों में समानता है ।

(v) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।
- तत्त्वार्थसूत्र, 9.20
प्रायश्चित्तध्याने वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः ।
स्वाध्याय इति तपःषट्प्रकारमभ्यन्तरं भवति ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 176

क्रम भेद के अतिरिक्त प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप-नामों में पूरा साम्य है । तत्त्वार्थसूत्र में व्युत्सर्ग शब्द प्रयुक्त है । उसके स्थान पर प्रशमरति में 'उत्सर्ग' शब्द आया है।

(vi) आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ।
- तत्त्वार्थसूत्र, 9.37
आज्ञाविचयमपायविचयं च स ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ।।-प्रशमरतिप्रकरण, 247

उपर्युक्त सूत्र एवं कारिका में धर्मध्यान के चार भेदों आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय एवं संस्थान विचय का उल्लेख हुआ है ।

अध्याय-10

(i) मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।-तत्त्वार्थसूत्र, 10.1

मस्तकसूचिविनाशात्तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः ।
तद्वत्कर्मनाशो हि मोहनीयक्षये नित्यम् ।।
छद्मस्थवीतरागः काल सोऽन्तर्मुहूर्तमथ भूत्वा
युगपद् विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य ।।
शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तरं निरवशेषम् ।
सम्पूर्णमप्रतिहतं सम्प्राप्तः केवलज्ञानम् ।।- प्रशमरतिप्रकरण, 267-269

पहले मोहकर्म का क्षय होता है, फिर युगपद् रूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तरायकर्म का नाश होकर केवलज्ञान प्रकट होता है । प्रशमरति में बताया गया है कि वह केवलज्ञान शाश्वत, अनन्त, अनतिशय, अनुपम, अनुत्तर, निरवशेष, सम्पूर्ण एवं अप्रतिहत होता है ।

(ii) तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।- तत्त्वार्थसूत्र, 10.5
सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्यालोकान्ताद् गतिर्भवति ।
लोकाग्रतः सिध्यति साकारेणोपयोगेन ।।- प्रशमरतिप्रकरण, 288

आठों कर्मों का क्षय होने के पश्चात् मुक्त जीव लोक के अग्र भाग में जाकर अवस्थित हो जाता है। प्रशमरति में कहा गया है कि वह साकारोपयोग में सिद्ध होकर लोकाग्र में अवस्थित होता है।

(iii) पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च-
तद्गतिः - तत्त्वार्थसूत्र, 10.6
पूर्वप्रयोगसिद्धेर्बन्धच्छेदादसंगभावाच्च ।
गतिपरिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वं गतिः सिद्धा ।।-प्रशमरतिप्रकरण, 294

मुक्त जीव की पूर्व प्रयोग के कारण, असंग होने से,बन्ध का छेदन होने से तथा उस प्रकार का गति-परिणाम होने से लोक के ऊर्ध्व भाग की ओर गति होती है।

प्रशमरतिप्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र : पारस्परिक भेद

प्रशमरतिप्रकरण एवं तत्त्वार्थसूत्र में जिन बिन्दुओं पर पारस्परिक भेद दृष्टिगोचर होता उनमें से कुछ प्रमुख विषयों पर यहाँ विचार किया जा रहा है-

(1) **नव तत्त्व**- तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्व निरूपित हैं, जबकि प्रशमरतिप्रकरण में नौ पदार्थों या तत्त्वों का उल्लेख है, यथा-

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् । - तत्त्वार्थसूत्र, 1.4

जीवाजीवा पुण्यं पापास्रवसंवराः सनिर्जरणाः ।

बन्धा मोक्षाश्चैते सम्यक् चिन्त्याः नवपदार्थाः ।। - प्रशमरतिप्रकरण, 189

इस सम्बन्ध में चार बिन्दु विचारणीय हैं-

(क) पदार्थ एवं तत्त्व में कोई भेद है या नहीं ?

(ख) उमास्वाति ने नौ पदार्थों के स्थान पर सात तत्त्वों का निरूपण किस अपेक्षा से किया ?

(ग) उन्होंने इन तत्त्वों का क्रम क्यों बदला ?

(घ) क्या उनके द्वारा पुण्य-पाप का समावेश आस्रव या बन्ध में करना उचित है ?

चारों प्रश्नों के सम्बन्ध में क्रमशः विचार प्रस्तुत हैं-

(क) पदार्थ एवं तत्त्व शब्द जैनदर्शन में एकार्थक हैं । स्वयं उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में 'सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्' 'एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि' (**तत्त्वार्थभाष्य 1.4**) वाक्यों द्वारा अर्थ, पदार्थ एवं तत्त्व को एकार्थक बतलाया है ।

(ख) उमास्वाति ने पुण्य एवं पाप पदार्थ का समावेश आस्रव तत्त्व में किया है, जैसा कि उनके '**शुभः पुण्यस्य**' '**अशुभः पापस्य**' (**तत्त्वार्थसूत्र, 6.3-4**) सूत्रों से प्रकट होता है । आस्रव के साथ बन्ध तत्त्व में इनका समावेश स्वतः सिद्ध है, क्योंकि, बंधी हुई कर्मप्रकृतियाँ या तो पुण्य रूप होती हैं या पाप रूप । प्रशमरतिप्रकरण के टीकाकार हरिभद्र ने पुण्य एवं पाप का समावेश बन्ध तत्त्व में ही किया है- **शास्त्रे पुण्यपापयोर्बन्धग्रहणेनैव ग्रहणात् सप्त संख्या । (कारिका 189 की टीका)**

(ग) प्रशमरतिप्रकरण एवं विभिन्न आगमों में तत्त्वों का क्रम जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष के रूप में है । पुण्य-पाप की पृथक् गणना न करने पर इनका क्रम रहता है- जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष । किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने आस्रव के पश्चात् बन्ध को रखकर क्रम बदल दिया है । उनके द्वारा ऐसा किया जाना उचित प्रतीत होता है,

क्योंकि कर्म पुद्गलों के आस्रव के अनन्तर बन्ध ही घटित होता है तथा संवर एवं निर्जरा के द्वारा मोक्ष घटित होता है।

(घ) पुण्य-पाप का समावेश आस्रव एवं बन्ध में करके उन्हें स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में निरूपित नहीं करना अनेक कारणों से उचित प्रतीत नहीं होता, यथा-

(i) पुण्य-पाप एक-दूसरे के विरोधी हैं। पुण्यकर्म जहाँ सम्यग्दर्शन एवं केवलज्ञान में सहायक कारण है वहाँ पापकर्म उसमें बाधक है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार जब तक पापकर्म की प्रकृतियों का चतुःस्थानिक अनुभाग घटकर द्विस्थानिक नहीं होता और पुण्यप्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर चतुःस्थानिक नहीं होता तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। इसी प्रकार पुण्यप्रकृतियों का अनुभाग जब तक उत्कृष्ट नहीं होता तब तक केवलज्ञान प्रकट नहीं होता है। इस दृष्टि से पाप के अनुभाग का घटना एवं पुण्य के अनुभाग का बढ़ना सम्यग्दर्शन एवं केवलज्ञान में सहायक होने से ये एक-दूसरे के विरोधी सिद्ध होते हैं। अतः इन दोनों का पृथक् कथन आगम एवं कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से अपेक्षित प्रतीत होता है।

(ii) आठ कर्मों में से चार घाती कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय- पापकर्म हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति हेतु इनका क्षय अनिवार्य होता है। पुण्य कर्मों के क्षय के लिए विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। पुण्य कर्म अघाती हैं, जो आत्मा की कोई घात नहीं करते। वे देशघाती भी नहीं हैं। मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्रसंस्थान आदि पुण्य कर्म तो मुक्ति में सहायक माने गये हैं। इसलिए पुण्य एवं पाप दोनों का पृथक् बोध आवश्यक होने से इन्हें तत्त्वगणना में पृथक् रूपेण स्थान देना उचित प्रतीत होता है।

(iii) आगमों में सर्वत्र पाप के त्याग का ही विधान है तथा पाप-प्रकृतियों के क्षय का ही निरूपण है। पुण्य त्याग या उसका क्षय करने की प्रेरणा कहीं नहीं की गई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए।

-दशवैकालिकसूत्र, 9.4.4

तपसमाधि से युक्त साधक सदैव तप के द्वारा प्राचीन (पूर्वबद्ध) पापकर्मों को नष्ट करता है।

संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ। - उत्तराध्ययनसूत्र, 29.55

संवर से कायगुप्ति कर जीव पुनः पापास्रव का निरोध करता है।

(iv) आत्मा के शुभ परिणामों के कारण योग 'शुभ' एवं अशुभ परिणामों के कारण योग 'अशुभ' होता है (**शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाशुभः।** - सर्वार्थसिद्धि 6.3) कर्मों के शुभाशुभत्व का कारण होने से योग शुभाशुभ नहीं होते। यदि ऐसा कहा जाए तो शुभ योग होगा ही नहीं, क्योंकि शुभ योग को भी ज्ञानावरण आदि कर्मों के बन्ध का कारण माना गया है। (**न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात्। शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्।**- सर्वार्थसिद्धि 6.3) जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है (**पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्**- सर्वार्थसिद्धि 6.3) तथा जो पुण्य का विरोधी है वह पाप है। इसे दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि संक्लेश पाप है एवं विशुद्धि पुण्य है। संक्लेश में कषायवृद्धि होती है तथा विशुद्धि में कषाय-कमी। इस प्रकार पुण्य-पाप को समान समझना उपयुक्त नहीं।

(v) कसायपाहुड की जयधवला टीका में अनुकम्पा एवं शुद्ध उपयोग को पुण्यास्रव का हेतु तथा इसके विपरीत निर्दयता एवं अशुद्ध उपयोग को पापास्रव का हेतु बताया गया है-

पुण्णासवभूदा अणुकंपा सुद्धओ अ उपजोओ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहि।।

- कसायपाहुड, जयधवला टीका, पुस्तक 1, पृष्ठ 96

यहाँ ज्ञात होता है कि पुण्यास्रव एवं पापास्रव एक दूसरे के विपरीत हैं, अतः दोनों का पृथक् कथन आवश्यक है।

(vi) पुण्य-पाप का समावेश आस्रव एवं बन्ध तत्त्व में करने का परिणाम यह हुआ कि पुण्य को भी पाप की ही भांति मुक्ति में बाधक मानकर आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा पाप को लोहे की बेड़ी तथा पुण्य को सोने की बेड़ी कहा गया, जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जो पुण्य केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक न होकर साधक

है, उसे सोने की बेड़ी कहना पाप की श्रेणि में डाल देना है। हाँ, यह अवश्य है कि अघाती पुण्य कर्म शरीर रहने तक रहता है, शरीर छूटने के साथ वह वैसे ही स्वतः समाप्त हो जाता है, जिस प्रकार कि यथाख्यात चारित्र स्वतः छूट जाता है। इसलिए पुण्य को पापकर्म के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

(vii) यदि पाप एवं पुण्य को एक ही श्रेणी में रखकर समान रूप से त्याज्य प्रतिपादित किया जायेगा तो साधना का मार्ग ही नहीं रह सकेगा, क्योंकि पूर्णतः अयोगी अवस्था तो चौदहवें गुणस्थान में होती है। उसके पूर्व जो मन, वचन एवं काय योग रहता है वह या तो कषाय के आधिक्य के कारण अशुभ होता है या कषाय के घटने के कारण शुभ होता है। अशुभ से शुभ की ओर बढ़ने पर ही साधना सम्भव है। अतः पुण्य को पाप कर्म की भाँति एकान्ततः त्याज्य कहना कदापि उचित प्रतीत नहीं होता।

ये कतिपय बिन्दु हमें चिन्तन करने के लिए विवश करते हैं कि उमास्वाति ने पुण्य एवं पाप को तत्त्व-संख्या में स्थान न देकर जैनदर्शन के साथ कितना न्याय किया है ? **सप्त तत्त्व के प्रतिपादन की उनकी मौलिक सूझ कहीं जैन दर्शन के तत्त्वज्ञान में भ्रान्ति उत्पन्न करने में निमित्त तो नहीं बन गई ? विद्वानों को इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।** श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आगम-परम्परा एवं कर्मसिद्धान्त के अनुसार तो नव तत्त्व या नव पदार्थ को स्वीकार करना ही उचित प्रतीत होता है। पुष्ट्यर्थ उद्धरण-

(अ) नवसब्भावपयत्था पण्णत्ता तंजहा- जीवा अजीवा पुण्णं पावो,
आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो। - स्थानांगसूत्र, नवमस्थान

(आ) जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संते ए तहिया नव।- उत्तराध्ययनसूत्र, 28.14

(इ) जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हंवति अट्ठा।। - पंचास्तिकाय, 108

(उ) णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंतिति।।
-गोम्मटसार,जीवकाण्ड,गाथा 621

उपर्युक्त सभी उद्धरणों में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष इन नौ तत्त्वों या पदार्थों का कथन किया गया है।

(2) काल द्रव्य- उमास्वाति ने प्रशमरतिप्रकरण में धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल के अतिरिक्त काल को भी अजीव द्रव्यों में स्थान दिया है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में उन्होंने काल को कतिपय आचार्यों के मत में द्रव्य निरूपित किया है। इससे यह विवाद का विषय बनता है कि उमास्वाति के मत में काल एक पृथक् द्रव्य है या नहीं ? इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित बिन्दु विचारणीय हैं-

(क) तत्त्वार्थसूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल को उमास्वाति ने अजीवकाय कहा है (**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः- तत्त्वार्थसूत्र 5.1**)। यहाँ 'अजीव' के साथ 'काय' शब्द उनके अस्तिकाय होने का सूचक है। 'काल' अजीव है, किन्तु वह अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि उसके कोई प्रदेश-समूह नहीं हैं, इसलिए इसे चार अजीवकायों के साथ तत्त्वार्थसूत्र में नहीं रखा गया है। जीव अस्तिकाय है, किन्तु अजीव नहीं है, इसलिए उसे भी यहाँ नहीं गिनाकर उसके लिए पृथक् सूत्र '**जीवाश्च**' (**तत्त्वार्थसूत्र 5.3**) दिया गया है। फिर उमास्वाति ने इन पाँचों द्रव्यों की समानता-असमानता के आधार पर उनका वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में किया है।

(ख) 'काल' का पृथक् द्रव्य के रूप में उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवे अध्याय के 38 वें सूत्र '**कालश्चेत्येके**' के द्वारा किया गया है। किन्तु इसके पूर्व इसी अध्याय के 22 वें सूत्र में उन्होंने '**वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य**' सूत्र के द्वारा काल का लक्षण और उसके कार्य बताए हैं, जिससे सिद्ध होता है कि काल उन्हें पहले ही एक द्रव्य के रूप में अभीष्ट था। ऐसी स्थिति में '**कालश्चेत्येके**'(**5. 38**) सूत्र की उपयोगिता नहीं रह जाती है। सम्भवतः यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं में यह सूत्र '**कालश्च(5.39)**' रूप में ही पढ़ा गया है। पूज्यपाद देवनन्दी ने 'काल' के पृथक् कथन का औचित्य प्रतिपादित किया है। उन्होंने प्रश्न उठाया कि काल का कथन धर्म, अधर्म आदि चार अस्तिकायों के साथ क्यों नहीं किया गया ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए उन्होंने कहा कि उस सूत्र

में काल का कथन करने पर काल में कायत्व स्वीकारना पड़ता जो कि काल में है नहीं।-(सर्वार्थसिद्धि, पृ. 239) इसी प्रकार **'आऽऽकाशादेकद्रव्याणि' (5.5) निष्क्रियाणि च (5.6)** सूत्रों में परिगणित धर्म, अधर्म एवं आकाश के अतिरिक्त शेष द्रव्य पुद्गल एवं जीव सक्रिय हैं, यदि काल की गणना पहले हो जाती तो उनके साथ 'काल' भी सक्रिय हो जाता, जो अभीष्ट नहीं है।

उपर्युक्त दोनों बिन्दुओं से यह सिद्ध होता है कि उमास्वाति को काल पृथक् द्रव्य के रूप में अभीष्ट था।

(ग) पं. दलसुख मालवणिया का इस सम्बन्ध में भिन्न मत है। वे लिखते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों के मत में लोक पंचास्तिकायमय है। उत्तराध्ययनसूत्र 28.7 के अतिरिक्त लोक को षड्द्रव्यात्मक नहीं बताया गया है। **(आगमयुग का जैन दर्शन, पृ. 214)** मालवणिया जी का यह कथन इस बात की ओर संकेत करता है कि उस समय पाँच द्रव्य मानने की भी परम्परा रही है तथा उमास्वाति काल को पृथक् द्रव्य मानने के पक्षपाती नहीं थे। पं. मालवणिया जी के इस कथन पर प्रश्न तब उठता है जब व्याख्याप्रज्ञप्ति **(शतक 25, उद्देशक 4, सूत्र 8)** एवं अनुयोगद्वारसूत्र **(सूत्र 269)** में स्पष्टतः षड्द्रव्यों का उल्लेख प्राप्त होता है तथा उमास्वाति ने स्वयं प्रशमरतिप्रकरण में 'काल' को अजीव पदार्थों में परिगणित किया है। प्रशमरतिप्रकरण में उन्होंने पुद्गल को रूपी तथा धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल को अरूपी द्रव्य कहा है, यथा-

धर्माधर्माकाशानि पुद्गलाः काल एवं चाजीवाः।
पुद्गलवर्जमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः।।- प्रशमरतिप्रकरण, 207

इसका तात्पर्य है कि उमास्वाति को काल पृथक् द्रव्य के रूप में अभीष्ट था, किन्तु वे इसके सम्बन्ध में रहे मतभेद को प्रकट करना चाहते थे।

(3) बन्ध हेतु- कर्म-बन्धन के तत्त्वार्थसूत्र में पाँच हेतु गिनाए गए हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। प्रशमरतिप्रकरण में राग-द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं योग को कर्मबन्ध का हेतु बताया गया है। आगम में मिथ्यात्व आदि को आस्रव का हेतु तथा राग-द्वेष को बन्ध का कारण बताया गया है।

(4) नय, प्रमाण और अनुयोग- जैन ज्ञान-मीमांसा में अधिगम के लिए नय, प्रमाण एवं अनुयोग को सहायक माना गया है । प्रशमरतिप्रकरण में **'अनेकानुयोगनयप्रमाणमार्गैः समनुगम्यम्'** (229) कारिकांश के द्वारा अनेक अनुयोग, नय एवं प्रमाण मार्ग से अधिगम करने के कथन से इसकी पुष्टि होती है। तत्त्वार्थसूत्र (1.6) में **'प्रमाणनयैरधिगमः'** सूत्र के द्वारा प्रमाण एवं नय से अधिगम सम्पन्न होने का कथन करके विभिन्न अनुयोगों का निर्देश इन तीनों सूत्रों में पृथक्रूपेण किया गया है ।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।- तत्त्वार्थसूत्र, 1.5

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।-तत्त्वार्थसूत्र, 1.7-8

तत्त्वार्थभाष्य में नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव को स्पष्टरूपेण अनुयोगद्वार कहा गया है- **'एभिर्नामादिभिश्चतुर्भिरनुयोगद्वारैः** (तत्त्वार्थभाष्य 1.5) इसी प्रकार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान भी भाष्य के अनुसार अनुयोगद्वार हैं, **(एभिश्च निर्देशादिभिः षड्भिरनुयोगद्वारैः**- तत्त्वार्थभाष्य 1.7) और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व भी अनुयोगद्वार हैं **(सद्भूतपदप्ररूपणादिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानाम्**- तत्त्वार्थसूत्र, 1.8) इस प्रकार अधिगम में नय एवं प्रमाण के साथ अनुयोगद्वारों का भी महत्त्व स्वीकार किया गया है । निर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 13 एवं 895) एवं षट्खण्डागम में भी इन अनुयोगद्वारों की चर्चा उपलब्ध होती है । अनुयोगों के माध्यम से किसी एक विषय का ज्ञान सम्यक् रीति से हो सकता है । प्रशमरतिप्रकरण की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में अनुयोग-द्वारों का कथन व्यवस्थित रूप में हुआ है । इससे प्रतीत होता है कि **तत्त्वार्थसूत्र प्रशमरतिप्रकरण के पश्चात् विरचित है ।**

यहाँ इस तथ्य पर भी विशेष ध्यान आकर्षित करना होगा कि नय एवं अनुयोग का प्रत्यय जैन दर्शन की अपनी मौलिक विशेषता है एवं चिन्तन के क्षेत्र में भारतीयदर्शन को उसका यह अमूल्य योगदान है । ज्ञानमीमांसा के सम्बन्ध में प्रमाण के अतिरिक्त नय एवं अनुयोग भी अपनी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता रखते हैं ।

(5) पंचविध ज्ञान- मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय एवं केवल नामक पंचविध ज्ञानों का जितना सुव्यवस्थित निरूपण तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध होता है उतना प्रशमरतिप्रकरण में नहीं । प्रशमरतिप्रकरण में पाँच ज्ञानों के नाम उपलब्ध होते हैं तथा उन्हें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में विभक्त किया गया है (कारिका 224-225), किन्तु इन ज्ञानों के भेदोपभेदों का कथन-विवेचन प्रशमरति में उपलब्ध नहीं है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का अधिकांश ज्ञान के पाँच भेदों के भेदान्तर एवं उनके विवेचन पर ही केन्द्रित है । तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम अध्याय जैन ज्ञानमीमांसा का संक्षेप में व्यवस्थित निरूपण करता है । इससे भी विदित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना प्रशमरतिप्रकरण के पश्चात् हुई है ।

(6) प्रमाण भेद- प्रमाणमीमांसा के सम्बन्ध में उमास्वाति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम पंचविध ज्ञानों को प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया (**तत्प्रमाणे**- तत्त्वार्थसूत्र 1.10) आगमों में ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भेद (नन्दी सूत्र, 2) तो प्राप्त होते हैं, किन्तु वहाँ उनके लिए 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग नहीं है । प्रशमरतिप्रकरण में उमास्वाति ने पंचविध ज्ञानों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में विभक्त किया है, (**ज्ञानमथ पंचभेदं तत् प्रत्यक्षं परोक्षं च** ।- कारिका 224) किन्तु ज्ञानों के लिए 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र में ही किया है । इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से भी प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें आगम-परम्परा में प्राप्त ज्ञान के विवेचन को प्रमाण के रूप में स्थापित किया गया है। उन्होंने इन्द्रिय एवं मन के सापेक्ष मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष (**आद्ये परोक्षम्**- तत्त्वार्थसूत्र 1.11) तथा आत्ममात्रापेक्ष अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण (**प्रत्यक्षमन्यत्**-तत्त्वार्थसूत्र 1.12) कहकर जैन प्रमाण-मीमांसा को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है, जो आगे सिद्धसेन, अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिराज, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, वादिदेव, यशोविजय आदि दार्शनिकों के द्वारा पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है । उमास्वाति ने '**मतिः स्मृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्**' (तत्त्वार्थसूत्र, 1.13) सूत्र के अनुसार मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को एकार्थक प्रतिपादित कर भट्ट अकलङ्क के लिए

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान को परोक्ष प्रमाण के पृथक भेदों में निरूपित करने का मार्ग खोल दिया। भट्ट अकलङ्क ने मति के पर्यायार्थक 'स्मृति' शब्द से स्मृति प्रमाण का, 'संज्ञा' शब्द से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का, 'चिन्ता' शब्द से तर्क प्रमाण का एवं अभिनिबोध शब्द से अनुमानप्रमाण का विकास किया । (बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा, पृ. 293-294)

(7) षड् लेश्या- तत्त्वार्थसूत्र में षड्लेश्याओं (कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल) का कथन औदयिक भाव के 21 भेदों के अन्तर्गत आया है । इसके अतिरिक्त तृतीय अध्याय में सात नरकों में अशुभतर लेश्याओं के प्रसंग में और चतुर्थ अध्याय में देवों के प्रसंग में विभिन्न लेश्याओं का कथन हुआ है (**सूत्र- 3.3, 4.2, 4.7, 4.21, 4.23**) निर्ग्रन्थों के विवेचन में नवम अध्याय (**9.49**) में भी लेश्या शब्द का प्रयोग हुआ है । किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में यह कहीं भी उल्लेख नहीं है कि ये लेश्याएँ कर्मबन्ध में भी सहायक हैं । प्रशमरतिप्रकरण में लेश्या के सम्बन्ध में स्पष्ट कथन है कि कर्म के स्थितिबन्ध में लेश्या विशेष से विशेषता आती है । ये छह लेश्याएँ कौनसी हैं तथा वे कर्मबन्धन में किस प्रकार सहायक हैं, इसका वर्णन करते हुए उमास्वाति कहते हैं-

ताः कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामानः ।
श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः ।। - कारिका, 38

कृष्ण,नील, कापोत, तेजस, पद्म और शुक्ल नामक लेश्याएँ कर्मबन्ध की स्थिति में उसी प्रकार सहायक हैं, जिस प्रकार रंग को दृढ़ करने में श्लेष सहायक है।

इस अध्ययन से विदित होता है कि प्रशमरतिप्रकरण एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, तथापि इसे वह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ, जो तत्त्वार्थसूत्र को प्राप्त है । इसके अनेक सम्भव कारणों में से कुछ इस प्रकार हैं- (1) 'प्रशमरति' आगमिक प्रकरण ग्रन्थ है, इसमें दार्शनिक तत्त्व नगण्य हैं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ रहा, अतः दार्शनिकयुग में टीका के लिए वही आधारभूत ग्रन्थ माना गया । (2) प्रशमरतिप्रकरण में श्रमण के लिए वस्त्र की एषणा का भी उल्लेख हुआ है, जो दिगम्बरों को स्वीकार्य नहीं था, अतः दिगम्बराचार्यों ने इस पर टीका करना उचित

नहीं समझा और श्वेताम्बराचार्यों के लिए आगमग्रन्थ उपलब्ध थे, अतः इस प्रकरण पर अपेक्षाकृत कम ही टीकाएँ लिखी गईं । जो लिखी गईं उनमें से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं । (3) सूत्र शैली के ग्रन्थों पर दार्शनिक युग में जितनी टीकाएँ लिखी गईं, उतनी कारिका ग्रन्थों पर नहीं । (4) प्रशमरतिप्रकरण के पश्चात् प्रौढ ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई एवं वह भी सूत्रशैली में। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाओं का लेखन जैनधर्म की दोनों परम्पराओं में हुआ। ऐसे ही कुछ और भी कारण रहे होंगे, जो यह स्पष्ट करते हैं कि उमास्वाति का प्रशमरतिप्रकरण उतना प्रकाश में क्यों नहीं आया, जितना कि तत्त्वार्थसूत्र।

आधुनिक युग में उपयोगी ग्रन्थ- आधुनिक युग में प्रशमरतिप्रकरण की उपयोगिता असंदिग्ध है । प्रशमरतिप्रकरण में प्रशम एवं उसके सुख का प्रतिपादन उमास्वाति की नितान्त मौलिक सूझ है । उन्होंने वैराग्य, माध्यस्थ्य या कषायविजय रूप प्रशम का फल परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी निरूपित किया है । प्रशमरतिप्रकरण की रचना का यही प्रमुख उद्देश्य भी प्रतीत होता है । उमास्वाति ने कहा है कि विषयसुख की अभिलाषा से रहित तथा प्रशमगुणों से अलङ्कृत साधु उस सूर्य की भाँति है जो अन्य समस्त तेजों को अभिभूत करके प्रकाशित होता है (कारिका 242)। प्रशम एवं अव्याबाध सुख को चाहने वाला साधक सद्धर्म में दृढ़ है तो देवों और मनुष्यों से युक्त इस लोक में उसकी तुलना नहीं हो सकती (कारिका 236) । उमास्वाति का मन्तव्य है कि जिन्होंने मद और काम को जीत लिया है, मन, वचन और काया के विकारों से रहित हैं तथा पर की आशा से विरहित हैं, ऐसे शास्त्रविधि के पालक साधुओं को यहीं मोक्ष मिल जाता है (कारिका, 238) । यहाँ पर उमास्वाति सम्भवतः प्रशम सुख को ही मोक्ष सुख के रूप में प्रकट कर रहे हैं, क्योंकि उससे मोक्षसुख का अंशतः अनुभव किया जा सकता है । प्रशमसुख की महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी व्रत एवं तपोबल से युक्त होकर भी यदि उपशान्त नहीं है तो वह उस गुण को प्राप्त नहीं करता जिसे प्रशम सुख में विद्यमान साधु प्राप्त कर लेता है । उमास्वाति कहते हैं कि स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं तथा मोक्ष के सुख अत्यन्त परोक्ष हैं, किन्तु कषायों की शान्ति

स्वरूप प्रशम सुख प्रत्यक्ष है, वह पराधीन नहीं है और न ही विनाशी है, इसके लिए धनादि के व्यय की आवश्यकता नहीं होती।

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम्।।कारिका, 237

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

1. अनुयोगद्वार सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1987
2. आगमयुग का जैन दर्शन, पं. दलसुख मालवणिया, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1990
3. उत्तराध्ययनसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
4. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास।
5. जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, श्री गणेशप्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथम संस्करण
6. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-4, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
7. तत्त्वार्थसूत्र, पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् 1993
8. दशवैकालिक सूत्र, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, 2005
9. नन्दीसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
10. पंचास्तिकाय, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
11. प्रशमरतिप्रकरण (हारिभद्रीय टीका एवं अवचूरि सहित) श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, द्वितीयावृत्ति, विक्रम संवत्, 2044
12. बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1995
13. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
14. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद देवनन्दी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 15वां संस्करण, 2009

वीतराग और स्थितप्रज्ञ : एक विश्लेषण

जो रागादि दोषों से रहित होता है उसे वीतराग कहा जाता है। जो वीतरागता की साधना करता है तथा कुछ क्षणों के लिए भी समता का अनुभव करता है वह भी कथञ्चिद् वीतराग है। मनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों के उपस्थित होने पर भी जो उनमें राग नहीं करता तथा अमनोज्ञ विषयों के उपस्थित होने पर उनके प्रति द्वेष नहीं करता वह समता में जीने वाला साधक वीतरागता के पथ का पथिक होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के 32वें अध्ययन में ऐसी वीतरागता का निरूपण हुआ है। भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में राग, भय एवं क्रोध को जीतने वाले साधक को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। वह दुःखों में उद्विग्न नहीं होता तथा विषय-सुखों का अभिलाषी नहीं होता। कामनाओं का त्याग कर स्वयं में प्रसन्न रहता है। इस प्रकार वीतराग एवं स्थितप्रज्ञ इन दो अवधारणाओं में प्रचुर साम्य प्रतीत होता है। श्रमण एवं वैदिक संस्कृति में कई विचारों को लेकर साम्य दिखाई देता है, जिसका एक निदर्शन है यह वीतराग और स्थितप्रज्ञ से सम्बद्ध आलेख।

'उत्तराध्ययन' जैनदर्शन का प्रमुख आगम ग्रन्थ है तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' वैदिकदर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ। दोनो ग्रन्थों में आध्यात्मिक संस्कृति एवं साधना का प्रतिपादन है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' प्राकृत में निबद्ध है एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता' संस्कृत में विरचित। एक निवृत्तिप्रधान है, दूसरा प्रवृत्तिप्रधान। गीता में कृष्ण अर्जुन को युद्ध करते रहने की शिक्षा देते हैं,[1] उत्तराध्ययन में अपने आप से युद्ध करने के लिए कहा गया है।[2] गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग का विधान है, उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की साधना वर्णित है। दोनों ग्रन्थ भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के होते हुए भी, उनमें अनेक स्थानों पर साम्य है। गीता में जिस प्रकार आत्मा को अज, नित्य, शाश्वत, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य आदि कहा गया है[3] उसी प्रकार उत्तराध्ययन में भी आत्मा की अविनश्वरता स्वीकार की गयी है एवं उसे इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य बतलाया गया है।[4] गीता में पुनर्जन्म[5] के सिद्धान्त को जिस प्रकार स्वीकार किया गया है, उत्तराध्ययन में भी उसे उसी प्रकार स्थापित किया गया है।[6] प्रस्तुत लेख में उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित वीतराग एवं भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ के स्वरूप में गर्भित साम्य एवं भेद का किञ्चित्

विचार किया जा रहा है।

जैनदर्शन में 'वीतराग' शब्द का प्रयोग राग-द्वेषादि से रहित साधक के लिए किया जाता है। यह वीतरागता ग्यारहवें (उपशान्तमोहनीय) गुणस्थान से लेकर चौदहवें (अयोगिकेवली) गुणस्थान तक प्रकट होती है। इनमें ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान की वीतरागता मोहकर्म के उपशम होने से प्रकट होती है। उपशान्तमोह गुणस्थान में प्रकट होने वाली वीतरागता अस्थायी होती है, क्योंकि इस गुणस्थान का साधक पुनः सराग हो जाता है, किन्तु बारहवें क्षीण-मोहनीय गुणस्थान में प्रकट होने वाली वीतरागता सदा के लिए हो जाती है। तब साधक मोहकर्म से पूर्णतः रहित हो जाता है। ऐसी वीतरागता सम्पन्न साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तरायकर्म का भी क्षय कर अरिहन्त बन जाता है तथा अंत में चार अघाति कर्मों (वेदनीय, आयुष्य, नाम एवं गोत्र) का भी क्षय कर सिद्ध बन जाता है।

मोहकर्म से राग-द्वेष का गहरा सम्बन्ध है। यद्यपि राग-द्वेष का मोहकर्म के भेदों में सीधा उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु क्रोध, मान, माया एवं लोभ को राग-द्वेष के रूप में विभक्त किया जाता है। यह तय है कि जब तक मोह का उदय होता है, तब तक राग-द्वेष भी सत्ता पाते रहते हैं और मोहकर्म का नाश होते ही राग-द्वेष का भी नाश हो जाता है। जिसके राग, द्वेष एवं मोह का नाश हो जाता है, उसे ही वीतराग कहा जाता है। 'वीतराग' शब्द में स्थित 'राग' शब्द से द्वेष एवं मोह आदि विकारों का भी उपलक्षण से ग्रहण हो जाता है। अर्थात् जो वीतराग होता है वह वीतद्वेष एवं वीतमोह भी होता है।

व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'वीतराग' शब्द में बहुव्रीहि समास है। संस्कृत में समास-विग्रह होगा- '**वीतः अपगतः रागः यस्मात् स वीतरागः**' **अथवा** '**वीतः नष्टः रागः यस्यासौ वीतरागः**' अर्थात् जिसका राग नष्ट हो गया है वह वीतराग है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' में वीतराग

उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन 'अप्रमाद स्थान' में वीतराग के स्वरूप का सरल, किन्तु सारगर्भित निरूपण हुआ है । वहाँ पाँच इन्द्रियों एवं एक मन के विषयों के प्रिय होने पर जो उनमें राग नहीं करता तथा उनके अप्रिय होने पर द्वेष नहीं करता, अपितु सम रहता है उसे वीतराग कहा गया है, यथा-

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।। उत्तरा. 32.22
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।। उत्तरा. 32.35
घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।। उत्तरा. 32.48
जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।। उत्तरा. 32.61
कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।। उत्तरा. 32.74
मणस्स भावं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स तु वीयरागो।। उत्तरा 32.87

अर्थात् नेत्रों का विषय रूप है, मनोज्ञ (प्रिय) रूप राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रूप द्वेष का कारण होता है, जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है ।(32.22), कानों का विषय शब्द है, मनोज्ञ (प्रिय) शब्द राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्द द्वेष का कारण होता है; जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है ।(32.35), नासिका का विषय गंध है, मनोज्ञ (प्रिय) गंध राग का कारण होती है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) गंध द्वेष कारण होती है; जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है।(32.48), जीभ का विषय रस है, मनोज्ञ (प्रिय) रस राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रस द्वेष का कारण होता है, जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है।(32.61), काया का विषय स्पर्शन है, मनोज्ञ (प्रिय) स्पर्श राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रस द्वेष कारण होता है; जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है ।(32.74), मन का विषय भाव (विचारादि) है, प्रिय भाव राग का कारण होता है तथा अप्रिय भाव द्वेष का कारण होता है, जो इनमें सम रहता है; वह वीतराग है। (32.87)

उपर्युक्त गाथाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वीतराग समता की प्रतिमूर्ति होता है। वह सुखद प्रतीत होने वाले विषयों, भोगों एवं कामवासनाओं के प्रति न राग करता है और न दुःखद प्रतीत होने वाले विषयों, भोगों एवं संकल्पों के

प्रति द्वेष करता है । वह समतापूर्वक दोनों स्थितियों को देखता भर है। वह न अनकूलता में सुखी होता है और न प्रतिकूलता में दुःखी। वह दुःख-सुख से अतीत होकर समतापूर्वक उनको देखता रहता है। जो सुखद कामभोगों के प्रति राग करता है वह अपनी समता भंग करता है तथा जो दुःखद परिस्थितियों के प्रति द्वेष करता है अथवा उनसे दुःखी हो जाता है, वह भी समता भंग करता है। समता भंग होने पर वह मोह से विमूढ़ हो जाता है । ऐसा पुरुष सदैव दुःख प्राप्त करता रहता है। वीतराग पुरुष दुःखों से रहित हो जाता है । दुःख के मूल कारण तो राग और द्वेष हैं। जो राग-द्वेष से रहित है वह दुःखों से भी रहित है। राग-द्वेष ही कर्मबन्धन के बीज हैं, जैसा कि कहा है –

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।

कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति।।– उत्तरा. 32.7

अर्थात् राग और द्वेष कर्म के बीज हैं, वह कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म एवं मरण का मूल कारण है और जन्म-मरण दुःख हैं । मनुष्य पाँच इन्द्रियों एवं एक मन के माध्यम से सुखभोग करता रहता है । वह मधुर संगीत सुनकर हर्षित होता है, अनिंद्य सौन्दर्य को देखकर भोगने हेतु लालायित हो जाता है, शरीर को सुगन्धित करने हेतु अनेक प्रसाधन-सामग्रियों का प्रयोग करता है, जिह्वा को स्वाद देते रहने के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा काया के स्पर्शनसुख के लिए भले-बुरे को भी भूल जाता है, मानसिक कल्पनाओं के सुख में दिवास्वप्न लेने लगता है। किन्तु ये सारे ऐन्द्रियक सुख मनुष्य को बेभान बनाते हैं, उसकी चेतना-शक्ति को आवृत्त करते हैं तथा विवेक को कुण्ठित बनाते हैं और मनुष्य में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं । उत्तराध्ययन में तो ऐन्द्रियक सुखों में तीव्र राग करने वाले का तत्काल विनाश कहा गया है, तथा द्वेष करने वाले को दुःखपरम्परा का जन्मदाता कहा गया है, यथा-

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं। उत्तरा. 32.24

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं। उत्तरा. 32.25

जो रूप में तीव्र गृद्धि (आसक्ति) करता है वह अकाल ही विनाश को प्राप्त करता है और जो तीव्र द्वेष करता है वह उसी क्षण दुःख प्राप्त करता है। यहाँ पर

रूप में आसक्ति करने की गाथा दी गयी है, किन्तु इसी प्रकार शब्द, रस, गंध, स्पर्श एवं विचार (भाव) में तीव्र आसक्ति (राग) करने वाला भी अकाल ही विनाश को प्राप्त करता है एवं इनमें द्वेष करने वाला दुःखी होता है। काम-भोग किंपाक फल के समान मनोरम प्रतीत होते हैं,[7] किन्तु वे अनर्थ को जन्म देने वाले होते हैं- **खाणी अणत्थाण हु काम-भोगा।** काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष के समान हैं, जो कामभोगों (विषयभोगों) की इच्छा करता है, वह न चाहने पर भी दुर्गति को प्राप्त करता है।[8]

वीतराग कामभोगों में सुख नहीं मानता। वह उनमें दुःख भी नहीं मानता। क्योंकि कामभोग अथवा विषयभोग की सामग्री न समता पैदा करती है और न विषमता पैदा करती है, अपितु उनके प्रति अथवा भोगसामग्री के प्रति रहा हुआ राग एवं द्वेष ही मोह के कारण विकृति (विषमता) पैदा करता है, यथा-

न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहाविगइंउवेई।।-उत्तरा.32.101

न कामभोग समता पैदा करते हैं, न विकृति पैदा करते हैं, जो उनके प्रति (भोग सामग्री के प्रति) प्रद्वेष करता है एवं परिग्रह (राग, आसक्ति) करता है वह उनमें मोह के कारण विकृति प्राप्त करता है। इसी तथ्य को भिन्न प्रकार से कहा गया है -

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वत्तयंति अमणुन्नयं वा।।-उत्तरा. 32.106

इन्द्रियों के शब्दादि विषय, जितने भी हैं वे सब उस विरक्त (वीतराग) जीव के लिए मनोज्ञता एवं अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं कर सकते। रूपादि विषयों से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी दुःख-परम्परा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार जो इन्द्रिय एवं मन के विषय रागी मनुष्य के दुःख के कारण होते हैं वे वीतराग मनुष्य को कभी भी किंचित् भी दुःख उत्पन्न नहीं करते।

दुःख कामभोग की सामग्री से नहीं होता, अपितु उनमें रही हुई गृद्धता (आसक्ति, राग) से होता है। वह दुःख चाहे लोक के किसी भी प्राणी को क्यों न हो, सारा दुःख कामभोगों अथवा विषय भोगों में रही हुई आसक्ति (राग) से उत्पन्न

होता है। वीतराग पुरुष समस्त दुःखों का अन्त कर देता है, यथा -

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।।-उत्तरा. 32.19

देवलोक सहित सम्पूर्ण लोक में जो भी शारीरिक और मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं, वे काम भोगों में आसक्ति से उत्पन्न होते हैं। वीतराग पुरुष उन दुःखों का अन्त कर देता है।

वीतरागता की प्राप्ति होने का अर्थ है राग-द्वेष का नाश अथवा मोहकर्म का क्षय। मोहकर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय का भी क्षय हो जाता है, जैसा कि कहा है -

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं।।- उत्तरा. 32.108

वह वीतराग अशेष कार्य करके, क्षण भर में ही ज्ञानावरण का क्षय कर देता है तथा दर्शन का आवरण करने वाले कर्म एवं अंतराय कर्म का भी उसी प्रकार क्षय कर देता है।

इन चार घाति-कर्मों का क्षय होने के पश्चात् मुक्ति सुनिश्चित है। मुक्ति का सुख अक्षय एवं अव्याबाध होता है। उस सुख का कभी नाश नहीं होता तथा पुनः दुःख नहीं होता। अतः उत्तराध्ययन में इसे 'एकान्तसुख' शब्द दिया गया है-

रागस्स दोसस्स य संखएणं एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं। -उत्तरा. 32.2

राग एवं द्वेष का पूर्णतः संक्षय होने से वीतराग साधक मोक्ष रूप एकान्त-सुख को प्राप्त करता है।

वीतरागता

वीतराग की भाववाचक संज्ञा वीतरागता है। वीतरागता ही साधक का लक्ष्य होती है। वीतरागता की साधना से ही वीतराग बना जा सकता है। वीतरागता प्राप्त होती है राग-द्वेष-कषायों के त्याग से । जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में प्रश्न किया गया है - **कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ**- हे भगवन् ! कषाय का प्रत्याख्यान (त्याग) करने में जीव क्या लाभ प्राप्त करता है? तो भगवान् उत्तर देते हैं- **कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ, वीयरागभावं पडिवण्णे वि य णं**

जीवे समसुहदुक्खे भवइ।[9] अर्थात् कषाय का प्रत्याख्यान (त्याग) करने से जीव वीतरागभाव को प्राप्त करता है। वीतराग भाव प्राप्त हो जाने पर जीव सुख दुःख में सम (समान) हो जाता है। वीतरागभाव की प्राप्ति से और भी अनेक लाभ होते हैं, जिनको अधोलिखित प्रश्नोत्तर में स्पष्ट किया गया है -

वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ मणुण्णामुण्णेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ।[10]

हे भगवन् ! वीतरागता से जीव को क्या लाभ होता है ? भगवान् उत्तर देते हैं - वीतरागता से जीव राग (स्नेह) के अनुबंधनों एवं तृष्णा के अनुबंधनों को काट देता है तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गंधादि से विरक्त हो जाता है।

वीतरागता का सहभावी परिणाम राग का विनाश होना है। प्राकृत में नेह (स्नेह) शब्द राग अथवा आसक्ति का पर्याय है। इसमें मोह विद्यमान रहता है। पुत्र पौत्र, कलत्रादि के प्रति जो स्नेह होता है वह मोहरूप होता है। वीतरागता के साथ ही इस मोह का क्षय हो जाता है और मोह का नाश होते ही वैषयिक सुखभोग की तृष्णा भी समाप्त हो जाती है, वैषयिक सुखों के प्रति रागी अथवा मूढ (मोही) व्यक्ति का ही चित्त चलित होता है। निर्मोही व्यक्ति सुखभोग की तृष्णा से हीन, समभावी बन जाता है। कहा भी है- '**मोहो हओ जस्स ण होइ तण्हा**'।[11]

वीतरागता की साधना समता की साधना है। समता में जो स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होती है, वह विषमचित्त में कदापि संभव नहीं। समता में शान्ति, स्वाधीनता एवं अव्याबाध सुख का अनुभव होता है, विषमता में विकारों की अग्नि धधकती रहती है, जो मनुष्य के विवेक का नाश करती है। समता में विवेक जाग्रत होता है, मिथ्यात्व का हनन होता है, सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तथा मुक्ति (दुःख-मुक्ति) का अनुभव होता है।

स्थितप्रज्ञ एवं स्थितप्रज्ञता

'भगवद्गीता' में 'स्थितप्रज्ञ' का उतना ही महत्त्व है जितना 'प्रस्थानत्रयी' में गीता का। 'स्थितप्रज्ञ' वर्णन को गीता का हार्द कहा जा सकता है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्द

का विग्रह होगा- **'स्थिता प्रज्ञा यस्य सः स्थितप्रज्ञः'** अर्थात् जिसकी प्रज्ञा स्थित (स्थिर) है वह स्थितप्रज्ञ है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्द में स्थित शब्द जड़ता का सूचक नहीं, अपितु समता का सूचक प्रतीत होता है। यह गीता का अपना विशिष्ट शब्द है। अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से स्थितप्रज्ञ का स्वरूप समझने की जिज्ञासा प्रकट की तो श्रीकृष्ण ने इस प्रकार समझाया-

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।- भगवद्गीता, 2.55

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग- भय- क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। - भगवद्गीता, 2.56

हे अर्जुन ! जब साधक अपने मन में स्थित समस्त कामनाओं (भोगेच्छाओं) का त्याग कर देता है तथा अपने आपमें संतुष्ट हो जाता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। 2.55

जिसका मन दुःखों (दुःखद स्थितियों) में उद्विग्न नहीं होता तथा सुखों (सुखद स्थितियों) में उनको पाने की अभिलाषा नहीं रखता, ऐसा राग, भय एवं क्रोध से रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। 2.56

स्थितप्रज्ञ के उपर्युक्त लक्षण से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं- (1) जो स्थितप्रज्ञ होता है वह (सुख-भोग की) कामना से रहित होता है। (2) वह अपने आपमें संतुष्ट रहता है। (3) दुःख में उद्विग्न नहीं होता तथा सुख की अभिलाषा नहीं रखता अर्थात् दुःख एवं सुख में सम रहता है। (4) वह राग, भय एवं क्रोधादि विकारों से रहित होता है।

गीता में स्थितप्रज्ञ को 'स्थिरबुद्धि' एवं 'स्थिरमति' शब्दों से भी अभिहित किया गया है। स्थिरबुद्धि शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है-

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।- भगवद्गीता, 5.20

अर्थात् स्थिरबुद्धि, मनुष्य असंमूढ एवं ब्रह्मविद् होकर ब्रह्म में स्थित रहता है तथा प्रिय वस्तु को प्राप्त कर हर्षित नहीं होता और अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता।

'स्थिरमति' शब्द का प्रयोग भी स्थितप्रज्ञ के समत्व लक्षण में किया गया है, यथा-

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ।।-भगवद्गीता, 12.18
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।।-भगवद्गीता, 12.19

शत्रु और मित्र के प्रति सम रहने वाला, सम्मान एवं अपमान में समान रहने वाला, शीत, उष्ण तथा सुख एवं दुःख में संग (आसक्ति) रहित होकर सम रहने वाला, निन्दा एवं प्रशंसा में सम रहने वाला, सर्वथा संतुष्ट रहने वाला मौनी संन्यासी स्थिरमति होता है तथा वह भक्तिसम्पन्न स्थिरमति मनुष्य मेरा प्रिय है।

इस प्रकार स्थिरमति एवं स्थिरबुद्धि शब्दों का प्रयोग समत्वप्राप्त मनुष्य के अर्थ में किया गया है, स्थितप्रज्ञ का भी यही मुख्य लक्षण है कि वह सुख एवं दुःख के कारणों से प्रभावित नहीं होता। वह सुख में राग एवं दुःख में द्वेष नहीं करता। जैसा कि कहा है-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। - भगवद्गीता, 2.57

जो सर्वत्र राग रहित (अनभिस्नेह) है, शुभ (प्रिय) वस्तु को प्राप्त कर उससे हर्षित नहीं होता तथा अशुभ (अप्रिय) वस्तु को प्राप्त कर उससे द्वेष नहीं करता, उसकी प्रज्ञा स्थित होती है अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ होता है।

मनुष्य स्थितप्रज्ञ कब बनता है अथवा उसकी प्रज्ञा स्थित (प्रतिष्ठित) कब होती है, इसका निरूपण करते हुए गीता में कहा गया है -

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।-भगवद्गीता, 2.58

जब साधक अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों (रूपरसादि) से उसी प्रकार समेट लेता है, जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को चारों ओर से समेट लेता है, उसकी प्रज्ञा स्थित होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो- '**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**'- गीता 2/61 अर्थात् जिसके वश में इन्द्रियाँ हैं, उसकी प्रज्ञा स्थित है।

वीतराग और स्थितप्रज्ञ : समानताएँ

वीतराग एवं स्थितप्रज्ञ के स्वरूप एवं विशेषताओं पर विचार करने पर निम्नलिखित समानताएँ प्रतीत होती हैं -

1. समता- वीतराग का प्रमुख गुण है समता। वह मनोज्ञ (प्रिय) रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द एवं भावों के प्रति राग नहीं करता तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द एवं भावों के प्रति द्वेष नहीं करता। प्रिय एवं अप्रिय दोनों स्थितियों में वीतराग सम रहता है- स्थितप्रज्ञ में भी यह प्रमुख विशेषता होती है। वह भी वीतराग के सदृश सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, जय-पराजय, लाभ-हानि आदि में समदर्शी होता है। गीता में प्रज्ञा के स्थित (प्रतिष्ठित) होने का अर्थ समता की प्राप्ति से ही है।

2. राग-द्वेषादिविकारविहीनता- वीतराग एवं स्थितप्रज्ञ दोनों राग-द्वेष आदि विकारों से रहित होते हैं। राग को सब विकारों का मूल कहा जा सकता है। जहाँ राग है, वहाँ समस्त विकार (कषाय) विद्यमान हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कामगुणों में आसक्त (रागयुक्त) जीव में अन्य विकारों की उपस्थिति को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोग पुमित्थिवेयं, नपुंसवेयं विविहे य भावे।।- उत्तरा, 32.102

आवज्जइ एवमणेगरूवे, एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से।।- उत्तरा, 32.103

अर्थात् कामभोगों में आसक्त (रागयुक्त) जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और उसी प्रकार के अनेक भावों को एवं विविध रूपों को तथा इनसे उत्पन्न होने वाले अन्य अनेक विकार विशेषों को प्राप्त करता है। इस कारण से वह कामासक्त जीव करुणा-पात्र, लज्जित एवं द्वेष्य बन जाता है। राग का नाश होते ही इन सब विकारों का विनाश हो जाता है।

भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ को राग, भय एवं क्रोध से रहित बताया गया है- **वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते**। ये तीन विकार (दोष) उपलक्षण से तत्सदृश

अन्य विकारों का भी ग्रहण कर लेते हैं। स्थितप्रज्ञ में भी वीतराग की भाँति राग-द्वेषादि विकारों का समूल नाश हो जाता है । जैसा कि कहा है- **'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयान्निन्द्रियैश्चरन्'**[13] इत्यादि ।

3. विषयों से विमुखता- वीतराग पुरुष की पाँचों इन्द्रियाँ (कान, आँखें, नाक, जीभ एवं स्पर्शन) एवं मन विषय-भोगों की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। वह विषय-भोगों से विमुख हो जाता है। स्थितप्रज्ञ भी इन्द्रिय-विषयों से अपने आपको समेट लेता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं- हे अर्जुन ! जिसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों से पूर्णतः निगृहीत हैं, उसकी प्रज्ञा स्थित होती है।[14]

4. दुःख-नाश- वीतरागता की प्राप्ति के साथ ही दुःखों का विनाश हो जाता है। वीतराग के पास किसी भी प्रकार का दुःख नहीं फटकता । वह सर्वविध दुःखों का अंत कर देता है- **जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ।**[15] अर्थात् जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख होते हैं, वीतराग उन सबका अंत कर देता है । अन्यत्र उत्तराध्ययन में ही- **ते चेव थोवं वि कयाइ दुक्खं, ण वीयरागस्स करेंति किंचि**'[16] कहकर वीतराग से दुःखों को दूर रख दिया है।

'स्थितप्रज्ञ' भी इन्द्रियनियंत्रण कर एवं आत्मवश्य होकर आचरण करता है तो वह प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है तथा प्रसाद प्राप्त करने पर सब दुःखों का विनाश हो जाता है, यथा-

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।- भगवद्गीता, 2.64

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।। - भगवद्गीता, 2.65

5. अत्यन्त सुख एवं शान्ति- उत्तराध्ययन में राग एवं द्वेष का क्षय करने वाले वीतराग को एकान्तसुख (अव्याबाध-सुख, अक्षयसुख, अनन्तसुख) का प्राप्तकर्ता कहा है, **यथा-रागस्स दोसस्स य संखएण, एगन्त-सोक्खं समुवेइ मोक्खं ।**[17] बत्तीसवें अध्ययन में सब कर्मों से मुक्त होने पर उसे अत्यन्त सुखी बतलाया है -

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को जं बाहइ सययं जंतुमेयं ।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ।।-उत्तरा 32.110

जो दुःख इस जीव को निरन्तर पीड़ित कर रहा है, उस समस्त दुःख से वह

जीव मुक्त हो जाता है तथा दीर्घ कर्मरोग से मुक्त हुआ प्रशस्त जीव कृतार्थ होकर अत्यन्त सुखी हो जाता है। भगवद्गीता में अत्यन्तसुख की बात नहीं कही गयी किन्तु कामनाओं के त्यागने वाले निःस्पृह, निर्मम एवं निरंहकार साधक को शान्ति प्राप्त करने वाला कहा है[18], जो सम्भव है अत्यन्त सुख हो।

वीतराग और स्थितप्रज्ञ : भिन्नता

वीतराग एवं स्थितप्रज्ञ में जो भिन्नता है उसके पीछे भगवद्गीता एवं उत्तराध्ययन से जुड़ी पृष्ठभूमि है। उदाहरण के लिए उत्तराध्ययन सूत्र में जहाँ वीतराग को मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय का क्षय करने वाला कह कर उसे कर्मक्षय की कसौटी पर परखा गया है, वहाँ स्थितप्रज्ञ के साथ कर्मक्षय का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। जैनदर्शन के अनुसार आठ कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय) में सर्वप्रथम मोह का क्षय होते ही साधक वीतराग बन जाता है, तदनन्तर वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्मों का क्षय करता है। अन्य चार कर्मो का एक साथ आयु कर्म के क्षय होते ही नाश हो जाता है और वीतराग मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[19] भगवद्गीता में इस प्रकार का विवेचन प्राप्त नहीं होता है।

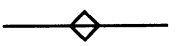
भगवद्गीता में समस्त कमानाओं के त्यागी स्थितप्रज्ञ की स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। वह इस स्थिति को प्राप्त कर पुनः मोहित नहीं होता तथा इस स्थिति में स्थित रहकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।[20] उत्तराध्ययन सूत्र की शब्दावली में मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित 'वीतराग' एवं भगवद्गीता में प्रतिपादित 'स्थितप्रज्ञ' की अवधारणा हमें आध्यात्मिक समत्व एवं शान्ति के लिए प्रेरित करती है। दोनों अवधारणाएँ राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने तथा कामनाओं का त्याग करने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। इन दोनों में समानता भी है तो कथञ्चिद् भेद भी है।

सन्दर्भ :-

1. नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। - भगवद्गीता, 3.8
2. अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ। - उत्तराध्ययनसूत्र, 1.35

3. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे । -भगवद्गीता, 2.20
4. नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा वि य होइ णिच्चो ।।- उत्तराध्ययनसूत्र, 14.19
5. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
   तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।- भगवद्गीता 2.13
6. एगया देवलोएसु, णरएसु वि एगया ।
   एगया आसुरे काये, अहाकम्मेहिं गच्छइ ।। -उत्तराध्ययनसूत्र, 3.3
7. उत्तराध्ययनसूत्र, 19.18
8. सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
   कामे पत्थेमाणा य, अकामा जंति दुग्गइं ।।- उत्तरा. 9.53
9. उत्तराध्ययनसूत्र, 29.36
10. उत्तराध्ययनसूत्र, 29.45
11. उत्तराध्ययनसूत्र, 32.8
12. उत्तराध्ययनसूत्र, 32.22, 35, 48, 69, 87
13. भगवद्गीता, 2.64
14. तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश : ।
    इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।- भगवद्गीता, 2.68
15. उत्तराध्ययनसूत्र, 32.19
16. उत्तराध्ययनसूत्र, 32.100
17. उत्तराध्ययनसूत्र, 32.2
18. विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
    निर्ममो निरंहकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।- भगवद्गीता, 2.71
19. उत्तराध्ययनसूत्र, 32.108-109
20. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
    स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। भगवद्गीता, 2.72



जैन और बौद्ध धर्म-दर्शन : एक तुलनात्मक दृष्टि

जैन एवं बौद्ध दोनों धर्म-दर्शन श्रमण संस्कृति के परिचायक हैं। इन दोनों में श्रम का महत्त्व अंगीकृत है। 'श्रमण' का प्राकृत एवं पालिभाषा में मूल शब्द 'समण' है, जिसके संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में तीन रूप बनते हैं- **1. शमन**- यह विकारों के शमन एवं शान्ति का सूचक है। **2. समन**- यह समताभाव का सूचक है। **3. श्रमण**- यह तप, श्रम एवं पुरुषार्थ का सूचक है। श्रमण दर्शनों में ये तीनों विशेषताएँ पायी जाती हैं। जैन एवं बौद्ध धर्म-दर्शनों में अनेकविध समानताएँ हैं तथा कई बिन्दुओं पर भेद भी हैं, जिनकी चर्चा प्रस्तुत आलेख में की जा रही है।

दोनों धर्म-दर्शनों में साम्य

श्रमण संस्कृति के परिचायक ये दोनों धर्म-दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं रखते, सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते । वैदिक देवी-देवताओं को स्वीकार नहीं करते । इन दोनों का विश्वास मनुष्य के पुरुषार्थ पर है । दोनों की मान्यता है कि मनुष्य स्वयं अपने कारणों से दुःखी या सुखी होता है । मनुष्य में ही यह क्षमता है कि वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा दुःख-मुक्ति को प्राप्त कर सकता है अथवा नरक के घोर दुःखों को भोग सकता है । ये दर्शन व्यक्ति की दृष्टि को सम्यक् बनाने पर बल प्रदान करते हैं । इनमें लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा निर्वाण को अधिक महत्त्व दिया गया है । हाँ, लौकिक अभ्युदय यदि निर्वाण में सहायक होता है तो वह स्वीकार्य है । उदाहरण के लिए मनुष्यभव, धर्मश्रवण, शुभविचार आदि लौकिक अभ्युदय निर्वाणप्राप्ति में साधक बन सकते हैं । अतः इनका होना अभीष्ट है । किन्तु आध्यात्मिक उन्नयन से रहित लौकिक अभ्युदय की अभिलाषा इन धर्मों में प्रतिष्ठित नहीं है । लौकिक अभ्युदय में यशःकीर्ति की आकांक्षा को दोषपूर्ण माना गया है । वैदिकधर्म जहाँ अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को लक्ष्य में रखते हैं तथा धर्म उसे ही कहते हैं जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो,[1] जबकि जैन और बौद्ध धर्म धर्माराधन का लक्ष्य निःश्रेयस, मोक्ष अथवा निर्वाण को स्वीकार करते हैं।

वर्ण, जाति आदि के आधार पर मानवसमुदाय का विभाजन एवं इन आधारों पर उनको उच्च या निम्न समझना जैन और बौद्ध दोनों दर्शनों को स्वीकार्य नहीं हैं। दोनों धर्म-दर्शनों के साहित्य में जातिव्यवस्था का प्रबल खण्डन हुआ है तथा धर्म का द्वार सबके लिए समानरूप से खोला गया है। बौद्धग्रन्थ सुत्तनिपात में कहा गया है-

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो ।।[2]

जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा गया है-

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा हवइ खत्तिओ ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।[3]

अर्थात् अपने कर्म या आचरण से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है । आदिपुराण में समस्त मनुष्यों की एक ही जाति मानी गई है- **मनुष्यजातिरेकैव** ।[4] इसीलिए इन दोनों धर्मों में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के व्यक्ति दीक्षित या प्रव्रजित हुए हैं ।

इन दोनों धर्मों की एक समानता यह है कि दोनों धर्म के प्रवर्तकों ने अपना उपदेश लोकभाषा में दिया है । तीर्थंकर महावीर ने अपना उपदेश अर्धमागधी प्राकृत में दिया है तो बुद्ध ने पालिभाषा में । पालिभाषा प्राकृत का ही अंग रही है । इस दृष्टि से ये दोनों धर्म आम लोगों को जोड़ने में सक्षम रहे हैं ।

जैनपरम्परा में जिस प्रकार भगवान महावीर प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद शैली में देते हैं, उसी प्रकार बुद्ध भी त्रिपिटकों में विभज्यवाद की शैली का प्रयोग करते हैं। विभज्यवाद शैली में प्रश्नों का उत्तर विभक्त करके दिया जाता है । उदाहरण के लिए भगवान महावीर से जयन्ती श्राविका द्वारा प्रश्न किया गया कि मनुष्य का सोना अच्छा है या जागना? प्रभु ने इसका उत्तर देते हुए कहा- जयन्ती! जो अधार्मिक, अधर्मिष्ठ, अधर्म का कथन करने वाले, अधर्म से आजीविका चलाने वाले लोग हैं, उनका सुप्त रहना अच्छा है तथा जो धार्मिक हैं, धर्मानुसारी यावत् धर्मपूर्वक आजीविका चलाने वाले हैं, उन जीवों का जागना अच्छा है ।[5] गौतम बुद्ध भी इसी प्रकार विभज्यवाद शैली का प्रयोग करते हैं । मज्झिमनिकाय में शुभ

माणवक ने प्रश्न किया कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता। इसमें आपका क्या मन्तव्य है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम बुद्ध ने कहा कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है, तो वह निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं होता और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं होता। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्ति सम्पन्न हैं तो आराधक होते हैं। गौतम बुद्ध ने इस आधार पर अपने को विभज्यवादी बताया है, एकांशवादी नहीं।[6]

बौद्धदर्शन में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नाम से चार ब्रह्मविहारों का निरूपण हुआ है।[7] जैनदर्शन में निरूपित मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाएँ बौद्ध धर्म के ब्रह्मविहार के साथ समन्वय स्थापित करती हैं। प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव गुणिजनों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव एवं विपरीत वृत्ति वाले जीवों के प्रति माध्यस्थ्य भाव का प्रतिपादन जैनदर्शन में हुआ है। वीरसेवा मंदिर के संस्थापक पंडित जुगलकिशोर मुख्तार ने इन चार भावनाओं को मेरी भावना में इस प्रकार निबद्ध किया है-

मैत्रीभाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे
दीनदुःखी जीवों पर मेरे, उरसे करुणास्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे
साम्यभाव रखूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे।।
गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे।

बौद्धदर्शन में दो प्रकार के सत्यों का प्रतिपादन हुआ है- 1. व्यवहार सत्य व 2. परमार्थ सत्य। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन इन दोनों की महत्ता अंगीकार करते हैं। उनका कथन है-

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।[8]

अर्थात् व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ को नहीं समझाया जा सकता और परमार्थ को जाने बिना निर्वाण को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों का अपना-अपना महत्त्व है। समयसार ग्रन्थ में

आचार्य कुन्दकुन्द भी इसी प्रकार का मंतव्य रखते हैं । उनका कथन है कि जिस प्रकार अनार्य व्यक्ति को अनार्य भाषा का प्रयोग किए बिना नहीं समझाया जा सकता उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश असम्भव है-

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।।[9]

बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन कहते हैं कि व्यवहार सत्य उपायभूत होता है तथा परमार्थ सत्य उपेयभूत होता है- **उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम् ।** ऐसा ही मन्तव्य आचार्य कुन्दकुन्द का भी है जो उपर्युक्त गाथा से पुष्ट होता है ।

साम्य भी, भेद भी

बौद्धदर्शन में त्रिशरण का महत्त्व अंगीकार किया गया है । वहाँ बुद्ध, धर्म और संघ की शरण का प्रतिपादन है- **बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि ।**[10] जैनधर्म में चार शरण का उल्लेख प्राप्त होता है । अरिहन्त की शरण, सिद्ध की शरण, साधु की शरण और केवलिप्रज्ञप्त धर्म की शरण । मूल पाठ में कहा गया है- **अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहुसरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।**[11] इन चार शरणों में अरिहन्त एवं सिद्ध की शरण के स्थान पर बौद्ध धर्म में बुद्ध की शरण स्वीकार की गई है । साधु एवं संघ की शरण में कोई विशेष भेद नहीं है तथा धर्म की शरण दोनों में समान रूप में स्वीकृत है । मात्र क्रम का भेद है । इसका एक तात्पर्य यह निकलता है कि ये दोनों धर्म किसी अन्य देवी-देवता की शरण ग्रहण करने का कथन या अनुमोदन नहीं करते हैं ।

जैनधर्म में साधु-साध्वी के लिए पंच महाव्रतों की तथा गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के लिए पाँच अणुव्रतों की अवधारणा है । बौद्धधर्म में भी पंचशील का प्रतिपादन हुआ है, जिनमें जैन परम्परा से कुछ भिन्नता है । जैनपरम्परा में जिन पाँच महाव्रतों का प्रतिपादन हुआ है, वे हैं-

1. पाणाइवायाओ वेरमणं - प्राणातिपात से विरमण - अहिंसा महाव्रत
2. मुसावायाओ वेरमणं - मृषावाद से विरमण - सत्य महाव्रत

3. अदिन्नादाणाओ वेरमणं - अदत्तादान से विरमण - अचौर्य महाव्रत
4. मेहुणाओ वेरमणं - मैथुनसेवन से विरमण - ब्रह्मचर्य महाव्रत
5. परिग्गहाओ वेरमणं - परिग्रह से विरमण - अपरिग्रह महाव्रत

प्राणातिपात, मृषावाद आदि इन पाँचों का कृत, कारित एवं अनुमोदन के स्तर पर मन, वचन एवं काया से सर्वथा विरमण होना महाव्रत है तथा अंशतः विरमण होना अणुव्रत है।[12] बौद्धधर्म में पंचशील के अन्तर्गत परिग्रहविरमण के स्थान पर सुरामेरय- मद्यादि के त्याग को स्थान दिया गया है। उन्होंने इन पाँचों का क्रम भिन्न रखा है, यथा-1. प्राणातिपातविरमण 2. अदत्तादानविरमण 3. काम-मिथ्याचार (व्यभिचार) विरमण- यह मैथुनविरमण का पर्यायवाची है। 4. मृषावादविरमण 5. सुरामेरय-मद्यप्रमादस्थानविरमण। श्रामणेरविनय नामक खुद्दकपाठ में इन पंचशीलों को शिक्षापद के रूप में ग्रहण करने का उल्लेख हुआ है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जैनधर्म में मांस-मदिरा के त्याग को श्रावक एवं साधु बनने की प्राथमिक आवश्यकता माना गया है। जैन आगमों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में मांस एवं मदिरा के त्याग का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। सप्त कुव्यसनों के अन्तर्गत भी जैनसाहित्य में मांस एवं मदिरा के त्याग पर बल दिया गया है। यही नहीं, इनके व्यापार को भी कर्मादान का हेतु होने से त्याज्य बताया गया है।

जैन दर्शन में परिग्रह-विरमण को महाव्रतों एवं अणुव्रतों में स्थान देकर आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद किया गया है। पर-पदार्थों के प्रति आसक्तिरूप परिग्रह जब तक नहीं छूटता तब तक दुःख-मुक्ति संभव नहीं है। यही नहीं जब तक पदार्थ एवं व्यक्तियों के प्रति आसक्ति भाव है तब तक हिंसादि पापों से भी छुटकारा नहीं मिलता। इसलिए परिग्रह से विरति आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तथा सामाजिक समरसता भी तभी सम्भव है जब बाह्य परिग्रह की लालसा नियंत्रित हो। परिग्रह की लालसा पर नियंत्रण होने पर बाह्य पदार्थों की उपलब्धता सबके लिए आसान हो सकती है। इसीलिए जैनधर्म में गृहस्थ के लिए भी परिग्रह का परिमाण निर्दिष्ट है।

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों की संयम-साधना उतने कठोर नियमों में आबद्ध नहीं है, जितनी जैन मुनियों एवं साध्वियों की है । बौद्ध भिक्षु यात्रा में वाहन आदि का उपयोग कर लेते हैं, वे पास में पैसा भी रख सकते हैं, भिक्षा के बिना भी सुविधा से आमंत्रण पर भोजन कर लेते हैं । ब्रह्मचर्य के पालन में भी कठोर नियम न होने से भिक्षुणियों की संयम-साधना पर खतरा उत्पन्न हुआ और उनकी संख्या विलुप्त हो गई । बुद्ध पहले चाहते भी नहीं थे कि भिक्षुणी संघ बनाया जाए, किन्तु प्रमुख शिष्य आनन्द के निवेदन पर भिक्षुणी संघ बना। उसमें अनेक नारियों के जीवन का सचमुच उद्धार हुआ, किन्तु नियमों की शिथिलता से भिक्षुणी संघ अन्त में नहीं टिक पाया। बौद्ध भिक्षु भिक्षा में प्राप्त मांस का सेवन भी करते रहे। वहीं जैन साधु-साध्वी संयम की पालना में उनसे कहीं आगे रहे। कतिपय अपवाद को छोड़कर वे आज भी पदयात्रा करके एक ग्राम से दूसरे ग्राम पहुँचते हैं, वाहन आदि का उपयोग नहीं करते । पास में फूटी कौडी भी नहीं रखते तथा एषणा समिति के नियमों का पालन करते हुए शुद्ध गवेषणापूर्वक आहार ग्रहण करते हैं । मांस-मदिरा के सेवन से जैन साधु-साध्वी कोसों दूर हैं । साधु-साध्वी के पारस्परिक व्यवहार के नियम इतने कठोर हैं कि वे अकेले में कभी मिल बैठकर बात नहीं कर सकते । दिन के निश्चित समय में गृहस्थ स्त्री-पुरुष की उपस्थिति में ही वे मिल सकते हैं तथा रत्नत्रय की साधना की अभिवृद्धि सम्बन्धी चर्चा कर सकते हैं, विकारवर्धक चर्चा नहीं कर सकते । दिगम्बर मुनि बाह्य परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं तथा श्वेताम्बर साधु लज्जा एवं संयम की रक्षा के लिए सीमित वस्त्र रखते हैं । उन वस्त्रादि पर भी मूर्च्छाभाव का होना उसी प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार शरीर एवं अपने वैचारिक आग्रह के प्रति मूर्च्छाभाव त्याज्य है ।

बौद्धदर्शन में दुःखमुक्ति के लिए आर्य अष्टांगिक मार्ग का जो प्रतिपादन किया गया है उसका समावेश जैनदर्शन के त्रिरत्न अथवा सम्यक् तप सहित चतुर्विध मार्ग में हो जाता है । अष्टांगिक मार्ग है- 1. सम्यक्दृष्टि 2. सम्यक्संकल्प 3. सम्यक्वाचा 4. सम्यक्कर्मान्त 5. सम्यक्आजीव 6. सम्यक्व्यायाम 7. सम्यक्स्मृति और 8. सम्यक्समाधि । इनमें प्रथम दो को प्रज्ञा, मध्य के तीन को शील एवं अन्तिम तीन को समाधि के अन्तर्गत विभक्त किया जाता है ।दुःख है, दुःख का

समुदय (कारण) है, दुःख का निरोध है एवं दुःख-निरोध का मार्ग है- इन चार आर्यसत्यों का ज्ञान होने पर दृष्टि सम्यक् हो जाती है। दूसरे शब्दों में चार आर्य सत्यों का सही-सही ज्ञान होना बौद्धमत में सम्यक् दृष्टि है। दृष्टि सम्यक् होने पर आर्य श्रावक दुराचरण एवं उसके मूलकारण को तथा सदाचरण एवं उसके मूलकारण को पहचान लेता है। अविद्या के आश्रित संस्कारों को निर्मल करने का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है। नैष्कर्म्य (निष्कामता एवं संसार त्याग) का संकल्प अव्यापाद (द्रोह, घृणा, द्वेष, दुराव आदि न करने) का संकल्प तथा अविहिंसा (हिंसा न करने) का संकल्प ही सम्यक् है। झूठ बोलने , चुगली करने, कठोर वाणी बोलने एवं गप्प हांकने से विरत होना सम्यक् वाक् है। बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा- भिक्षुओं! आपस में एकत्रित होने पर दो बातों में से एक होनी चाहिए या तो धार्मिक बातचीत या फिर आर्य मौन। इसे सम्यक् वाणी कहते हैं। जीवहिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि से विरत होना सम्यक् कर्मान्त है। सम्यक् कर्मान्त से युक्त व्यक्ति लज्जाशील, दयावान एवं सभी प्राणियों पर अनुकम्पा करने वाला होता है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की शुद्धि के लिए सम्यक् आजीव की महत्ता है। दोषपूर्ण या मिथ्या आजीविका को छोड़ न्यायरीति से आजीविका चलाना सम्यक् आजीव है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में विष, शस्त्र, मदिरा एवं मांस का विक्रय करना, झूठा नापतोल करना, नौकर, जानवर आदि का व्यापार करना आदि को मिथ्या आजीविका कहा गया है। अतः सम्यक् आजीव में इनका त्याग किया जाना आवश्यक है। सम्यक् व्यायाम में व्यायाम शब्द का अर्थ है- प्रयत्न, उत्साह, परिश्रम आदि। चित्त में अनुत्पन्न पापयुक्त अकुशल धर्मों को उत्साह एवं प्रयत्नपूर्वक रोकना और उसके लिए निरन्तर यत्नशील रहना सम्यक् व्यायाम है। जैन शब्दावली में कहें तो आस्रव-निरोध रूप संवर की साधना करना सम्यक् व्यायाम है। निर्जरा भी उसी का परिणाम है। अतः चित्त की अकुशल प्रवृत्तियों का अप्रमत्त होकर निरन्तर प्रहाण करना और कुशल धर्मों को उत्पन्न करना, उत्पन्न कुशल धर्मों की स्थिति, वृद्धि तथा पूर्णता के लिए पुरुषार्थ करना, प्रयत्न करना, उत्साहित होना तथा चित्त से जागरूक रहना सम्यक् व्यायाम है। काया में कायानुपश्यना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्मों में धर्मानुपश्यना होना सम्यक्

स्मृति है। सम्यक् स्मृति का साधक आत्मदीप, आत्मशरण एवं अनन्यशरण होकर विहरता है। तृष्णा एवं उपादान से विरति में सम्यक् स्मृति सहायक है। कुशल चित्त का एकाग्र होना समाधि है। सम्यक् समाधि ध्यान के चार चरणों में उदित होती है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता से युक्त चित्त ध्यान की प्रथम स्थिति है। प्रीति, सुख एवं एकाग्रता से युक्त चित्त ध्यान की द्वितीय स्थिति है। सुख, उपेक्षा, स्मृति एवं एकाग्रता से युक्त चित्त ध्यान की तृतीय स्थिति है। चतुर्थ ध्यान में उपेक्षा, स्मृति एवं एकाग्रता रहती है। इस चतुर्थ ध्यान की अवस्था ही समाधि है। यह अष्टाङ्गिक मार्ग एक प्रकार से चतुर्थ आर्यसत्य का ही विस्तृत निरूपण है। जैनदर्शन के अनुसार विचार करें तो सम्यक्दृष्टि को सम्यक्दर्शन के अन्तर्गत एवं सम्यक् संकल्प को सम्यक्ज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है । शेष सम्यक्वाचा, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति एवं सम्यक्समाधि को सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप के अन्तर्गत सन्निविष्ट किया जा सकता है । सम्यक् समाधि का जैनदर्शन में प्रतिपादित तप-भेद ध्यान के साथ साम्य है। एक प्रकार से आष्टांगिक मार्ग निर्वाण के मार्ग को विस्तार से प्रस्तुत करता है तथा त्रिरत्न इस मार्ग का संक्षेप में प्रतिपादन करता है ।

बौद्ध परम्परा में सम्प्रति 'विपश्यना' ध्यानसाधना का बोलबाला है। सत्यनारायण गोयनका द्वारा देश-विदेश में इस ध्यान-साधना का व्यापक प्रचार-प्रसार किया गया है। जैनागम आचारांगसूत्र में 'लोगविपस्सी' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो यह संकेत करता है कि विपश्यी या विपश्यना शब्द जैन परम्परा में भी प्रचलित रहा है तथा ध्यान की यह पद्धति सम्भव है जैन परम्परा में भी रही हो। बौद्ध ग्रन्थों में अनुपश्यना शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है, विपश्यना का नहीं।

बौद्धदर्शन में प्रमाण दो प्रकार का मान्य है- 1. प्रत्यक्ष एवं 2. अनुमान । प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्प ज्ञानात्मक होता है तथा अनुमान प्रमाण सविकल्प ज्ञानात्मक । प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण अर्थ होता है तथा अनुमान प्रमाण का विषय सामान्य लक्षण प्रमेय होता है । इस प्रकार बौद्धदर्शन में प्रमाणों के पृथक्-पृथक् प्रमेय स्वीकार किए गए हैं । जबकि जैनदर्शन में सभी प्रमाणों के प्रमेय का स्वरूप

एक ही प्रकार का है, जिसे सामान्य-विशेषात्मक कहा गया है । उसे ही द्रव्यपर्यायात्मक, एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक अथवा नित्यानित्यात्मक कहा जाता है। प्रमाण दो प्रकार के मान्य हैं- 1. प्रत्यक्ष एवं 2. परोक्ष । इनमें परोक्ष प्रमाण के भट्ट अकलङ्क एवं उत्तरवर्ती आचार्यों ने पाँच भेद स्वीकार किए हैं- 1. स्मृति 2. प्रत्यभिज्ञान 3. तर्क 4. अनुमान एवं 5. आगम प्रमाण । बौद्ध दार्शनिक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को प्रमाण नहीं मानते हैं[13] तथा आगम प्रमाण का भी वे अनुमान प्रमाण में ही समावेश कर लेते हैं ।[14]

बौद्धधर्म का वैशिष्ट्य

बौद्धधर्म का उद्भव यद्यपि जैनधर्म की भाँति भारतीय भूभाग पर हुआ, तथापि बौद्ध भिक्षुओं की प्रचारात्मक दृष्टि के कारण यह धर्म आज एशिया के चीन, तिब्बत, कोरिया, जापान, श्रीलंका, भूटान, बर्मा आदि विभिन्न देशों में व्याप्त है तथा अरबों की संख्या में इसके अनुयायी हैं । यूरोप एवं अमेरिकी देशों में भी यह धर्म निरन्तर प्रसार पा रहा है । प्रसार का आधार हिंसात्मक साधन नहीं, अपितु करुणा, मैत्री एवं मानवता के अहिंसात्मक सिद्धान्त हैं । ईसाई, इस्लाम एवं हिन्दू धर्म के पश्चात् विश्व में सर्वाधिक अनुयायी बौद्धधर्म के माने जाते हैं ।

जैन धर्म भारतीय धरा पर सुरक्षित रहा, यहाँ पूर्व से उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण तक पहुँचा, किन्तु विदेशों में अपने अधिक अनुयायी न बना सका । इसके अनेक कारण संभव हैं- 1. जैन श्रमण-श्रमणियों की आचारसंहिता अत्यन्त कठोर है जो उन्हें वाहनों द्वारा विदेशी यात्रा के लिए अनुमति प्रदान नहीं करती । 2. जैनधर्म अपनी उदार एवं अनेकान्तवादी दृष्टि के कारण भारतीय वैदिक परम्पराओं के साथ समन्वय बिठाने में सक्षम रहा, अतः उसके समक्ष ऐसी कोई विवशता नहीं रही कि उसे यहाँ से पलायन करना पड़े । बौद्ध भिक्षुओं को भारत से पलायन करना पड़ा, उसमें एक कारण हिन्दू परम्परा का प्रतिरोध भी रहा।

जैन धर्मावलम्बी आज अनेक देशों में रह रहे हैं, किन्तु वे मूलतः भारतीय हैं। जो कोई विद्वान् अथवा समणी विदेश में धर्मोपदेश करते हैं वे भी वहाँ रह रहे भारतीय मूल के जैनों को ही अपने उपदेश का लक्ष्य बनाते हैं । बौद्धधर्म भारत में पुनः प्रसार पा रहा है । बीसवीं सदी में डॉ. भीमराव अम्बेडकर स्वयं बौद्ध बने

तथा भारतीय दलितवर्ग को विशाल स्तर पर बौद्धधर्म से जोड़ा। इक्कीसवीं सदी में अनेक विश्वविद्यालयों में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत बौद्ध अध्ययन केन्द्रों की स्थापना हो रही है।

बुद्ध की वाणी जितनी मूलरूप में सुरक्षित रही है, उतनी महावीर की वाणी सुरक्षित नहीं रह सकी। बुद्ध की वाणी के संरक्षण हेतु चार माह में ही प्रथम संगीति हो गई थी, जबकि महावीर की वाणी के संरक्षण हेतु उनके निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् प्रथम वाचना हुई। अभी विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी से त्रिपिटकसाहित्य के 140 भाग प्रकाशित हुए हैं, जिनमें अट्ठकथा आदि व्याख्यासाहित्य भी सम्मिलित है। सम्पूर्ण त्रिपिटकसाहित्य पालिभाषा में लिखा गया है। महायान परम्परा का बौद्ध साहित्य संस्कृत में लिखा गया है। संस्कृत में लिखित बौद्ध साहित्य का बहुभाग चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में अनूदित हुआ। उसका बहुत अंश संस्कृत में आज भी अप्राप्य बना हुआ है।

बौद्धदर्शन में करुणा का विशेष प्रतिपादन हुआ है। महायान बौद्ध दर्शन महाकरुणा के रूप में करुणा को व्यापकता प्रदान करता है। वहाँ माना गया है कि बोधिसत्त्व में इतना करुणाभाव होता है कि वह संसार के समस्त प्राणियों को दुःखमुक्त करके बाद में स्वयं मुक्त होना चाहता है।

बौद्धदर्शन में चित्तदशा या मनोविज्ञान का जैनदर्शन की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म विवेचन हुआ है। बौद्ध मनोविज्ञान में चित्त की विभिन्न दशाओं का विस्तृत वर्णन हुआ है। चित्त के तीन प्रकार हैं- कुशलचित्त, अकुशलचित्त एवं उपेक्षाचित्त अथवा अव्याकृत चित्त। मोह, निर्लज्जता, चंचलता, लोभ, मान, द्वेष, ईर्ष्या आदि से युक्त चित्त अकुशल होता है। श्रद्धा, स्मृति, पाप भीरुता, अलोभ, अद्वेष आदि धर्मों से युक्त चित्त कुशल होता है। रूप धर्म, चित्त विप्रयुक्त धर्म एवं असंस्कृत धर्मों से युक्त चित्त अव्याकृत कहलाता है। चित्त की अवस्था या प्रवृत्ति के आधार पर उसके चार भेद भी किए गए हैं- 1. कामावचर चित्त 2. रूपावचर चित्त 3. अरूपावचर चित्त एवं 4. लोकोत्तर चित्त। कामनाओं और वासनाओं की प्रधानता से युक्त चित्त को कामावचर चित्त, बाह्य स्थूल विषयों पर योगाभ्यासी चित्त को रूपावचर चित्त, अत्यन्त सूक्ष्म विषयों यथा अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान आदि में लगे चित्त को

अरूपावचर चित्त तथा वासना-संस्कार, राग-द्वेष आदि के प्रहाण से युक्त चित्त को लोकोत्तर चित्त कहा गया है। चित्त शब्द यहाँ चेतना का ही द्योतक है। चेतना चित्त-सन्तान के रूप में प्रवाहित होती रहती है। लोभ, मोह और द्वेष से युक्त चित्त किस प्रकार अनेक दोषों को उत्पन्न करता है तथा उसकी विभिन्न अवस्थाएँ किस प्रकार परिवर्तित होती रहती हैं, इसका विवेचन बौद्धग्रन्थों में विस्तार से प्राप्त होता है। चित्त और चैतसिक का विवेचन बौद्धदर्शन का वैशिष्ट्य है। चित्त की अवस्था विशेष को ही चैत्त या चैतसिक कहा जाता है। प्रत्येक चित्त अनेक चैतसिक अनुभूतियों से संश्लिष्ट रहता है। सुखद, दुःखद तथा अव्याकृत चेतना के अनुरूप सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षारूपों का अनुभव होता है। स्थविरवाद के अनुसार 52 प्रकार के चैत्त या चैतसिक होते हैं। इनके स्पर्श, वेदना, संज्ञा, वितर्क, मोह, लोभ, मिथ्यादृष्टि, अकर्मण्यता, श्रद्धा, स्मृति, अलोभ, अद्वेष, काय प्रश्रब्धि, कायलघुता, चित्त ऋजुकता आदि अनेक भेद प्रतिपादित हैं।

जैनधर्म का वैशिष्ट्य

जैन धर्म-दर्शन में प्रभु महावीर के द्वारा उन प्रश्नों का भी समीचीन समाधान किया गया है, जिन्हें बुद्ध ने अव्याकृत कहकर टाल दिया था। उदाहरण के लिए लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत ? लोक अन्तवान है या अनन्त ? जीव और शरीर एक है या भिन्न ? तथागत देह त्याग के बाद भी विद्यमान रहते हैं या नहीं ? इत्यादि प्रश्न बुद्ध के द्वारा अनुत्तरित हैं। वे इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते थे तथा उन्हें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के आक्षेप की सम्भावना रहती थी, किन्तु भगवान महावीर ने इन प्रश्नों का भी सम्यक् समाधान किया है। उनके समक्ष जब यह प्रश्न आया कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत तो प्रभु ने इसका उत्तर देते हुए फरमाया कि लोक स्यात् शाश्वत है एवं स्यात् अशाश्वत। त्रिकाल में एक भी समय ऐसा नहीं मिल सकता, जब लोक न हो, अतः लोक शाश्वत है। परन्तु लोक सदा एक सा नहीं रहता। कालक्रम से उसमें उन्नति, अवनति होती रहती है, अतः वह अनित्य और परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत है।[15]

इसी प्रकार लोक की सान्तता और अनन्तता के संबंध में भी भगवान् महावीर

ने भगवतीसूत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर उत्तर देते हुए कहा है कि द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है, अतः सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा भी लोक सान्त है, किन्तु काल एवं भाव की अपेक्षा से लोक अनन्त है। काल का कोई अन्त नहीं है। अतः काल की अपेक्षा लोक अनन्त है। भाव की अपेक्षा से भी लोक अनन्त है, क्योंकि धर्मास्तिकायादि षड्द्रव्यात्मक लोक की पर्यायों का कभी अन्त आने वाला नहीं हैं।[16] इन द्रव्यों का कभी भी पूर्णतः नाश नहीं होता। इसलिए लोक जैनदर्शन में अनादि-अनन्त है।

जीव और शरीर एक है या भिन्न, इस प्रश्न का समाधान भी जैनदर्शन में उपलब्ध होता है। जीव ज्ञानगुण एवं दर्शनगुण से सम्पन्न होता है, जबकि शरीर औदारिक आदि पुद्गलों से निर्मित होता है। शरीर में चेतना की प्रतीति जीव के कारण होती है। जब तक शरीर के साथ जीव का संयोग रहता है तब तक शरीर में चेतना बनी रहती है। किन्तु शरीर से जीव के पृथक् होते ही शरीर जड़ हो जाता है। इसलिए जीव और शरीर परमार्थतः पृथक् हैं, किन्तु जीवन जीते समय उनका संयोग बना रहता है। भगवतीसूत्र में आत्मा एवं शरीर के भेदाभेद की चर्चा उठायी गई है, जिसका अभिप्राय है कि जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है, तब वह रूपी व अचेतन है तथा जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है तब शरीर रूपी एवं सचेतन है।[17] पंडित दलसुख मालवणिया इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं - जीव और शरीर का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में मौजूद रहती है, या सिद्धावस्था में अशरीरी आत्मा भी होती है। अभेद इसलिए मानना चाहिए कि संसारावस्था में शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् या अग्नि-लोहपिंडवत् तादात्म्य होता है। इसलिए काया से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन होता है और कायिक कर्म का विपाक आत्मा में होता है।[18] देह-त्याग के पश्चात् तथागत रहते हैं या नहीं, इस प्रश्न को जीव की नित्यता या अनित्यता के रूप में समझा जा सकता है। भगवतीसूत्र में इस प्रकार का प्रश्न उठाया है कि जीव शाश्वत है या अशाश्वत? इसका उत्तर देते हुए भगवान महावीर कहते हैं कि द्रव्य की अपेक्षा से जीव शाश्वत है तथा पर्याय की अपेक्षा से जीव अशाश्वत है। इसका तात्पर्य है कि मुक्त जीव भी

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से शाश्वत होते हैं तथा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अशाश्वत होते हैं।

कर्मसिद्धान्त का जितना विस्तृत एवं व्यवस्थित प्रतिपादन जैनदर्शन में प्राप्त होता है उतना बौद्धदर्शन में नहीं मिलता। यह भी कहा जा सकता है कि अन्य सभी भारतीय दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का गूढ़ एवं विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। जैनदर्शन में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय - इन आठ कर्मों एवं इनकी उत्तर प्रकृतियों का विवेचन हुआ है। षट्खण्डागम, प्रज्ञापनासूत्र, भगवतीसूत्र, कसायपाहुड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड एवं विभिन्न कर्मग्रन्थों में बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। बंधनकरण, उदीरणाकरण, अपकर्षण, उत्कर्षण, उपशमना, संक्रमण, निधत्त, निकाचना आदि करणों का विवेचन जैन ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण रीति से प्राप्त होता है। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में भी परिवर्तन कर सकता है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। गुणश्रेणी में चढ़ता हुआ साधक अन्तर्मुहूर्त में अपने कर्मों का क्षय कर सकता है। गुणस्थानसिद्धान्त, लेश्यासिद्धान्त आदि जैनदर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त हैं जो उसे बौद्धदर्शन से पृथक् प्रतिपादित करते हैं। बौद्ध दर्शन में कर्मसिद्धान्त की चर्चा प्राप्त होती है। वहाँ आलयविज्ञान में वासनाएँ स्वीकार की गई हैं जो समय आने पर फल प्रदान करती हैं। जैन दर्शन की भाँति बौद्धदर्शन में कर्म को पौद्गलिक या अचेतन नहीं माना गया है।

बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया में आस्रव, संवर आदि पारिभाषिक शब्द जिस प्रकार जैनदर्शन में प्रयुक्त हुए हैं उसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी उनका प्रयोग दिखाई देता है। ये शब्द दोनों दर्शनों में लगभग समान अर्थ रखते हैं। जैनदर्शन में पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के लिए तप का विधान है। बौद्धधर्म में तप को कायक्लेश मानकर छोड़ दिया गया, किन्तु जैनदर्शन आत्मानुशासन के लिए तथा पूर्वबद्ध कर्मों को शिथिल एवं निर्जरित करने के लिए बाह्य एवं आभ्यन्तर तप का प्रतिपादन करता है। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश एवं प्रतिसंलीनता ये छह बाह्य तप हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग ये

छह आभ्यन्तर तप हैं। ये दोनों प्रकार के तप आत्मसंयम के साथ संवर एवं निर्जरा का पथ प्रशस्त करते हैं। तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों के फलभोगकाल एवं फलानुभव में कमी आती है तथा कर्मों की उदीरणा होकर उनकी शीघ्र निर्जरा हो जाती है। स्वाभाविक रूप से उदय में आने वाले कर्मों को समय से पूर्व उदय में लाने की प्रक्रिया उदीरणा कहलाती है। तप के द्वारा यह उदीरणा सम्भव होती है। गहनता से विचार किया जाए तो समभाव की साधना एवं आत्मजय का मार्ग तप के द्वारा प्रशस्त होता है। इसके द्वारा रागद्वेषादि विकार क्षीण होते हैं। जिस तप से विकारों पर विजय प्राप्त न हो तथा अहंकार, क्रोध आदि कषायों की वृद्धि हो, उस तप को जैनदर्शन में अज्ञान तप या बाल तप कहकर हेय माना गया है। सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञानपूर्वक किया गया तप ही जैनदर्शन में निर्जरा का साधन माना गया है। अज्ञानपूर्वक किया गया दीर्घकालीन तप कोई अर्थ नहीं रखता। बौद्धदर्शन में जिस तप को कायक्लेश स्वीकार कर हेय माना गया है वह सम्भवतः दीर्घकालीन अनशन तप है, क्योंकि गौतम बुद्ध जब शरीर को कृश करने वाली दीर्घ तपसाधना कर रहे थे, तब उन्हें शरीर की अशक्तता का अनुभव हुआ एवं बोधि की प्राप्ति में कठिनाई हुई। सुजाता के द्वारा लायी गई खीर से उन्होंने पारणक कर लिया एवं फिर कठोर तप को त्यागकर ध्यान-साधना में सन्नद्ध हो गए और उन्हें बोधि प्राप्त हो गई। अतः उनका निष्कर्ष रहा- वीणा के तारों को इतना भी मत खींचो कि वे टूट जाएं एवं उन्हें इतना भी ढीला मत छोड़ो कि वे बज ही न सकें। बुद्ध की साधना का यह मार्ग मध्यम मार्ग कहलाया। बौद्धमत में भी कायक्लेश स्वरूप दीर्घकालीन अनशन तप के अतिरिक्त तप के अन्य भेद दुःखमुक्ति की साधना में किसी भी प्रकार से हेय नहीं माने जा सकते। वासना के संस्कार को तोड़ने में तप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, इससे बौद्ध दर्शन भी असहमत नहीं हो सकता। भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि भेद किसी न किसी रूप में उन्हें भी मान्य ही हैं, भले ही उन्होंने इनका सीधा प्रतिपादन न किया हो।

तीर्थंकर महावीर की वाणी का कुछ अंश जैनागमों के रूप में सुरक्षित है। इन आगमों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, टब्बा आदि व्याख्यासाहित्य भी लिखा

गया है जो जैन साहित्य की विशालता इंगित करता है। दिगम्बरपरम्परा में षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि ग्रन्थ सुरक्षित हैं जो पूर्ववर्ती कर्मवाद के अंशरूप में स्वीकार्य हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि कृतियाँ आगमवत् मान्य की गई हैं। तिलोयपण्णत्ति, भगवती आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थ भी दिगम्बरपरम्परा की थाती हैं। यदि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का अध्ययन करें तो जैनपरम्परा की प्रस्तुति अधिक सशक्त रूप में हो सकती है। इस दिशा में विद्वानों ने कदम भी आगे बढ़ाये हैं, जो स्तुत्य हैं।

अहिंसा का प्रतिपादन यद्यपि जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में प्राप्त होता है, तथापि जैनधर्म में उसकी विशेष सूक्ष्मता दृष्टिगोचर होती है। जैनदर्शन में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, जीवों की जो परिकल्पना है, वह बौद्ध दर्शन में दिखाई नहीं देती है। बौद्धन्याय के ग्रन्थों में तो वनस्पति को भी चेतनारहित स्वीकार किया गया है,[19] जबकि विज्ञान ने भी वनस्पति में प्रयोग द्वारा चेतना सिद्ध कर दी है।

जैनदर्शन लोक को वास्तविक प्रतिपादित करता है तथा उसकी समुचित व्याख्या करता है। जैनदर्शन के अनुसार यह लोक पंचास्तिकायात्मक अथवा षड्द्रव्यात्मक है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय - ये पाँच अस्तिकाय जिसमें हो वह लोक है। इनमें कालद्रव्य को मिलाकर लोक को षड्द्रव्यात्मक भी कहा गया है। बौद्धदर्शन में अस्तिकाय की कोई अवधारणा नहीं है, न ही वहाँ धर्म, अधर्म द्रव्यों की परिकल्पना है। आकाश एवं काल को बौद्धदर्शन भी स्वीकार करता है। जीव को बौद्धदर्शन में चित्त, विज्ञान या पुद्गल कहा गया है। जैनदर्शन का पुद्गल वहाँ रूप शब्द से अभिहित है। पुद्गल परमाणु का जो सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन में प्राप्त होता है वह बौद्धदर्शन में उपलब्ध नहीं है।

जैनदर्शन में ज्ञान एवं दर्शन को जीव का लक्षण स्वीकार करते हुए इन दोनों को पृथक् प्रत्ययों के रूप में परिभाषित किया गया है जबकि बौद्धदर्शन में ऐसे दो पृथक् प्रत्यय नहीं हैं। बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को ही निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेदों

में विभक्त करते हैं जबकि जैनदर्शन में दर्शन को निर्विकल्पक एवं ज्ञान को सविकल्पक स्वीकार किया गया है। जैन दार्शनिक दर्शन एवं ज्ञान का क्रम स्वीकार करते हैं। दर्शन के पश्चात् ज्ञान एवं ज्ञान के अनन्तर दर्शन का क्रम चलता रहता है। जैनदर्शन में ज्ञान के पाँच प्रकार प्रतिपादित हैं- 1. मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान) 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनःपर्याय ज्ञान एवं 5. केवलज्ञान। बौद्धदर्शन में ज्ञान के इस प्रकार के भेद परिलक्षित नहीं होते हैं।

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। आचार्य सिद्धसेन ने अनेकान्तवाद की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता अंगीकार करते हुए कहा है कि अनेकान्तवाद के बिना लोक का व्यवहार नहीं चल सकता-

जेण विणा लोगस्स ववहारो वि सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमोऽणेगंतवायस्स।।[20]

अनेकान्तवाद में व्यवहार और निश्चय का समन्वय स्थापित किया जाता है। कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचन्द्र ने निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों की आवश्यकता स्वीकार करते हुए कहा है-

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।[21]

बुद्ध जहाँ शाश्वतवाद (आत्मा को नित्य मानने पर शाश्वतवाद का प्रसंग आता है) और उच्छेदवाद (चेतना को न मानने पर उच्छेदवाद का प्रसंग उपस्थित होता है) को स्वीकार नहीं करते हैं एवं आत्मा के स्वरूप के संबंध में उसकी नित्यता या अनित्यता के प्रतिपादन से बचते हैं वहाँ जैन दर्शन में आत्मा को नित्यानित्यात्मक स्वीकार किया गया है।

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है उसमें सत् या वस्तु उसे कहा गया है जो अर्थक्रियाकारी हो तथा क्षणिक वस्तु ही अर्थक्रिया में समर्थ होती है। उन्होंने नित्य पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व को असंभव बताकर क्षणिक पदार्थ में उसे स्वीकार किया है। जैन दार्शनिक वस्तु को द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से नित्य तथा पयार्यार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य स्वीकार करते हैं।

उपसंहार

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो जैनधर्म (निर्ग्रन्थधर्म) बौद्ध धर्म की अपेक्षा प्राचीन है, क्योंकि तीर्थकर महावीर के पूर्व भी परम्परा में 23 तीर्थंकर हो गए हैं, जिनमें ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों के पुष्ट प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। बौद्धदर्शन में भी अतीत बुद्ध माने गए हैं, किन्तु उनके ऐतिहासिक दस्तावेज प्राप्त नहीं होते।

बौद्ध धर्म सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक (शून्यवाद) एवं योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदायों में विभक्त होकर विकसित हुआ है, जबकि जैनधर्म दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों में विभक्त होकर विकसित हुआ है।[22] बौद्ध दर्शन की विभिन्न सम्प्रदायों में तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद दृग्गोचर होता है, जबकि जैनदर्शन की सम्प्रदायों में आचार-भेद को छोड़कर ऐसा कोई तत्त्वमीमांसीय भेद दिखाई नहीं देता है। जैन दर्शन के सम्प्रदाय वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक स्वीकार करते हैं तथा उसका बाह्य अस्तित्व मानते हैं। बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय विज्ञानवाद के मत में वस्तु का बाह्य अस्तित्व ही मान्य नहीं है, वह विज्ञान को ही सत् स्वीकार करता है। सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक मत में बाह्य वस्तु का अस्तित्व तो स्वीकृत है, किन्तु वे उसे क्षणिक मानते हैं। माध्यमिक मत में वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से निःस्वभाव है तथा सत्, असत्, सदसत् एवं न सत् न असत्- इन चार कोटियों से विनिर्मुक्त है। जैन दर्शन में वस्तु को सदसदात्मक स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में मान्य वस्तु का लक्षण "**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**" सभी द्रव्यों या पदार्थों पर समान रूप से लागू होता है। जैन दर्शन में षड्द्रव्यात्मक लोक की जैसी मान्यता है वैसी कोई मान्यता बौद्ध दर्शन में दिखाई नहीं देती।

बौद्ध दर्शन में शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद का परिहार किया गया है । इसीलिए बुद्ध आत्मा की शाश्वतता एवं अशाश्वतता आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में मौन हैं । आत्मा को स्वीकार करने पर शाश्वतवाद का तथा उसे न मानने पर उच्छेदवाद का आक्षेप आता है, जिसे टालने के लिए बुद्ध ने इस प्रकार के प्रश्नों पर मौन धारण

करना उचित समझा । इसके विपरीत भगवान महावीर ने शाश्वतता और अशाश्वतता का नय दृष्टि से समन्वय स्थापित किया है जो जैन धर्म की व्यापक अनेकान्त दृष्टि का सूचक है ।

ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन पाँच ज्ञानों का प्रतिपादन करते हुए ज्ञान को सविकल्पक निरूपित करता है तथा दर्शन को निर्विकल्पक रूप में स्थापित करते हुए उसे ज्ञान से पृथक् प्रत्यय के रूप में प्रतिष्ठित करता है, जबकि बौद्ध दर्शन ज्ञान के ही निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेद अंगीकार करता है ।

आचारमीमांसा की दृष्टि से देखें तो दोनों दर्शन सम्यग्दर्शनपूर्वक आचार को महत्त्व देते हैं, किन्तु बौद्ध दर्शन आचार के परिपालन में अधिक कठोरता एवं शिथिलता के मध्य का मार्ग अपनाता है, वहाँ जैन दर्शन में ज्ञानपूर्वक आचरण की कठोरता पर बल प्रदान किया गया है । यही कारण है कि जैन साधु-साध्वी आज भी आचार पालन की दृष्टि से अन्य धर्मों के साधु-साध्वियों की अपेक्षा अग्रणी हैं ।

दोनों दर्शनों का अध्ययन करने पर विदित होता है कि इनका पारस्परिक अध्ययन इन दर्शनों के हार्द को समझने में सहायक है। दोनों दर्शनों की आध्यात्मिक दृष्टि अत्यन्त समृद्ध है तथा मानवीय चरित्र को उन्नत बनाने में सहायक है । दोनों धर्मों में क्रोधादि, रागादि विकारों पर विजय को महत्त्व दिया गया है ।

सन्दर्भ :

1. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः ।- वैशेषिक सूत्र 1.1.2
2. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त
3. उत्तराध्ययनसूत्र, भाग 3, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, अध्ययन 25, गाथा 33
4. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 38.45
5. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (भगवतीसूत्र) आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, शतक 12, उद्देशक 2, पृष्ठ-134
6. दीघनिकाय-33 संगितिपरियाय सुत्त में चार प्रश्नव्याकरण, द्रष्टव्य, आगम-युग का जैनदर्शन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर 1990, पृ. 53-54
7. योगसूत्र में भी इनका उल्लेख हुआ है- मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखःदुखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।- योगसूत्र 1.33
8. नागार्जुन, मध्यमूल 24.10

9. समयसार, प्रथम अधिकार, गाथा 8
10. सुत्तपिटक, खुद्दकनिकाय, खुद्दकपाठ, रतनसुत्त
11. आवश्यक सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर 1982, शरण सूत्र, पृ. 10
12. देशसर्वतोऽणुमहती ।- तत्त्वार्थसूत्र 7.2
13. यदि सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणत्वमिष्यते प्रमाणानवस्था प्रसज्यते।- प्रमाणसमुच्चय, वृत्ति, मैसूर, 1930, पृष्ठ-11
14. न प्रमाणान्तरं शब्दमनुमानात्, तथा हि सः ।- दिङ्नाग, उद्धृत, तत्त्वसंग्रहपंजिका, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ-539
15. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 9, उद्देशक 6
16. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उद्देशक 1
17. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 13, उद्देशक 7
18. आगमयुग का जैनदर्शन, पृष्ठ 65
19. न्यायबिन्दु, 3.59
20. सन्मतितर्क, 3.69
21. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, श्लोक 225
22. सम्प्रति यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायी उपलब्ध नही हैं। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार कसायपाहुड, षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना आदि अनेक ग्रन्थ यापनीय सम्प्रदाय के हैं।- द्रष्टव्य, जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पार्श्वनाथविद्यापीठ, वाराणसी, 1996, अध्याय 3

जैन-बौद्ध वाङ्मय में वर्णाश्रमधर्म और संस्कार

भारतीय परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये चार वर्ण प्रचलित रहे हैं। इन वर्णों की चर्चा जैन ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है। धीरे-धीरे गुण एवं कर्म पर आधारित ये वर्ण जन्म से गृहीत होने लगे, अतः इन्होंने जाति का रूप ले लिया। जैन एवं बौद्ध धर्मों ने इस जाति प्रथा का विरोध किया तथा सबके लिए धर्म का द्वार खोल दिया। वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चार आश्रमों का निरूपण हुआ है, तथा इनका क्रम भी निर्धारित है, किन्तु जैन एवं बौद्ध धर्म में ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए सीधे प्रव्रज्या अंगीकार कर संन्यासाश्रम में पहुँचा जा सकता है। वैदिक परम्परा में गर्भ से लेकर अन्त्येष्टि तक 16 संस्कार स्वीकृत हैं, किन्तु जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में इन संस्कारों का कुछ परिवर्तित रूप दिखाई देता है। वह परिवर्तन भी उत्तरकाल के साहित्य में दृग्गोचर होता है। तीर्थङ्करों के पंच कल्याणकों का कथन कुछ पुरातन है। उनके पंच कल्याणक हैं- 1. गर्भ कल्याणक 2. जन्मकल्याणक 3. दीक्षा कल्याणक 4. केवलज्ञान कल्याणक एवं 5. निर्वाण कल्याणक। प्रस्तुत आलेख में वर्ण को कर्म से सम्बद्ध निरूपित करते हुए जातिवाद का खण्डन किया गया है तथा ब्राह्मण का अत्यन्त श्रेष्ठ आचरणयुक्त पुरुष के रूप में संस्थापन किया गया है। आश्रम-व्यवस्था एवं संस्कारों के सम्बन्ध में जैन एवं बौद्ध परम्परानुसार संक्षेप में कथन किया गया है।

वर्ण-व्यवस्था एवं जातिविमर्श

वर्णाश्रमधर्म भारतीय संस्कृति की अत्यन्त प्राचीन सामाजिक व्यवस्था है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये चार वर्ण तीर्थंकर महावीर एवं गौतम बुद्ध के जीवनकाल में भी प्रचलित थे। यही नहीं, उस समय इन चारों का स्वरूप गुण एवं कर्म के आधार पर न रहकर जन्म के आधार पर प्रचलित हो गया था, अर्थात् ये जाति का स्वरूप ग्रहण कर चुके थे।[1] जन्म से बाह्मण होना उच्चता का एवं जन्म से शूद्र होना निम्नता का सूचक हो गया था। जो मनुष्य के समीचीन सामाजिक-आध्यात्मिक विकास में बाधक प्रतीत हुआ। इसलिए जैन एवं बौद्ध परम्परा ने इसका पर्याप्त विरोध किया तथा प्रत्येक मानव को समानता एवं सम्मानपूर्ण जीवन जीने की वकालत की। यही कारण है कि जैन एवं बौद्ध धर्म में सभी वर्णों के मानव

दीक्षित हुए एवं अनुयायी बने । बौद्ध धर्म में अङ्गुलिमाल, नाई उपाली, भंगी सुणीत, सुप्पिय अछूत, कुष्ठ रोगी सुप्रबुद्ध तथा प्रकृति नामक चण्डालिका सदृश निम्नवर्ण के लोग दीक्षित हुए और जैनधर्म में अर्जुनमाली, हरिकेश चाण्डाल जैसे निम्नवर्ग के मनुष्य दीक्षित होकर साधु बने । जैन एवं बौद्ध धर्म ने सबके लिए समानरूप से मुक्ति या निर्वाण का मार्ग प्रस्तुत किया ।

जननं जातिः जन्म लेना जाति है । जो जिस योनि में उत्पन्न होता है वह उसकी जाति है । इस आधार पर पशुयोनि में जन्म लेने वाला जीव पशुजाति का, मनुष्ययोनि में जन्म लेने वाला मनुष्य जाति का जीव कहलाता है । जैन आगमों में पाँच प्रकार की जातियों का निरूपण है- एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति एवं पंचेन्द्रिय जाति। जन्म से जिस जीव को जितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं वह उस जाति का कहलाता है। जिसे जन्म के समय मात्र स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्त हुई है वह जाति से एकेन्द्रिय है, यथा- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीव। जिसे स्पर्शन एवं रसना दो इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं वे द्वीन्द्रिय जाति के जीव हैं जैसे- लट, इल्ली आदि। जिन्हें इन दो के साथ घ्राणेन्द्रिय भी प्राप्त है, वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं, जैसे चींटी, जूँ आदि। इन तीनों के साथ जो चक्षु इन्द्रिय से भी युक्त है, ऐसा जीव चतुरिन्द्रिय जाति का होता है, जैसे- मक्खी, मच्छर आदि। इन चार के साथ जो श्रोत्रेन्द्रिय से भी युक्त होता है वह पंचेन्द्रिय जाति का जीव है, जिसमें देव, नरक, मनुष्य एवं कुछ तिर्यंच जाति के जीव सम्मिलित हैं। आगे चलकर आदिपुराण में जिनसेन (नौवीं-दसवीं शती) ने मनुष्य जाति को एक पृथक् श्रेणी में स्थापित किया- **मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयाद्भवा।**[2] मनुष्यगति नामकर्म के उदय से उत्पन्न सभी मनुष्यों की एक ही 'मनुष्य जाति' है। आधुनिक भारत में छुआछूत के विरुद्ध आन्दोलन चलाने वाले समाज सुधारकों ने भी समस्त मनुष्यों को रक्त के रंग के आधार पर एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है।

जन्म से प्राप्त जाति की अपेक्षा तप बढ़कर होता है । तपसाधना के माध्यम से कोई निम्न कुल या वर्ण का व्यक्ति भी उच्च हो सकता है । जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में हरिकेश चाण्डाल मुनि का उल्लेख आता है, जो इसकी

पुष्टि करता है । हरिकेश मुनि जन्मतः चाण्डाल थे, किन्तु जैनधर्म में दीक्षित होकर श्रमण बने। वे एक बार भिक्षा के लिए यज्ञस्थल पर पहुँच गए। यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों ने उन्हें भिक्षा देने से यह कह कर मना कर दिया कि- तुम कहाँ से आए हो ? तुम काले- कलूटे हो एवं पिशाच की तरह नज़र आ रहे हो, यहाँ से चले जाओ। यह भोजन केवल ब्राह्मणों के लिए तैयार हुआ है, हम तुम्हें यह भोजन नहीं दे सकते। मुनि को ब्राह्मणशिष्यों के द्वारा यष्टियों और चाबुकों से पीटा गया और यज्ञस्थल से बाहर निकाल दिया गया। ऐसा करते ही हरिकेशी मुनि की तपस्या का प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ। वहाँ उपस्थित राजकुमारी भद्रा जो यज्ञप्रमुख राजपुरोहित सोमदेव की पत्नी थी, ने कहा- इस मुनि को मत पीटो। यह तपस्वी है। मेरे पिता राजा कौशिक ने मेरे स्वस्थ होने पर मुझे इस मुनि को प्रदान करने का प्रयत्न किया था, किन्तु इस मुनि ने मन से भी मुझे नहीं चाहा। ये मुनि नरेन्द्रों एवं देवेन्द्रों द्वारा अभिवन्दित हैं । ये उग्रतपस्वी, घोरव्रती, इन्द्रियविजेता, संयमी तथा ब्रह्मचारी हैं- ये अपमानित करने योग्य नहीं हैं। भद्रा के द्वारा ऐसा कहे जाने पर मुनिभक्त यक्षों ने उन ब्राह्मणों को दण्ड प्रदान किया। वे निश्चेष्ट हो गए, आँखे खुली रह गईं। यह दृश्य देखकर सब घबरा गए। राजपुरोहित सोमदेव खिन्न हो गया। हरिकेश मुनि से क्षमायाचना करता हुआ उनसे भिक्षा के लिए प्रार्थना करने लगा। आहार ग्रहण करने के पश्चात् यज्ञशाला में सुगन्धित जल और पुष्पों की वर्षा हुई। यहाँ सबको तप का साक्षात् प्रभाव दिखाई दिया एवं उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि जाति की कोई महिमा नहीं है, तप-साधना की ही विशेष महिमा है-

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसइ जाई विसेस कोई ।[3]

हरिकेश मुनि ने याज्ञिकों को सम्बोधित करते हुए बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर बल दिया तथा श्रेष्ठ यज्ञ की विधि का प्रतिपादन करते हुए कहा कि जो पृथ्वी आदि षड्जीवनिकाय की हिंसा नहीं करते, मृषावाद एवं अदत्तादान का सेवन नहीं करते, परिग्रह, स्त्री, मान, माया आदि को जानकर इनका त्याग करते हैं, अहिंसा आदि पाँच संवरों से संवृत होते हैं तथा जीवन की आकांक्षा नहीं करते, शरीर की आसक्ति का त्याग करते हैं, कर्म शत्रुओं पर विजय पाने वाले ऐसे व्यक्ति ही श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं ।[4]

भारतीय संस्कृति में वर्ण की अपेक्षा जाति को हेयदृष्टि से देखा गया है। जातिवाद एक विकृत स्वरूप है। उपर्युक्त प्रसङ्ग से जातिवाद की तत्कालीन स्थिति का भान होता है तथा उसके विरोध के स्वर भी मुखरित होते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसके साथ ही यज्ञ में होने वाली हिंसा पर भी प्रश्नचिह्न उठने लगे थे और आन्तरिक शुद्धि के बिना बाहरी शुद्धि की व्यर्थता प्रतिपादित होने लगी थी। विभिन्न जातियों में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह पद्धतियों के कारण नई-नई जातियाँ एवं उपजातियाँ बन रही थीं। ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान 'निषाद', वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान 'विदेह', शूद्र पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान 'चाण्डाल' कहलाने लगी। इसी प्रकार क्षत्रिय पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान को 'सूत' कहा गया। उग्र पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान को 'सोवाग', शूद्र पुरुष एवं निषाद स्त्री से उत्पन्न सन्तान को 'कुक्कुडक' कहा गया।[5] इस प्रकार अनेक जातियाँ एवं उपजातियाँ बनने लगी।

आज देश में जातिवाद हावी है। सरकार ने आरक्षण के माध्यम से इसे अधिक सशक्त बनाया है। वोटों की राजनीति भी जातिवाद की नींव पर चलती है। गुण गौण हो गए हैं, जाति का मन्त्र प्रमुख हो गया है। इसको जप लेने से ही सत्ता की सिद्धि हो जाती है। किन्तु इससे देश का सर्वांगीण कल्याण नहीं हो सकता। यह मनुष्यों के बीच भेदभाव को सुरक्षित रखता है एवं उनमें ईर्ष्या-द्वेष को समाप्त नहीं होने देता। जाति के आधार पर आजीविका उपलब्ध कराना या सत्ता सौंपना ही पर्याप्त नहीं, उनमें गुणों एवं तदनुरूप कर्मों का आधान कराना भी आवश्यक है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर का मन्तव्य है-'जातिप्रथा की नींव पर किसी भी प्रकार का निर्माण सम्भव नहीं है। किसी राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। जातिप्रथा की नींव पर निर्मित कोई भी चीज कभी सम्पूर्ण नहीं हो सकती,उसमें दरार पड़ जाएगी।'[6]

भारतीय समाज-व्यवस्था वस्तुतः एक है। हिन्दुओं और जैनों के वैवाहिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम लगभग समान होते हैं। जैन परम्परा पर हिन्दू परम्परा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तथापि जैन वाङ्मय में जाति (जन्म) को मनुष्य

की श्रेष्ठता का आधार नहीं माना गया । मनुष्य अपने गुणों एवं व्यवहार से ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ होता है । व्यक्ति अपने कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है-

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइस्सो कम्मुणा होई, सुद्धो हवइ कम्मुणा ।।[7]

वहाँ यह भी कहा गया है कि मुण्डन मात्र से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता तथा ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता तथा कुश के वस्त्रों से कोई तपस्वी नहीं होता । समता के आचरण से मनुष्य श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है तथा तप से तपस्वी होता है ।[8]

बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात में भी जन्म (जाति) की अपेक्षा कर्म को महत्त्व दिया गया है-

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो ।।[9]

न जन्म से कोई वृषल (शूद्र) होता है, न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है । कर्म से ही कोई वृषल होता है एवं कर्म से ही ब्राह्मण होता है ।

सुत्तनिपात में एक रोचक प्रसङ्ग आता है, जिसमें भारद्वाज एवं वसिष्ठ ब्राह्मण इस बात को लेकर विवाद करते हैं कि ब्राह्मण जन्म से होता है या कर्म से ? भारद्वाज ने कहा कि जब कोई पुरुष माता-पिता से सुजात होता है तथा दोनों ओर की सात पीढ़ी तक विशुद्ध वंश वाला होकर जाति की अपेक्षा अनिन्दित होता है तो वह ब्राह्मण होता है । वासिष्ठ ने इसका प्रतिषेध करते हुए कहा कि जब कोई पुरुष शीलवान् और व्रतसम्पन्न होता है तो वह ब्राह्मण कहलाता है । दोनों परस्पर झगड़ते हुए बुद्ध के चरणों में पहुँचे एवं अपनी समस्या रखी । बुद्ध ने समाधान करते हुए कहा कि विभिन्न प्राणियों में जन्म से जो भेद दिखाई देता है वह जातिगत अर्थात् जन्मगत भेद है, जैसे - तृण, कीट, पतंग, कुन्थु, पिपीलिका, पशु, पक्षी, जलचर, नभचर आदि प्राणियों में परस्पर जन्मगत/जातिगत भेद है । मनुष्य में

जन्म से इस प्रकार का कोई भेद नहीं पाया जाता। सभी मनुष्य समान ही उत्पन्न होते हैं। सबमें समान ही अंग होते हैं, उनमें जन्मगत वैसा लिंग भेद नहीं होता, जैसा अन्य प्राणियों में देखा जाता है - **लिङ्गजातिमयं नैव, यथा अञ्ञासु जातिसु।**[10]

जाति और वर्ण में प्रमुख भेद यह है कि जाति का निर्धारण जहाँ जन्म से होता है वहाँ वर्ण का निर्धारण गुण एवं कर्म के आधार पर होता है। इसलिए जाति जीवनभर एक ही रहती है, किन्तु वर्ण का परिवर्तन आचरण के आधार पर परिवर्तित होना सम्भव है। मनुस्मृति में भी कहा गया है - '**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।**'[11] जन्म से व्यक्ति शूद्र पैदा होता है, किन्तु संस्कारों से वह द्विज कहलाता है। जैनधर्म में कर्म-सिद्धान्त के अन्तर्गत यह प्रतिपादन किया गया है कि कोई व्यक्ति नीच गोत्र कर्म के साथ जन्म लेकर अपनी साधना के बल पर उच्चगोत्र का हो सकता है। हरिकेशी मुनि, अर्जुनमाली आदि इसके उदाहरण हैं।

आचार्य जिनसेन (९वीं शती) ने आदिपुराण में वर्ण-व्यवस्था की चर्चा की है। उन्होंने उल्लेख किया है कि राजा ऋषभदेव जो प्रथम तीर्थंकर बने, ने तीन वर्णों क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की स्थापना की और उनके पुत्र भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।[12] वर्णों का यह उल्लेख एक ओर वर्णों की प्राचीनता को सिद्ध करता है, दूसरी ओर जिनसेन पर वैदिक परम्परा के प्रभाव को इङ्गित करता है। यहाँ पर यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि जैन एवं बौद्ध परम्परा में ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय को अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्ध दोनों क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न हुए थे। जैनधर्म में ऐसी किम्वदन्ती है कि महावीर पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में उत्पन्न हुए, एवं फिर देवों के द्वारा उनका गर्भ रानी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित किया गया। बौद्धग्रन्थों में क्षत्रिय के पश्चात् ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र की गणना की गई है।

जैन तीर्थंकर एवं बुद्ध भले ही क्षत्रिय हुए हों, किन्तु उनके प्रमुख शिष्य गणधर एवं आचार्य प्रायः ब्राह्मण हुए हैं। उन्होंने जैन एवं बौद्ध धर्म का प्रतिपादन एवं प्रचार किया है। वैश्य एवं शूद्र भी जैन-बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए हैं। आज जैनधर्म

के अधिकांश अनुयायी वैश्य हैं तथा बौद्ध धर्म एशिया के विभिन्न देशों में बृहत् स्तर पर फैला हुआ है । यूरोप, अमेरिका आदि महाद्वीपों में भी इसका अस्तित्व दिखाई देता है ।

जैन ग्रन्थ आचारांगचूर्णि में राजा के आश्रित वंशानुगतों को 'क्षत्रिय', हिंसा, चोरी आदि कार्यों में संलग्न, शोक, द्रोह स्वभाव वाले मनुष्यों को 'शूद्र', शिल्प, वाणिज्य से जीवन-यापन करने वालों को 'वैश्य' कहा गया है । जो सरल स्वभावी, धर्मप्रिय होते हैं, स्वयं हिंसा नहीं करते तथा हिंसा करने वाले को रोकते हैं एवं उससे कहते हैं - 'हे माहण! मा हण' अर्थात् तुम हिंसा मत करो । इस प्रकार का आचरण करने वाला 'ब्राह्मण' होता है ।[13]

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में ब्राह्मण को परमपुरुष ब्रह्म के मुख से, क्षत्रिय को भुजाओं से, वैश्य को जङ्घाओं से तथा शूद्र को पैरों से उत्पन्न स्वीकार किया गया है।[14]जैनाचार्य प्रभाचन्द्र (980-1065ई.) ने ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्म के मुख से होने का खण्डन किया है । न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ में वे खण्डन करते हुए वैदिकों से पूछते हैं- ब्रह्म ब्राह्मण है या नहीं ? यदि वह ब्राह्मण नहीं है तो उससे ब्राह्मण की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? एक मनुष्य अमनुष्य से उत्पन्न नहीं हो सकता । यदि ब्रह्म ब्राह्मण है तो वह अपने सभी अंगों से ब्राह्मण है या मात्र मुख से ? यदि वह सभी अंगों से ब्राह्मण है तो संसार के सभी प्राणी जो ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, वे ब्राह्मण हैं । यदि ब्रह्म मात्र मुख से ब्राह्मण है तो उसके अन्य अंग शूद्र की श्रेणी में आएंगे । इसलिए ब्राह्मण को ब्रह्म के चरणों में प्रणाम नहीं करना चाहिए ।[15]

बौद्ध धर्म के अनुसार भी मानव की श्रेष्ठता का आधार उसका आचरण है, ब्राह्मणादि वर्णों में जन्म लेना नहीं । इस तथ्य को गौतम बुद्ध ने यथार्थ के धरातल पर आश्रित तर्कों से सिद्ध किया है । ब्राह्मणों की उस समय मान्यता थी कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य वर्ण हीन है, ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, अन्य वर्ण कृष्ण है, ब्राह्मण ही शुद्ध है, अन्य वर्ण नहीं । ब्राह्मण ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं तथा मुख से उत्पन्न हुए हैं । इस मान्यता का जैविक एवं शारीरिक आधार पर निरसन करते हुए भगवान् बुद्ध दीघनिकाय के अग्गञ्ञसुत्त में कहते हैं- हे वासिष्ठ! ब्राह्मणों की

पत्नियाँ भी अन्य स्त्रियों की भाँति ऋतुमती होती हैं, गर्भिणी होती हैं, प्रसव करती हैं तथा स्तन्यपान कराती हैं। वे ब्राह्मण भी स्त्रीयोनि से ही उत्पन्न हुए हैं। अतः ब्राह्मणों को श्रेष्ठ एवं अन्य वर्णों को जन्म के आधार पर हीन कहना उचित नहीं है।[16]

सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि गोरक्षा से जीविका करने वाले को कर्षक, शिल्प से जीविका करने वाले को शिल्पी, व्यापार से जीविका करने वाले को वणिक् एवं पुरोहितत्व से जीविकोपार्जन करने वाले को याजक कहा जाता है, ब्राह्मण नहीं। माता की योनि से उत्पन्न होने के आधार पर बुद्ध किसी को ब्राह्मण नहीं कहते। जो भोगवादी या संग्रही है वह ब्राह्मण नहीं, ब्राह्मण तो अकिंचन एवं असंग्रही होता है, जो संग एवं आसक्ति से विरत होता है वह ब्राह्मण है।[17]ब्राह्मण शब्द का प्रयोग सुत्तनिपात में सुगत या बुद्ध के लिए भी हुआ है, यथा-

चुतिं यो वेदि सत्तानं, उपपतिं च सव्वसो।
असत्तं सुगत बुद्धं, तमहं ब्रूमि माहणं।।[18]

जो प्राणियों की मृत्यु एवं उत्पत्ति को भलीभाँति जानता है तथा जो आसक्तिरहित, सुगत और बुद्ध (ज्ञानी) है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जैन धर्म के उत्तराध्ययन सूत्र तथा बौद्ध धर्म के सुत्तनिपात एवं धम्मपद में ब्राह्मण के जिस स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है, वह वस्तुतः एक उच्च कोटि के श्रमण जीवन से समानता रखता है। उत्तराध्ययन सूत्र की अनेक गाथाओं में प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार जल में उत्पन्न कमल जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो कामवासनाओं से लिप्त नहीं होता है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।[19] जो मन, वचन, काया तीनों स्तरों पर त्रस एवं स्थावर प्राणियों की हिंसा नहीं करता, जो क्रोध, हास्य, लोभ, भय आदि के कारण झूठ नहीं बोलता वह ब्राह्मण होता है। जो अल्प सचित्त वस्तु को बिना दिए ग्रहण नहीं करता वह ब्राह्मण नहीं होता। इसी प्रकार जो दिव्य मानुष एवं तिर्यंच के मैथुन सेवन का मन, वचन, काया से परिहार करता है वह ब्राह्मण होता है, जो आसक्ति एवं लोलुपता का त्याग करता है वह ब्राह्मण होता है।[20]

धम्मपद के ब्राह्मणवग्ग में ब्राह्मण के अनेक लक्षण दिए गए हैं, जो उसको उन्नत शीलवान् निरूपित करते हैं, उदाहरणार्थ-

यस्स कायेन वाचा य, मनसा नत्थि दुक्कतं ।
संवतुं तीहि ठानेहि, तमहं ब्रूमि माहणं ।।
न जटाहि न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चंच धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो ।।
आसा यस्स न विज्जति, अस्मिं लोके परम्हि च ।
निरासयं विसंयुतं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।[21]

शरीर, वाणी एवं मन से जो दृष्कृत नहीं करता तथा शरीरादि तीनों से जो संवरयुक्त है वह ब्राह्मण है । न जटाओं से, न गोत्र से और न जाति से कोई ब्राह्मण होता है, अपितु जिसमें सत्य और धर्म है वही शुचि है और वही ब्राह्मण है । इस लोक एवं परलोक के विषय में जिसकी आशाएँ (तृष्णा) नहीं रह गई हैं, जो आशारहित तथा आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

सुत्तनिपात में प्राचीन ब्राह्मणों की विशेषता बताते हुए बुद्ध कहते हैं कि वे ब्रह्मचर्य, शील, ऋजुता, मृदुता, तप, सज्जनता, अहिंसा और क्षमा के प्रशसंक थे ।[22] ब्राह्मणों के पास न पशु होते थे, न हिरण्य तथा धान्य । स्वाध्याय करना ही उनका धन-धान्य था । उन्होंने श्रेष्ठ विधि से ब्रह्म की रक्षा की ।[23]

बुद्ध की दृष्टि में जन्म (जाति) का नहीं, कर्म का महत्त्व है, वे कहते हैं-

कम्मना वत्तती लोको, कम्मना वत्तती पजा ।
कम्मनिबन्धना सत्ता, रथस्सणीव यायती ।।

-सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त, 61

लोक कर्म से चल रहा है, प्रजा कर्म से चल रही है, रथ के चक्के की आणी की भाँति प्राणी कर्म से बंधे हैं । प्रतीत्यसमुत्पाददर्शी और कर्मविपाक कोविद पण्डितजन कर्म को यथार्थ जानते हैं ।

दीघनिकाय के अग्गञ्ञ सुत्त में क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कोई क्षत्रिय भी प्राणातिपाती अर्थात् हिंसक होता है, अदत्तादानी होता है, व्यभिचार करता है, झूठ बोलता है, चुगली करता है, कठोर

भाषा बोलता है, व्यर्थ प्रलाप करता है, लोभी होता है, हिंसा में चित्त लगाये रखता है और मिथ्यादृष्टि होता है। क्षत्रिय का ऐसा होना उसके अकुशल धर्मों को बताता है। हिंसक होना आदि अकुशल धर्म सावद्य हैं, समाज में निन्दनीय हैं एवं असेवनीय हैं। इनका सेवन करने वाला आर्य नहीं होता। वह कृष्ण एवं कृष्ण फल वाला होता है तथा विज्ञ पुरुषों द्वारा निन्दित होता है।[24] धम्मपद में भी आर्य एवं अनार्य की भेदक गाथा आई है-

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सव्वपाणानं, अरियोति पवुच्चति।।[25]

बुद्ध की दृष्टि में आर्य वह नहीं होता, जो प्राणियों की हिंसा करता है, अपितु अहिंसक होना ही आर्य का लक्षण है। अग्गञ्ञसुत्त हिंसा के साथ अदत्तादान, व्यभिचार, झूठ, चुगली आदि दोषों को भी अनार्य के लक्षण में सम्मिलित करता है। अग्गञ्ञसुत्त में ऐसे अकुशल धर्मों से युक्त क्षत्रिय को ही नहीं, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र को भी निन्दनीय बताया गया है। उन्हें अनार्य कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि बुद्ध ने सभी वर्णों की आचरणगत निर्मलता पर बल प्रदान किया है तथा नैतिक आचरण के आधार पर ही इनको श्रेष्ठ या हीन स्वीकार किया है। उनके अनुसार धर्म ही श्रेष्ठ है- **धम्मो हि सेट्ठो जनेतस्मिं**।[26] यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्षत्रिय का कार्य युद्ध करना है, वह हिंसा से कैसे बच सकता है ? उत्तर में कहना होगा कि बुद्ध क्षत्रिय के उस कार्य में व्यवधान उत्पन्न नहीं करते, किन्तु व्यर्थ में प्राणातिपात से तो क्षत्रिय को भी बचना ही चाहिए। कलिंग युद्ध की विभीषका से द्रवित होकर तो अशोक ने आगे युद्ध न करने का संकल्प ही ले लिया था।

बुद्ध की दृष्टि से उच्चकुलीन होने से कोई श्रेयस्कर अथवा अश्रेयस्कर नहीं होता। उदारवर्ण होना और उदारभोगों या धन-धान्य का होना श्रेयस्करता या अश्रेयस्करता का सूचक नहीं है, क्योंकि उच्चकुलीन भी यदि हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि दोषों से युक्त होता है तो वह अश्रेयस्कर होता है तथा यदि वह इन अकुशल धर्मों से रहित होता है तो वह श्रेयस्कर है। इसी प्रकार उच्च वर्ण वाला एवं उदार भोगों से युक्त व्यक्ति भी इन बुराइयों से युक्त होता है तो वह अश्रेयस्कर होता है तथा इनसे रहित होने पर श्रेयस्कर होता है।[27]

एसुकारीसुत्त में बुद्ध क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र के क्रमशः भिक्षाचर्या, शस्त्रविद्या, कृषि- गोरक्षा एवं भार ढोना आदि स्वधर्मों का खण्डन करते हैं। बुद्ध की दृष्टि में पुरुष का लोकोत्तर धर्म ही स्वधन है, जो उसे दुःखमुक्त बनाता है।[28] वर्णों की समानता के सम्बन्ध में वे कहते हैं के नदी में स्नान करके ब्राह्मण ही स्वच्छ नहीं होता, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र भी स्वच्छ हो सकता है।[29] इसी प्रकार प्राणातिपातविरति, अदत्तादानविरति आदि कुशल धर्मों को किसी भी वर्ण का व्यक्ति अपना सकता है।

यहाँ एक विशेष बात उल्लेखनीय है कि जैन धर्म में श्रमण, श्रमणी, श्रमणोपासक और श्रमणोपासिका इन चार को तीर्थ या संघ कहा गया है तथा इन चार के लिए चाउवण्णे (चातुर्वर्ण्य) शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

आश्रम-चिन्तन

भारतीय हिन्दू परम्परा के धर्मशास्त्रों में जीवन की अवधि सौ वर्ष मानकर उसके चार विभाग किए गए हैं- 1. ब्रह्मचर्याश्रम 2. गृहस्थाश्रम 3. वानप्रस्थाश्रम एवं 4. संन्यासाश्रम। प्रत्येक आश्रम के लिए क्रमिक रूप से पच्चीस वर्ष निर्धारित माने गए। अतः 25 वर्ष की आयु तक का काल ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करने, उसके पश्चात् 50 वर्ष की आयु तक का काल गृहस्थ जीवन में विवाह, सन्तानोत्पत्ति आदि गार्हस्थिक कार्यों हेतु निर्धारित किया गया। हिन्दू परम्परा की यह मान्यता रही कि पुत्रोत्पत्ति हुए बिना सद्गति नहीं होती। (अपुत्रस्य गतिर्नास्ति)। 51 से 75 वर्ष के आयुकाल में गृहस्थ का दायित्व सन्तान को सौंपकर वन में निवास करने का विधान था। पत्नी जीवित हो तो वन में उसके साथ भी रहा जा सकता था। संन्यास आश्रम पूर्णतः मोहत्याग का आश्रम रहा। इन चार आश्रमों के क्रम को अपनाना बौद्ध एवं जैन आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार कोई मुमुक्षु ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा संन्यास आश्रम में भी प्रवेश कर सकता है। जैनधर्म में अतिमुक्तक कुमार, वज्रस्वामी आदि इसके उदाहरण हैं। वर्तमान में भी जैनधर्म के ऐसे अनेक आचार्य एवं सन्त हैं जो बालवय में दीक्षित हैं। जैन-बौद्धों की इस परम्परा का प्रभाव वैदिक संस्कृति पर भी पड़ा। यही कारण है कि वेदान्त के

विभिन्न सम्प्रदायों एवं रामस्नेहियों में अल्पवय के बालक भी संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। जीवन का कोई भरोसा नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति आयु के 100 वर्ष पूर्ण करेगा। कोई भी मृत्यु को कभी भी प्राप्त कर सकता है, इसलिए जीवन को दुःखमुक्त बनाना है तो गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रमों से गुजरे बिना ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास आश्रम को स्वीकार किया जा सकता है।

संस्कार-विमर्श

संस्कारों के सम्बन्ध में विचार करें तो ज्ञात होता है जिन संस्कारों का विधान स्मृतिशास्त्रों में किया गया है, उनमें अधिकतर संस्कार जैनों को भी मान्य हैं तथा कुछ संस्कार बौद्धों को भी स्वीकृत हैं। बौद्ध परम्परा में 1. गर्भमङ्गल (पुंसवन), 2. नामकरण, 3. अन्नाशन, 4. केशछेदन, 5. कर्णवेधन, 6. विद्यारम्भ, 7. विवाह, 8. प्रव्रज्या, 9. उपसम्पदा और 10. मृतक संस्कार का विधान है।[30] ये सभी संस्कार बौद्ध भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं। डॉ. भीमराव अम्बेडकर के द्वारा भारत में स्थापित नव बौद्धों में गृहप्रवेश, परित्राणपाठ आदि के साथ 16 संस्कार भी प्रतिपादित हैं। जैन परम्परा में अल्पभेद के साथ हिन्दू परम्परा के 16 संस्कार मान्य हैं। जिनसेन के आदिपुराण में अनेक संस्कारों का उल्लेख प्राप्त होता है।[31] किन्तु संस्कारों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन 15वीं शती के वर्धमानसूरि के आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में हुआ है। आचारदिनकर में 16 संस्कार गृहस्थ के लिए, 16 संस्कार साधु के लिए तथा 8 संस्कार दोनों के लिए प्रतिपादित हैं।[32] जैन परम्परा में यह प्रथम ग्रन्थ है, जो संस्कारों का इतने विस्तार से प्रतिपादन करता है।

गृहस्थ के 16 संस्कार इस प्रकार हैं- 1. गर्भाधान संस्कार, 2. पुंसवन संस्कार, 3. जन्म संस्कार, 4. सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार (सूर्य एवं चन्द्रमा की प्रतिमाओं की पूजा) 5. क्षीराशन संस्कार (दुग्धपानप्रारम्भ), 5. षष्ठी संस्कार (देवमातृका पूजा), 7. शुचिकर्म संस्कार (दैहिकशुद्धि, स्थानशुद्धि आदि से सम्बद्ध), 8. नामकरण संस्कार, 9. अन्नप्राशन संस्कार, 10. कर्णभेद संस्कार, 11. चूडाकरण संस्कार (केशमुण्डन), 12. उपनयन संस्कार (गुरूपदिष्ट धर्ममार्ग में प्रवेश हेतु संस्कार), 13. विद्यारम्भ संस्कार, 14. विवाह संस्कार, 15. व्रतारोपण संस्कार

(श्रावक के योग्य व्रतों का स्वीकरण) और 16. अन्त्य संस्कार (संलेखना आराधना एवं मृतदेह- अग्निसंस्कार)।

इन 16 संस्कारों में वैदिक परम्परा के संस्कारों से विशेष भेद नहीं है। किन्तु इनका सम्पादन जैन सिद्धान्तों की व्याख्या के अनुरूप किया गया है। वर्धमानसूरि ने इन संस्कारों की जैन दृष्टि से विवेचना की है। इनमें व्रतारोपण संस्कार जैन परम्परा का विशिष्ट संस्कार है, जिसके अन्तर्गत कोई गृहस्थ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण नामक पाँच अणुव्रतों को स्वीकार करता है तथा इनके साथ दिक्परिमाण आदि तीन गुणव्रत और सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों का आधान करता है। कहीं वह श्रावक के सामान्य गुणों एवं नियमों को अंगीकार करता है।

साधु के लिए निरूपित 16 संस्कार जैन परम्परा का वैशिष्ट्य है। वे 16 संस्कार हैं -1. ब्रह्मचर्यव्रतग्रहणविधि, 2. क्षुल्लकविधि (पूर्णतः साधु बनने के पूर्व व्रतों के अभ्यास की विधि), 3. प्रव्रज्याविधि (साधु-साध्वी के रूप में दीक्षाविधि), 4. उपस्थापनाविधि (महाव्रत-आरोपणविधि), 5. योगोद्वहनविधि (मन, वचन एवं काया से), 6. वाचनाग्रहण विधि (आगमपाठ ग्रहणविधि), 7. वाचनानुज्ञाविधि (आगमवाचना-प्रदान-आज्ञाविधि),8.उपाध्यायपदस्थापनाविधि,9. आचार्यपदस्थापनाविधि, 10. भिक्षुप्रतिमा-उद्वहनविधि, 11. साध्वीदीक्षाविधि, 12. प्रवर्तिनीपदस्थापनाविधि, 13. महत्तरापद-स्थापनाविधि, 14. अहोरात्रिचर्याविधि, 15. ऋतुचर्याविधि और 16. संलेखनाविधि।

वैदिक परम्परा में सन्तजीवन के लिए वानप्रस्थ एवं संन्यास संस्कार के अतिरिक्त संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। आठ संस्कार ऐसे हैं, जो गृहस्थ और साधु दोनों के लिए उपयोगी हैं-

1. प्रतिष्ठाविधि (प्रतिमा की प्रतिष्ठासम्बन्धी विधि), 2. शान्तिकर्म (शान्ति उत्पादकविधि), 3. पौष्टिककर्म (सत्कार्य पोषणविधि), 4. बलिविधानविधि, 5. प्रायश्चित्तविधि (दोष शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त स्वीकरण), 6. आवश्यकविधि (सामायिक आदि षड् आवश्यकों का आचरण), 7. तपविधि और 8. पदारोपणविधि। इन आठ संस्कारों का सम्बन्ध साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका सभी से है।

सोमदेवसूरि (11वीं शती) ने यशस्तिलकचम्पू में उल्लेख किया है कि लौकिक विधि में जो कुछ कहा गया है वह जैनों के लिए भी प्रमाण है । केवल दो बातों का ध्यान जैनों को रखना है- एक तो ऐसा आचरण न किया जाए, जिससे सम्यक्त्व की हानि हो तथा दूसरा, व्रतों में किसी प्रकार का दोष लगे।[33] इससे विदित होता है कि जैन परम्परा में हिन्दू परम्परा के सामाजिक नियमों को स्वीकृति मिलती रही है, पर जैन श्रावक-श्राविका अपने सम्यक्त्व और व्रतों को सुरक्षित रखते हुए उन सामाजिक नियमों का पालन करते रहे हैं । कुछ जैन विद्वानों ने जैन रीति से विवाह विधि का विकास भी किया है, किन्तु जैन परिवारों ने बृहत् स्तर पर उसे नहीं अपनाया है। इसका कारण विवाह सम्पन्न कराने वाले जैन पण्डितों का अभाव भी है । इसलिए नूतन गृह का प्रवेश हो अथवा विवाह समारोह का कार्यक्रम, सर्वत्र हिन्दू पण्डितों और पुरोहितों को ही जैन परिवारों द्वारा बुलाया जाता है । जैन मन्दिरों में मूर्ति की प्रतिष्ठा अथवा जैन पर्वों के अनुष्ठानों का आयोजन अवश्य जैन विद्वानों अथवा सन्तों के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है ।

उपसंहार

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने भी चार वर्णों की चर्चा की है, किन्तु उन्होंने ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रियवर्ण को वरीयता प्रदान की है एवं ब्राह्मण का ऐसा आदर्श स्वरूप प्रतिपादित किया है जो श्रमण के गुणों से सम्पन्न है । ये दोनों दर्शन जन्म के आधार पर जातिवाद के प्रचलन का विरोध करते हैं तथा सभी वर्णों एवं जातियों के लिए धर्म का द्वार खुला रखते हैं । इनके अनुसार मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति हेतु किसी भी वर्ण या जाति का व्यक्ति प्रव्रज्या अंगीकार कर सकता है । ये जाति की अपेक्षा कर्म एवं सद्गुणों को महत्त्व प्रदान करते हैं । किसी भी वर्ण या जाति का व्यक्ति यदि प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, व्यभिचार, परिग्रह या मद्यपान करता है तो यह उसके लिए अश्रेयस्कर है । दोनों धर्मों के वाङ्मय में संस्कारों की भी चर्चा हुई है । बौद्ध धर्म में जहां सीमित संस्कार परिगणित हैं, वहाँ जैनधर्म में गृहस्थ एवं साधु के लिए पृथक्-पृथक् 16 संस्कार कहे गए हैं । सामाजिक रीति-रिवाज प्रायः हिन्दू परम्परा से प्रभावित

हैं। बौद्धों ने स्वतन्त्र रूप से अपनी सामाजिक परम्परा का जितना विकास किया है, उतना जैनों ने नहीं। आश्रमों के सम्बन्ध में दोनों का मन्तव्य है कि कोई मुमुक्षु ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था में सीधा प्रवज्या ग्रहण कर सकता है, गृहस्थाश्रम में जाना आवश्यक नहीं है।

सन्दर्भः-

1. मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में भी 'जाति' शब्द का प्रयोग दिखाई देता है, यथा-
   शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
   अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात् ।।- मनुस्मृति 10.64
   जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया - मनुस्मृति 11.124
   जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पंचमेऽपि वा ।- याज्ञवल्क्यस्मृति 1.96
   जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
   धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न्न तु शूद्रः कथंचन ।।- मनुस्मृति 8.20
   जात्या भवति पुक्कसः। मनुस्मृति 10.18
2. (अ) आदिपुराण भाग - 2, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1998, 38.45
   (ब) भद्रबाहु (तृतीय शती ई.) ने आचारांगनिर्युक्ति में कहा है - 'एक्का मणुस्सजाई'।-आचारांग निर्युक्ति, निर्युक्ति संग्रह, श्री हर्ष- पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, जामनगर, 1989, गाथा 19
3. उत्तराध्ययनसूत्र, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, 12.37
4. उत्तराध्ययनसूत्र, 12.41-42
5. द्रष्टव्य, आचारांगनिर्युक्ति संग्रह, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखा बावल, जामनगर, 1989
6. जातिवाद का बीजनाश, डॉ. भीमराव अम्बेडकर की पुस्तक Annihilation of Caste का हिन्दी अनुवाद, अनुवादः आचार्य जुगलकिशोर बौद्ध, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 55
7. उत्तराध्ययनसूत्र सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, 25.33
8. उत्तराध्ययनसूत्र, 25.31-32
9. सुत्तनिपात, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003, वासेट्ठसुत
10. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त
11. मनुस्मृति, चौखाम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2003, 10.65
12. आदिपुराण, भाग-1, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 16. 243-246
13. जे रायअस्सिता ते य खत्तिया। हिंसाचोरियादिसु सज्जमाना सोगद्रोहणसीला-सुद्दा-सिप्पवाणिज्जेहिं विसंति-वेस्सा। उज्जुगस्सभावा धम्मप्पिया जे च किंचि हणंतं पिच्छति तं

निवारेति माहण भो ! मा हण इति एवं ते जणेण सुक्कमनिवतितसन्ता बंभणा जाता ।।- आचारांगचूर्णि
14. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।- ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, 10.90.12
15. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-2, सम्पादक : महेन्द्रकुमार, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, मुम्बई, 1941, श्लोक 65 पर टीका
16. दीघनिकाय, भाग-1, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, वासेट्ठसुत्त
17. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त
18. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त, 50
19. जहा पोम्मं जायं, नोवलिप्पइ वारिणा । एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ।।
उत्तराध्ययनसूत्र 25.27
20. उत्तराध्ययनसूत्र, 25.23-26, 28-29
21. धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो, गाथा - 9, 11 एवं 28
22. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिक- सुत्त, गाथा 9
23. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिक-सुत्त, गाथा 2
24. दीघनिकाय भाग-3, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, अग्गञ्ञसुत्त, पृ. 652-653
25. धम्मपद, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, धम्मट्ठवग्गो, गाथा 15
26. दीघनिकाय भाग-3, अग्गञ्ञसुत्त, पृ. 653-654
27. मज्झिमनिकाय, भाग 3-4, बौद्ध भारती, वाराणसी, पृ. 963
28. वही, पृ. 964
29. वही, पृ. 967
30. सनातन हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म, श्यामसुन्दर उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी, 2002, पृ. 60
31. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2000, पर्व 39, पृ. 269
32. द्रष्टव्य, आचारदिनकर, (तीन भाग) हिन्दी अनुवाद : मोक्षरत्नाश्री एवं डॉ. सागरमल जैन, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, उदय 1-40
33. सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधि : ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ।- यशस्तिलकचम्पू 8.34

जैन आगम-परम्परा एवं निगम-परम्परा में अन्तःसम्बन्ध

निगम (वेद) भी शब्द प्रमाण हैं और आगम भी। इनका प्रामाण्य आस्था एवं आप्तता की कसौटी पर निर्भर है । निगम में जहाँ शाश्वत अपौरुषेय ज्ञान सन्निहित है वहाँ आगमों में आप्तवाणी का संचय है । निगम एवं आगम दोनों भारतीय वाङ्मय के प्राण हैं । शैव, शाक्त, वैष्णव आदि परम्पराओं के आगमों का अन्तः सम्बन्ध निगमों से फिर भी सम्भव है, किन्तु श्रमण- परम्परा के आगम एवं त्रिपिटिकों की पूर्णतः पृथक् धारा रही है। श्रमण-परम्परा में निगम अर्थात् वेद का प्रामाण्य मान्य नहीं है । वेद का खण्डन या विरोध भी इनमें मुखर नहीं हुआ है। हाँ, वैदिक संस्कृति में विकृतियों एवं कतिपय मान्यताओं का विरोध श्रमण-परम्परा में हुआ है। श्रमण-परम्परा में अनेक धर्म-दर्शन रहे, किन्तु दो दर्शन सम्प्रति प्रमुख हैं- जैन और बौद्ध। इनमें बौद्ध दर्शन शब्द या आगम का पृथक् प्रामाण्य नहीं मानकर परार्थानुमान में ही उसका समावेश कर लेता है। जैनदर्शन 'शब्द-प्रमाण' के स्थान पर आगम-प्रमाण शब्द का प्रयोग करके अपनी वेदबाह्यता का ख्यापन करता है ।

'निगम' शब्द वेद या श्रुति का वाचक है। **'निःशेषेण कर्मज्ञानोपासनानां गमः यस्मात् स निगमः'** निरुक्ति के अनुसार जिससे ज्ञान, कर्म एवं उपासना का समग्र अवगम हो उसे निगम या वेद कहा गया है। भारतीय परम्परा में शैवागमों, शाक्तागमों एवं वैष्णवागमों को कुछ विद्वान् निगम से पूर्णतः पृथक् निरूपित करते हैं तो कुछ निगम के साथ उन आगमों का सम्बन्ध स्थापित करते हैं।* तन्त्रागमों की धारा को भी इन आगमों का ही अंग माना गया है। किन्तु यहाँ पर जैनागमों एवं निगम में रहे पारस्परिक सम्बन्ध की ही चर्चा की जाएगी।

जैनदर्शन में आगम का स्वरूप

जैन मान्यता है कि तीर्थङ्करों की वह अर्थरूप वाणी जो गणधरों तथा आचार्यों के द्वारा शब्द रूप में गुम्फित है, 'आगम' कहलाती है।[1] वादिदेवसूरि (12 वीं शती) 'आगम' का लक्षण करते हुए कहते हैं- **''आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।**

---

* निगम तथा शैवादि आगमों की परम्पराओं में रहे अन्तःसम्बन्ध को जानने के लिए पठनीय पुस्तक- ''निगम तथा शैव-शाक्त-वैष्णव आगम परम्पराओं का अन्तःसम्बन्ध, संपा. राधावल्लभ त्रिपाठी, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली 2010

उपचारादाप्तवचनं च।''[2] अर्थात् आप्तपुरुष के वचनों से प्रकट होने वाला पदार्थज्ञान आगम है, किन्तु उपचार से आप्त के वचन भी आगम कहे जाते हैं। आप्त पुरुष कौन होता है, इसका लक्षण करते हुए वादिदेवसूरि कहते हैं- ''**अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः।**''[3] अर्थात् जो वस्तु के स्वरूप को जैसा है वैसा जानता है तथा उस ज्ञान के अनुरूप कथन करता है वह आप्त पुरुष होता है। लौकिक एवं लोकोत्तर के भेद से वह आप्त पुरुष दो प्रकार का होता है।[4] माता-पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं तथा तीर्थङ्कर अलौकिक आप्त हैं। इस प्रकार तीर्थङ्करों की अर्थरूप वाणी के आधार पर गुम्फित आगम लोकोत्तर आगम हैं।

तीर्थङ्कर समय-समय पर देशना देते रहे। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर (599-527 ई.पू.) ने जो देशना दी, वह शुद्ध ज्ञानराशि के रूप में प्रवाहित हुई। वह महासमुद्र की भाँति थी। उसमें से गणधरों द्वारा यत्किंचित् ज्ञानराशि का शब्दों में संकलन किया गया, जो अंग आगम के रूप में मान्य है। यह आगमवाणी प्रारम्भ में मौखिक परम्परा से चलती रही, जो काल के थपेड़े में विस्मृति एवं विशृंखलता को प्राप्त होने लगी। उसे सुरक्षित रखने के लिए तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् से 980 वर्ष तक की अवधि में क्रमशः पाटलिपुत्र, खारवेल, मथुरा एवं वलभी में वाचनाएँ हुईं। वर्तमान में उपलब्ध आगम अन्तिम वाचना के अनुरूप हैं। आगमों में आचारांगादि 11 अंग ('दृष्टिवाद' नामक 12 वां अंग अनुपलब्ध), औपपातिक आदि 12 उपांग, दशाश्रुतस्कन्ध आदि 4 छेदसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि 4 मूलसूत्र एवं आवश्यक सूत्र ये 32 आगम श्वेताम्बर स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय में मान्य हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय 10 प्रकीर्णकों, पिण्डनिर्युक्ति एवं दो अन्य छेदसूत्रों महानिशीथ एवं जीतकल्प को मिलाकर 45 आगम मानती है। इन्हें कतिपय अन्य प्रकीर्णकों एवं ग्रन्थों को मिलाकर 84 आगम भी मान्य हैं।[5] दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में आचारांगादि आगमों के नाम तो श्वेताम्बरों की भाँति समान रूप से स्वीकृत हैं, किन्तु वे उन्हें अनुपलब्ध मानते हैं। उनके अनुसार अंग आगमों में 12वें अंग आगम 'दृष्टिवाद' का कुछ अंश षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबन्ध आदि ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम

शती ई.) के समयसार आदि ग्रन्थ तथा तिलोयपण्णत्ति आदि कुछ ग्रन्थ भी आगमवत् स्वीकार्य हैं । परन्तु सम्प्रति 'जैनागम' कहने पर प्रायः श्वेताम्बर जैनागमों को ही गृहीत किया जाता है ।

आगमों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाएँ एवं टब्बे के रूप में व्याख्या-साहित्य भी समुपलब्ध है । जैनागम-वाङ्मय के संवर्द्धन में भद्रबाहु, उमास्वाति, पूज्यपाद देवनन्दी, सिद्धसेनसूरि, समन्तभद्र, भट्ट अकलङ्क, जिनभद्रगणि, जिनदासगणि महत्तर, हरिभद्रसूरि, मलयगिरि, अभयदेवसूरि, हेमचन्द्रसूरि आदि अनेक आचार्यों का महान् योगदान रहा है । दिगम्बर परम्परा भले ही श्वेताम्बर आगमों को मान्य न करती हो, किन्तु स्त्रीमुक्ति, केवलि-भुक्ति सदृश कतिपय बिन्दुओं को छोड़कर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धान्तगत विशेष मतभेद नहीं है।[6] जो भेद है वह प्रायः आचारगत ही अधिक है ।

जैनागम एवं निगम: दो भिन्न धाराएँ

जैन परम्परा का निगमों से सीधा सम्बन्ध खोज पाना कठिन है, क्योंकि दोनों की भिन्न धाराएँ रही हैं । वेद जहाँ प्रवृत्तिप्रधान हैं वहाँ जैनागम निवृत्तिप्रधान हैं । लौकिक अभ्युदय को धर्म का लक्ष्य बनाना जैनागमों को अभीष्ट नहीं है । वेदों का अध्ययन करने पर विदित होता है कि वहाँ लौकिक अभिलाषाओं की पूर्ति एवं अभ्युदय को भी पदे पदे महत्त्व दिया गया है । वहाँ शतायु होने, सन्तान के बलिष्ठ होने, गायों के अधिक दूध देने, वनस्पति के प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होने आदि लौकिक अभ्युदय की भी कामनाएँ की गई हैं।[7] जैनागमों में इस प्रकार की कामनाओं को स्थान नही है । इनमें तो संयम, त्याग एवं तप का विशेष महत्त्व है । गृहस्थ के लिए पाँच अणुव्रतों (प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन-विरमण एवं परिग्रह-परिमाण) की तथा साधु-साध्वियों के लिए पंच महाव्रतों (उपर्युक्त पाँचों के पूर्ण विरमणरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह) की साधना को सर्वोच्च स्थान है । दूसरे शब्दों में कहें तो वेदों में जैविक मूल्यों की भी प्रधानता है, जबकि जैनागमों में आध्यात्मिक मूल्यों को ही मुख्यता दी गई है । इस प्रकार निगम एवं जैन आगमों की दृष्टि में भेद है ।

जैनागम बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अन्तःशुद्धि पर बल प्रदान करते हैं।

उत्तराध्यनसूत्र में धर्म को ह्रद, ब्रह्म को शान्तितीर्थ, अपनी निर्दोष एवं प्रसन्न लेश्या को जल का रूपक प्रदान कर उसमें कृत स्नान को विमलता, विशुद्धता एवं शीतलता का कारण तथा दोष-त्याग का साधन निरूपित किया गया है।[8] जैन श्रमण स्नान एवं विभूषा के पूर्णतः त्यागी होते हैं। गृहस्थ के लिए स्नान एवं विभूषा का त्याग नहीं है, किन्तु वह भी चाहे तो परिमाण कर सकता है।

जैनागमों का नैगमिक निरूपण से एक यह भी भेद है कि जैनागमों में प्राणिमात्र के प्रति आत्मवद्भावपूर्वक संवेदनशीलता को गहरा करने का प्रयत्न किया गया है। वेदों में पृथिवी, अप्, अग्नि, वायु एवं वनस्पति की स्तुति में अनेक सूक्त हैं तथा इन्हें देवता रूप में प्रतिष्ठित कर इनके प्रति आदरभाव स्थापित किया गया है, जो प्राकृतिक पर्यावरण के संरक्षण की दृष्टि से महत्त्व रखता है। जैनागमों में इन्हें सत्य के धरातल पर व्यावहारिक रूप से एकेन्द्रिय जीवों के रूप में प्रतिपादित कर इनकी हिंसा से बचने का सीधा-सीधा उपदेश दिया गया है। आचारांगसूत्र में पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों की हिंसा को अहित एवं अबोधि का सूचक माना गया है[9] तथा प्रशंसा, आदर एवं पूजा के लिए भी हिंसा को उचित नहीं माना गया।[10]

जैनागम पशुबलि को तो अनुचित मानते ही हैं, वनस्पति के फूल-पत्तों को तोड़ने में भी हिंसा का भाव प्रतिपादित करते हैं। आचारांगसूत्र में वनस्पति की मनुष्य से तुलना करते हुए उसमें जीवत्व की सिद्धि की गई है।[11] वेदों में हिंसा के त्याग का उपदेश अवश्य है, किन्तु इतने सूक्ष्म स्तर पर नहीं है। जैनागम तो स्वयं हिंसा करने, दूसरों से कराने तथा करने का अनुमोदन करने को भी त्याज्य निरूपित करते हैं।

इस प्रकार निगम एवं जैन आगमों में दृष्टि का भेद है। दोनों में सम्बन्ध ढूँढना एक कठिन कार्य है तथा यह सीमित क्षेत्र में ही लागू हो सकता है। दोनों में अन्तः सम्बन्ध का एक कारण यह हो सकता है कि निगम एवं जैन आगम दोनों का जन्म भारत में हुआ। जिस धरा पर वेदों का पाठ होता रहा, वेदों के आधार पर यज्ञ एवं समाज-व्यवस्था का निरूपण हुआ, उसी धरा पर जैनधर्म ने अपने प्राण धारण किए। इस कारण दोनों में वैचारिक सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

निगमों की प्रतिध्वनि : जैनागमों में

निगमों एवं जैनागमों में प्रतिध्वन्यात्मक अन्तःसम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। वेद में चर्चित कतिपय बिन्दुओं की जैनागमों में भिन्न दृष्टि से चर्चा हुई है। प्रायः वेद से जैनागमों का विरोध नहीं है। यह तथ्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (7 वीं शती) विरचित विशेषावश्यकभाष्य में तीर्थङ्कर महावीर के साथ 11 गणधरों के संवाद से विदित होता है। सभी गणधर पहले ब्राह्मण थे, जो विद्वानों के समूह के साथ तीर्थङ्कर महावीर से अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करने आए। प्रभु महावीर ने अपने ज्ञान से उनकी जिज्ञासाओं को जाना तथा उनका समाधान करने हेतु वेद वाक्य उद्धृत करते हुए उनमें दृष्ट पारस्परिक विरोध का निराकरण किया और कहा कि तुम वेद के सही स्वरूप को नहीं जानते हो।[12]

'ऊँ' का प्रयोग, यज्ञ का स्वरूप, ब्राह्मण का लक्षण आदि कतिपय विषय जैनागमों में एवं उत्तरवर्ती साहित्य में प्रतिध्वन्यात्मक रूप में चर्चित हुए हैं।

'ऊँ' का प्रयोग

वेदों में निरूपित 'ऊँकार' या 'प्रणव' का प्रयोग उत्तराध्ययनसूत्र के अतिरिक्त जैनागमों में तो नहीं,[13] किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में जैनीकरण के साथ हुआ है। यहाँ 'अ' 'उ' एवं 'म्' तीन अक्षरों से निर्मित 'ऊँ' शब्द ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश का वाचक नहीं, किन्तु प्रसिद्ध 'नमस्कार मन्त्र' में पठित अरिहन्त, असरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि (साधु) के प्रथम अक्षरों के आधार पर निर्मित (अ+अ+आ+उ+म्) 'ऊँ' को अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय एवं मुनि का वाचक माना गया है। ऊँकार का वह पद्य है-

अरिहंता असरीरा, आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पदमक्खरणिप्पणो, ऊँकारो पंचपरमेट्ठी।।[14]

ऊँकार के इस प्रयोग के पश्चात् यह जैन परम्परा का भी अंग बन गया। जैन मंत्रों में 'ऊँ' का भूरिशः प्रयोग हुआ है। मन्त्रराज रहस्य के सूरिमन्त्र में यथा- 'ऊँ नमो जिणाणं।' 'ऊँ नमो ओहिजिणाणं।' 'ऊँ नमो परमोहिजिणाणं।' 'ऊँ नमो अणंतोहिजिणाणं।' आदि। स्तोत्रों में भी ऊँ का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, यथा वज्रपंजर स्तोत्र में -

ऊँ नमो अरहंताणं, शिरस्कं शिरसि स्थितम् ।
ऊँ नमो सव्वसिद्धाणं, मुखे मुखपरं वरम् ।।
ऊँ नमो आयरियाणं अंगरक्षाऽतिशायिनी ।
ऊँ नमो उवज्झायाणं आयुधं हस्तयोर्दृढम् ।।[15]

नमस्कार मंत्र के पाँच पदों को भी कुछ लोग 'ऊँ' लगाकर उच्चारित करते हैं, यथा- 'ऊँ नमो अरहंताणं ।' 'ऊँ नमो सिद्धाणं ।' आदि

यज्ञ का स्वरूप

जैनदर्शन के मूलस्वरूप में यज्ञ एवं हवन का कोई स्थान नहीं है । भारतीय परम्परा में जो यज्ञ प्रचलन में रहा है, वह जैनागमों को स्वीकार्य नहीं है । यज्ञ में पशुबलि के प्रति तो जैनागमों में विरोध के स्वर मुखरित हुए ही हैं, किन्तु यज्ञ के स्वरूप को भी आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है । उत्तराध्ययन सूत्र के 'यज्ञीय' अध्ययन में जयघोष एवं विजयघोष की कथा आती है । ये दोनों भ्राता थे । जयघोष जैन श्रमण बन गया था और विजयघोष पक्का वेदविद् ब्राह्मण था । विजयघोष ने वाराणसी के बाहर उद्यान में एक यज्ञ का आयोजन किया । अकस्मात् संयोग से वहाँ पर ही जयघोषमुनि मासिक उपवास के पारणक के अवसर पर भिक्षा के लिए आ गए । विजयघोष उन्हें अपने भ्राता के रूप में न पहचान सका तथा जैन श्रमण को भिक्षा देने का निषेध करते हुए कहा -" हे भिक्षो! मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूँगा । तुम अन्यत्र जाकर याचना करो । यह सर्वकामित अन्न उन्हीं को दिया जाएगा जो वेदज्ञ ब्राह्मण हैं, यज्ञार्थी हैं, ज्योतिषाङ्ग के वेत्ता हैं, धर्मशास्त्र के पारगामी हैं तथा जो अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं।"[16] जयघोष मुनि इस घटना से न तो रुष्ट हुए और न ही हर्षित हुए, किन्तु उन्होंने वेद, यज्ञ आदि के सही स्वरूप को जानने की प्रेरणा की-

न वि जाणासि वेयमुहं, न वि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ।।[17]

न तो तुम वेद के मुख को जानते हो, न यज्ञों के मुख को जानते हो, न नक्षत्रों के मुख को जानते हो और न धर्मों के मुख को जानते हो । जो अपनी आत्मा का एवं दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हें भी तुम नहीं जानते हो । वह आगे कहता है- "वेदों में अग्निहोत्र की प्रधानता है तथा धर्मों में काश्यप महावीर का धर्म

प्रमुख है"-

अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसां मुहं ।
नक्खत्ताणं मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं ।।[18]

उत्तराध्ययनसूत्र के ही 12 वें अध्ययन में श्रेष्ठयज्ञ का लक्षण आध्यात्मिक रूप में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है-

छज्जीवकाए असमारभंता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं, एयं परिन्नाय चरंति दंता ।।
सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ।।[19]

षड्जीवनिकाय (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) की हिंसा से विरत, मृषा एवं चौर्य का सेवन नहीं करने वाला तथा परिग्रह, स्त्री और मान-माया को भली भांति जानकर इनका परित्याग कर विचरण करता है तथा जो पाँच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह) संवरों से सुसंवृत है, इस जन्म में जीवन की आकांक्षा नहीं करता और शरीर के प्रति आसक्ति का त्याग करता है, पवित्र है तथा देहभाव का त्याग कर चुका है, ऐसा साधु ही कर्म शत्रुओं पर विजय पाने वाला श्रेष्ठ यज्ञ करता है ।

यज्ञ का स्वरूप वैदिक परम्परा में भिन्न है, उसको करने की विधि भी भिन्न होती है, किन्तु जैन परम्परा के अनुसार श्रेष्ठ यज्ञ क्या हो सकता है उसे 'जन्नसिट्ठं' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है । श्रेष्ठ यज्ञ का यह स्वरूप जैन आचार मीमांसा की टकसाल में घड़ा गया है ।

जैनागम बाह्य शुद्धि एवं यज्ञ की अपेक्षा भावशुद्धि एवं सदाचरण को महत्त्व देते हैं तथा कर्म-सिद्धान्त को मुख्यता देते हैं । उत्तराध्ययनसूत्र में सदाचरण एवं कर्म-सिद्धान्त पर बल देते हुए कहा गया है-

पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंति हि ।।[20]

पशुवध विधि के निरूपक वेद तथा पापकर्म से कृत यज्ञ दुश्शील व्यक्ति की रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि कर्म बलवान् है । कर्म के अनुसार फल प्राप्ति होती है

सत्कर्म करने वाले को शुभ फल एवं पापकर्म करने वाले को अशुभ फल की प्राप्ति होती है।[21] व्यक्ति का भीतरी भाव कैसा है तथा आचरण कैसा है, इस पर ही फल की प्राप्ति निर्भर है।

उत्तराध्ययनसूत्र के 12 वें अध्ययन में यज्ञ का प्रतीकात्मक स्वरूप निरूपित है, जहाँ तप को अग्नि, जीव को अग्निकुण्ड, मन, वचन एवं काया को कुडछी, शरीर को कण्डे, शुभाशुभ कर्म को समिधा, संयम को शान्तिपाठ एवं प्रशस्त चारित्र को होम कहा है।[22]

उत्तराध्ययनसूत्र के 14 वें इषुकारीय अध्ययन में भृगु राजपुरोहित के पुत्र श्रमणदीक्षा अंगीकार करने के पूर्व अपने पिता से कहते हैं-

वेया अहीया न भवंति ताणं।
भुत्ता दिया निंति तमंतमेणं।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं।
को णाम ते, अणुमन्नेज्ज एयं।।[23]

अधीत वेद शरणभूत नहीं होते, ब्राह्मणों को भोजन कराकर भी कोई तमस्तम नरक में जा सकते हैं, पत्नी और पुत्र कोई शरणभूत नहीं होते हैं, इसलिए हे पितृवर्य! आपके वचन का अनुमोदन नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है कि व्यक्ति के सद्भाव एवं सदाचरण से ही मुक्ति का पथ प्रशस्त होता है। जैनागमों का प्रतिपादन बाह्य क्रियाकाण्ड की अपेक्षा भावशुद्धि एवं आचरण शुद्धि को महत्त्व प्रदान करता है।

वर्णव्यवस्था एवं ब्राह्मण का स्वरूप

जैनागम सभी मनुष्यों को समानता एवं स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान करते हैं। विभिन्न वर्णों एवं जातियों के आधार पर मनुष्य की उच्चता और निम्नता को महत्त्व न देकर वह सबके लिए मोक्ष के द्वार खुले रखता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कोई भी क्यों न हो, मोक्ष-प्राप्ति के लिए संयम अंगीकार कर सकता है, प्रव्रज्या का पथ अपना सकता है। बौद्ध एवं जैन दोनों श्रमणधर्मों में इस दृष्टि से समानता है। हरिकेशी चाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे लोग भी जैनधर्म में दीक्षित होकर श्रमण बने। भगवान महावीर ने वर्ण, जाति एवं रंग के स्थान पर गुणों एवं साधना

को महत्त्व दिया । ऐसा प्रतीत होता है कि गुण एवं कर्म के आधार पर जो वर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई थी, वह तीर्थङ्कर महावीर के काल में आते-आते जाति-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गई थी । उत्तराध्ययनसूत्र में 'जाइविसेसे' (जाति विशेष) शब्द इस तथ्य को इंगित करता है-

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो ।
न दीसइ जाइविसेस कोई ।।[24]

तप विशेष का प्रभाव साक्षात् दिखाई पड़ता है, जाति विशेष का नहीं । जाति से शूद्र हरिकेशी चाण्डाल ने जैन श्रमण प्रव्रज्या अंगीकार की थी । भिक्षा के लिए वह यज्ञस्थल पर गया तो ब्राह्मणों द्वारा भिक्षा देने का निषेध किया गया । यही नहीं, मुनि को लाठी और कोडों से पीटकर भगाया गया, किन्तु मुनि के तप का अद्भुत प्रभाव परिलक्षित हुआ और अन्त में सभी ब्राह्मण उस मुनि के समक्ष नतमस्तक हो गए।[25]

'ब्राह्मण' का स्वरूप क्या हो, इस पर उत्तराध्ययनसूत्र का 25 वां अध्ययन प्रकाश डालता है । वहाँ 11 गाथाओं में ब्राह्मण का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, जो श्रमण के स्वरूप के तुल्य ही प्रतीत होता है, यथा- " जो किसी वस्तु के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होते हैं और न उसके चले जाने पर शोक करते हैं, जो आर्यवचन में रमण करते हैं, जो भय, राग-द्वेष से रहित हैं वे ब्राह्मण हैं । जो तपस्वी, दान्त और कृशतनु हैं, जो सुव्रत हैं तथा शान्त-स्वभावी हैं उनको हम ब्राह्मण कहते हैं । जो त्रस और स्थावर प्राणियों की मन, वचन एवं काया से हिंसा नहीं करता, जो क्रोध, हास्य, भय और लोभ से मिथ्यावचन नहीं कहता, उस सत्यवचन के वक्ता को हम ब्राह्मण कहते हैं । जो अदत्तादान का त्यागी है, दिव्य, मानुष और पशु के साथ मैथुन सेवन नहीं करता वह ब्राह्मण है ।[26] जैसे जल में उत्पन्न कमल जल के मल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो कामों से अलिप्त है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।[27] जो अलोलुप एवं मुधाजीवी है, जिसने घर कांचन का त्याग कर दिया है तथा जो गृहीजनों में आसक्त नहीं है वह ब्राह्मण है।"[28]

ब्राह्मण का जो लक्षण उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध है वैसा बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में भी मिलता है,[29] किन्तु किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता । मनुस्मृति आदि ग्रन्थों

में अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन आदि को ही ब्राह्मण का लक्षण कहा गया है, जिसका सम्बन्ध आन्तरिक शुद्धि से उतना नहीं है, जितना बाह्य कर्त्तव्यों से।

उत्तराध्ययनसूत्र के 12 वें अध्ययन में सोमदेव के द्वारा यक्ष को कहा गया है-

कोहो य माणो य वहो य जेसिं
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाई-विज्जाविहूणा
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं।।[30]

जो क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चौर्य और परिग्रह से युक्त हैं वे ब्राह्मण जाति एवं विद्या से हीन हैं।

तुब्भेऽथ भो! भारधरा गिराणं,
अट्ठं न जाणह अहिज्ज वेए।[31]

वे ब्राह्मण तो वाणी का भार लिए घूमते हैं। वेदों को पढ़कर भी उनका अर्थ नहीं जानते हैं। इस प्रकार जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में ब्राह्मण को एक उच्च चरित्रवान् व्यक्ति के रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है। वेदों को पढ़कर उनका अर्थ जानने तथा उस अर्थ के अनुरूप आचरण करने की प्रेरणा की गई है।

जैनागमों में वर्ण-व्यवस्था का निरूपण नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में जैनाचार्यों ने वर्ण-व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया है। जिनसेनाचार्य (9वीं शती) के आदिपुराण में उल्लेख है कि आदि तीर्थङ्कर ऋषभेदव ने क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों की रचना की तथा उनके पुत्र भरत ने ब्राह्मण वर्ण की रचना की।[32] इस प्रकार आदि पुराण में चारों वर्णों का उल्लेख है। इसके पश्चात् आशाधर (13 वीं शती) के सागारधर्माभूत एवं सोमदेव सूरि के यशस्तिलकचम्पू में भी चार वर्णों का कथन है।

दूसरी ओर 11 वीं शती के दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने वेद के मन्त्र "**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।**" का निरसन करते हुए कहा है- ब्रह्म ब्राह्मण है या नहीं? यदि ब्रह्म ब्राह्मण नहीं है तो उससे ब्राह्मण का जन्म कैसे हो सकता है ? जो मनुष्य नहीं है उससे मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म ब्राह्मण है तो वह सभी अंगों से ब्राह्मण है या मात्र मुख से ब्राह्मण है ? यदि वह सभी अङ्गों से ब्राह्मण है तो विश्व के सभी प्राणी

उसके अंगो से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण कहे जायेंगे। यदि ब्रह्म मात्र मुखप्रदेश पर ब्राह्मण है तो उसके शरीर के अन्य अंग शूद्र होने से ब्रह्म के चरणों में ब्राह्मणों को अपना सिर नहीं झुकाना चाहिए।"[33]

नैगमिक आगमों का जैन उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव

शैवागमों, वैष्णवागमों, शाक्तागमों अथवा तन्त्रागमों का प्रभाव जैन उत्तरवर्ती साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। जैन स्तोत्र-साहित्य हो अथवा तन्त्र, मन्त्र एवं यन्त्र से सम्बद्ध साहित्य, सर्वत्र अन्य नैगमिक आगमों अथवा स्वतन्त्र तन्त्रागमों का प्रभाव दिखाई देता है। जैन स्तोत्र-साहित्य में जैन परम्परा के शब्दों के प्रयोग के साथ शिव, विष्णु, ब्रह्म आदि के पर्यायवाची शब्दों का भी भरपूर प्रयोग हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि जैन स्तोत्रकार आदिनाथ की शिव शब्द से स्तुति करते हुए भी उन्हें बाह्य शक्ति से युक्त प्रतिपादित नहीं करते हैं, वे उसे कल्याणकारी, मंगलकारी अर्थ में ही ग्रहण करते हैं।

यहाँ तीर्थङ्कर के विशेषण रूप में प्रयुक्त वैदिक शब्दों तथा तन्त्र, मन्त्र एवं यन्त्र साहित्य से सम्बद्ध चर्चा की जाएगी।

तीर्थङ्कर के विशेषण: वैदिक-परम्परा के शब्द

प्राकृतभाषा में जहाँ तीर्थङ्करों को लोक का उद्द्योतकर, धर्मतीर्थ का प्रवर्तक, स्वयंसम्बुद्ध, पुरुषोतम, पुरुषसिंह, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहित, लोकप्रदीप, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गप्रदाता, शरणदाता आदि विशेषणों से व्याख्यायित किया गया है[34] वहाँ आगे चलकर संस्कृत स्तोत्रों में उनके साथ वे सारे विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जो ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के साथ प्रयुक्त हुए हैं। विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र की तर्ज पर 'जिनसहस्रनाम स्तोत्र' की भी रचना हुई है। पूज्यपाद देवनन्दी समाधितन्त्र में तीर्थङ्कर के विशेषणों का प्रयोग करते हुए कहते हैं-

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति, परमात्मेश्वरो जिनः॥
जयन्ती यस्यावदतोऽपि भारती, विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे, जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥[35]

इन श्लोकों में प्रयुक्त अव्यय, परात्मा, ईश्वर, शिव, धाता, विष्णु, सकलात्मा

आदि शब्द वैदिक परम्परा के साथ जैन परम्परा का तादात्म्य प्रकट करते हैं, किन्तु पूज्यपाद ने इन शब्दों का प्रयोग जैन परम्परा के अनुसार अभिप्राय ग्रहण कर किया है। वहाँ सिद्ध अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, इसलिए अव्यय हैं, वे श्रेष्ठ आत्मा हैं इसलिए परात्मा हैं, वे अनन्तवीर्यवान् हैं इसलिए ईश्वर हैं। अरिहन्त कल्याणकारी हैं इसलिए शिव हैं, वे अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के धारक हैं अतः धाता हैं, उनका स्वरूप व्यापनशील है, उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोकव्यापी हो सकते हैं अतः वे विष्णु हैं, वे संसार के आवागमन से मुक्त हैं अतः अपने पूर्ण स्वरूप में स्थित होने से सकलात्मा हैं।

सिद्धसेनसूरि की वर्द्धमान द्वात्रिंशिका के निम्नांकित श्लोक नैगमिक परम्परा के साथ जैनों के अन्तः सम्बन्ध को द्योतित करते हैं-

त्रिकाल-त्रिलोक-त्रिशक्ति-त्रिसन्ध्य-
त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः।
यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि वन्द्रे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।[36]
समुत्पत्ति-विध्वंस-नित्यस्वरूपा
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम्।
हरत्वं हरित्वं प्रपेदे स्वभावैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।[37]

परमात्मा जिनेन्द्र की स्तुति में त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिशक्ति, त्रिसन्ध्या, त्रिवर्ग, त्रिदेव, हर, हरि आदि शब्दों का प्रयोग नैगमिक परम्परा के साथ अन्तः सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

जैन परम्परा में रचित स्तोत्रों में प्रायः तीर्थङ्करों की स्तुति प्रमुख रही है। तीर्थङ्कर राग-द्वेष से पूर्णतः रहित होने के साथ स्त्री एवं शस्त्र से भी विरहित होते हैं। इसलिए भगवान महावीर की स्तुति में सिद्धसेनसूरि कहते हैं-

न गौरी न गंगा न लक्ष्मीर्यदीयं,
वपुर्वा शिरो वाप्युरो वा जगाले।
यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।[38]

न हास्यं न लास्यं न गीतादि यस्य ।
न नेत्रे न गात्रे न वक्त्रे विकारः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।[39]

तीर्थङ्कर महावीर के न गौरी है, न गंगा है और न कोई लक्ष्मी है जो उनके शरीर, शिर या छाती से आलिंगन करती हो । इच्छा से विमुक्त उनको तो शिवश्री वरण करती है, वही परमात्मा जिनेन्द्र मेरे शरण्य हैं । न उनके शूल है, न धनुष है, न हाथ में चक्र आदि हैं, न हास्य है, न लास्य है, न गीत आदि हैं, न नेत्र में विकार है, न शरीर में और न मुख पर । ऐसे परमात्मा जिनेन्द्र ही मेरे शरण्य हैं । इस प्रकार वैदिक परम्परा के शिव से तीर्थङ्कर महावीर का शिव स्वरूप भिन्न है ।

अर्हत् तीर्थङ्कर 18 दोषों से रहित होते हैं, वे दोष हैं- 1. जुगुप्सा 2. भय 3. अज्ञान 4. निद्रा 5. अविरति 6. काम 7. हास्य 8. शोक 9. द्वेष 10. मिथ्यात्व 11. राग 12. रति 13. अरति 14. दानान्तराय 15. लाभान्तराय 16. भोगान्तराय 17. उपभोगान्तराय 18. वीर्यान्तराय ।[40]

यक्ष-यक्षियों एवं देव-देवियों को स्थान

जैनागमों में किसी भी तीर्थङ्कर के किसी यक्ष एवं यक्षी का विवेचन नहीं मिलता है, किन्तु उत्तरवर्ती वाङ्मय में प्रत्येक तीर्थङ्कर के साथ यक्ष एवं यक्षी को योजित किया गया है । यह वैदिक प्रभाव तो है ही, नैगमिक आगमों का प्रभाव भी है । प्रत्येक तीर्थङ्कर के यक्ष एवं यक्षियों के नाम इस प्रकार हैं[41]-

	तीर्थंकर	यक्ष	यक्षी
1.	ऋषभदेव	गोमुख	चक्रेश्वरी, अप्रतिचक्रा
2.	अजितनाथ	महायक्ष	अजिता, रोहिणी
3.	सम्भवनाथ	त्रिमुख	दुरितारी, प्रज्ञप्ति
4.	अभिनन्दन	यक्षेश्वर	कालिका, वज्रशृंखला
5.	सुमतिनाथ	लुम्बरु	महाकाली, पुरुषदत्ता
6.	पद्मप्रभ	कुसुम, पुष्प	अच्युता, मानसी
7.	सुपार्श्वनाथ	मातंग	शान्ता, काली

8.	चन्द्रप्रभ	विजय, श्याम	भृकुटि, ज्वाला, ज्वालिनी
9.	सुविधिनाथ	अजित, जय	सुतारा, महाकाली
10.	शीतलनाथ	ब्रह्म	अशोक, मानवी
11.	श्रेयांसनाथ	ईश्वर, यक्षराज	मानवी, श्रीवत्सा, गौरी
12.	वासुपूज्य	कुमार	चण्डा, प्रचण्डा, चन्द्रा, गान्धारी
13.	विमलनाथ	षण्मुख, चतुर्मुख	विदिता, वैरोटी
14.	अनन्तनाथ	पाताल	अंकुशा, अनन्तमती
15.	धर्मनाथ	किन्नर	कन्दर्पा, पन्नगा, मानसी
16.	शान्तिनाथ	गरुड़	निर्वाणी, महामानसी
17.	कुंथुनाथ	गन्धर्व	कला
18.	अरनाथ	यक्षेन्द्र, यक्षेश्वर	धारणी, तारावती
19.	मल्लिनाथ	कुबेर	वैरोट्या, धरणप्रिया, अपराजिता
20.	मुनिसुव्रत	वरुण	नरदत्ता, वरदत्ता, बहुरूपिणी
21.	नमिनाथ	भृकुटि	गांधारी, चामुण्डा
22.	नेमिनाथ/ अरिष्टनेमि	गोमेध	अम्बिका, कुष्माण्डी, कुष्माण्डि
23.	पार्श्वनाथ	पार्श्व, वामन, धरण	पद्मावती
24.	महावीर	मातंग	सिद्धायिका, सिद्धायिनी

यक्ष-यक्षियों का यह उल्लेख जैन धर्म पर वैदिक आगमों का प्रभाव है । जैनागम समवायांगसूत्र (चतुर्थ-पंचम शती) में तीर्थंकरों, उनके माता-पिता, जन्म, नगर, चैत्यवृक्ष आदि का तो उल्लेख है, किन्तु उनके यक्ष-यक्षियों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है । यक्ष-यक्षियों का श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम उल्लेख कहावली (11 वीं-12 वीं शती) और प्रवचनसारोद्धार (14 वीं शती) में प्राप्त होता है । दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ति (6-7 वीं शती) ग्रन्थ में यक्ष-यक्षियों का कथन हुआ है, जिसे विद्वज्जन प्रक्षिप्त मानते हैं । यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों के

सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं- "यद्यपि चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि के अंकन और स्वतन्त्र मूर्तियाँ लगभग नवीं शताब्दी में मिलने लगती हैं, किन्तु 24 तीर्थङ्करों के 24 यक्षों एवं 24 यक्षियों की स्वतन्त्र लाक्षणिक विशेषताएँ लगभग 11 वीं-12 वीं शती में ही निर्धारित हुई हैं । यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों के लक्षणों का उल्लेख इस काल के त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, प्रतिष्ठा सारसंग्रह, निर्वाणकलिका आदि कई ग्रन्थों में मिलता है । इनमें यक्ष-यक्षियों की चर्चा जिन शासन रक्षक देवता के रूप में मिलती है ।"[42]

जैन परम्परा में ऐहिक अभिलाषा के लिए याचना का निषेध किया गया है, क्योंकि इससे मुक्ति की साधना का पक्ष कमजोर पड़ जाता है, किन्तु जिनशासन रक्षक यक्ष-यक्षियों के प्रचलन में आने के पश्चात् ऐहिक कामनाओं की पूर्ति हेतु उनसे याचना भी प्रारम्भ हुई एवं यह माना गया कि अपनी एवं तीर्थङ्करों की पूजा-उपासना से प्रसन्न होकर ये यक्ष-यक्षियाँ श्रद्धालु-भक्तों की शारीरिक, भौतिक आदि संकटों से त्राण तो दिलाती ही हैं, उनकी मनःकामनाओं को भी पूर्ण करती हैं ।

जैनागमों में मणिभद्र, पूर्णभद्र, तिन्दुक आदि यक्षों और बहुपुत्रिका नामक यक्षी का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनकी उपासना को जैनधर्म की ओर से वैधता प्रदान नहीं की गई थी, यक्ष-यक्षियों की पूजा-उपासना को वैधता तभी मिली जब इन्हें तीर्थङ्करों के शासन रक्षक देव-देवियों के रूप में महत्त्व मिला । चौबीस यक्षियों में पद्मावती की सर्वाधिक पूजा होती है । इसके पश्चात् अम्बिका और चक्रेश्वरी का स्थान है । यक्षों में मणिभद्र का सर्वोच्च स्थान है ।

इसमें सन्देह नहीं कि जैन परम्परा में यक्षियों की मान्यता पर तन्त्रागमों का प्रभाव है, क्योंकि तांत्रिक हिन्दू परम्परा की यक्षियों के अनेक नाम जैन परम्परा में ज्यों के त्यों गृहीत हो गए हैं, यथा- चक्रेश्वरी, काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, गौरी, गान्धारी, चामुण्डा, अम्बिका, पद्मावती आदि ।

जैन परम्परा में श्रुतदेवी के रूप में सरस्वती की उपासना ईसा की प्रथम द्वितीय शती से प्रारम्भ हो गई थी । आदि मंगल के रूप में श्रुतदेवता की स्तुति की जाती रही है तथा जैनाचार्यों ने सरस्वती की स्तुति में अनेक स्तोत्रों की रचना की है ।

सरस्वती की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें मथुरा से प्राप्त मूर्ति को प्रथम शती का माना गया है। मथुरा के अतिरिक्त पल्लू-बीकानेर और लाडनूँ जैन सरस्वती की प्रतिमाएँ भी अपने शिल्प-सौष्ठव की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं।

जैनागमों में देवयोनि के देवों को चार प्रकार का माना गया है- भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इनके फिर अनेक उप प्रकार हैं, किन्तु ये सब उपास्य देव नहीं हैं। उपासना की दृष्टि से यक्ष-यक्षियों एवं सरस्वती के अतिरिक्त क्षेत्रपालों, दिक्पालों, नवग्रहों, कामदेवों, नारदों और रुद्रों को स्थान मिला है। क्षेत्रपालों के रूप में भैरवों की उपासना आज भी प्रचलित है। नाकोड़ा भैरव उनमें से एक है।

निवृत्तिप्रधान जैनधर्म में यक्ष-यक्षियों एवं देव-देवियों की पूजा उपासना तन्त्रागमों अथवा वैदिक परम्परा का प्रभाव है। इसे कुछ अंशों में बौद्धों का प्रभाव भी माना जा सकता है, क्योंकि उनमें भी इस प्रकार के देव-देवियों एवं तंत्रों का विकास हो रहा था। किन्तु वैदिक तन्त्रागमों का प्रभाव ही विशेष ज्ञात होता है, क्योंकि नामों का साम्य वैदिक परम्परा से अधिक प्रतीत होता है।

मन्त्र, तन्त्र एवं यन्त्र का प्रयोग

वेद के पद्यों को मन्त्र कहा जाता है। इस 'मंत्र' शब्द का प्रयोग जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम 'नमस्कार सूत्र' के लिए किया गया। उसे 'नमस्कार मंत्र' के रूप में प्रतिष्ठा मिली तथा इस मंत्र को सब पापों का नाशक प्रतिपादित किया गया।[43] नमस्कार मंत्र में पाँच पदों को नमन है- "नमो अरहंताणं (अरिहंताणं), नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं।" इस नमस्कार मंत्र की चूलिका में इसका महत्त्व प्रतिपादित है - "एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।" ये पाँच नमस्कार सब पापों के नाशक हैं तथा सभी मंगलों में प्रधान मंगल हैं।

नमस्कार मन्त्र के पश्चात् जैन परम्परा में अनेक मंत्रों का निर्माण हुआ जिसे नैगमिक एवं तन्त्रागमिक प्रभाव माना जा सकता है। नमस्कार मन्त्र से सम्बन्धित भी अनेक मन्त्र हैं। कुछ संक्षिप्त मन्त्र इस प्रकार हैं- **ॐ। ॐ अर्हं। नमो असिआउसाय। नमो अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः।** सिंहनन्दी विरचित

पंचनमस्कृति दीपक में नमस्कार मंत्र से सम्बद्ध अनेक मन्त्र हैं, यथा- केवलिविद्या, अङ्गन्यास, अपराजिता विद्या, परमेष्ठिबीजमन्त्र आदि।

मंत्रों का प्रयोग 6 कार्यों में होता रहा है- मारण, मोहन, उच्चाटन, आकर्षण, स्तम्भन और वशीकरण। इनमें से जैनाचार्यों ने प्रायः आकर्षण, स्तम्भन और वशीकरण से सम्बद्ध मन्त्रों की ही रचना की है, मारण मोहन और उच्चाटन से वे दूर ही रहे हैं। जैन परम्परा के मन्त्रों में 'ॐ' का प्रयोग तो हुआ ही है, विभिन्न मातृका पदों अथवा बीजाक्षरों का भी प्रयोग हुआ है, यथा- ह्रीं, श्रीं, क्लीं, क्रां, ब्लुं आदि।

जैन परम्परा में प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में मन्त्रों की रचना हुई है। प्राकृत मन्त्रों में इष्टदेव के रूप में पंच परमेष्ठी या तीर्थङ्करों को उपास्य बनाया गया है। मन्त्रों की रचना के तीन प्रकार मिलते हैं, यथा- 1. एक वे मन्त्र जो मूलतः आध्यात्मिक हैं, जिनमें किसी प्रकार की लौकिक कामना की पूर्ति लक्ष्य नहीं हैं। इस प्रकार के मंत्रों में मुख्यतः नमस्कार मंत्र से सम्बद्ध मंत्र आते हैं। 2. दूसरे प्रकार के वे मंत्र हैं जिनका मूलस्वरूप तान्त्रिक परम्परा से गृहीत है, किन्तु वे जैन दृष्टिकोण से विकसित हैं, उदाहरणार्थ-

"ॐ नमो अरिहो भगवओ अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-सव्वसंघ धम्मतित्थपवयणस्स।"

"ॐ नमो भगवईए सुयदेवयाए संतिदेवयाए सव्वदेवयाणं दसण्हं दिसापालाणं पंचण्हं लोकपालाणं ठः ठः स्वाहा।"

3. तृतीय प्रकार में वे मन्त्र सम्मिलित हैं जो मूलतः तान्त्रिक परम्परा के हैं तथा जिन्हें जैनों ने केवल देवता आदि का नाम बदलकर अपना लिया है। उदाहरणार्थ-

"ॐ नमो भगवति ! अम्बिके ! अम्बालिके ! यक्षिदेवी ! यूं यौं ब्लैं ह्स्वलीं ब्लूं हसौ र रं र रां रां नित्य मदनद्रवे मदनातुरे ! ह्रीं क्रों अमुकां दश्याकृष्टिं कुरु कुरु संवौषट्।"[44]

जैन वाङ्मय में मन्त्रों को विषय कर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, यथा- सिंहनन्दि द्वारा पंचनमस्कृतिदीपक, वज्रस्वामी द्वारा वर्धमानविद्या, मन्त्रराजरहस्य, सूरिमंत्र, मंगलम् आदि।

जैन परम्परा में तन्त्रागमों के प्रभाव से अनेकविध मन्त्रों का समावेश हुआ, यथा-अग्निस्तम्भनमन्त्र, दुष्टजनस्तम्भनमन्त्र, शत्रुसेनास्तम्भनमन्त्र, स्त्री-आकर्षण सम्बन्धी मन्त्र, वशीकरण मन्त्र, सर्पदंशजनितविषापहार मन्त्र, तस्करभयहर मन्त्र, बन्दिविमोचन मन्त्र, व्याल-वृश्चिक-मूषकादिदूरीकरण मन्त्र, ग्रहशान्ति मन्त्र, परिवाररक्षामन्त्र, बुद्धिवर्धकमंत्र ऐश्वर्यदायक मन्त्र, रोगनिवारक मन्त्र, भूतप्रेतादिनिवारण मन्त्र आदि।

इन मन्त्रों में तन्त्र का प्रयोग साथ ही योजित है। तन्त्र की दृष्टि से सिंहतिलकसूरि के मन्त्रराजरहस्य, जिनप्रभसूरि के विधिमार्ग प्रपा, मल्लिषेणसूरि के भैरवपद्मावतीकल्प और आचार्य कुंथुसागर के लघुविद्यानुवाद का नाम उल्लेखनीय है। तन्त्र को यदि आध्यात्मिक विकास की साधना माना जाए तो उसका स्वरूप तो आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमों में समुपलब्ध है, किन्तु जब इसे लौकिक एषणाओं की पूर्ति के साथ जोड़ा जाता है तो उवसग्गहरस्तोत्र, भक्तामरस्तोत्र, विषापहारस्तोत्र ज्वालामालिनी कल्प, निर्वाण कलिका, एकीभावस्तोत्र, प्रतिष्ठातिलक, सूरिमन्त्रकल्प आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। नमिऊण स्तोत्र, नमस्कार मंत्रस्तव आदि भी तान्त्रिक स्तोत्र हैं।

तन्त्र, मन्त्र के साथ यन्त्रों का प्रयोग भी जैन परम्परा में पर्याप्त रूप से दृग्गोचर होता है। ज्यामितीय आकृतियों में निर्मित यन्त्रों में विविध मन्त्र, बीजाक्षर एवं संख्याएँ निश्चित क्रम में अंकित रहते हैं। यन्त्रों को लौकिक कामनाओं के लिए या तो धारण किया जाता है या फिर उनका पूजन किया जाता है। बीजाक्षर एवं मन्त्रों से युक्त यन्त्रों में ऋषिमण्डल, परमेष्ठिविद्यामंत्र आदि प्रसिद्ध हैं। मात्र संख्याओं से युक्त यन्त्रों में नमस्कारमन्त्र की आनुपूर्वी, पैंसठिया यन्त्र आदि प्रसिद्ध हैं। जिन्हें धारण किया जाता है वे धारण यन्त्र तथा जिन्हें पूजा जाता है वे पूजायन्त्र कहे जाते हैं। भक्तामरस्तोत्र एवं कल्याणमन्दिर स्तोत्र के आधार पर अनेक यन्त्र बने हैं।[45]

जिनेन्द्रवर्णी के जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में 48 यन्त्रों का संग्रह चित्रों सहित किया है, यथा- अंकुरार्पण यन्त्र, अग्निमण्डल यन्त्र, अर्हन्मण्डल यन्त्र, ऋषिमण्डल यन्त्र, कर्मदहनयन्त्र, कुल यन्त्र, गणधरवलय यन्त्र, चिन्तामणि यन्त्र आदि।

इस प्रकार मंत्र, तंत्र एवं यन्त्र प्रयोग जैन परम्परा में नैगमिक आगमों और

तन्त्रागमों की देन है । इनका प्रयोग जैन धर्म-दर्शन की मूल भावना के अनुरूप नहीं है ।

भक्ति तत्त्व : स्तोत्र एवं जप

कर्मसिद्धान्त में विश्वास रखने वाली जैन परम्परा में सिद्धों एवं तीर्थङ्करों की भक्ति तो प्रारम्भ से रही, किन्तु बाद में स्तोत्र रचना को जो गति मिली उसमें वैदिक परम्परा के तत्त्वों का भी समावेश होता गया । जैन स्तोत्र प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में रचे गए । समन्तभद्र (पांचवी शती) एवं सिद्धसेनसूरि (पांचवी शती) के द्वारा रचित स्तोत्र प्रारम्भिक संस्कृत स्तोत्र हैं, जिनमें तीर्थङ्करों की स्तुति के साथ अन्य दर्शनों का निरसन भी है, किन्तु बाद में ऐसे भी स्तोत्र रचे गए जिनका लौकिक प्रभाव भी स्वीकार किया गया । मानतुंगाचार्य का भक्तामरस्तोत्र इस कोटि में आता है ।

नाम जप, माला जप आदि का प्रयोग भी जैन परम्परा में वैदिक प्रभाव के परिणाम हैं ।

ऐसा नहीं है कि जैन परम्परा में भक्ति का समावेश नहीं था । प्राकृत के 'नमोत्थुणं', 'लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव)[46] आदि पाठ भक्ति को स्पष्ट करते हैं, तथापि इसका विशेष प्रयोग वैदिक परम्परा के कारण प्रचलित हुआ। अष्ट द्रव्य पूजा, यज्ञोपवीत आदि का प्रयोग भी वैदिक किं वा हिन्दू संस्कृति का प्रभाव है।

उपसंहार

इसमें सन्देह नहीं कि निगम और जैनागम दोनों पृथक् धाराएँ हैं, तथापि दोनों में कहीं न कहीं अन्तः सम्बन्ध भी प्रकट होता है । 'ॐ' का प्रयोग, यज्ञ का स्वरूप आदि बिन्दुओं ने जैन-चिन्तकों को प्रभावित किया । एक ऐसा जैन आगम भी है, जिसमें नारद, मंखलिपुत्र, रामपुत्र, अंबड, द्वीपायन आदि विविध परम्पराओं के ऋषियों के वचन प्राकृत भाषा में संकलित हैं, इस आगम का नाम है- इसिभासियाइं। संस्कृत में इसे ऋषिभाषित कहा जाता है । यह आगम निगमों के साथ जैनागमों की निकटता को स्पष्ट करता है ।

उत्तराध्ययन सदृश आगमों में नैगमिक परम्पराएँ प्रतिध्वनित हुई हैं तो उत्तरवर्ती जैन वाङ्मय में उन परम्पराओं को अपने ढाँचे में आत्मसात् भी किया

गया है। यंत्र, मंत्र, तंत्र का प्रयोग हो या नाम, जप आदि का, ये नैगमिक परम्पराएँ जैन वाङ्मय में बाद में ही आई हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो जैन आगमों ने जो साधना का मार्ग प्रशस्त किया है वह लौकिक अभ्युदय को नहीं, आध्यात्मिक उन्नयन को लक्ष्य करता है। सामाजिक परम्पराओं की दृष्टि से जैनागमों में वही संस्कृति चित्रित है जिसे हम वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति कहते हैं।

सन्दर्भः-

1. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
2. प्रमाणनयतत्त्वालोक, 4.1-2
3. प्रमाणनयतत्त्वालोक, 4.4
4. स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, 4.6
5. आगमों के विवरण हेतु द्रष्टव्य, जिनवाणी, जयपुर, जैनागम विशेषाङ्क, 2002
6. षट्खण्डागम में मनुष्यिणी में 14 गुणस्थान स्वीकार किए गए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा में भी स्त्रीमुक्ति स्वीकृत रही है। यदि दिगम्बर ऐसा नहीं मानते हैं तो डॉ. सागरमल जैन के अनुसार यह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध होता है। द्रष्टव्य, जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1996, पृष्ठ 101
7. उदाहरण के लिए द्रष्टव्य-ऋग्वेद 2.33 के रुद्रसूक्त के मन्त्र 1 एवं 2
8. उत्तराध्ययनसूत्र 12.45-47
9. तं से अहिताए तं से अबोधीए।- आचारांगसूत्र 1.1.2-5 उद्देशक में
10. इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण।-माणण-पूयणाए।- आचारांगसूत्र 1.1.2-5 उद्देशक में
11. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, पंचम उद्देशक
12. विशेषावश्यक भाष्य, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, भाग-2, गणधरवाद प्रकरण
13. जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र की निम्नांकित गाथा में ओंकार शब्द प्रयुक्त हुआ है, अन्यत्र नहीं
    न वि मुण्डिएण समणो, न **ओंकारेण** बम्भणो।
    न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो।।- उत्तराध्ययन सूत्र, 25.31
14. बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका में उद्धृत प्राचीन गाथा
15. वज्रपंजरस्तोत्र, श्लोक 2-3
16. समुवट्ठियं तहिं संतं, जायगो पडिसेहए।
    न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ।।

जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया ।
जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ।।
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू ! सव्वकामियं ।।-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 25, गाथा 6-8

17. उत्तराध्ययनसूत्र 25.11
18. उत्तराध्ययनसूत्र, 25.30
19. उत्तराध्ययनसूत्र, 12.41-42
20. उत्तराध्ययनसूत्र, 25.30
21. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवन्ति । - औपपातिकसूत्र, 56
22. तवो जोइ जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजम जोग संती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ।।- उत्तराध्ययनसूत्र, 12.44
23. उत्तराध्ययनसूत्र, 14.12
24. उत्तराध्ययनसूत्र, 12.37
25. द्रष्टव्य, उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 12
26. उत्तराध्ययनसूत्र, 25.20-26
27. जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ।।- उत्तराध्ययनसूत्र, 25.27
28. उत्तराध्ययनसूत्र, 25.28-29
29. धम्मपद के ब्राह्मणवग्गो में 41 गाथाओं में ब्राह्मण का स्वरूप वर्णित हुआ है। यहाँ पर दो गाथाएँ उद्धृत हैं-
यस्स कायेन वाचा य मनसा नत्थि दुक्कतं ।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। - धम्मपद, बाह्मणवग्गो, गाथा 9
जिसके मन, वचन और शरीर से दुष्कृत (पाप) नहीं होते, जो इन तीनों स्थानों से संवरयुक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।
वारि पोखरपत्तेव आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। - धम्मपद, बाह्मणवग्गो, गाथा 19
तालाब में कमल के पत्ते पर जल तथा आरे की नोंक पर सरसों की भांति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।
30. उत्तराध्ययनसूत्र, 28.14

31. उत्तराध्ययनसूत्र, 28.15
32. (i) आदि पुराण, पर्व 16, श्लोक 243-245
    (ii) जैनाचार्य जातिवाद का निरसन करते हैं । आशाधर कहते हैं कि शूद्र भी काललब्धि प्राप्त होने पर धर्मलाभ प्राप्त कर सकता है ।- सागार धर्मामृत, श्लोक 2
33. ब्रह्मप्रभवत्वादस्य च तदङ्गत्वे अतिप्रसंग एव, सकलप्राणिनां तत्प्रभवतया ब्राह्मण्यप्रसंगात्, किंच ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति न वा ? यदि नास्ति, कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ? न हि अमानुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता । अथ अस्ति, किं सर्वत्र मुखप्रदेशे एव वा? यदि सर्वत्र, स एव प्राणिनां भेदाभावानुषङ्गः, अथ मुखप्रदेशे एव, तदान्यत्रास्य शूद्रत्वानुषङ्गात् न विप्राणां तत्पादयोः वन्द्यः स्यात्- न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 2, श्लोक 65
34. (i) लोगस्स उज्जोयगरे धम्मतित्थयरे जिणे ।- सामायिक सूत्र, लोगस्स पाठ
    (ii) नमोत्थुणं, अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं, सयंसम्बुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरियाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं ।- सामायिक सूत्र, शक्रस्तव
35. समाधितन्त्र, श्लोक 1 एवं 2
36. वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, सिद्धसेनसूरिकृत, अनुवाद एवं विवेचन-साध्वी डॉ. हेमप्रभा 'हिमांशु', मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, 2004, श्लोक 13
37. वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 14
38. वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 10
39. वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 8
40. वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 3
41. इन नामों का संकलन डॉ. सागरमल जैन की पुस्तक 'जैन धर्म और तान्त्रिक साधना', पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1997 के द्वितीय अध्याय के आधार पर किया गया है । द्रष्टव्य, पृ. 31-32
42. डॉ. सागरमैल जैन, जैनधर्म और तान्त्रिक साधना, वाराणसी, पृ. 22
43. सव्वपावप्पणासणो ।- नमस्कारमन्त्र की चूलिका
44. द्रष्टव्य, जैन धर्म और तान्त्रिक साधना, वाराणसी, अध्याय 5
45. द्रष्टव्य, जैन धर्म और तान्त्रिक साधना, वाराणसी, अध्याय 7
46. सामायिकसूत्र के पाठ





लेखक परिचय

डॉ. धर्मचन्द जैन, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर के संस्कृत–विभाग में सन् 2001 से प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। आप बौद्ध अध्ययन केन्द्र के संस्थापक निदेशक (2006–2011) एवं संस्कृत विभाग के अध्यक्ष (2009–2012) भी रहे। डॉ. जैन ने बी.ए. ऑनर्स (संस्कृत) तथा एम.ए. (संस्कृत) की परीक्षाएं राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से स्वर्णपदक के साथ उत्तीर्ण की, शोधकार्य भी इसी विश्वविद्यालय से पूर्ण किया। आप सन् 1981 से राजकीय महाविद्यालयों में सेवा देते रहे तथा 1992 से जोधपुर के जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे हैं।

भारतीय दर्शन एवं जैन विद्या के साथ प्राकृतभाषा आपके विशिष्ट क्षेत्र हैं। आप राजस्थान संस्कृत अकादमी के अम्बिकादत्त व्यास पुरस्कार (1991), युवा प्रतिभा शोध सम्मान (1994), चम्पालाल साण्ड स्मृति पुरस्कार (1997) आचार्य हस्ती स्मृति – सम्मान (2001), करुणा लेखक–वक्ता–प्रचारक पुरस्कार (2014), रामरतन कोचर स्मृति–सम्मान (2015) आदि से सम्मानित हैं।

आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं –

1. बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा 2. बौद्ध दर्शन में प्रमाणमीमांसा 3. चिन्तन के आयाम। अनेक पुस्तकें सम्पादित हैं, यथा– मानवजीवन और स्मृतिशास्त्र, बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, बौद्धेतर दर्शनग्रन्थों में बौद्धदर्शन, अंतगडदसासूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, जीव–अजीव तत्त्व, पुण्य–पाप तत्त्व, आस्रव–संवर तत्त्व, बन्ध–तत्त्व, निर्जरा– तत्त्व, मोक्षतत्त्व, दुःखरहित सुख, सकारात्मक अहिंसा आदि। आप सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर से प्रकाशित 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका के मानद् सम्पादक हैं। आपने हांगकांग (1995), लन्दन (2006 एवं 2013) तथा नेपाल (2013) की अकादमिक यात्राएं की हैं।

अनेक लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि जैनदर्शन में कोई मौलिकता नहीं है, मात्र वैदिक दर्शनों के विचारों का ही इसमें समावेश कर लिया गया है। वस्तुतः यह आक्षेप उन लोगों का है जो जैनदर्शन की मौलिकता एवं व्यापक दृष्टि से अनभिज्ञ हैं। जैनदर्शन की मौलिकता तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा सभी स्तरों पर दृग्गोचर होती है। यदि जैनदर्शन के कतिपय पारिभाषिक शब्दों पर ही दृष्टिपात किया जाए तो भी इसकी मौलिकता का अनुमान सहज हो जाता है। उदाहरण के लिए लेश्या, गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, दण्डक, औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समुद्घात, पर्याप्ति, संज्ञी-असंज्ञी, सम्मूर्च्छिम- जन्म, उपपात-जन्म, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, दर्शनमोहनीय, चारित्र-मोहनीय, ज्ञानावरणादि अष्टविध-कर्म, अपवर्त्य आयु, अनपवर्त्य आयु, विस्रसा परिणमन, प्रयोग- परिणमन, पल्योपम, सागरोपम, पुद्गल- परावर्तन, अस्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पर्याय, नय, निक्षेप, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि ऐसे शताधिक शब्द हैं, जो मात्र जैन दर्शन में प्राप्त होते हैं, अन्य दर्शनों में नहीं। ये पारिभाषिक शब्द जैनदर्शन को मौलिक सिद्ध करने हेतु पर्याप्त हैं।

प्राकृत भारती अकादमी
13–ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर,
जयपुर – 302017 फोन : 0141–2524827, 2520230
E-mail : prabharati@gmail.com
978-93-81571-56-9